DAMAGE BOOK TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186070

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी-नाटक : उद्भव और विकास

भूमिका-लेखक

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी,

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

लेखक

डॉ० दशरथ ओझा, एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली

सर्वोदय साहित्य मंदिर,

फाटक, (बसन्तखण्ड,) हैदराबाद द.

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,

दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में प्रकाशित

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

काश्मीरी गेट

दिल्ली

प्रथम संस्करण

मूल्य
नौ रुपये

गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली द्वारा मुद्रित

समर्पण—

उन आदि एवं अख्यात नाट्यकारों
को, जिनकी कृतियाँ हिन्दी-नाट्य-
प्रासाद की आधारशिलाएँ बनकर
सदा आँखों से ओझल पड़ी रहीं—

दशरथ ओझा

भूमिका

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि मेरे मित्र डॉ० दशरथ ओझा की यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' प्रकाशित हो रही है। पुस्तक मूल रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए निबन्ध-रूप में प्रस्तुत की गई थी। विश्वविद्यालय ने सन्तुष्ट होकर उन्हें यह उपाधि प्रधान की। अब यह वृहत्तर पाठक-समाज के सामने आ रही है।

ओझा जी संस्कृत और हिन्दी के गम्भीर विद्वान् हैं। केवल विद्वान् ही नहीं, रचनात्मक रस-साहित्य के निर्माता भी हैं। उन्होंने कई उत्तम नाटक लिखे हैं। वे दीर्घकाल से हिन्दी और संस्कृत साहित्यों का अध्यापन करते रहे हैं। उनके अध्ययन और अनुभव, दोनों ही व्यापक हैं। परन्तु इन सब के ऊपर है ओझा जी का शील और सौजन्य। विद्या और शील के मणिकाञ्चन योग ने उनके व्यक्तित्व को अद्भुत गरिमा दी है। उनके दुर्बल शरीर में—जो कल्पों और उपवासों से प्रतिवर्ष कुछ और क्षीण हो जाया करता है—विचित्र कार्यकरी क्षमता है। सब की सहायता करने को प्रस्तुत, सब के लिए सदा कुछ-न-कुछ करने को बद्ध-परिकर!

प्रस्तुत पुस्तक में ओझा जी ने हिन्दी नाटकों की दीर्घकालीन परम्परा और उनकी विशाल पृष्ट-भूमि का अध्ययन किया है। यद्यपि हिन्दी में नये ढंग के नाटक बहुत हाल में लिखे जाने लगे हैं परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दी में नाटकों की परम्परा नई शुरू हुई है। हिन्दी के लोक-नाट्य की परम्परा बहुत पुरानी है। संस्कृत-साहित्य से हम उसके अंश-मात्र से परिचित हो सकते हैं परन्तु पूरी लोक-परम्परा का ज्ञान हमें उस साहित्य के द्वारा नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत के

साहित्यकार लोक-परम्परा के बहुत-से रूपकों और उपरूपकों का भी आकलन अपने ग्रन्थों में कर लेते थे,—कई रूपक-भेदों के तो उदाहरण भी संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलते क्योंकि मूलतः वे लोक-प्रचलित मनोरंजन-मात्र थे!—परन्तु फिर भी उससे पूरी लोक-परम्परा का ज्ञान नहीं होता, केवल इस प्रकार की विशाल परम्परा का आभास-मात्र मिल जाता है। ओझा जी ने परिश्रम के साथ उन संकेतों को ढूँढ़ा है और प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्ववर्ती और बंगला, गुजराती आदि पार्श्ववर्ती साहित्यों में पाए जाने वाले संकेतों के आधार पर प्राचीन नाटकीय परम्परा के छिन्न सूत्रों को खोज निकालने का प्रयास किया है। रासलीला के उद्भव और विकास का उन्होंने नवीन रूप में अध्ययन किया और महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। हिन्दी नाटकों के विकास के अध्ययन के लिए जिस प्रकार पुराने साहित्य के इंगित सहायक हैं उसी प्रकार लोक-परम्परा के अनेक मनोरंजक नाट्यरूप भी सहायक हैं। ओझा जी ने सावधानी से दोनों परम्पराओं के सम्भावित प्रभावों के अध्ययन का प्रयास किया है। बिलकुल आरम्भिक हिन्दी-नाट्य-परम्परा के सम्बन्ध में ओझाजी का कहना है कि—

("तेरहवीं शताब्दी में एक ओर तो कण्हप-काल से चली आने वाली स्वांग की नाट्य-परम्परा थी जिसके नाटक डोम और डोमनियों द्वारा अभिनीत होते थे, दूसरी परम्परा रास की थी, जिसका अभिनय बहुरूपिए अथवा जिण-सेवक किया करते थे। पहली परम्परा समाज में उतनी समादृत न थी, जितनी दूसरी। यह दूसरी परम्परा ही मध्यम वर्ग और धार्मिक जनता का मनोरंजन तथा रुचि का परिमार्जन कर रही थी। बहुरूपियों द्वारा नाटकों का अभिनय मन्दिरों के बाहर होता था, किन्तु जैन-मन्दिरों में अभिनयकर्ता जैनधर्म के सेवक हुआ करते थे। प्रमाण के लिए 'जम्बूस्वामी चरित' का उद्धरण देखिए—

चंचरिय बांधि विरहउ सरसु, गाहज्जइ संतिउ तारू जसु,
नच्चिज्जइ जिणाजय सेवकहि, किउ रासउ अम्बादेव यहिं।")

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि अम्बादेवी रास का अभिनय

जिन-सेवकों के नृत्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। इस काल के लगभग ४०० रास-ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं, जिनके परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनका कथानक होता था--

(१) धार्मिक, (२) ऐतिहासिक, (३) पौराणिक, (४) आध्यात्मिक, (५) नैतिक, (६) लौकिक प्रेम-सम्बन्धी।

उपर्युक्त विभाग कथानक की दृष्टि से किया गया है। वस्तु-विभाग की दृष्टि से निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं--

(१) एकांकी, (२) दो अधिकार के नाटक, (३) दो से अधिक खण्डों के नाटक, (४) मुख्यतः पाठ्यरास।

इन ग्रन्थों में जो पद्धति सर्वत्र समान रूप से पाई जाती है वह है संगीत की। सभी रास विविध छन्दों में राग-रागिनियों के निर्देश के साथ मंगलाचरण और प्रशस्ति समन्वित हैं। आश्चर्य तो यह है कि यही पद्धति बंगाल में प्रचलित यात्रा-नाटकों में, महाराष्ट्र में अभिनीत दशावतारी नाटकों तथा गुजरात में प्राप्त भवाई नाटकों में भी विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का जनमत उस काल में गद्य की अपेक्षा संगीतमय काव्य के पक्ष में अधिक था। यद्यपि किसी-किसी रास में रंगमंच-निर्देश गद्य में मिलता है किन्तु ऐसे स्थल नगण्य हैं।"

हिन्दी-नाट्यकारों में ओझा जी ने विशेष रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रसाद जी का अध्ययन किया है। सहृदय पाठक देखेंगे कि इस क्षेत्र में ओझा जी की दृष्टि में भी स्वकीयता है और नई सूचनाएँ भी उन्होंने दी हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बारे में अपनी आलोचना का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—

"भारतेन्दु जी के एक-एक नाटक का हम विस्तृत विवेचन कर आए हैं। उस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सके हैं कि भारतेन्दु जी ने परम्परागत-भारतीय नाट्य-पद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्य-कला की नई धारा संयुक्त कर दी। परीक्षा के लिए उन्होंने अपने प्रारम्भिक नाटकों में दोनों शैलियों का अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के

अनुकूल जो पद्धति प्रतीत हुई, उसी को स्वीकार कर लिया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग पकड़ा—न तो अंग्रेजी नाटकों का अन्धानुकरण किया और न बँगला नाटकों की भाँति भारतीय शैली की नितान्त उपेक्षा ही की; साथ-ही-साथ प्राचीन नाट्य शास्त्र के गहन आवर्त में अपनी नाट्य-नौका भी न फँसने दी। तात्पर्य यह कि नाटक के गतिरोध करने वाले सभी बन्धनों से उन्होंने अपने को मुक्त रखा। नाटक की सामग्री भी उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों—शृंगार, शौर्य, करुणा आदि से ग्रहण की। इस विषय में उन्होंने अपनी दृष्टि इतनी व्यापक रखी कि जिससे संस्कृत, प्राकृत, बँगला अंग्रेजी सभी प्रकार के नाटक-रस से रस खींचा जा सके।"

इस प्रकार काफ़ी व्यापक दृष्टि लेकर उन्होंने हिन्दी-नाटकों का अध्ययन किया है और बहुत ही महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। ये निष्कर्ष निस्सन्देह विद्वानों के परीक्षण और मनन की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु इतना कहने में कोई संकोच नहीं कि प्रथम बार इतने विशाल पट-भूमि पर रखकर हिन्दी के नाटक देखे और जाँचे गए हैं। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी-नाटकों के अध्ययन को बहुत बल मिलेगा और यह हिन्दी-संसार के विद्यार्थियों द्वारा आदर-मान प्राप्त करेगी।

काशी

५-७-५४

प्राक्कथन

इस प्रबन्ध में उस व्यापक भाषा को हिन्दी संज्ञा दी गई है जिसके अन्तर्गत राजस्थानी, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, अवधी, मैथिली, ब्रजबोली एवं प्राचीन गुजराती को सम्मिलित किया जाता है।

उत्तर भारत के इतने बड़े भूभाग में, शताब्दियों तक जो प्रभूत नाट्य-साहित्य विरचित हुआ उसका संग्रह करना दुष्कर कार्य था। विविध साधनों से जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसके आधार पर हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास दिखाने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में हम जिस परिणाम पर पहुँच सके हैं उसका सारांश उपसंहार में दे दिया गया है। इस स्थान पर केवल उस पद्धति का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है जिसके अनुसरण के सहारे निष्कर्ष निकाला गया है।

हिन्दी के आदि नाटकों का विवेचन दो दृष्टिकोणों से किया गया है—धार्मिक और लौकिक। यात्रा नाटक, रामलीला, रास-लीला एवं जैनरास-साहित्य धार्मिक नाटक हैं और स्वांग, भवाई आदि लौकिक। यद्यपि कभी-कभी धार्मिक नाटकों में ऐहिकता के तत्त्व आ जाते हैं और लौकिक नाटकों में परमार्थ के, किन्तु जिसमें कथानक धार्मिक हो उसे ही धार्मिक नाटक मानना चाहिये। इन दोनों पद्धतियों के उपलब्ध साहित्य के सहारे नाटकों के मूल स्रोत के शोध का प्रयास किया गया है।

पं० हरप्रसादशास्त्री और डा० बागची ने नैपाली और तिब्बती लिपि में विरचित भारतीय-साहित्य का जब से अनुसन्धान किया है तभी से विद्वानों का ध्यान हिन्दी-नाट्य-साहित्य की प्राचीनता की ओर आकर्षित हुआ है। इस प्रबन्ध में उन हिन्दी नाटकों के भी क्रमिक विकास पर प्रकाश

डाला गया है जो नैपाल में प्राप्त हुए हैं। आसाम और उत्कल में प्राचीन नाटक उपलब्ध हुए हैं, उनकी नाट्य-शैली की परीक्षा करते हुए हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास दिखाया गया है।

अपभ्रंश भाषा का साहित्य अब क्रमशः प्रकाश में आता जा रहा है। नाटक सम्बन्धी जो प्राचीन सामग्री अपभ्रंश भाषा में प्राप्य है उसके आधार पर हिन्दी नाटकों का उद्भव-काल निकालने का प्रयास किया गया है। अपभ्रंश के कतिपय रासक एवं रास ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी रचना-शैली से व्रज और राजस्थानी के रासग्रंथों की तुलना करने पर हम जिस निर्णय पर पहुँचे हैं उसका उल्लेख स्थान-स्थान पर किया गया है। यदि हमारा निर्णय विद्वानों को मान्य हुआ तो हिन्दी नाटकों का उद्भव-काल सत्रहवीं शताब्दी नहीं, तेरहवीं शताब्दी माना जायगा। इस प्रबन्ध में उन चार शताब्दियों के नाट्य-साहित्य का क्रमिक विकास दिखाने की चेष्टा की गई है।

किसी भी भाषा के आदि नाट्य-साहित्य में नाटक के सम्पूर्ण तत्त्व उपलब्ध नहीं होते। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि देशों में भी आरम्भ में कई धार्मिक नाटक (Mystic Drama) लिखे गये जिनमें नाटकीय तत्त्व बीज मात्र थे और भविष्य में विकसित हुए। उस धार्मिक साहित्य को नाटक संज्ञा देने का एक मात्र कारण यह है कि वे जनता के सम्मुख ईसा के जीवन की विविध घटनाओं को प्रदर्शित करते थे। ठीक इसी प्रकार हमारे देश में जैनरास, रामलीला और रासलीला के द्वारा भगवान महावीर, राम और कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनायें एक क्रम से जनता के सम्मुख प्रदर्शित की जाती थीं। विद्वान् लेखकों की दृष्टि उन लीला और रासग्रंथों में व्यापक होती थी; वे इस बात का प्रयत्न करते थे कि उनके ग्रंथ दो उद्देश्यों की पूर्ति करें। श्रव्य काव्य के रूप में उनका गायन भी हो और पवित्र पर्वों के अवसर पर उत्सव के उपलक्ष्य में एक बड़े जन-समुदाय के सामने—अत्यल्प अभिनय सामग्री के साथ—उनका प्रदर्शन भी किया जा सके। उस समय आदि हिन्दी का गद्य-साहित्य अविकसित था, किन्तु पद्य

भाग गद्य की अपेक्षा कहीं अधिक प्रौढ़ हो चुका था। अतः स्वाभाविक था कि रास नाटकों का प्रणयन कविता के मध्यम से हो। सम्पूर्ण काव्य राग-रागनियों के निर्देश के साथ विरचित होते थे। गद्य में संवाद का अभाव होने के कारण आज रासग्रंथ केवल श्रव्य-काव्य प्रतीत होते हैं। उन्हें नाटक कहने में संकोच होता है। किन्तु विविध प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि अनेक रासग्रंथ श्रव्य के साथ दृश्य भी होते थे और उनका अभिनय विशाल जन-समुदाय के सम्मुख मन्दिरों एवं अन्य पवित्र स्थानों पर होता था। कतिपय लीला-ग्रंथों में कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन अनेक लीलाओं में प्रदर्शित किया गया है। प्रत्येक लीला स्वतन्त्र भी है और पूरे ग्रंथ का आंशिक रूप भी। इन लीला-ग्रंथों और (Mystic plays) मिस्टिक प्लेज में किसी सीमा तक साम्य पाया जाता है। जिस प्रकार मिस्टिक प्लेज बाइबिल की कहानियां और ईसा के सम्पूर्ण जीवन को बीस, तीस या चालीस नाटकों में प्रदर्शित करते थे, उसी प्रकार लीला-ग्रंथों में भी श्रीमद्भागवत की कथा और कृष्ण जीवन की प्रमुख घटनाएँ अनेक छोटे-छोटे लीला नाटकों में प्रदर्शित की जातीं थी। कभी-कभी तो नाटकों की संख्या के आधार पर ग्रंथ का नामकरण होता; जैसे—बयालीस छद्म-लीला, चौबीस लीला इत्यादि। ऐसे लीला-ग्रंथों में ब्रजवासीदास का 'लीला चौहत्तर' नामक ग्रंथ प्रमुख है। इन लीला-ग्रंथों को नाटक की श्रेणी में परिगणित करने का प्रमाण यह है कि इनका प्रदर्शन शताब्दियों से रंगमंच पर होता आ रहा है। अभिनेयता के कारण ये नाटक आज तक धार्मिक जनता को विमुग्ध बनाते चले आ रहे हैं।

पश्चिम के विद्वानों का तो यह मत है कि यूरोप के प्रायः सभी उन्नत देशों में प्रारम्भिक नाटक (Mystic plays) मिस्टिक प्लेज के रूप में आविर्भूत हुए। अनेक देशों में इन मिस्टिक प्लेज में नाम और रूप दोनों में साम्य पाया जाता है। अल्लारडिस निकल (Allardyce Nicall) ने वर्ल्ड ड्रामा (World Drama) नामक ग्रंथ में इसका प्रमाण इस प्रकार दिया है —

"The plays thus produced essayed to tell the entire Biblical story from the Creation of the World to the Last Judgment. In many countries they took shape in fundamentally similar forms. The Italian *sacre rappresentaziani* were akin to the French *mysteres*, the *mysteres* to the German *Passionsspiele*, and those to the English 'miracle plays' and to the Cornish *guary* plays. Taking days to perform, the cycles consisted of thirty, forty, fifty, and even more separate dramas, each telling some saliant portion of the Bible's account of events human and supernatural."

यात्रा नाटक, रासलीला एवं रामलीला के नाटकों के कथानक धर्म-ग्रंथों के आधार पर चिरविश्रुत होते, अतः नाटककार घटनाओं के आरोह-अवरोह की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान देकर मंडन-शिल्प को ही महत्त्व देते। मंडनशिल्प में उस काल संगीत का सबसे अधिक महत्त्व था। संवाद का माध्यम संगीत होता, सम्भाषण नहीं। गीतावलियों में एकसूत्रता उत्पन्न करने के लिए सूत्रधार आद्योपान्त रंगमंच पर विद्यमान रहता। वह संस्कृत नाटकों की पद्धति पर प्रस्तावना के उपरान्त प्रस्थान नहीं करता। पात्रों के आगमन और निष्क्रमण का निर्देश लिखित नहीं, मौखिक होता था। निर्देश की यह परम्परा रंगमंच से परिचित परिवार में वंशानुगत होती और कुल-सम्पदा मानी जाती। यही कारण है कि प्राचीन रास-लीला या अन्य नाटकों में रंगमंच के संकेतों का प्रायः अभाव-सा है।

धार्मिक नाटकों का सृजन अवध और ब्रज के साथ-साथ उत्तर भारत के अन्य भागों में भी होता रहा। कहीं तो इसे राजाश्रय प्राप्त था और कहीं राजाश्रय के अभाव में यह वैष्णव-भक्तों की प्रतिभा के बल पर पल्लवित हुआ। राजस्थान में रास नाटकों के आश्रयदाता प्रायः जैन-मन्दिर होते। सामान्य जनता के सम्मुख उपदेशप्रद घटनाओं का प्रदर्शन

इनका उद्देश्य था। अतः जैनरास ग्रंथों का सबसे अधिक विकास इसी भूभाग राजस्थान में हो पाया।

इस प्रबन्ध में विविध प्रमाणों के द्वारा रास को अभिनेय सिद्ध किया गया है और इसी आधार पर हिन्दी नाटकों का आदि काल तेरहवीं शताब्दी माना गया है।

[कीर्तनियां नाटक]

हमारे देश के पूर्वी-भाग में धार्मिक नाटक राजाश्रय में विकसित होते रहे। 'मिथिला में कर्णाट वंश के ह्रास के उपरान्त विद्यापति के आश्रदाता, ओइनवार वंश के राजकुल ने देशी भाषा के रंगमंच के लिए पृष्ठभूमि तैयार करदी।' दरभंगा-नरेश ने वैष्णव रंगमंचों को प्रोत्साहन दिया अतः उनके राज्यकाल में नाट्यकला विकसित होने लगी। दरभंगा में राजाश्रय प्राप्त होने से १६ प्रसिद्ध नाट्यकारों ने वैष्णव नाट्य-साहित्य का सृजन किया। इनकी कृतियों में रामदास झा का 'आनन्द विजय' १७०५ वि०, देवानन्द का 'उपाहरण', उमापति उपाध्याय का 'पारिजातहरण' १७५७ वि०, रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणी हरण', नन्दपति का 'श्रीकृष्ण केलि माला' श्रीकान्त गायक का 'श्रीकृष्ण-जन्म-रहस्य' प्रसिद्ध नाटक हैं। नैपाल में प्राप्त नाटकों के साथ-साथ उपर्युक्त नाटकों के विवेचन के द्वारा मैथिली नाटकों का उद्भव और विकास दिखाया जा सकता है।

[अंकिया नाटक]

आसाम में शंकरदेव के अतिरिक्त माधवदेव का 'अर्जुन-भंजन', गोपाल देव का 'जन्मयात्रा', रामचरण ठाकुर का 'कंस वध' अंकिया नाटक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन अंकिया नाटकों का उत्कर्ष कामरूप के राजा नर नारायण के राज्य में विशेष-रूप से हुआ। इन प्रमाणों के आधार पर यह धारणा भ्रान्त सिद्ध की जा सकती है कि रंगमंच के अभाव के कारण हिन्दी में नाटक थे ही नहीं।

भारतेन्दु जी ने अपने ग्रंथ 'नाटक' में हिन्दी का सर्व प्रथम वास्तविक नाटक अपने पिता गोपालदास लिखित 'नहुष' को घोषित किया। उन्होंने

महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' को भी नाटक की उपाधि नहीं दी। उनका मत है कि 'भाषा कवि-कुल-मुकुट-माणिक्य देव कवि का 'देव माया प्रपंच नाटक' और श्रीमहाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ प्रभावती नाटक तथा श्रीमहाराज विश्वनाथसिंह रीवाँ का आनन्द रघुनन्दन नाटक नाटक-रीति से बने हैं किन्तु नाटकीय यावत् नियमों का प्रतिपालन इनमें नहीं है और ये छन्द-प्रधान-ग्रन्थ हैं।"

भारतेन्दु जी के इस मत से सहमत विद्वानों का वर्ग इन्हें काव्य सम्बोधित करता है और नाटक की संज्ञा उन दृश्य काव्यों को देना चाहता है जिनमें पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण आदि नाटकीय विधानों का ध्यान रखा गया हो। इस सिद्धान्त के अनुसार सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी का नाटक-साहित्य भी नाट्य-क्षेत्र से बहिष्कृत हो जाता है। इस प्रबन्ध में समयसार, रामायण महानाटक, देवमाया प्रपंच, हनुमन्नाटक, सभा सार, करुणाभरण एवं आनन्द रघुनन्दन आदि को नाटक सिद्ध किया गया है, और आधुनिक नाटकों से उनकी भिन्नता का कारण उस काल की जन-रुचि प्रमाणित किया गया है। तथ्य तो यह है कि नाट्य-साहित्य का मंडन-शिल्प जन-रुचि पर अवलम्बित है और जनरुचि के उपकरण बदलते रहते हैं, अतः नाटक की शैली में भी परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। वैष्णव धर्म के प्रचारकाल में गेयपदों की ओर जनता आकर्षित थी। अतः नाटकों में भी संगीत की प्रधानता रही। आज हमारे कान नाटक में वर्त्तमान समस्याओं का विवेचन तर्कपूर्ण शैली में गद्य माध्यम से सुनने के अभ्यासी हैं, किन्तु १५वीं शताब्दी के समीप नाटक का माध्यम था गेय पद। सूत्रधार उन गेयपदों की एकसूत्रता स्थापित करता। नाटकों में रंगमंच-निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। इस कारण उस काल का सम्पूर्ण नाटक-साहित्य काव्य रूप में दिखाई पड़ता है। संस्कृत की नाट्य पद्धति पर विश्वनाथसिंह ने नाटक को सर्वप्रथम एक नई दिशा में मोड़ दिया। उन्हें इस कार्य में पूरी सफलता मिली। उस पद्धति का अनुसरण चिरकाल तक होता रहा। इसलिए उनके 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक का विस्तार से

विवेचन किया गया है, और उससे पूर्व विरचित नाट्य साहित्य से उसका अन्तर स्पष्ट किया गया है।

इस प्रबन्ध में उन्हीं नाटकों को स्थान दिया गया है जो अपने मंडन-शिल्प अथवा वस्तु-विधान के द्वारा प्रचलित नाट्यधारा को एक नई दिशा में मोड़ने का प्रयास करते हैं। नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी नाट्य धारा को नवीन गति देने में कोई नाटक असमर्थ है तो उसका उल्लेख मात्र ही किया गया है, किन्तु यदि कोई सामान्य नाटक नाट्यधारा को मोड़ने अथवा उसे वेगवती बनाने में सहायक सिद्ध होता है तो उसका सम्यक् विवेचन आवश्यक समझा गया है! इस दृष्टि से विवेचन करने पर कई उच्च कोटि के नाटक भी स्वल्प स्थान प्राप्त कर सके हैं। इसका कारण उनमें नाटक तत्त्व का अभाव नहीं अपितु दृष्टिकोण का परिवर्तन है।

भारतेन्दु-युग के नाट्य-साहित्य की तुलना उत्तर भारत के तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों की कृतियों से की गई है। इस प्रकार की आलोचना से उत्तर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं का विचार-साम्य दिखाने का प्रयास किया गया है। भारतेन्दु ने विभिन्न नाट्य शैलियों का प्रयोग किया और उनका समन्वित रूप जनता के सामने रखकर अव्यावसायिक रंगमंच का सूत्रपात किया।

'प्रसाद' के नाटकों का विस्तृत विवेचन करते हुए नाट्यकार के जीवन की परस्थितियों का उनकी कृतियों से सम्बन्ध दिखाने का प्रयास किया गया हैं। 'प्रसाद' की अभिनव नाट्यकला की प्रतिक्रिया और उसके परिणाम-स्वरूप समस्या नाटकों के प्रचार पर प्रकाश डाला गया है।

प्रसादोत्तर काल में नाटकों की प्रवृत्तियाँ दो रूपों में दिखाई गई हैं—एक रूप देश-विभाजन से पूर्व का है और दूसरा विभाजन के उपरान्त। इस युग के कतिपय नाट्यकारों की अनेक कृतियों का विवेचन किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज नाटक में विविध पद्धतियों का प्रयोग हो रहा है। आधुनिकतम प्रयोग है रेडियो नाटक और दृश्य कहानियाँ। रेडियो नाटक पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। दृश्य

कहानियों का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि नाटक कहानी के रूप में पढ़ा जा सके। जिस प्रकार आदि युग में नाटक-रचयिता काव्य-रचना के साथ-साथ उसके अभिनय को भी दृष्टि के सामने रखता था उसी प्रकार आज ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं जो कहानी के रूप में भी पढ़े जा सकें और सुविधानुसार रंगमंच पर प्रदर्शित भी किये जायें। यशपाल के नाटक इसी प्रकार के हैं।

इस प्रबन्ध में पंच सोपान हैं। प्रत्येक सोपान अथवा उत्थान एक युग विशेष की नाट्य प्रवृत्ति, मंडन शिल्प एवं वस्तु-विन्यास का परिचायक है। इस प्रबन्ध में साहित्यिक एवं लोक नाटक दोनों पर विचार किया गया है। चेष्टा करने पर भी नृत्य नाटकों (Dance Drama) के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध न हो सकी। अतः नाटक का एक अंग अछूता रह गया। हमारे देश के नृत्य नाटकों में नाटक का प्राचीनतम रूप प्रायः ज्यों का त्यों सुरक्षित है। प्रमाण के लिए मनिपुर-नृत्य-नाट्य लीजिए। इसमें इन्द्रध्वजारोहण का सम्पूर्ण कथानक आज भी विद्यमान है। इस नृत्य-नाटक में कुंज, वसन्त, महा और नित्य नामक चार प्रकार के रास आज भी विद्यमान हैं। भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित नृत्य-नाटकों का भली प्रकार अनुसन्धान होने पर नाटक के उद्भव और विकास पर और अधिक प्रकाश पड़ सकेगा। यह विषय विद्वानों के शोध का है।

हिन्दी नाटक के उद्भव और विकास की समीचीन समीक्षा के लिए हिन्दीतर भाषाओं के प्रारम्भिक नाटकों का विवेचन आवश्यक था। इस कार्य में हमें कई महानुभावों से पर्याप्त सामग्री मिली। प्राकृत और अपभ्रंश के नाट्यसाहित्य पर काशी के कविराज गोपीनाथ जी तथा पं० सत्यांशुमोहन मुखोपाध्याय से जो सहायता मिली उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। चौदहवीं शताब्दी में संस्कृत नाटकों में हिन्दी गीतों को स्थान मिलने लगा था—इसका प्रमाण वरुआ साहब की कृपा से प्राप्त नाटक-साहित्य में मिला। नैपाल का नाट्य साहित्य डॉ० आर० के० दास गुप्ता की कृपा से प्राप्त हो सका, अतः हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

राजस्थानी का रास-साहित्य डा० दशरथ शर्मा और श्री अगरचन्द-नाहटा की कृपा से प्राप्त हुआ। इन दोनों विद्वानों ने रास को दृश्य काव्य माना है। इन दोनों विद्वानों की सहायता से ही एक नई स्थापना सम्भव हो सकी है। अतः हम इनके परम अनुगृहीत हैं।

म० म० बामनजी पोद्दार एवं गुजरात-वर्नाक्युलर सोसायटी के कार्यकर्त्ताओं से हमें बड़ी सहायता मिली। अतः हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करते हुए हमें निम्बार्क, वल्लभ, मध्व एवं चैतन्य आदि सम्प्रदायों के महात्माओं एवं विद्वानों से सहायता मिली है। अतएव उन्हें धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। पं० चन्द्रबली पांडे ने यह प्रबन्ध आद्योपान्त सुनकर स्थान-स्थान पर जो संशोधन किया उसके लिए हम हृदय से उनका आभार मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रुग्णावस्था में भी इस प्रबन्ध की भूमिका लिखकर जो अनुग्रह किया है उसके लिए हम उनके अत्यन्त उपकृत हैं। परीक्षकों के सुझाव के अनुसार मूल प्रबन्ध में यत्रतत्र परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर दिया है। इस प्रकार पुस्तक थीसिस से कुछ अधिक विस्तृत हो गई है।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री के चरणों में बैठकर यह प्रबन्ध लिखा गया था। म० म० जी ने थीसिस का एक-एक शब्द सुना और जहाँ-जहाँ हमें भ्रम हुआ उन्होंने हमारा पथ-प्रदर्शन किया। उनमें अनुसन्धान की विलक्षण सूझ थी। संकट-काल में उनकी प्रतिभा की ज्योति उद्दीप्त हो उठती थी। उन्होंने इस कार्य में हमारी जो सहायता की उसे हम आजीवन स्मरण रखेंगे। दिल्ली-विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-परिषद् के तत्त्वावधान में यह प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है, अतः परिषद् के अधिकारियों को धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। कई वर्षों के सतत परिश्रम के उपरान्त यह प्रबन्ध पूर्ण हुआ। पुस्तकाकार में इसे विद्वानों के सम्मुख रखते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है क्योंकि "क्लेशः फले नहि नवतां विधत्ते"।

जन्माष्टमी २०११ वि०

—दशरथ ओझा

विषय-सूची

पहला अध्याय

कला और उसका उपयोग १
नाट्यशास्त्र में नाटक ६
अरिस्टाटल के मत से नाटक १०
नाट्यशास्त्र में नाटक की विशेषता १२
नाट्यशास्त्र में नाटक का प्रयोग १५
कालिदास के मत से नाटक का महत्व १८
शारदातनय के मत से नाटक का महत्व १६
प्राचीन काल में अभिनय और अभिनयशाला २१
वैदिक काल और नाटक का अभिनय २६
रामायण और नाटक २७
महाभारत में नाटक २८
कौटिल्य का अर्थशास्त्र और नाटक ३०
अभिनय और समाज ३३
उत्सव और प्रेक्षागृह ३४

दूसरा अध्याय

लोक-नाटक ३५
स्वांग की परम्परा ३७
यात्रा-नाटक का उद्भव और विकास ४२

विषय			पृष्ठ
संस्कृत नाटकों पर यात्रा-नाटक का प्रभाव	....	....	४६
देशी भाषाओं पर यात्रा-नाटक का प्रभाव	....	....	४७
उन्नीसवीं शताब्दी के यात्रा-नाटक	....	....	४६

तीसरा अध्याय

मैथिली-नाटक की उत्पत्ति	....	...	५१
संस्कृत नाटकों में हिन्दी को स्थान	....	....	५८
उड़ीसा के नाटक-साहित्य में सर्वप्रथम हिन्दी का प्रयोग			६४
आसामी नाटकों में सर्वप्रथम हिन्दी	....	....	६६

चौथा अध्याय

राजस्थानी में नाटक की उत्पत्ति	....	....	६६
रास शब्द की व्युत्पत्ति	....	....	७३
लक्षणग्रन्थों में रासक, नाट्यरासक, रास	....	....	७६
संस्कृत साहित्य में रासक	....	....	८०

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी के आदि साहित्यिक नाटक	....	....	८६
पश्चिमी राजस्थानी में रास नाटक की परम्परा		....	६१
राजस्थानी रास-नाटकों की परम्परा और उनका विकास			६४
कृष्ण रास और जैन रास	....	....	१०५
स्याम सगाई लीला का कथानक	....	....	१०८
ध्रुवदास	....	....	११४
आधुनिक लीला-नाटक	....	....	१३८
रामभक्तों पर रासलीला का प्रभाव	....	....	१३६
रास की स्थिरता क्यों ?	....	....	१४०
हिन्दी नाटकों में संस्कृत और रासशैली	....	....	१४८

विषय			पृष्ठ
व्रास-शैली की विशेषताएँ	....	....	१४६
छटा अध्याय			
वैष्णव आन्दोलन का प्रभाव	....	....	१५३
रामायण महानाटक	....	....	१५४
हनुमन्नाटक	....	....	१५४
समयसार नाटक	....	....	१५६
चंडी चरित्र	....	....	१५७
प्रबोध चन्द्रोदय	....	....	१५८
शकुन्तला नाटक	....	....	१५६
सभासार नाटक	....	....	१६०
करुणाभरण	....	....	१६१
सातवाँ अध्याय			
संस्कृत-शैली के प्रथम हिन्दी नाट्यकार	....	....	१७४
बंगाल में अंग्रेजी नाट्यशाला का निर्माण	....	....	१७५
गद्य का प्रयोग	....	....	१७७
समन्वय-साधना	....	....	१७८
नाटक की रचना-शैली	....	....	१८०
नाटक का गुप्तभाव	....	....	१८५
नाट्य-साहित्य पर विश्वनाथ सिंह का प्रभाव		....	१८६
आठवाँ अध्याय			
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	....	....	१६२
विद्यासुन्दर	...	....	१६५
बँगला में विद्यासुन्दर	....	....	१६५
पाखण्ड-विडम्बन	....	....	२०५
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	....	...	२०६

विषय			पृष्ठ
प्रेमयोगिनी	....	....	२११
सत्य हरिश्चन्द्र	....	....	२१२
कर्पूर-मंजरी	....	....	२१७
विषस्य विषमौषधम	....	....	२२२
चन्द्रावली	....	....	२२३
मुद्राराक्षस	....	....	२२६
दुर्लभ बन्धु	....	....	२३३
भारत दुर्दशा	....	....	२३४
अंधेर नगरी	....	....	२४४
नीलदेवी	....	....	२४७
नवाँ अध्याय			
भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि नाट्यकार	....	....	२६१
पं० प्रतापनारायण मिश्र	....	....	२६४
राधाकृष्णदास	....	....	२६६
बालकृष्ण भट्ट	....	....	२६६
राधाचरण गोस्वामी	....	....	२७२
भारतेन्दु युग के अन्य नाटक और उनकी नाट्य प्रवृत्ति			२७४
प्रसहन	....	....	२७६
भारतेन्दु युग के अनूदित नाटक	....	....	२८५
दसवाँ अध्याय			
आधुनिक काल	....	....	
जयशंकर प्रसाद	....	....	२६२
नीलदेवी और राज्यश्री	....	....	३०८
विशाख	....	....	३०६
अजातशत्रु	....	....	३१६

विषय			पृष्ठ
जनमेजय का नागयज्ञ	....	....	३३६
कामना	....	....	३४०
स्कन्दगुप्त	....	....	३४७
चन्द्रगुप्त	....	....	३५६
'प्रसाद' और द्विजेन्द्रलाल राय			३५८
स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त की तुलना	....	....	३६२
ध्रुवस्वामिनी	....	....	३६३
'प्रसाद' और कन्हैयालाल मुन्शी	....	....	३६८
'प्रसाद' के नाटकों में कथावस्तु	....	....	३७१
वस्तु-विन्यास में भारतीय और यूरोपीय नाट्यकला		....	३७४
चरित्र-चित्रण	....	....	३७५
नृत्य-गीत	....	....	३६६
ग्यारहवाँ अध्याय			
व्यवसायी रंगमंचीय नाटक	....	....	४२१
बारहवाँ अध्याय			
आधुनिक काल के प्रमुख नाटक			
गीतिनाट्य	....	....	४३१
सांस्कृतिक नाटक	....	....	४४२
एकांकी नाटक	....	....	४७५
संस्कृत साहित्य में एकांकी	....	....	४७७
व्यायोग	....	....	४८१
वीथी	....	....	१८१
उपरूपकों में एकांकी	....	....	४८२
'प्रसाद' के पूर्व हिन्दी एकांकी की परम्परा	....	....	४८४

विषय			पृष्ठ
रास नाटक और आधुनिक एकांकी	....	....	४८७
स्वोक्ति की भारतीय परम्परा (एकपात्री नाटक)		...	४९४
रेडियो नाटक	....	....	४९५
ऐतिहासिक नाटकों के दो वर्ग	....	....	५०२
अनूदित सांस्कृतिक नाटक	....	....	५११
समस्या नाटकों का उदय	...	...	५१३
उपसंहार			
प्रथम उत्थान	...	...	५३५
द्वितीय उत्थान	...	...	५४०
तृतीय उत्थान	....	...	५४३
चतुर्थ उत्थान	....	....	५४४
पंचम उत्थान	....	...	५४४
नवीन प्रवृत्ति	....	....	५४५
हिन्दी नाटक का भविष्य	....	....	५४८
परिशिष्ट			
परिशिष्ट १—उपदेश रसायन रास और सभासार नाटक	....	....	५५१
,, २—काशीनाथ कृत विद्या-विलाप नाटक		....	५५४
,, ३—प्रबोध चन्द्रोदय नाटक	....	....	५६२
,, ४—वर्त्तमान रास मंडलियाँ	....	....	५६४
,, ५—स्वाँग सम्बन्धी आधुनिक नाटक		....	५६६
,, ६—रास की अभिनेयता के प्रमाण		....	५७०
,, ७—अवशिष्ट नाटक	....	....	५७१
अनुक्रमणिका	....	...	१—१२

पहला अध्याय

कला और उसका उपयोग

सौन्दर्य और उत्कर्ष कला का चरम ध्येय है। इसी से मानव-संस्कृति का मूलाधार कला ही है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्यजनों के कला-सम्बन्धी विचारों में बहुत अन्तर है। भारतीय मनीषियों ने कला को मनोरंजन और शिक्षा तक ही सीमित रखा, किन्तु पाश्चात्य पण्डितों ने कला को जीवन के आध्यात्म से सम्बन्धित किया। पहिले मैं यहाँ पाश्चात्य दृष्टिकोण निवेदन करता हूँ।

पाश्चात्य संस्कृति का मूलाधार ग्रीक सभ्यता है। सहस्रों वर्ष प्राचीन इजिप्ट और बाबिलोनिया के साम्राज्यों के नष्ट होने पर ग्रीक सभ्यता का उदय हुआ था। मानव-इतिहास में ग्रीक जनों ही ने मानव-समाज को सार्वभौम राजा की पूजा बन्द करके ऊँचा उठाया। मध्यम श्रेणी के सामान्य-जन को ही समाज का नियन्त्रणकर्ता बनाया। इस से वह समाज उत्कर्षोन्मुख हो उठा। कला वहाँ सर्वजन के उत्कर्ष की आधारभूत बन गई, इसी से उस में मानसिकता अनिवार्य मानी गई तथा इसी आधार पर कला का मापदण्ड स्थिर किया गया।

काव्य को उन्होंने श्रेष्ठतम कला माना और उसका स्तर बहुत ऊँचा रखा। पाश्चात्य कला का प्राचीनतम मानसिकतामय रूप हम होमर के काव्यों में पाते हैं। यह रचना केवल रचयिता की काव्य-प्रतिभा की ही द्योतक नहीं है, उस में उसके युग के रुचि-संस्कार भी निहित हैं। होमर का अभिव्यंजना-वैभव ऐसा है

कि उस में भाव और आलोचना की समर्थ प्रतिष्ठा हुई है। जिस रीति से भी उसकी आत्मा ने भाव-मोहित कर के गाने के लिये उसे प्रेरित किया, उसने उसी रीति से मनुष्य के मन को मोहित कर डाला।

होमर का काल ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी है। होमर के महाकाव्यों के बाद ग्रीस में नाटकों का विकास ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी तक होता रहा। इस काल के अधिकतर नाटक हास्य-रस-प्रधान ही थे। इन में जीवन के सभी आधार वस्तुओं को हास्य का आलम्बन बनाया गया था। ग्रीस के अग्रणी अपने समाज के सम्बन्ध में पुरातन-प्रिय थे। इसी से नाटकों में सभी नवीन आदर्शों का उपहास किया गया है। इस काल के नाटकों में से कुछ नाटक रगरेस्टोंफेनीज के प्राप्त हैं। इन में एक नाटक 'फ्राग्स' है, जिस में ग्रीस के तत्कालीन दो नाटककारों का विवाद है। इस विवाद में कला-शैली की तीव्र आलोचना है। एक का पक्ष है कि महान् कथा-वस्तु और महान् शैली ही साहित्य कला का मूलाधार है। वह विषय और शैली की असाधारणता को महत्त्व देता है, परन्तु दूसरा प्राचीन काव्यादर्शों के प्रति उपहास करता हुआ कहता है कि नाटकों में उन्हीं बातों का चित्रण होना चाहिए जिनका सीधा सम्बन्ध नित्य-प्रति के जीवन और कार्य-व्यवहार से है। सच पूछा जाय तो यह कला से सम्बन्धित एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न है।

इसी प्रश्न को ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में प्लेटो और अरस्तू ने दार्शनिक रूप दिया। प्लेटो आध्यात्मिक आनन्द और काव्यानन्द के बीच का अन्तर अनुभव नहीं कर पाया। इसी से आगे चल कर पाश्चात्यों ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत की और उसका अन्तर्भाव पंचकलाओं में किया

गया। कला के लिये मानसिकता अनिवार्य मान ली गई और इसी आधार पर कलाओं का श्रेणी-विभाजन किया गया। काव्य-कला को श्रेष्ठतम मानकर उसका स्तर अत्यन्त ऊँचा रखा गया। प्लेटो और उसके बाद अरस्तू ने अन्य शास्त्रों और विद्याओं के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी दार्शनिक भावना से ग्रहण किया। प्लेटो ने काव्य के नैतिक प्रभाव की व्याख्या की और काव्यानुभूति को ऐन्द्रीय मानते हुए उसे समाज के लिए दूषित कहा, सत्य को काव्य की कसौटी बनाया, तथा तत्कालीन नाटकों एवं काव्य को सत्य का छायाभास कहकर उसके प्रति अवज्ञा प्रकट की। अपने गुरु के काव्यालोचन पर अरस्तू ने अपनी व्यापक दृष्टि डाली और छायाभास ही को काव्य का मूल रूप कहा। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में दुःखान्त नाटकों द्वारा आनन्द की उपलब्धि तथा काव्याङ्गों पर विस्तृत व्याख्या की और अलंकार-शास्त्र की रचना की। उसके बाद अनेक अलंकार शास्त्र बने, जिनमें भाषा और वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने और उन्हें अलंकृत करने की अनेक रीतियाँ वर्णित कीं। प्लोटिनस ने भी प्लेटो के आक्षेपों की प्रत्यालोचना करते हुए कला का एक रूप निर्धारित किया।

ग्रीकों के बाद रोमन और फ्राँसीसियों ने काव्य-रीति का विस्तृत विवेचन किया।

✓ भारतीय दृष्टि में कला और काव्य को पृथक् माना गया। काव्य से कला को हीन समझा गया। कला की सृष्टि में शिक्षा, और अभिप्राय में मनोरंजन की मुख्यता मानी गई। काव्य की आत्मा दिव्य प्रेरणा मानी गई। इससे भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि कला के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न हो गई। भारतीय दृष्टिसे कला का सम्बन्ध स्थूल शिल्प-गुण और मनोरंजन

के साथ था। इसी से कला हीनजनों के हाथमें चलती चली गई। उधर काव्य-दर्शनके अन्तर्गत काव्याङ्गों,प्रयोजन,हेतु,रस,विभाव, अनुभाव, रसस्थिति आदि सूक्ष्म शास्त्रीय तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। अनेक आचार्यों ने दार्शनिक सहायता ली और रस-भोक्ता के मन का विश्लेषण किया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय काव्याङ्ग में वस्तु, पात्र, शैली, गुण, दोष, शब्दशक्ति तथा अलंकारों और छन्दों के सैंकड़ों भेद बढ़ते चले गये और काव्य एक पृथक् शास्त्र बन गया। उसमें आनन्द का स्थान चमत्कार ने ले लिया। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। किसी-किसी आचार्य ने चमत्कार को ही सब से अधिक महत्त्व दिया है। उनके मत से सुन्दर वस्तु को देखकर मन में जो विस्मय की भावना का उद्रेक होता है, वही आनन्द का उत्पादक है। पाश्चात्यों ने भी आनन्द की अनुभूति में विस्मय की अनिवार्यता स्वीकार की है। इसी के अतिरेक से काव्य में अद्भुत रस का पृथक् प्रादुर्भाव ही हो गया।

प्लेटो का कथन है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है। यह एक दार्शनिक सत्य है। कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति ज्ञान की अनुकृति है। अतः कला अनुकृति की अनुकृति है। इसलिए कला सत्य नहीं है, मिथ्या है। इसी न्याय को दार्शनिक प्लोटीनस ने कला को सौन्दर्य का तादात्म्य बताते हुए कला को आध्यात्मिक अनुभूति कहा है। पीछे हीगेल आदि आदर्शवादियोंने उसीको एक वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया है,परन्तु उत्तर-कालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने कला के दो पृथक् रूप निर्धारित कर दिये हैं,एक आध्यात्मिक और दूसरे ऐन्द्रीय। १९वीं शताब्दी में एडीसन ने एक नया सिद्धान्त स्थिर किया, और काव्यानन्द को

कल्पना का आनन्द बताते हुए उसे दोनों से पृथक् सिद्ध किया। सौंदर्यबोध ही कला का प्राण है। यदि मनुष्य को पूर्णरूप से विकास करना है तो उसे जीवन में सौन्दर्य को आत्मसात् करना होगा, पर इसके लिए साधना की आवश्यकता है। साधना का उद्देश्य आत्मा का विकास ही है। किसान जब अपने खेत का घास-फूँस उखाड़, हल चला, कुदाल से भूमि को खोदता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह भूमि पर निष्ठुर अत्याचार कर रहा है—परन्तु फल और रस का विकास तो इसी तरह होता है। इसे ही साधना कहते हैं। नियम और संयम उसके मूलाधार हैं। रस ही के लिये नीरसता का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यदि यह नियम और संयम ही मनुष्य के हृदय की सभी जगह घेर कर बैठ जायँ, नियम ही को प्राप्ति समझ लिया जाय, तब तो आत्मघात ही पर पूर्ण विराम करना होगा। नियम या मन के लोभ में कठोरता का दबाव इतना बढ़ जाता है कि स्वभाव से सौन्दर्य-बोध सर्वथा तिरोहित हो जाता है। यह सत्य है कि सब तरह की बुनियाद सख्त होती है, यदि सख्त नहीं तो सहारा नहीं दे सकती, ज्ञान की बुनियाद भी सख्त है। आनन्द का आधार भी सख्त है। ज्ञान की यह सख्त बुनियाद ही संयम है। इसमें विचार है, बल है, और दृढ़ता है। सौन्दर्य का पूर्ण भोग करने के लिये संयम की बहुत आवश्यकता है। यदि हमारी प्रवृत्ति संयमरहित हो तो भोग-सामग्री हम अपने अंग में लपेट सकते हैं, उससे तृप्त नहीं हो सकते।

सौंदर्य की सृष्टि संयत होकर ही रची जा सकती है। दीपक जलाने के समय सावधान रहना पड़ता है कि कहीं कपड़ों में आग न लग जाय। यह सौन्दर्य-क्षुधा हमारी लौकिक आवश्यकताओं से

अतिरिक्त लोकोत्तर संवेदन है, जिसके फल में मोहक रूप है, जिसकी मनभावनी गन्ध है, और जिसका अमृत सा स्वाद है। अनिवार्य प्रयोजन होने पर मनुष्य जो उद्योग करता है, उसमें मनुष्य की एक अवमान्यता तो है ही, परन्तु सौंदर्य तो प्रयोजन से परे है; वह हमारे उल्लास का द्योतक है। इसी से सौंदर्य हमारी तृष्णा की तृप्ति के साथ एक उच्च ध्येय को व्यक्त करता है। इसी से तो कभी का असंयत जंगली मनुष्य प्राणी उन्नत होकर सभ्य हो गया। अपने संसार को उसने सौंदर्य से जगमगा दिया। आज मनुष्य भूख लगने पर जहाँ जैसे मिले खाने को नहीं बैठ जाता—वह स्वच्छता, सुरुचि, शोभा और संयम से खाता है। बच्चे को यदि बेसब्री से खाते देखता है तो डाँटकर कहता है—'यों पशु की तरह नहीं खाया करते।" इस प्रकार सौंदर्य ने हमें संयम का पाठ पढ़ाया है। जगत् के साथ हमारा जहाँ प्रयोजन का सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आनन्द के सम्बन्ध की प्रतिष्ठा का है। आवश्यकता के उपभोग में हमारा दैन्य है, दासता है, पर आनन्द के सम्बन्ध में हमारी सुरुचि है, प्रभुत्व है। इस प्रकार कला के द्वारा हम सौंदर्य और आनन्द के संसार में अपने जीवन को ले जाते हैं—जीवन का यही उत्कर्ष है।

संयम करना सीखने के लिए मनुष्य ने धर्म-नीति का सहारा अति प्राचीन काल से लिया है, पर कला के सच्चे आदर्श ने मनुष्य को धर्म-नीति से पृथक् केवल सुखभोग के लिये संयत होना सिखाया। इसी सीख ने हमारी पीढ़ियों को उत्तरोत्तर सभ्य किया है। कला का सच्चा पारखी समझता है, सौंदर्य का भोग भोगलिप्सा को वश में करने ही से हो सकता है। इसीसे कला-कार को साधक कहा है। उसकी कला-साधना आध्यात्मिक साधना से कहीं बहुत ऊँची है।

सच्चा कलाकार तपस्वी होता है। बिना चित्त की साधना और संयम के कोई कलाकार नहीं बन सकता। कलाकार निर्माता है। निर्माण के लिये संयम की आवश्यकता है। असंयम से नाश होता है। सौंदर्यबोध की क्षमता भी चित्त के असंयम के साथ नहीं ठहर सकती। विश्वामित्र ने विधाता से विद्रोह करके नई सृष्टि का एक बार निर्माण किया था, पर उस जगत् का विधाता के बनाए जगत् से मेल नहीं हो सका, इसलिये चराचर के लिये वह गम्य न हुआ, अतएव अन्त में वह नष्ट हो गया।

हम सब जब क्रुद्ध हो उठते है, तब विधाता से ही विद्रोह करते हैं। हमारा क्रोध, लोभ, अपने चारों ओर कुछ ऐसे विकारों का समूह जुटा लेता है, जिससे हमें छोटे बड़े की परख ही नहीं रहती और हमारा ज्ञान नष्ट हो जाता है।

सौंदर्य को हम केवल आँखों ही से नहीं देख सकते, उसके लिए मानसिक दृष्टि की भी आवश्यकता है। मनकी अनेक तरगें हैं। केवल बुद्धि और विचार ही से काम नहीं चल सकता; उनके साथ हार्दिक भावों को भी जोड़ना चाहिये। धर्मबुद्धि का भी बल लगाना चाहिये। ऐसा करने से आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाती है, और कलाकार दिव्यद्रष्टा हो जाता है। यहीं सौंदर्य के साथ मंगल का मेल होता है। मङ्गलमय वस्तु सदा हमारा भला करती है। अथवा कहना चाहिये जो वस्तु सदा हमारा भला करे वही मङ्गलमय है। वास्तव में मङ्गल-मय वस्तु का रूप ही यह है कि वह हमारी आवश्यकता भी पूरी करे, और देखने में भी सुन्दर हो। सौंदर्य प्रयोजन से परे है, इस लिए हम उसे ऐश्वर्य कहते हैं। मङ्गल अपने इसी ऐश्वर्य के बल पर क्षति और क्लेश की परवाह नहीं करता। फूल जब

अपनी वर्ण-गन्ध की प्रगल्भता को फल की मधुरता में परिणत करता है, तब उस परिणति में ही सौंदर्य और मङ्गल का मेल होता है। इस सौंदर्य और मङ्गल के मेल-मिलाप को जो देख सकते हैं, वे कभी भी भोग-विलास के साथ सौंदर्य को मिलाकर नहीं रख सकते।

मङ्गल की भाँति सत्य का भी सौंदर्य से मेल होना चाहिये। जब सत्य और सुन्दर एक हो जाते हैं तब चरम सौंदर्य का दर्शन होता है। मङ्गलमय सौंदर्य और सत्य की प्रस्रष्टा भूमि पर ही समस्त कलाएँ—साहित्य, संगीत और ललित कलाएँ—विकसित हुई हैं। काव्यों में, चित्रों में, शिल्प में सत्य ही तो प्रखर बना कर दिखाया जाता है। सर्व-साधारण की आँखें जिसे न देख सकती थीं, कवि उसे हमारी दृष्टि के सामने लाकर हमारे सत्य के राज्य की, आनन्द के राज्य की सीमा को अपरिसीम कर देता है। अनगिनत तुच्छ और अनादृत वस्तुओं को सत्य के आंचल में सजा कर कला की सुन्दरता से चिह्नित करता है। उसी को लक्ष्य करके उपनिषद् में कहा है—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'। कलाकार इस सत्य को देख लेता है कि उसके पैरों की धूल से लेकर गगन-मण्डल तक सब कुछ सत्य है—सब कुछ सुन्दर है। सत्य के अव्यक्त रूप को व्यक्त करना कला की सच्ची अभिव्यक्ति है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक क्या है

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में स्वयं ब्रह्मा जी नाटक की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह पंचम वेद नाट्य सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है[1]। इस सूत्र को अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रह्मा जी समझा रहे हैं कि "नाट्य में कहीं धर्म है तो कहीं खेल, कहीं अर्थ ज्ञान है तो कहीं शान्ति, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध, कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का[2]।" तात्पर्य यह है कि इस वेद में धर्मात्मा और ज्ञानियों की ही चर्चा नहीं, प्रत्युत इसमें कामियों के काम और अशिष्टों के सुधार की भी व्यवस्था होती है, दुर्विनीतों के निग्रह, क्लीबों की धृष्टता और शूरवीरों के उत्साह भी वर्णित होते हैं। इसी प्रकार मूर्खों की मूर्खता, विद्वानों की विद्वत्ता, धनियों के विलास, दुखियों के धीरज, व्यवसायियों के धन-प्राप्ति के उपाय, आर्त-जनों के धैर्य आदि का विवेचन होता है। अर्थात् जब लोगों की क्रियायों का अनुकरण अनेक भावों और अवस्थाओं से परिपूर्ण होकर किया जाय तो वह नाटक कहलाता है[3]।

---

१. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्।

नाट्यशास्त्र १. १०७।

२. क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥१०८॥

३. धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ॥

आरिस्टाटल के मत से नाटक

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से मिलती-जुलती नाट्य की परिभाषा यूनान के प्रसिद्ध विद्वान् अरस्तू ने की है। उनका कथन है–ट्रेजेडी उस व्यापार विशेष का अनुकरण है, जिसमें गम्भीरता और पूर्णता हो, जिसकी भाषा प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारों से सुसज्जित हो, और जिसमें अनेक विभाषाएँ भी पाई जाती हों, जिसकी शैली वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारों का उचित परिष्कार कर सके[1]।

नाटक की परिधि–

भरतमुनि और अरस्तू दोनों के विचारानुसार नाट्यकला का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत प्रतीत होता है। इसमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी श्रेणी के व्यक्तियों के कर्म को संश्रय मिलता

क्लीबानां धाष्ट्र्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
प्रबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपिजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥ नाट्यशास्त्र, १ अध्यायः १०९—११३

1. From Aristotle 'On the Art of poetry page 35. Publisher "Oxford–at the Clerendon press yr. 1947."

है। यही ब्रह्मा जी ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है[1], और अरस्तू ने भी इसी पर बल दिया है।

जब सभी प्रकार के मनुष्यों के कर्मों का अनुकरण नाटक में विहित है, तो उसमें सभी ज्ञान, सभी शिल्प, सभी विद्या, सभी कला, सभी शास्त्र, निवास कर सकते हैं। ब्रह्मा जी ने इस रहस्य का उद्घाटन कर ही दिया है[2]। नाटक की परिधि सप्तद्वीप तक ही शोभित नहीं, वह देव और असुर लोक को

"A tragedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude complete in itself, in language with pleasurable accessories, each kind brought in separately in the parts of the work; in a dramatic not in a narrative form; with incidents arousing pity and fear wherewith to accomplish its catharsis of such emotions."

१. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥
भरतनाट्यशास्त्र॥

२. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।

भी स्पर्श करती है। इसके अन्तर्गत बड़े से बड़े सम्राट् उच्च से उच्च ब्रह्मर्षि आ जाते हैं[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकला की प्रशंसा करते हुए ब्रह्माजी के हृदय की सन्तुष्टि होती ही नहीं। नाटकों की रचना करने पर उन्हें जैसे इससे ममता सी हो गई है। इसमें सभी विद्याओं और सभी कलाओं को समाविष्ट कर वे कुछ विद्याओं का नामोल्लेख भी करने लग जाते हैं।

ब्रह्मा जी स्वयं कहते हैं कि वेदविद्या, इतिहास, कथा आदि समग्र साधनों का एकत्रीकरण करके सब लोगों का एक साथ मनोरंजन करने वाला नाटक होता है।[2]

इसमें श्रुति, स्मृति, सदाचार, ज्ञानविज्ञान के साथ-साथ विनोद का मिश्रण होता है[3]।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक की विशेषता—

यह तो स्पष्ट है ही कि नाटक दृश्यकाव्य है, और दृश्यकाव्य में श्रव्यकाव्य की अपेक्षा कई विशेषताएँ हैं। काव्य को केवल

---

१. सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति।
येनानुकरणं नाट्यमेतत्तद्यन्मया कृतम्॥
देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्॥
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम्॥

२. वेद विद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

३. श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

श्रवण कर सकते हैं, किन्तु नाट्य को श्रवण करने से तो आनन्द प्राप्त होता ही है, उसे आँखों से देख भी सकते हैं। यही इसकी विशेषता है। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक कथा नाट्य-शास्त्र में मिलती है।

एक दिन नाट्याचार्य भरत जी अपने पुत्रों सहित अनध्याय का आनन्द मना रहे थे। उसी समय आत्रेय आदि प्रमुख तपस्वी और प्रमुख मुनिगण भरतमुनि के समीप उपस्थित हुए और पूछने लगे—ब्रह्मन्, आपने नाट्यवेद का संपादन क्यों और किसके लिये किया है ? उसके कितने अंग हैं ? प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ? आप इन सब बातों को हमें समझाइये।

तपस्वियों और मुनियों की जिज्ञासा-शान्ति के लिए भरत-मुनि बोले—हे तपस्वियों, आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। स्वयम्भुव-मनु वाला सत्ययुग व्यतीत होने पर वैवस्वत मनु का त्रेतायुग आया। उस समय संसार में ऐसी दुर्व्यवस्था फैली कि जनसमु-दाय काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोधादि में लिप्त हो कर किसी प्रकार सुख-दुख में जीवन व्यतीत करने लगा। लोक-पालों से रक्षित इस जम्बूद्वीप पर दुर्व्यवस्था देखकर, देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महारोगों ने आक्रमण करके अधिकार जमा लिया। अब तो इन्द्रादि देवता घबराए। इन्द्र का सहायक जम्बूद्वीप शत्रुओं के अधिकार में चला गया, यह तो देवताओं के लिए अनिष्टकारी घटना हो गई। इन्द्र देवताओं को साथ लेकर ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। उन्हें सारी घटना सुनाई गई। देवताओं ने निवेदन किया कि हे पितामह, जम्बूद्वीपवासी यदि इसी प्रकार काम, लोभ, ईर्ष्या. क्रोधादि दुर्गुणों में व्याप्त रहे तो दानवों की शक्ति बढ़ती जायगी और आपकी सृष्टि में हाहाकार मच जायगा।

आप कोई ऐसी युक्ति निकालिए, जिससे सब वर्णों के लोग किसी उत्सव में भाग लेकर सानन्द अपना जीवन सुन्दर बना सकें।[1]

शूद्रजाति वेदविधि-विहित-यज्ञ कर्मकांड में भाग न लेने के कारण पृथक् रहकर अपना जीवन सुखमय बनाने का कोई साधन नहीं पाती, अतएव ऐसी युक्ति निकालिए, जिससे सभी वर्ण के लोग एकत्रित होकर उत्सव देख सकें। आप कृपा करके ऐसे खेल की रचना कीजिए, जिसको सुनकर भी आनन्द प्राप्त किया जा सके, और जिसे देखा भी जा सके। "क्रीडनीयक-मिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।"

---

१. पूर्वं कृतयुगे विप्राः वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे।
त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य च॥
ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते।
ईर्ष्या क्रोधाभिसंमूढ़े लोके सुखितदुःखिते॥
देवदानवगंधर्वयक्षरक्षोमहोरगैः।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते॥
महेन्द्रप्रमुखदेवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत॥
न वेदव्यवहारो यं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्॥
धर्म्यमथ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम्।
नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्॥

[1]ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु' कह कर देवताओं को विदा किया। सबके विदा होने पर पितामह ने योग-स्थित होकर चारों वेदों का स्मरण किया। उन्हें ध्यानावस्था में ऐसे 'वेद' की रचना का आभास मिला, जिससे धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति हो सकेगी, जिसमें उपदेश भरा होगा, जिसमें इतिहास होगा। वह नाट्यवेद सभी शास्त्रों के तत्त्वों से भरा होगा, उसी में सभी शिल्प प्रदर्शित होंगे।

इस कथानक में जो तत्त्व निहित है, वह इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्राचीन कथानक उस काल का द्योतक है, जबकि भारतीय समाज चतुर्वर्णों में विभक्त था। यज्ञादि विधि-विधान केवल आर्य लोगों में ही प्रचलित थे और अनार्य-जातियाँ इन समारोहों के लाभ से वंचित रखी जाती थीं। यज्ञादि-निषेध होने के कारण इन जातियों पर वेदादि विद्या का प्रभाव डालने का कोई उपाय न था। ऐसी दशा में भारतीय समाज धर्मबन्धन के कारण दो बृहत् सांस्कृतिक विभागों में बँटा हुआ था—एक आर्य, दूसरा अनार्य। ऐसे समय राष्ट्रीय-नेताओं के सामने यह प्रश्न अवश्य ही उत्पन्न हुआ होगा कि ऐसी परिस्थिति में कौन सा ऐसा उपाय हो सकता है, जिसके द्वारा भारत की समस्त जनता आर्य तथा अनार्य, एक ही मंच पर

---

१. एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदांगसंभवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम्॥
(१ अध्यायः—८—१८)

मनोरंजन तथा उन्नयन के लिए एकत्रित की जा सके। इस समस्या को सुलझाने में यदि धर्म असफल रहा तो कला ने अपना हाथ आगे बढ़ाया। कला में दृश्यकाव्य अथवा नाटक ही इस कार्यभार को सँभालने में समर्थ हुआ। जन-नाटक तो स्वाभाविक रूप से जन-समुदाय में विद्यमान था ही, केवल इतना ही अवशिष्ट था कि जन-नाटकों का वह अभिनव संस्कृतरूप उपस्थित किया जाय, जिससे समस्तवर्णों एवं सभी जातियों का मनोरंजन तथा उन्नयन हो। जन-नाटक का एक प्रकार से यह साहित्यिक रूप निर्द्धारित हुआ। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक यज्ञ का नाटक-रूपी नवीन संस्करण प्रादुर्भूत हुआ। आर्यों और अनार्यों का नाटकद्वारा इस प्रकार सम्मिलन हुआ और देश में सांस्कृतिक एकता की स्थापना हुई। हम अब विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भारतवर्ष की विभिन्न जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न कराने का श्रेय नाटकशास्त्र के उस महान् आचार्य को ही मिलना चाहिए, जिनको हम भरत-मुनि के नाम से पुकारते हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम भारत की सांस्कृतिक एकता का स्वप्न देखा। देखा चाहे किसी और ने भी हो, किंतु इन्होंने ही सांस्कृतिक एकता का वह सहज उपाय ढूँढ निकाला, जो और किसी का दिखाई न देता था। यह बात ठीक ही है कि पुत्र के सत्कार्यों का श्रेय पिता ही को प्राप्त होना चाहिए; इस भारतीय परम्परा के अनुसार भरतनाट्यशास्त्र में वर्णित इस प्रकरण में ब्रह्मा जी का सर्वप्रथम स्थान रहा है।

इस प्रकरण से सिद्ध होता है कि हमारे राष्ट्रीय-जीवन में नाट्यकला का प्रमुख स्थान रहा है। स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के एकीकरण का श्रेय भारतीय नाटक ही को प्राप्त है।

भरतनाट्यशास्त्र में नाटक का प्रयोग

उपर्युक्त कथानक के अनुसार नाटक के निर्माण होने पर अभिनय का प्रश्न छिड़ा। जब इन्द्र ने ब्रह्मा से अभिनय-हेतु अपनी असमर्थता प्रकट की तो भरतमुनि को कार्यभार सौंपा गया। भरतमुनि के यहाँ पुरुष-पात्र पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे, किंतु स्त्री पात्र का अभाव था। ब्रह्मा ने अप्सराओं की रचना करके इस अभाव की पूर्ति कर दी। पृथ्वीतल पर प्रथम अभिनय की तैयारी पूर्ण हुई। स्वर्ग से नारदादि संगीतज्ञ इस उत्सव में सम्मिलित हुए। 'अमृतपराजय' नामक नाटक रंगमंच पर खेला जाने लगा। असुरों को इसकी सूचना मिली। स्वभावतः उन्होंने नाटक-अभिनय का विरोध किया। एक उपद्रव खड़ा हो गया। रंग में भंग होते देख इन्द्र ने अपने ध्वज के नीचे अपने वर्गवालों को आमंत्रित किया। युद्ध की तैयारी होने लगी। साथ ही साथ बुद्धिमानों ने यह भी निश्चय किया कि रंगमंच के लिए एक भवन अर्थात् रंगशाला निर्माण की जाय, ताकि असुरगण सरलता से आक्रमण न कर सकें। तभी से 'खुले मैदान' को छोड़कर रंगशाला में अभिनय होने लगा! दूसरी बार अमृतमंथन का खेल हुआ।

अमृतमंथन का नाटक देखकर ब्रह्मा इतने प्रसन्न हुए कि नटों को स्वतः शिवजी के पास ले गए। शिवजी की उपस्थिति में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम खेला गया। नटराज शिव त्रिपुरदाह नामक खेल देखकर नटों की प्रशंसा करने लगे। नटों को होनहार पाकर शिवजी ने उन्हें अपना नृत्य सिखाया। इस प्रकार भरतमुनि ने नाटक का अभिनय कर दिखाया। इस कथानक से हमारे उल्लिखित मत की और भी पुष्टि हो जाती है। जब

भिन्न-भिन्न रुचि रखने वाले तथा विभिन्न संस्कृतियों के अनुयायी आर्य तथा अनार्य, शिष्ट तथा अशिष्ट, एक ही मैदान में एक ही समारोह के अन्तर्गत समान रूप से सम्मिलित हुए होंगे, तो कोई न कोई विवाद अथवा आतंक पैदा हुआ होगा। जिस प्रकार वैदिक यज्ञों को विध्वंस करने के लिए असुर पहुँच जाते थे, उसी प्रकार आर्य तथा अनार्य सम्मिलन के साधन नाटक रूपी यज्ञ को विध्वंस करने के लिए देश-विद्रोही तथा आततायी पहुँचते रहे होंगे। नाटक के प्रेक्षण के लिए न केवल नर, प्रत्युत नारियाँ तथा बच्चे भी उपस्थित रहते होंगे। उनकी रक्षा तथा कला सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने के लिये रंगमंच-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। अतः स्वभावतः भरतमुनि के काल में नाटक के अभिनय के लिए रगमच का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है, कि भरतमुनि के समयमें नाटक के निम्नलिखित विविध अवयव निर्द्धारित हो चुके थे : १. नट २. नटी (स्त्रीपात्र का अभिनय स्त्रीद्वारा ही किया जाता है) ३. नृत्य-वाद्य, ४. संगीत ५. संवाद ६. कथावस्तु ७. रंगमंच।

कालिदास के मत मे नाटक का महत्त्व

भरतमुनि के मतानुसार नाटक का जो प्रयोजन हम पूर्व वर्णन कर आए हैं, कालिदास [१] के मत मे हमें उसकी पुष्टि भी मिल जाती है।

---

१. दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि-विवर्द्धनम्।
विनोदजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥

नाट्यशास्त्र १, अध्यायः—११४-११५

शताब्दियों के अनुभव के पश्चात् नाट्यशास्त्र जब कालिदास के काल में पहुँचा, तो भी इसका वह गुण तद्वत् बना रहा। यह कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा कि कालिदास के समय में नाट्यकला की महत्ता और अधिक बढ़ गई। नाटक केवल साधारण व्यक्तियों को ही आनन्द नहीं पहुँचाता रहा, प्रत्युत देवताओं की आँखों को प्रिय लगने वाला एक यज्ञ का भी काम करता रहा। नाटक ही एक ऐसा उत्सव था, जिसमें भिन्न-भिन्न रुचि वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक सा आनन्द मिलने लगा। 'मालविकाग्निमित्र' में नाट्याचार्य गणदास के मुख से[1] इसे कालिदास ने स्पष्ट करा दिया है।

शारदातनय के मत से नाटक का महत्त्व

कई शताब्दियाँ और व्यतीत हुईं। तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शारदातनय ने भावप्रकाश में इस सिद्धांत का निरूपण विस्तारपूर्वक करते हुए लिखा है कि जन-समुदाय की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, और इन्हीं भिन्न-भिन्न स्वभावों के आधार पर नाट्य की रचना की जाती है। यही कारण है कि लोग अपने

---

१. देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतं व्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते॥
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥
...मालविकाग्निमित्र नाटक...प्रथम अंक

अपने शिल्प, शृंगार, व्यवसाय, कर्म और वचन के अनुसार चिरचित नाटक को प्रिय समझते हैं[1]।

भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों का उल्लेख करते हुए शारदातनय लिखते हैं कि कामी, चतुर, सेठ, वैरागी, शूर, ज्ञानी, वयावृद्ध, रस-भाव के विवेचक, बालक, मूर्ख, अबला सभी मनोनुकूल नाटक से आनन्द प्राप्त करते हैं। इसी को और स्पष्ट करने के लिए शारदातनय उसका कारण बता रहे हैं—"तरुण जन काम की बातों में, विदग्ध व्यक्ति नीतिसम्बन्धी बातों में, सेठगण धन सम्पत्ति में, वैरागी मोक्ष की वार्ता में, शूरवीरजन बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, वयोवृद्धजन धर्माख्यानों में, बुद्धिमान लोग सभी सत्त्वभावों में सन्तुष्ट होते हैं। कहाँ तक कहें बालक, मूर्ख, तथा स्त्रियाँ भी हँसी की वार्ता श्रवणकर और नटों का वेश देखकर ही मनोरंजन करती हैं।

---

१. नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
यद्यत्स्वशिल्पं नैपथ्यं कर्म वा चेष्टितं वचः॥
तत्तन्नाट्येन साध्यं यत्स्वकर्मविषये स्थितम्।
कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः॥
शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धै रसभावविवेचकैः।
बालमूर्खाबलाभिश्च सैव्यं यन्नाट्यमुच्यते॥
तत्तदर्थेषु तेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम्।
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धः समयाश्रिते॥
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेत्वथ विरागिणः।
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च॥

नारदमुनि के सदृश भगवान महावीर और बुद्ध जी भी नाटक देखकर प्रसन्न हुए थे। जैनियों का 'शत्रपसेणीय सुत' नामक एक धार्मिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महावीर जी की कथा दी गई है। एक कथा के अनुसार भगवान महावीर जी भ्रमण करते करते आमलकप्पा नगरी में पहुँचे और अम्बसाल बन में अशोक वृक्ष की शीतल छाया में एक शिला पर आसीन हुए। तत्काल ही सूर्याभदेव स्वर्ग से अवतीर्ण होकर सम्मुख उपस्थित हुए। भगवान महावीर जी का अभिनन्दन करने के लिए अनेक प्रकार के वाद्यों और संगीत के साथ सूर्याभदेव ने अभिनयात्मक नाटक भी दिखाया। अभिनय कला में सूर्याभदेव इतने प्रवीण थे कि उन्होंने श्रीमहावीर जी को अपने अभिनय से प्रसन्न कर दिया।

प्राचीन काल में अभिनय और अभिनयशाला

वैदिक युग में नाटक—

कहा जाता है कि मानव-समाज में मूलतः नाट्यकला की उत्पत्ति उसी दिन हुई जिस दिन किसी बालक ने खेल-खेल में

धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यश.।
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा।
बाला मूर्खास्स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा।
यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च॥

भावप्रकाशनम् पृ० २२७-२२८

अपने को किसी अन्य व्यक्ति की कल्पना की[१]। उस दिन से आज तक यह कला निरन्तर विकसित होती जा रही है। पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वान् इस विषय पर वर्षों से गवेषणा करते चले आ रहे हैं कि नाटक की उत्पत्ति किस देश और किस काल में सर्वप्रथम हुई। ऋग्वेद, जो संसार के प्राचीनतम ग्रन्थों में परिगणित होता है, इस समस्या पर प्रकाश डालता है। ऋग्वेद-काल में नृत्यकला का इतना प्रचार हो चुका था कि उषा का वर्णन करते हुए ऋषिगण उसकी उपमा एक नर्त्तकी से देते रहे। इसके अतिरिक्त नाटक के मुख्य अवयव संवाद का उल्लेख भी पुरुरवा-उर्वशी[२], यमयमी[३], इन्द्रइन्द्राणी वृषाकपि[४], सरमा पाणिस[५] के कथोपकथन में उपलब्ध होता है। सोमपान[६] के अवसर पर तो एक लघु अभिनय का भी प्रसंग कात्यायन श्रौत सूत्र में प्राप्त होता है।

---

१. Drama could spring from the play of a child who imagines, for the time being, that he is someone else.

The development of dramatic art. 1928 By Donald Clive Stuart Prof. Of Dramatic art, princeton University page 1.

२. पुरुरवा उर्वशी संवाद ..ऋग्वेद १०.९५

३. यम-यमी-संवाद...ऋग्वेद १०.१०

४. इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद.. ऋग्वेद १०.८६

५. सरमा-पाणिस-संवाद.. ऋग्वेद १०.१०८

६. कात्यायन-श्रौतसूत्र ७.८.२५

लघु अभिनय का भी प्रसंग कात्यायन श्रौतसूत्र में प्राप्त होता है।

सोमयाग नामक यज्ञक्रिया की योजना सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम बेचने वाले वनवासियों के साथ यजमान सोम-विक्रेता और अध्वर्यु का संवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है।[1]

"सोम-विक्रयी—सोमराजा बेचोगे ?"

"बिकेगा।"

"तो लिया जायगा।"

"ले लो।"

"गौ की एक कला से उसे लूँगा।"

"सोमराजा इससे अधिक मूल्य के योग्य हैं।"

"गौ भी कम महिमावाली नहीं है। इसमें मट्ठा, दूध, घी सब हैं।"

"अच्छा आठवाँ भाग ले लो।"

"नहीं सोमराजा अधिक मूल्यवान् हैं।"

"तो चौथाई लो।"

"नहीं और मूल्य चाहिए।"

"अच्छा आधी ले लो।"

"अधिक मूल्य चाहिए।"

"अच्छा पूरी गौ ले लो भाई !"

"तब सोम राजा बिक गए। परन्तु और क्या दोगे ? सोम का मूल्य समझ कर और कुछ दो।"

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध।

"स्वर्ण लो, कपड़े लो, गाय के जोड़े, बछड़ेवाली गौ, जो चाहो सब दिया जायेगा।"

(यह मानो मूल्य से अधिक चाहने वाले को भुलावा देने के लिए अध्वर्यु कहता है।)

परन्तु जब सोम-विक्रेता अपना सोम बेचने को प्रस्तुत हो जाता, तब स्वर्ण दिखाकर उसके हृदय में तृष्णा उत्पन्न करके उसे निराश किया जाता। इस अभिनय का प्रदर्शन किंचित् काल तक चलता रहा। "संमेत इति सोमविक्रयिणं हिरण्येनाभिकम्पयति।" "हिरण्यं दत्त्वा स्वीकुर्वतस्तं निराशं कुर्यात्", का उद्धरण सूत्र की टीका में मिलता है। इस प्रकार सोम-क्रय-कर्त्ता सोमविक्रेता को छकाकर स्वर्ण यजमान को सौंप देता और सोम का मूल्य उसे एक बकरी दी जाती। अनुमानतः उसे स्वर्ण भी दे ही दिया जाता। तदुपरान्त विक्रेता यजमान के कपड़े पर सोम डाल देता। सोम का स्पर्श हो जाने पर यजमान जप करने लगता। ऐसा प्रतीत होता कि सोम के झगड़े से उसका कोई अभिप्राय ही न हो। सहसा परिवर्तन होता, "हिरण्यं सहसाऽऽच्छित्य पृषता वरत्रा-कांडेनाहन्तिवा" सोम-विक्रेता से स्वर्ण छीन कर उस पर कोड़े से प्रहार किया जाता और वह भाग जाता। तत्पश्चात् सोमराजा को गाड़ी में बिठाकर उसकी परिक्रमा कराई जाती। तदुपरान्त इन्द्र का आह्वान किया जाता, जो सोमरस के रसिक, आनन्द तथा उल्लास के रूप माने जाते थे।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर प्रो० मैक्समूलर ने अनुमान लगाया है कि भारतीय नाट्य के आदि स्रोत वेदों में उपलब्ध कर्मकांड के मंत्र हैं। उनकी धारणा है कि यज्ञों के अवसर पर

---

१. कात्यायन श्रौतसूत्र ७.८.२५.

इन्द्र और मरुत् का प्रतिनिधित्व करने वाले दो पक्ष, जो परस्पर संवाद करते थे, वही कथोपकथन भारतीय नाटक का प्रारम्भिक रूप[1] था। प्रो० सैलवेन[2] लेवी ने प्रो० मैक्समूलर के मत का अनुमोदन करते हुए इतना और कहा है कि वैदिककाल में भारत में नृत्य और संगीत कला पूर्णरूप से उन्नत हो चुकी थीं। ओल्डेन[3] बर्ग का कथन और भी महत्त्वपूर्ण है। उनका अनुमान है कि वैदिकसंवाद इंडोयुरोपियन काल के विवरण के सूचक हैं और मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक थे। पद्यभाग भावप्रदर्शन का साधन होने से सावधानी से विरचित और सुरक्षित रहे, किन्तु गद्यांश पद्यभागों को केवल शृंखलाबद्ध करने के हेतु प्रयुक्त होते थे, अतएव अनिश्चित और अरक्षित बने रहे, एतदर्थ संहिताकाल में विलुप्त हो गए।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर डा० दासगुप्त[4] का कथन है कि इसे स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं और तत्कालीन धार्मिक संगीत और नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध अवश्य रहा है।

---

१. Max Muller's version of the Rg-Veda, Vol. 1. p. 173.

२. "Le Theatre Indian" Bibliothique de l' Ecole des-Haits Etudes, Fascicule 83,1890, pp. 307-308.

३. H. Oldenberg in ZDMG, XXXII, page 54 f; XXXIX, p. 52.

४. History of Sanskrit Literature Volume I, 1947. page 44. by S.N. Das Gupta and S.K. Das.

वैदिक काल और नाटक का अभिनय

वैदिक काल में नाटकों के अभिनय के सम्बन्ध में विद्वानों के विविध मत पाये जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उस काल में व्यवसाय रूप से नाटक करने वाली शैलूष जाति विद्यमान थी। शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय में शैलूषजाति का अस्तित्व प्राप्त होता है।

"नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै
भीमलं नमोय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे
कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्य्याय तक्षाणम् ॥६॥[१]"

इसका अर्थ है कि नृत्त (तालल्य के साथ नाचने) के लिए सूत को, गीत के लिये शैलूष (नट) को, धर्मव्यवस्था के लिए सभाचतुर को, सबको विधिवत् बिठाने के लिए भीमकाय युवकों को, विनोद के लिए विनोदशीलों को, शृंगार-सम्बन्धी रचना के लिए कलाकारों को, समय बिताने के लिए कुमारपुत्र को, चातुर्यपूर्ण कार्यों के निमित्त रथकारों को, धीरजसंयुक्त कार्य के लिए बढ़ई की नियुक्ति करनी चाहिए।

उपर्युक्त उद्धरण से प्रतीत होता है कि यज्ञ के समय नृत्य और गीत के लिए सूत्र और शैलूष (नट) की नियुक्ति की जाती थी। नृत्त और गीत मिलकर नाटकाभिनय का पूर्वरूप निर्मित करते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि शुक्ल यजुर्वेद की रचनाकाल में नाटकों का कोई न कोई प्रारम्भिक रूप अवश्य प्रचलित था।

---

१. यजुर्वेद संहिता ३०वां अध्याय छठा मंत्र।

किन्तु कतिपय विद्वान इस मत से सहमत नहीं। डा० दास गुप्त का कहना है कि :

अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि वैदिक काल में नाटक के मौलिक तत्व विद्यमान थे, तथापि इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस काल में लोग नाटक के प्रारम्भिक रूप से भी अभिज्ञ थे। न तो नाटक के पात्रों का वर्णन मिलता और न ही नाटक सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का कहीं उल्लेख है। सम्भव है कि नाटकीय धार्मिक उत्सवों से उस नाट्यकला का सम्बन्ध रहा हो जो अभी गर्भस्थ शिशु सदृश प्रगट नहीं हुई थी।[1]

रामायण और नाटक

श्रीवाल्मीकि जी राम के राज्याभिषेक का वर्णन करते समय लिखते हैं कि उस समय विभिन्न प्रकार के उत्सव हो रहे थे।

---

1. "It seems, therefore, that even if the elements of the drama were present in the Vedic times, there is no proof that the drama, in however, rudimentary form, was actually known. The actor is not mentioned nor does any dramatic terminology occur. There may have been some connection between the dramatic religious ceremonies and the drama in embroyo."

History of Sanskrit Literature by Dr. S.N. Das Gupta and Dr. S.K. De. University of Calcutta 1947, page 46-47.

"नटों, नर्त्तकों और गाते हुए गायकों के कर्णसुखद वचनों को जनता सुन रही थी[1]।"

इस प्रसंग से स्पष्ट लक्षित होता है कि रामायणकाल में अयोध्या में नाटक मंडलियाँ विद्यमान थीं और नाटक के अभिनय अवश्य ही होते रहे। कुश और लव ने राम को सीताव्यथा की जो कथा सुनाई उसके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह मत है कि वास्तव में वे कुशीलव (नट) ही थे।

महाभारत में नाटक

महाभारत में दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

१. रामायण नाटक, २. कौबेररम्भाभिसार नाटक।

इन नाटकों के अभिनय का विलक्षण इतिहास है। कौबेर-रंभाभिसार में तो किस-किस व्यक्ति ने पात्र का रूप धारण किया, इसका भी विवरण मिलता है। हरिवंशपर्व[2] में प्रद्युम्नविवाह का प्रकरण आता है। उसमें कथा है कि वज्रनाभ राक्षस ने घोर तप किया। ब्रह्मा जी तप से प्रसन्न होकर प्रकट हुए और उन्होंने वरदान माँगने को कहा। वज्रनाभ ने वरदान माँगा कि मुझे कोई भी देवता मार न सके और वज्रपुर नामक नगर पर मेरा ही अधिकार हो। ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कह कर प्रस्थान किया।

ब्रह्मा से वरदान पाकर वज्रनाभ इन्द्र के पास गया और उसको मारने के लिए ललकारा। इन्द्र ने कृष्ण से सहायता

---

१. नटनर्त्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्ण सुखा वाचः सुश्राव जनता ततः॥
: वाल्मीकि रामायण :

२. महाभारत हरिवंश पर्व ९१ से ९७ अध्याय।

माँगो। उस समय वसुदेव जी का अश्वमेध यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञ में भद्र नामक नट ने अपने नाट्य से महर्षियों को प्रसन्न करके आकाश में चलने तथा मनोनुकूल रूप बदलने का वरदान पाया।

कई धार्तराष्ट्र (हंसों) को वज्रनाभ नगर में इसलिए भेजा गया कि वे वज्रनाभ की कन्या प्रभावती को प्रद्युम्न पर मोहित कराकर विवाह के लिए प्रेरणा करें। शुचिमुखी नामक हँसी ने प्रभावती को प्रद्युम्न के ऊपर ऐसा मुग्ध कर दिया कि वह दर्शन के लिए व्याकुल हो उठी। हँसी ने वज्रनाभ से भद्रनट का ऐसा वर्णन किया कि वह उसको लाने के लिए व्यग्र हो उठा।

इधर श्रीकृष्ण जी ने भद्रनट के साथ कई यादवों को नट के रूप में वज्रनाभ की नगरी में भेज दिया। उस नटमंडली में प्रद्युम्न तो नायक बन गए, गद परिपार्श्वक बने और साम्ब नामक यादव विदूषक बना। कई यादव नटी बन कर साथ-साथ गए। जब नटमंडली वज्रपुर के उपनगर सुपुर में पहुँची तो उनका स्वागत किया गया और उन नटी-नटों ने रामायण का नाटक रंगमंच पर अभिनीत किया, कुशल नटों का रम्य अभिनय देखकर दानव मुग्ध हो गए।

अब क्या था...वज्रनाभ को सूचना मिली। उसने नट-मंडली को अपने नगर में आमंत्रित किया। नाटक का अभिनय होने लगा। घन, सुषिर, मुरज और तंत्री के वाद्य के मध्य 'गंगा-वतरण' की कथा का अभिनय देव-गान्धार राग में होने लगा। तदुपरान्त कौबेर-रम्भाभिसार नाटक होने लगा। शूर ने रावण का पाठ किया, साम्ब ने विदूषक का और मनोवती ने रम्भा का रूप धारण किया। यह अभिनय इतना सफल हुआ कि दैत्यों ने

द्रव्य लुटाए और उनकी स्त्रियों ने अपने आभूषण उतार-उतार कर कुशल नटों का प्रदान कर दिए। इसी बीच वज्रनाभ का वध हुआ और प्रद्युम्न का विवाह प्रभावती के साथ कर दिया गया।

पाणिनी[1] के सूत्र में हमें दो आचार्यों के नाम भी प्राप्त हुए हैं: १. शिलाली और २. कृशाश्व। इन दोनों आचार्यों की कृतियाँ अतीत के गर्भ में अभी निहित हैं। यदि इनके ग्रंथ उपलब्ध हो जाते तो सम्भव था कि नाट्यशास्त्र और नाट्यकला के सम्बन्ध में कितनी नई बातें और कितने नए विचार उपलब्ध हो जाते।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र और नाटक

कौटिल्य[2] का अर्थशास्त्र भी इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कथा सुनाकर जीविका कमाने वाले, कुशीलव (नृत्य के साथ गाने वाले), प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमिक, 'ऐंद्रजालिक' चारण आदि विद्यमान थे। इतना ही नहीं, प्रत्येक मंडली का राजकर (Entertainment Tax) भी निश्चित था। यदि नटों की कोई मंडली

---

१. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ॥ पाणिनि ॥

४४।१।११०

कर्मंदकृशाश्वादीनि। पाणिनि। ४।३।१११

२. एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवक-सौमिकचारणानां स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढा जीवाश्च व्याख्याताः।

बाहर से खेल दिखाने के लिए आती थी तो प्रत्येक खेल का पाँच पण राजा को कर के रूप में देना पड़ता था[1]।

कौटिल्यकाल में राज्य की ओर से इन नटों की शिक्षा व्यवस्था भी की जाती थी। जितनी भी ललितकलायें थीं उनको राज्य की ओर से प्रोत्साहन प्राप्त था। अर्थशास्त्र बताता है कि गणिका,दासी तथा अभिनय करने वाली नटियों को गाना-बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी; वीणा, वेणु तथा मृदंग बजाना,दूसरे की मनोवृत्ति को समझना,गन्ध निर्माण करना, माला गूँथना, पैर आदि अंग दबाना, शरीर का शृंगार करना, तथा चौसठ कलायें सिखाने के लिए योग्य आचार्यों का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिए[2]।

बौद्धकाल में नाट्यकला का प्रचार भारतव्यापी होना विनय-पिटक के द्वारा प्रमाणित होता है। विनयपिटक के चुल्लवग्ग में यह कथा मिलती है कि अश्वजित् और पुनर्वसु नामक दो भिक्षु एक बार कीटागिरि की रंगशाला में अभिनय देखने गए। नाटक की समाप्ति पर वे दोनों संघाटी फैलाकर नाचने वाली नर्तकी के साथ मधुर अलाप करते रहे। इसकी सूचना जब बिहार के महा-

---

१. तेषां तूर्यकागन्तुकं पंचपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्।

कौटिल्य अर्थशास्त्र अध्यक्ष प्रचार अधिकरण, २७वाँ अध्याय।

२. गीतवाद्यपाठ्यवृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तज्ञानगन्ध-माल्यसंयूहन-सम्पादन-सम्वाहन-वैशिककला ज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजीविनीश्च ग्राह्यता राजमंडलादाजीवं कुर्यात्।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र ॥४१॥

स्थविर के पास पहुँची तो उन्होंने उन दोनों भिक्षुओं को विहार से निर्वासित कर दिया[1]।

पतंजलि के महाभाष्य में हमें दो साहित्यिक नाटकों का विवरण मिलता है। कंसवध और बालिवध, दोनों धार्मिक नाटकों का उल्लेख पतंजलि ऋषि ने किया है। कंसबध के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि कंस के साथ कृष्ण युद्ध की घटना को नट अपनी आकृति रंग कर प्रदर्शित करते थे। डा० कीथ इससे यह परिणाम निकालते है कि पतंजलि के समय नट केवल नर्तक नहीं रह गए थे। ये संगीतज्ञ थे, और संगीत तथा अभिनय द्वारा नाटक की घटनाओं को प्रदर्शित करते थे। विविध प्रमाणों के आधार पर डा० कीथ का कहना है—

"इससे यह निष्कर्ष निकला कि यदि संस्कृत नाटक ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से प्राचीन नहीं, तो उससे अधिक अर्वाचीन भी नहीं और इनको प्रेरणा महाकाव्यों के गायन तथा कृष्ण जीवन की उन नाटकीय घटनाओं से प्राप्त हुई जिनमें बालक कृष्ण अपने शत्रुओं से संघर्ष करके विजय प्राप्त करता है।"[2]

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकरप्रसाद, तृतीय संस्करण ॥ पृष्ठ ६१ ॥

2. Sanskrit Drama

"The balance of probalility, therefore, is that Sanskrit Dramas came into being shortly after, if not before, the middle of the second century B C. and that it was evoked by the combination of epic recitations with the dramatic movement

अभिनय और समाज

शुक्ल यजुर्वेद, रामायण महाभारत, बौद्ध जैन कथाओं तथा कौटिल्यशास्त्र से अभिनय की प्राचीनता प्रमाणित हो गई। अब देखना यह है कि नाटकों के अभिनय के प्रसंग और अवसर कब कब आते थे। विशेष अवसरों के अतिरिक्त कुछ निश्चित पर्व भी थे, जिस समय नाटकों का अभिनय अनिवार्य रूप से हुआ करता था। कामसूत्र में वात्स्यायन ने इसका उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि सरस्वती-भवन में पक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वों के अवसर पर राजा की ओर से नियुक्त नटों का अभिनय होता था। इस उत्सव को समाज कहा जाता था[1]।

आचार्य ए० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि केवल सरस्वती के मन्दिर में ही ऐसे उत्सव हुआ करते होंगे, सो बात नहीं है, अन्यान्य देवताओं के मन्दिर में भी यथानियम हुआ करते थे[2]। खास-खास मंदिरों में भी धार्मिक उत्सवों के अवसर पर नाच, गान की व्यवस्था रहा करती थी। शादी, ब्याह, पुत्र-जन्म या अन्य आनन्दव्यंजक अवसरों पर नागरिक लोग रंग-शाला और नाच घर बनवा लेते थे[3]।

---

of the Krishna legend, in which a young God strives against and overcomes enemies."

By Dr. Keith page 45. Oxford At the Clarendon press

१. पक्षस्य मासस्त्र वा प्राख्यातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कामसूत्र, नागरकवृत्तप्रकरण ॥१५॥

२. प्राचीन भारत का कलाविलास पृ० ८७

३. प्राचीन भारत का कलाविलास पृ० ७५

अभिनय की लोकप्रियता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा कि साधारण लोग भी पारिवारिक उत्सवों के समय नाटकों की व्यवस्था कर लिया करते थे।

उत्सव और प्रेक्षागृह

प्राचीनकाल में रंगशालाओं के दो वर्ग थे :—१. स्थायी रंगशाला, २. अस्थायी रंगशाला। राजभवन के भीतर तो स्थायी रंगशालाएँ बनती थीं, किन्तु राजाओं की विजययात्राओं के पड़ावों पर अस्थायी रंगशालाएँ निर्मित होती थीं। ये रंगशालायें विस्तार की दृष्टि से तीन प्रकार की होती थीं:—सबसे बड़ी रंगशाला वर्गाकार १०८ हाथ लम्बी होती थी और मध्यम श्रेणी की वर्गाकार ६४ हाथ लम्बी। तीसरे प्रकार की रंगशाला त्रिभुजाकार होती थी, जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। पं० हजारीप्रसाद जी लिखते हैं कि मध्यम श्रेणी की रंगशाला ही अधिक प्रचलित थी[1]।

रंगभूमि

रंगशालाओं के दो भाग होते थे। एक भाग अभिनयकर्ता नटों के लिए नियत होता था, और दूसरे में दर्शक बैठा करते थे। जहाँ अभिनय होता था उसे रंगभूमि या केवल रंग कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या पर्दा होता था। पर्दे के पीछे का भाग नेपथ्य कहलाता था। यहीं अभिनेता प्रसाधन करते थे। यहीं से रंगभूमि में उतरा करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान (नेपथ्य) रंगभूमि से कुछ ऊँचा होता था, क्योंकि संस्कृत नाटकों में 'रंगावतार' शब्द प्रयुक्त होता है, जिस का अर्थ है रंगभूमि में उतरना।

---

१. वही पृष्ठ ७६, ७७

दूसरा अध्याय

लोकनाटक

किसी भी देश की सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन स्वभावतः निकाल ही लेती है। इन साधनों में नाटक का स्थान उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जिस प्रकार पठित समाज में 'काव्येषु नाटकम्' का। पठित-समाज के सदृश अपठित तथा अर्द्ध-पठित समाज में भी प्रतिभाशाली व्यक्ति होते रहते हैं, जो अपने समुदाय के अनुरूप जनकाव्य और जननाटक का सृजन करते रहते हैं। उनकी रचनाद्वारा लक्ष-लक्ष ग्रामीण जनता दृश्य तथा श्रव्य काव्य का रसास्वादन करती है। यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की विद्यमानता में भी जन-नाटक की रचना होने का मुख्य कारण बताते हुए डा० कीथ कहते हैं कि "संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जनभाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिए प्रायः असम्भव था। केवल अल्पसंख्यक शिष्टवर्ग उस भाषा के समझने में समर्थ था और उसी उच्चपदस्थ अल्पसंख्यक पठित समाज के लिये साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। एतदर्थ संस्कृत नाटक केवल एक वर्गविशेष की कलाभिरुचि और हास्यविनोद का विषय रहा है। सामान्य जनसमुदाय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था।"

उपर्युक्त निष्कर्ष चाहे सर्वथा विवाद-रहित न हो, किन्तु इसे कोई भी अस्वीकार न करेगा कि केवल साहित्यिक नाटक जनता

के दैनिक जीवन में मनोविनोद के सर्वोच्च साधन किसी युग में भी न बन पाए होंगे। अतएव सामान्यतः अपठित तथा अर्द्ध-पठित जनसमुदाय में उनके जीवन के अनुरूप हास्य-विनोदमय नाटक का सृजन होता चला आया है। जैसा कि हम पूर्व ही कह आए हैं, इसकी प्रेरणा स्वभावतः जनसमुदाय में विद्यमान रहती ही है, और यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि साहित्यिक और जननाटक एक दूसरे पर प्रभाव भी डालते रहे होंगे, और इनका परस्पर आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा होगा। उदाहरण के लिए जननाटक का हँसोड पात्र संस्कृत नाटक में विदूषक के रूप में आ गया। इसी प्रकार रंगमंचादि साहित्यिक कलाओं का प्रवेश जननाटक में होने लगा है। अतः यह निःसंदेह रूप से मानना चाहिए कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक-प्रणयन से पूर्व कोई-न-कोई नाटक-परम्परा प्रत्येक भाषा-भाषी प्रान्त में विद्यमान अवश्य रही है, जो संभवतः साहित्यिक नाटक की उत्पत्ति का मूलकारण न होते हुए भी ज्येष्ठभगिनी के नाते उसकी परिचर्या अवश्य करती रही होगी। जननाटक और साहित्यिक नाटक का यह परस्पर सम्बन्ध हमारे ही देश में नहीं, अन्य देशों में भी रहा है। अंग्रेजी के नाटक जब शैशव में थे तो उन पर जननाटक प्रभाव डालते रहे[1]।

हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जननाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बँगला में यात्रा कवि कीर्तनियाँ नाटक; बिहारी में बिदेशिया; अवधी, पूर्वी हिंदी, ब्रज तथा खड़ी बोली में रास, नौटंकी, स्वांग, भाँड, राजस्थानी में

1. The Cambridge History of English Litrature Vol. 5 Page 23, University press 1910

रास, झूमर, ढोलामारू; गुजराती में भवाई; महाराष्ट्री में लड़िते और तमाशा; आंध्र की भाषा में भगवतमेल आदि नाटक विद्यमान थे। जननाटक के उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्यभाग प्रायः उपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्त्व नहीं था, और वेशभूषा तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे। आज की तरह ही संगीतमय वातावरण की प्रधानता का लक्ष्य होने के कारण नाटक के अन्य तत्त्व अनपेक्ष माने जाते थे।

कहा जाता है कि हिंदी के साहित्यिक नाटक पर लीलानाटक और स्वांग नाटक का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। ये दोनों-शैलियाँ साहित्यिक नाटक पर प्रभाव डालती और स्वयं प्रभावित होती चली आ रही हैं। इनका भी अब प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है। अतएव हिंदीनाटक की उत्पत्ति और विकास का विवरण रास और स्वांग आदि की परम्परा के अनुसंधान बिना अपूर्ण ही माना जायगा।

स्वांग की परम्परा

जननाटक की प्रस्तुत शैलियों में स्वांगनाटक एक विशेष स्थान रखते हैं। स्वांगनाटक हिंदी-भाषा की उत्पत्ति के साथ साथ ही जनता के सामने आ गए होंगे। हिंदी-भाषा में स्वांग से प्राचीनतर नाटक का उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सिद्ध कण्हपा विक्रम की नवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने डोंमिनी के आह्वानगीत में स्वांग का उल्लेख इस प्रकार किया है :

नगर बाहिरे डोंबी तोहारि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया ॥

"आलो डोंबि ! तोए सम करिब य सांग निघिण कण्ह कपाली
जोइ लाग ॥
एक सो पदमा चौषट्टि पाखुड़ी । तहि चढ़ि नाचअ डोंबी बापुड़ी ॥"

उपर्युक्त उद्धरण वज्रयानियों की योगतंत्र साधना से सम्बन्ध रखता है । इस साधना में डोमिनी आदि का अबाध सेवन एक आवश्यक अंग माना जाता है । डोमिनी के साथ सांग करने का आह्वान उस काल की सांगशैली को प्रमाणित करता है । डोमनियों के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है । यह डोमनियों का नाटक स्त्रियों के मध्य होता है । इस नाटक में डोमनियाँ ही पुरुष का वेश बनाकर पुरुषों का अभिनय करती हैं । एक उल्लेखनीय बात यह है कि डोमजाति का व्यवसाय ही स्वांग करना है । इसी प्रकार भाँड जाति का व्यवसाय काश्मीर आदि प्रदेशों में उसी प्रकार नाटक करना है, जिस प्रकार उत्तर-भारत में रूप भरना नट का व्यवसाय है । जननाटक का यह भांड ही संस्कृत में 'भाण' रूप से आता है ।

जायसी ने भी स्वांग का उल्लेख किया है । अलाउद्दीन ने चित्तौड़ भेजने के लिए जोगिन का सफल स्वांग करने वाली एक वैश्या को राजमहल में आमंत्रित किया और उसे दूती बनाकर चित्तौड़ भेजा । बादशाह-दूतीखंड में इसका उल्लेख इस प्रकार है[1] ।

---

१. जायसी ग्रन्थावली पं० रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी संवत् २००६ वि०, पृ० २७५, बादशाह दूती-खंड, दोहा १

पातुरि एक हुति जोगि सवाँगी। साह अखोर हुत ओहि माँगी॥
जोगिनी भेस वियोगिनि कीन्हा। सींगी सबद मूल तत लीन्हा॥
पदमिनी पहँ पठई करि जोगिनि।
बेगि आनु करि विरह वियोगिनि॥

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि जायसी के समय स्वांग करने वाले केवल पुरुष ही नहीं, प्रत्युत स्त्रियाँ भी हुआ करती थीं। संभवतः वेश्यायें इस कला में निपुण मानी जाती थीं।

जायसी के पूर्व कबीरदास के समय में स्वांग और तमाशा का इतना अधिक प्रचार हो रहा था कि साधु महात्माओं के आदेश अवज्ञा के कानों से सुने जाते थे। कबीरदास जी निद्रा-प्रेमी श्रोताओं को सम्बोधित करके कहते हैं :—

कथा होय तहँ स्रोता सावैं, वक्ता मूँड पचाया रे।
होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे[1]॥

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि स्वांग और तमाशा उस समय भी अत्यन्त आकर्षक रूप में होते थे। स्वांग जनता के मनो-विनोद का प्रधान साधन बना था तभी तो कबीर ने इसका उल्लेख किया।

१७वीं शताब्दी में विरचित बरकत उल्लाह साहब के प्रेम-प्रकाश नामक ग्रंथ में रूप भरने का प्रयोग पाया जाता है। इस संबंध में बहुरूपिया शब्द की ओर भी ध्यान जाता है। भारतीय

---

१. कबीर वचनावली. अयोध्यासिंह उपाध्याय, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, नवाँ संस्करण सं० २००३ वि० पृ० २१६।

जनवर्ग में रूप भरने की कला का प्रकार इसके द्वारा भी सिद्ध होता है ।

यह स्वांग-परम्परा शताब्दियों से मौखिक चली आ रही थी। लेखबद्ध स्वांग का प्रमाण १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मिलता है। पं० रामगरीब चौबे स्वांग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि अम्बाराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण सहारनपुर में निवास करते थे। सर्वप्रथम आधुनिक शैली में उन्होंने स्वांग के गानों की रचना की और सन् १८१६ के आसपास इनका अभिनय हुआ।[1]

उपलब्ध स्वांगसाहित्य हाथरस और रोहतक की दो शैलियों में लिखे जाने के कारण दो रूपों में मिलता है। देहात में यह वार्ता अति प्रचलित है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में दीपचंद नामक स्वांगी प्रसिद्ध व्यक्ति था। उसमें काव्यप्रतिभा के साथ-साथ अभिनय-कला-संबंधी गुण भी थे। उसने अश्लील और शृंगारी स्वांगों का बहिष्कार करके वीररस पूर्ण स्वांगों की रचना की और जनता में वीरता के प्रति उत्साह पैदा किया। उसकी शिष्यपरम्परा रोहतक में अभी तक चली आ रही है।[2] उसके नाटक पौराणिक, राजनैतिक तथा सामाजिक होते हैं। हास्यरस का स्वाद स्थान-स्थान पर मिल जाता है।

---

१. इंडियन एण्टिक्वरी जनवरी १९१० ।

२. दीपचन्द के शिष्य हरदेवा, हरदेवा का शिष्य बाजेनाई, बाजेनाई का शिष्य ऋग्मन, ऋग्मन का शिष्य माँगेराम।

आजकल जनसमाज में स्वांग के कई रूप प्रचलित हैं।[1] आधुनिक स्वांग नाटकों में गद्य का प्रवेश स्पष्ट रूप से साहित्यिक नाटकों का प्रभाव है।

स्वांग के अतिरिक्त ग्रामीण जनता होली के समय भांड़ नामक नाटक द्वारा मनोविनोद करती है। कुछ विद्वानों का मत है कि भांड संस्कृत 'भाण' का ही रूपान्तर है। इसमें भी कभी-कभी एक ही पात्र 'किं ब्रवीषि' की तरह 'क्या कहा' कहता हुआ अभिनय करता है। इसका विषय प्रायः प्रेम होता है और हास्य-रस की प्रधानता होती है, किन्तु जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है हमें इस मत को मानने में संकोच है। 'किं ब्रवीषि' की शैली संस्कृत के और किसी नाटक में आद्योपान्त उपलब्ध नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक नाटकों ने यह शैली जन-नाटकों से अपनाई।

ग्रामीण स्त्रियाँ भी धान रोपते समय नृत्य गान-संयुक्त अभिनय करती हैं। पर्वतीय प्रान्तों में वसन्त-पंचमी के अवसर पर लड़कियाँ 'झूमैलों' नामक गीत गाती हुई अभिनय करती हैं। उनके अभिनय को देखने के लिए पर्वतीय जनता सहस्रों की संख्या में एकत्र होती है और मनोविनोद की इस-नाट्य शैली से रसास्वादन करती है[1]।

जन-नाटकों के संबंध में ग्रियर्सन साहब ने खोज की और उन्होंने कुमाऊँ से एक पुराना व्यंग्य-नाटक (Satire) जनरल आफ़

---

१. स्वांग नाटकों के निम्नलिखित भेद आजकल प्रचलित हैं: १. नाटंकी २. निहाल दे ३. हीर-राँझा ४. नवलदे।

१. जर्नल आफ़ द रायल एशियाटिक सोसाइटी। जुलाई १९०१।

रायल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित किया। व्यंग्य-नाट्य का नाम है 'कृष्णपाँडे कौ कलियुग' रचना काल १८१५ ई० है। इस व्यंग्य नाटक से तत्कालीन मजिस्ट्रेट मि० ट्रेल इतने प्रभावित थे कि प्रायः कृष्णपाँडे से इसको सुनते रहते थे।

उपर्युक्त गवेषणा से यह मत सर्वथा निर्मूल सिद्ध होता है कि हिंदी नाटक चिरकालीन तथा मौलिक नहीं है, प्रत्युत संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनूदित अथवा प्रभावित है।

हिंदी नाटक की परम्परा का मूलस्रोत यह जन-नाटक ही है, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान हैं। क्रमशः इन जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया। इस चिरन्तन प्रवाह में काल तथा देश के संयोग से संस्कृत आदि भाषाओं के स्रोत भी आ मिले। इस सम्मिलन से यह प्रवाह अधिकाधिक रम्य तथा गतिशील होता रहा है। निष्कर्ष यह है कि हिंदी नाटक मौलिक हैं, अन्य भाषाओं से अपहृत नहीं।

यात्रा-नाटक की उत्पत्ति और विकास

यात्रा नाटक का अभिनय:—अति प्राचीनकाल से नाटक की एक शैली यात्रा-नाटक नाम से चली आ रही है। ये यात्रा नाटक प्रायः खुले मैदान में अभिनीत होते हैं। कहीं एक सभा-मंडप निर्मित कर कम्बल, दरी अथवा चटाई बिछा दी जाती है, जिस पर दर्शकगण बैठ जाते हैं। सभा के मध्य में एक रंग-भूमि बना कर एक ओर पर्दा लटका कर उसके पीछे प्रसाधन के निमित्त साजगृह मान लिया जाता है। साजगृह से रंगभूमि तक आने का संकीर्ण मार्ग होता है। लकड़ी की कुर्सियों पर रेशमी

या सूती वस्त्र डालकर सिंहासन बना लिया जाता है। यही सिंहासन नाटक में पात्र रूप से भाग लेने वाले राजा, महाराजा अथवा धार्मिक देवताओं का आसन होता है।

अभिनय के मध्य में आवश्यकतानुसार किसी कर्मचारी द्वारा कोई वस्तु रख दी जाती है, अथवा हटा ली जाती है। किसी पात्र का सवारी पर आना अथवा जाना पात्रों द्वारा सूचित कर दिया जाता है। अभिनय के मध्य में भी दृश्य-परिवर्तन की सूचना पात्रों द्वारा दी जाती है। अवांछनीय पात्र वहीं पर विद्यमान रहते हैं किन्तु सामाजिक को यह मान लेना होता है कि वे उपस्थित नहीं हैं। एक ही व्यक्ति पुरुष और स्त्री दोनों का पाठ करता है और पुरुष पात्र वेश के परिवर्तन में कभी-कभी अपनी मूँछ का अंश उतार नहीं पाता, तो भी वह स्त्री-पात्र मान लिया जाता है।

संगीत का प्राधान्य

ढोल और करताल की ध्वनि नाटकारम्भ से आध घंटा पूर्व ही सुनाई पड़ने लगती है। फिर नाटक की भूमिका बताई जाती है। प्रधानतः नृत्य, गीति और वाद्य के द्वारा ही नाटक खेला जाता है। वार्तालाप, रोना, हँसना आदि संपूर्ण क्रिया-कलाप गेय पदों द्वारा प्रदर्शित होता है।

यात्रा-मंडलियाँ यात्रा-नाटकों का अभिनय उपर्युक्त पद्धति से चिरकाल से करती चली आ रही हैं। हम जन-नाटकों के प्रसंग में देख आए हैं कि यही पद्धति उनके अभिनय की भी रही है। अतएव इन्हें भी जन-नाटक कहने में कोई आपत्ति नहीं। अब स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि इन्हें यात्रा नाटक क्यों कहा जाता है।

यात्रा की उत्पत्ति

यात्रा का अर्थ है जलूस (Religious Procession)। इन यात्रा-नाटकों का सम्बन्ध भी जलूस से रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में देवोपासकगण अपने आराध्यदेव की प्रतिमा का जलूस निकालते समय किसी-न-किसी प्रकार का अभिनय करते जाते रहे होंगे और उस अभिनय विशेष का नामकरण 'यात्रा' किया गया हो। यह स्वाभाविक ही है कि उस जलूस में नृत्य और संगीत को स्थान दिया गया हो। इस प्रकार देवोपासना के समय जलूस से सम्बन्ध रखने वाले नृत्य, संगीत और नाट्य-सम्मिलित अभिनय की पद्धति यात्रा नाम से प्रचलित हुई।

यात्रा नाटक के उत्पत्ति काल के विषय में विविध मत हैं। कोई इसकी उत्पत्ति वैदिक-काल में बताते हैं और कोई उसके उपरांत, किन्तु यात्रा-नाटक की शैली को देखकर हमें यह प्रतीत होता है कि यह वैदिक-काल से भी पूर्व विद्यमान रहा हागा। देव-प्रतिमा के जलूस के साथ इसका संबंध इस बात का प्रमाण है कि यह नाटक मानव-इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा जब संसार की विभिन्न जातियाँ प्रारम्भ में अपने उपास्य देव की प्रतिमायें जलूस के रूप में निकालकर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय किया करती थीं। हमें मैसोपोटामियाँ के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा से चार सहस्र वर्ष पूर्व वहाँ की सुमेर जाति में इसी प्रकार देव-प्रतिमा के जलूस के साथ नाटक प्रचलित था।

अतएव इसी सिद्धांत को मान लेने में क्या आपत्ति हो सकती है कि भारत के मूल-निवासी अपने आराध्यदेव की प्रतिमा का जलूस निकालते समय जिस नृत्यगीत तथा नाट्य का

अभिनय किया करते थे, वही कालान्तर में यात्रा नाम से पुकारा जाने लगा होगा। हमारे इस मत की पुष्टि Mr. E.P. Harwitz के इस कथन से होती है :—

"यहाँ तक कि वैदिक युग भी यात्रा से परिचित था। मात्रा आर्यों की अति प्राचीन प्रसिद्ध पैतृक सम्पत्ति है। ऋग्वेद के देवताओं की स्तुति संगीतमय जलूस में हुआ करती थी। सामवेद के कई मंत्र आदिम यात्रानृत्यों के असंस्कृत विनोद की सीमा तक पहुँच जाते हैं।"[1]

अधोलिखित उद्धरण में विचारणीय अंश है:-"The rude mirth of the primitive Jatra dances" यात्रा के समय जो नृत्य हुआ करते थे, वे वैदिक काल के सुसंकृत आर्यों के नृत्य नहीं, प्रत्युत यहाँ के मूलवासियों के असंस्कृत नृत्य थे। सम्भव है कि मूलनिवासियों की यह नाट्यशैली वैदिक-काल के आर्यों ने अपनाली हो और उसके गानों के स्थान पर वेदमंत्रों के गान संयुक्त करके इसे संस्कृत नाम 'यात्रा' प्रदान कर दिया हो। किन्तु इस नामकरण का यह अर्थ समझना भ्रमपूर्ण होगा कि यात्रा-नाटक का आरम्भ वैदिक-काल में हुआ।

---

1. The Indian theatre page 178.

"Even the Vedic age knew Jatras, memorable heir-loom of Aryan antiquity. The Gods of the Rig Veda were hymned in Choral processions. Some of the Samveda hymns reached the rude mirth of the primitive Jatra dances."

यात्रा नाटक का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर

डा० कीथ के निम्नलिखित उद्धरण से भी यही प्रमाणित होता है कि वैदिक-काल के यज्ञ-संबंधी संवादों से भारतीय नाटक का विकास नहीं हुआ प्रत्युत यात्रा-नामक जन-नाटकों के प्रभाव से प्रभावित आर्य विद्वान्-मण्डली ने संस्कृत नाटकों की एक नई शैली निकाली। इस काल में भी मौलिक जन-नाटक-शैली अबाधगति से अपने स्वाभाविक पथ पर चलती ही रही, जिससे आगे चलकर देशी भाषाओं के नाटक निकले।

"The dramas of ritual, therefore, are in a sense somewhat out of the main line of development of the drama, and the popular side has survived through ages in rough way in the Yatras, well known in Bengal, while the refined and sacerdotalised Vedic drama passed away without a dirct descendant."*

इन उद्धरणों से यात्रा की चिर-प्राचीनता में किसी प्रकार सन्देह नही रह जाता। यात्रा-नाटक हमारे देश के आदि धार्मिक नाटक थे, जिनमें समय समय पर अनेक देवी-देवताओं के महान् क्रिया-कलापों का प्रभाव पड़ता गया। इस प्रकार देश

---

* The Sanskrit Drama by Dr. Keith page 16.

कालानुसार 'शक्ति यात्रा'* 'शिव यात्रा' 'रामयात्रा' 'कृष्ण यात्रा' आदि अनेक यात्रायें प्रसिद्धि प्राप्त करती रहीं। इन्हीं विविध यात्रा-नाटकों का प्रभाव संस्कृत तथा अन्य भाषा के विद्वानों पर पड़ता रहा। इन्हीं की शैली पर संस्कृत में 'गीत-गोविंद' की रचना हुई जिसका अभिनय गीति-नाट्यों के रूप में शताब्दियों से होता चला आ रहा है। चैतन्य के समय यात्रा-नाटकों में कृष्ण-लीला का इतना प्रभाव बढ़ गया कि यात्रा नाटक वर्षों तक 'कालिय दमन यात्रा' नाम से ही पुकारे जाते रहे। यात्रा का यह कालिय दमन नाम चार सौ वर्षों तक प्रसिद्ध रहा।†

यात्रा-नाटक का प्रभाव देशी भाषाओं पर

जननाटक की यह विशेषता रही है कि वह अपनी मौलिकता का रक्षा करता हुआ भाषा और पद्धति में जनरुचि के अनुसार परिवर्तन करता चला आ रहा है। यही कारण है कि नाटक की यह पद्धति शताब्दियों से सफलतापूर्वक अभिनय का कार्य करती आ रही है। ये यात्रा-मण्डलियाँ वाद्य, संगीत तथा कथावस्तु में भी समयानुसार परिवर्तन करती रही हैं। गत शताब्दी में विद्यासुन्दर-यात्रा-मण्डली ने विद्यासुन्दर नामक

---

* "Shakti Yatra"—"It is said that there were Yatras before the birth of Shri Chaitanya, but those yatras were about them as concerned with Shakti. At that time there were no Krishna Yatra."

Somaprakash by D. N. Vidya Bhushan.

† The Bangadarshan (phalgun No 1289.)

काव्य के आधार पर विद्या-सुन्दर नाटक खेलना प्रारम्भ किया। यात्रानाटकों में यह एक विशेष घटना थी। राधाकृष्ण के धार्मिक प्रेम के स्थान पर विद्यासुन्दर का भौतिक प्रेम यात्रा-नाटकों के लिए नितान्त नई बात थी। कहा जाता है कि भारतेन्दु जी विद्यासुन्दर का अभिनय देखकर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने पुरी-यात्रा से लौटकर सर्वप्रथम हिन्दी में यही नाटक विरचित किया।

जिस प्रकार यात्रा-नाटक से भारतेंदु जी प्रभावित हुए उसी प्रकार भारत के दूरस्थ देशों के यात्री इन नाटकों से अवश्य ही प्रभावित हुए होंगे! यह सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर यह कहना ही पड़ेगा कि जनभाषा की नाटक-सृष्टि में यात्रा-नाटक-पद्धति चिरकाल से प्रभाव डालती चली आ रही है। बँगला-नाटक के उत्थान-कर्ता श्री गिरिशचन्द्र घोष * ने तो यात्रा मडली की सहायता से बँगला-नाटकों का सृजन और अभिनय किया।

यात्रा-नाटकों के अतिरिक्त गिरिशचन्द्र घोष के अन्य नाटकों में जो 'शण'† का प्रयोग हास्यरस के रूप में किया गया है वह यात्रा-नाटकों से अपहृत है। घोष ने विविध नाटकों में नृत्य का उपयोग किया है। साधारणतः आनन्दोत्पत्ति के लिए नृत्य का प्रयोग तो संस्कृत-नाटकों में भी मिलता है, किंतु प्रह्लाद चरित जैसे गम्भीर-नाटक में नृत्य-प्रयोग यात्रा-शैली का सूचक है। 'आबू हुसेन'‡ और 'जना' नामक नाटक में Farcical Episode

---

* The Bengali Drama—(The Age of Girish by P. Guha Thakurta Ghosh) page 100

† Ibid ,, page 137

‡ The Bengali Drama—(The Age of Girish Chand Ghosh, Art and Practice page 187.

हास्य की घटना यात्रा-नाटक से ही अपहृत प्रतीत होती है। इससे प्रमाणित होता है कि अपने युग के सर्वश्रेष्ठ† बँगलानाट्यकार गिरिशचन्द्र घोष यात्रा-नाटकों से कितने प्रभावित थे। घोष महोदय ने रामायण के आधार पर पद्यनाटक लिखे। इसी प्रकार 'दक्षयज्ञ', 'ध्रुवचरित्र', 'नलदमयन्ती' नामक नाटक भी आद्योपान्त छन्दोबद्ध हैं। 'हीरारफूल' तथा 'परसियाप्रसून' भी गीति नाट्य हैं। इन नाटकों की रचना से यात्रानाटक का प्रभाव स्पष्टतया प्रमाणित हो जाता है, अन्यथा संवत् १६४१-१६५५ वि० के मध्य पद्यबद्ध नाटक लिखने का प्रयोजन क्या था ?

उन्नीसवीं शताब्दी के यात्रा-नाटक

हम पूर्व कह आए हैं कि यात्रा-नाटक का प्रभाव कविवर जयदेव पर इतना पड़ा कि उन्होंने गीतगोविंद की रचना ही यात्रा-नाटकों की शैली पर की। यह निश्चित प्रमाण मिल चुका है कि जयदेव पर्याप्त समय तक पुरी मन्दिर में रहते रहे। यह सर्वमान्य है कि गीतिगोविन्द का प्रभाव सारे उत्तर भारत के नाटकसाहित्य पर पड़ा और गीतनाट्य-रचना को प्रोत्साहन मिला। चैतन्य के पूर्व गीतगोविन्द का प्रचार पूर्णरूप से हो चुका था। चैतन्य के आविर्भाव से नाट्य-साहित्य को नवीन शक्ति मिली और यात्रानाटकों में कृष्णलीला को प्रमुख स्थान मिला। कृष्णलीला का कथानक लेकर यात्रानाटक निर्मित होते रहे, तदु-

† Ibid page 141 and reference.

Girish Chand Ghos has to be recognised not merely as a name in the dramatic history of Bengal, but the presiding genius of a distinct period.

परान्त विद्यासुन्दर-यात्रा, शेखर-यात्रा, पुराण-यात्रा की रचना अभिनय के लिए होती रही और यह क्रम अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चलता रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में यात्रा-नाटकों पर रंगमंच के नाटकों का विशेष प्रभाव पड़ा। कई नाट्यकारों ने साहित्यिक और यात्रा दोनों प्रकार के नाटकों का निर्माण किया। रामनारायण जी की 'रत्नावली' कालीप्रसन्नसिंह का 'सावित्री सत्यवान', मधुसूदन की 'पद्मावती' का अभिनय नाटक की शैली पर गीतिनाट्य के रूप में होता रहा*। रत्नावली का अभिनय तो राजा बाबू के निवासस्थान पर बड़ी ही सफलता के साथ हुआ था।

पद्मावती नाटक की प्रशंसा उस समय सबसे अधिक हुई। नल-दमयन्ती की रचना बाबू कालिदास सान्यात ने यात्रा-नाटकों की शैली पर की। ये दोनों नाटक उत्तरी-भारत के जन-नाटकों में भली-भांति प्रचलित हैं। हिंदीभाषा-भाषी जनता में भी स्वांग नाटकों के रूप में इनका अत्यधिक प्रचार है। इससे प्रमाणित होता है कि जननाटकों की धारा उत्तर भारत के सुदूर भागों तक एक ही भावना को लिए प्रवाहित होती चली आ रही है।‡

---

* द इण्डियन स्टेज वाल्यूम २, पृष्ठ १२६.

† हिन्दी पैट्रिआट नवम्बर २०, १८६५

‡ पद्मावती, नलदमयन्ती, स्वांग दीपचन्द।

तीसरा अध्याय

हिन्दी-मैथिली-नाटक की उत्पत्ति

हिन्दी-नाटक का परिवार अति विस्तृत है। अभी तक ब्रज-भाषा के नाटक-साहित्य के आधार पर हिन्दी-नाटक की उत्पत्ति विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी मानी जाती थी, किन्तु जब से नैपाल में जाकर पं० हरप्रसाद शास्त्री ने कई नए नाटकों का अनुसन्धान किया है, भारतीय भाषाओं के नाटक-इतिहास में एक उथल-पुथल मच गई है।

इतिहास-लेखकों की भी यही धारणा थी कि हिन्दी-नाटक-साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी से उत्तरोत्तर वृद्धि करता चला आ रहा है। इसके पूर्व मिलने वाले नाटकों का नाटक की परिधि से बाहर इस कारण रखा जाता है, क्योंकि वे काव्यमय हैं और बहुतों में तो पात्र भी नहीं, केवल आद्योपान्त कविता ही है। दूसरी बात है कि कुछ नाटकों पर संस्कृत का इतना प्रभाव है कि उन्हें हिन्दी का नाटक कहना ही नहीं चाहिए। डा० कीथ लिखते हैं* :—

संस्कृत नाटकों का इतना प्रभाव रहा है कि केवल इस उन्नीसवीं सदी में ही देशीय भाषा हिन्दी के रूप में प्रकट हुई, और सामान्यतः नाटक तो अभी-अभी ही देशीय भाषा में भाव प्रकट करने के योग्य प्रतीत हुआ है।

---

* The History of Sanskrit Drama page 243.

So powerful has been the strength of Sanskrit Drama that it is only in the nineteenth Century that Vernacular has exhibited itself in

डा० कीथ के अतिरिक्त भारतीय विद्वानों का भी यही मत था कि हिन्दी में अभिनेय नाटकों का प्रारम्भ १९वीं शताब्दी में ही हुआ है। डा० श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं, "यों कहने को चाहे हिन्दी में नेवाजकविकृत शकुन्तला, हृदयरामकृत हनुमन्नाटक, और ब्रजवासीलालकृत प्रबोध-चंद्रोदय आदि कई सौ वर्ष पहले बने हुए कुछ नाटक वर्तमान हों, पर वास्तव में नाटयकला की दृष्टि से वे नाटक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें नाटक के नियमों का पालन नहीं किया गया है और वे काव्य ही काव्य हैं। हाँ, प्रभावती और आनंद-रघुनंदन आदि कुछ नाटक अवश्य ऐसे हैं, जो किसी प्रकार नाट्य की सीमा में आ सकते हैं।*"

डा० कीथ और डा० श्यामसुन्दरदास की तरह अन्य इतिहास-लेखकों ने भी हिन्दी-साहित्य को उन्नीसवीं शताब्दी का प्रयास माना है। बहुत दिनों तक उपर्युक्त मत मान्य था किन्तु हरप्रसाद शास्त्री और डा० बागची के प्रयास से नैपाल में प्राप्त नाटकों का परिचय जब से मिला है, कि विद्वानों की राय बदल गई है। एक इतिहास-लेखक का कहना है कि १६०० ई० तक देशीभाषा मैथिल (हिन्दी की एक शाखा) में नाटक-कला भली प्रकार विकसित हो चुकी थी।† डा०जयकान्त मिश्र लिखते हैं :—

Hindi, and in general it is only very recently that the drama has seemed proper for Vernacular expression.

* रूपक रहस्य डा० श्यामसुन्दर दास पृष्ठ ३८.

† A History of Mathili Literature, page 255, by Dr. Jayakanta Mishra, Tirabhukti Publications, 1949.

"नैपाल में मैथिली क्रमशः इतनी अभिवृद्धि को प्राप्त होती गई कि १६०० ई० तक मैथिली में नाटक पूर्णरूप से आ गये थे।" †नैपाल में मैथिली-नाटकों का संक्षिप्त परिचय देकर उपर्युक्त मत की पुष्टि आवश्यक है।

प्राचीन काल में नाट्यकला राजभवन के आश्रय से पल्लवित होती रही। मुसलमानों के आक्रमण से देशी राजा विपत्ति में फँस गये और जिन भवनों के आश्रय नाट्यकला की लता को फैलना था, वे ही धराशायी बनते जा रहे थे। सन् ११९९ में बख्तियार खिलजी ने नवद्वीप को जीत लिया, बिहार में भी मुसलमानों के आक्रमण से हाहाकार मचा। इस विपत्तिकाल में जिस राजा का जहाँ वश चला, वहीं रक्षा पाने के लिए दौड़ पड़ा। तेरहवीं शताब्दी में खिलजी-राज्य इतना विस्तृत हो गया, उसकी शक्ति इतनी प्रबल हो गई कि मिथिलेश महाराजा हरिसिंहदेव को अपना राज्य छोड़कर नैपाल में आश्रय लेना पड़ा। नैपाल की राज्यशक्ति हाथ में आने से राजकाज भी मैथिली में होने लगा। मिथिलादेश उस समय भी विद्वानों का केन्द्र था ही। उद्भट पंडित मिथिला से आमन्त्रित हुए और इस प्रकार नैपाल भी विद्या और विद्वानों का केन्द्र बनने लगा।

राजाश्रय पाकर कवियों और नाट्यकारों की प्रतिभा भी फलवती हुई और अभिनय के लिए नाटकों की रचना होने लगी। सोलहवीं शताब्दी आते-आते मैथिली में नाट्यकला इतनी विक-

---

†"Hence we have a consistent account of the growing use of Mathili's Vernacular in the dramas in Nepal. By 1600, wholly Vernacular plays come to be written."

सित हो गई कि इसमें अभिनय के योग्य नाटक विरचित होने लगे। नैपाल से प्राप्त नाटकों में 'विद्याविलाप' नामक नाटक की एक हस्तलिखित प्रति मिली है, इसमें उसी विद्यासुन्दर की कथा है, जिससे प्रभावित होकर भारतेन्दु जी ने विद्यासुन्दर * नामक नाटक लिखा था।

यह नाटक 'भटगाव' स्थान पर महाराज विश्वमल्ल के राज्य में खेला गया था। कहा जाता है कि यही मैथिली का सर्वप्रथम नाटक है।‡ इस नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार कहता है :—

"श्रीमन् श्रीभक्तपत्तन नगरी सकल गुणि जन शोभित तार महिमाशुन.....श्री श्री विश्वमल्ल नृपति.....श्री श्री जयविश्व-मल्ल देवस्य सभा के महिमा शुन.. श्री भक्तपत्तन नगरे विद्या-विलाप नाटक प्रवर्त हैलो, ता देखि निमित्त आज्ञे जावो†।"

उपर्युक्त उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि मैथिलीनाटकों में गद्य का एक निश्चित रूप सा आ गया था।

महाराजा हरिसिंह के उत्तराधिकारी त्रिभुवनमल्ल ने सं० १६२६ से सं० १६४२ (१५७२ ई० से १५८५ ई०) तक राज्य किया। उनके राज्यकाल में रामचन्द्र और वीरनारायण दो प्रसिद्ध कवि और नाट्यकार हुए। उनके राज्यकाल में विरचित

---

* भारतेन्दु ग्रन्थावली

‡. We learn of the First Mathili Drama Duriug the reign of Vishvamalla (C. 1533) called Vidya Vilap.
A History of Mathill Literature By Dr. Jayakant, p. 262.

† Dr. A.C.Bagchi's Book-Nepal Bhasa Natak, page 172.

एक नाटक की हस्तलिखित खंडित प्रति मिली है । इसमें एक विरह का पद बहुत ही आकर्षक है। डा० बागची ने अपनी पुस्तक में उसको इस प्रकार उद्धृत किया है।

"सघन बरासिए मेहा।
सुमरि सुबन्धु महा ॥
जीव छट पर नींद न आवए।
विरह दगध देहा ॥‡
मन पंछि हया जावो।
जाहागिया पाधिवो ॥
होते धरिया पाये परिया।
गला तुलिया लयिवा ॥
चन्दन चोर न भावे।
कुसुम सेज न सुहावे ॥
अंग मोर मेरि आंगन थाकि।
मन चौदिक धावे* ॥"

त्रिभुवनमल्ल के उत्तराधिकारी जगज्योतिर्मल्ल स्वयं अच्छे नाट्यकार थे। उन्होंने 'मुदित कुवलयस्व' नामक एक प्रसिद्ध नाटक लिखा। इसकी प्रसिद्धि का एक कारण यह है कि इसमें मल्लवंश सम्बन्धी विवरण सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और दो नाटक लिखे। १. हरगौरी विवाह २. कुंजविहारी नाटक। इस कुंजविहारी नाटक में राधाकृष्ण और गोपियों की लीला का वर्णन है। सूत्रधार नाटक प्रारम्भ करते हुए कहता है :—

कुंजविहार हरि छाज रे।
गोपां सबै हरसित आज रे ॥

‡ Ibid,

* डा० बागची, आप. सिट. पृष्ठ १७३

H.2301

तदुपरांत राधा और कृष्ण रंगमंच पर यह गान गाते हैं :

जाहि वह जमना तीर शीतल सुरहि समीर।
नव दले तरुतरे सोह, मधुकर ध्वनि सब मोह ॥
ताहि बिदिराबन मांझ, हमर हृदय गुणे बांझ
ताहा गए करिए विलास, जात्रा पहु परावए आस ॥
नृप जगज्ज्योति-मल्लवाणी, मोर गति एके भवानी ॥

इसके पश्चात् ऋतु का वर्णन आता है और गोपियों का परस्पर संवाद मिलता है।

इसके उपरान्त जगज्ज्योतिर्मल्ल के पौत्र जगत्प्रकाशमल्ल अति सफल नाट्यकार हुए। उन्होंने निम्नलिखित नाटक लिखे, जो नैपाल-दरबार-पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। १. उषाहरण २. नलीय नाटकम् (संवत् १६७०) ३. पारिजात हरण ४. प्रभावती हरण* ५. मलयगन्धिनी (१६६३) ६. मदनचरित।

इसके उपरान्त सुमोतजितामित्रमल्ल ने संवत् १७३१ से १७४४ तक राज्य किया। उन्होंने आठ प्रसिद्ध नाटक लिखे। १. कालीयमथनोपाख्यान† २. मदालसाहरण ३. जैमिनीयभरत-नाटकम् ४. गोपीचंद्रनाटकम् ५. उषाहरण ६. नवदुर्गनाटकम ७. भाषानाटकम् ८. भारतनाटकम्।

---

* प्रभावती नाटक के प्रारम्भ में नान्दी इस प्रकार है
"प्रथमहि सुमिरजो गुरु गणेश, देयु अभयबर हरथु कलेश।"
अन्त में भरत वाक्य इस प्रकार है :

जगत्प्रकाश नृपति कर विनती,
जनम होउ तोर पदे मती।

† 'काली मथनोपाख्यान' में तीन अंक हैं।

उपर्युक्त सभी नाटकों में अर्धनारीश्वर भगवान् शिव की वन्दना प्रारम्भ में की गई है।

इन नाटकों से हिन्दी मैथिली के गीतों का स्वरूप कुछ-कुछ दिखाई पड़ता है। गद्य का रूप समझने के लिए ललितपुर (पाटन) के राजा महाराजा सिद्धिनरसिंहदेव की कला-प्रियता पर विचार करना चाहिए। महाराजा नरसिंहदेव जी के प्रोत्साहन से चंड-कौशिक के आधार पर हरिश्चन्द्रनृत्यम् (सं० १७००) में दामोदर कवि ने प्रस्तुत किया। Mr. Augustus conrady ने उक्त नाटक की भाषा का परीक्षण करके यह परिणाम निकाला है कि वर्तमान नैपाली भाषा से इसका कोई भी संबंध नहीं है, इसकी भाषा वह मैथिली है जो कभी 'बंगाली की ओर झुक जाती है और कभी हिन्दी की ओर।* भाषा के संबंध में निम्नलिखित उदाहरण यह सिद्ध करता है कि नाटकों में उस समय गद्य को कितना स्थान मिलता जा रहा था।

रोहतास† :

हे हे ऋषीश्वर, हमार वचन अवधान हो।

---

* The story of the plot is essentially the same as that of "Chand Kaushika".....It is Mathill sometimes mixed with Bengali and sometimes with Hindi—but with modern Nepali it has nothing to do. (Augusts Conrady 1891).

Note : M.S. in possession of Narendra Nath Das, vill. Sakhwar P. O. Manigachhi District, Darbhanga.

† A History of Maithili Literature Vol. 1, p. 282.

पितार आज्ञा बिनु केहे जलपान करियो ।
मरण है बै कौन दुख

ऋषिभा :

.....सुन विधाता हमार के वद अकाजय

देर छथि ई बालकक शरीर जैसे सुवर्ण अग्नि सओ दाहक पैर, तैसे तन्हिका शरीर दाह मेर तथापि सत्य भंग किंचित नहि मेरा, तकरा एहन दुख देखि कहु ओकरा क वद दया है गैर, कतेक दुर्दैव सुरुज का किरण निवारण करब ।

प्राचीन मैथिल भाषा पूर्वी हिन्दी का एक रूप है । विद्यापति की पदावली को हमारे हिन्दीसाहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है । आचार्य शुक्ल जी इसे हिन्दी का ही एक रूप मानते थे । प्राचीन मैथिल-नाटकों के संक्षिप्त परिचय से इतना तो स्पष्ट हो गया कि हिन्दी-नाटकों की परंपरा उससे कहीं पुरानी है जितनी अभी तक मानी जाती थी ।

संस्कृतनाटकों में हिंदी को स्थान

नाटकों का स्थान—

हमारे देश में १० वीं शताब्दी तक संस्कृत नाटकों का एक उद्यान निरन्तर हरा-भरा लहराता रहा और प्रतिवर्ष उसमें कतिपय नई वृक्ष-वलियाँ लगती रहीं । ग्यारहवीं शताब्दी के बाद यह मनोहर उद्यान शुष्क होने लगा । प्रकृति सदा नवीनता चाहती है । प्राचीनता के सौंदर्य को निरन्तर देखते-देखते ऊबे हुए नेत्र नवीनता की रमणीयता के लिए लालायित रहते हैं । संस्कृत के उद्यान में एक तो नवीन वृक्षावली लगाई ही कम जाती थी और

जो वृक्ष उग भी जाते थे, वे सुरभित होने के पूर्व ही शुष्क हो जाते थे अर्थात् उनकी प्रसिद्धि-कुसुमकली निकलने भी न पाती थी, तब तक मुरझा जाते थे। कहना चाहिये कि उस समय संस्कृत नाटय-उद्यान में एक संक्रामक रोग लग गया था, जिसे अनुकरण नाम से पुकारा जा सकता है। शताब्दियों तक कोई भी असाधारण प्रतिभासम्पन्न नाटककार रूपी माली पैदा न हुआ जो रोग की औषधि का आविष्कार करके उपचार करता और अनुर्वरा रोगग्रस्तभूमि को उर्वरा और नवोत्पादिनी शक्तिसंयुक्त बनाता।

उसी समय देश में एक और व्याधि फैली जो बाहर से आई। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण होने से राजे-महाराजे विक्षुब्ध हो गये थे। अपने धर्म, अपनी जाति और अपनी संस्कृति का मिटते देख उन लोगों का हृदय व्याकुल हो रहा था, जिसके सहारे नाटयकला पनपती है। कुछ लोगों का तो कथन है कि यदि मुसलमानों का आक्रमण न भी हुआ होता, तो भी संस्कृत नाटकों का उद्यान पुनः पल्लवित न होता, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार भाषा के प्रचार और प्रसार में परिवर्तन होना अनिवार्य है। संस्कृत बोलचाल की भाषा न रहने से जनता के दिलों से क्रमशः दूर होती चली जा रही थी। राजशेखर के समय तक इसके एकाधिपत्य राज्य का बँटवारा हो चुका था। प्राकृत अपभ्रंश के नाटककार राजदरबारों में सम्मान के अधिकारी बनते जा रहे थे।

संस्कृत के उद्यान की शोभा देखकर प्राकृत ने भी एक नया उद्यान उसी ढाँचे पर सजाने की चेष्टा की। अभी तक संस्कृत नाटकों में प्राकृत को निम्नस्थान प्राप्त था। कुलीन और विद्वान् पात्र संस्कृत बोलते थे, किन्तु केवल नीच पात्रों को प्राकृत बोलने की आज्ञा थी।

किन्तु प्राकृत कवियों ने सट्टक नाम देकर एक नई पद्धति निकाली। उन्होंने प्रत्येक पात्र को प्राकृत बोलने की अनुमति दी और नाटक से संस्कृत को पूर्णतया निकाल फैंका। कहना चाहिए कि संस्कृत न समझने वाली जनता की सुविधा के लिये जन-साधारण की रुचि का ध्यान रख कर ये सट्टक‡ लिखे गये। रम्भामंजरी नामक सट्टक के लेखक नयचन्द्र ने अपने नाटक में दो नई बातें कीं। पहली तो यह कि संस्कृत बोलने वाले पात्रों के मुख से प्राकृत की कविता कहलाई है। दूसरी बात है कि नाटक के नायक जैनचन्द्र जी की प्रशंसा भाटों ने तीन भाषाओं, संस्कृत, प्राकृत और मराठी में की है। महाराष्ट्री का प्रवेश संस्कृत और प्राकृत के नाटकों में करना एक नई घटना थी। महाराष्ट्री का एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

जरि पेखला मस्तकावरी केश कलापु

प्राकृत के अतिरिक्त एक और भाषा अपभ्रंश नाम से प्रचलित हो गई थी। यह वह भाषा थी जिसमें प्राकृत शब्दों का उच्चारण बदल चुका था और जनसाधारण की भाषा अपभ्रंश बनती जा रही थी*। पंडित हजारीप्रसाद जी के कथानुसार "अपभ्रंश में

---

‡. अभी तक ६ सटटकों के नाम मिले हैं, वे हैं :—

१. कर्पूर मंजरी...राजशेखर २. रम्भामंजरी···नयचन्द्र ३. चन्द्र-लेखा ·····रुद्रसेन, ४. विलासवती...मारकंडे ५. शृंगारमंजरी ...विश्वेश्वर ६. आनंदसुंदरी...घनश्याम

इन सट्टकों के सम्बन्ध में विशेष विवरण आगे दिया जायगा।

* चंद्रलेखा पृ० ३१, डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् भारतीय विद्याभवन।

(ख) हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० २५।

प्राकृत का एक खास प्रकार का स्वरवैचित्र्य प्रधान हो उठा। स्वभावतः ही उस स्वरवैचित्र्य के पीछे अनेक स्थान की प्राकृत भाषाएँ रही होंगी।"

उत्तरोत्तर विकसित होती हुई अपभ्रंशभाषा साहित्य के योग्य हो गई और उसमें विविध ग्रन्थ बनने लगे। राजशेखर (११ वीं शताब्दी) के समय तक इस भाषा के कवियों को राजसभा में सम्मान मिलने लगा। काव्यमीमांसा के अनुसार पूर्व-दिशा में प्राकृत के कवियों को, और पश्चिम की ओर अपभ्रंश के कविगणों को स्थान दिया जाता था। अपभ्रंश-कवियों के साथ बैठने वाले चित्रकार, लेपकार, मणिकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई, लुहार आदि‡ का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि अपभ्रंश कविता जनसाधारण अर्थात् अनपढ़ या अल्प-पठितों की भाषा थी, जिसमें साहित्य बनने लगा था।

इस अपभ्रंश अर्थात् लोकभाषा में नाटक बनते थे या नहीं, इस पर बहुत दिनों तक विवाद चलता रहा। कुछ दिनों पूर्व मुनि जिनविजय जी ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' का अनुवाद किया और उसमें एक ऐसी कथा का उल्लेख किया, जिससे सिद्ध होता है कि हँसी-विनोद और किसी का मज़ाक उड़ाने के लिये अपभ्रंश के ही नाटक सबसे अधिक उपयुक्त माने जाते थे। प्रमाण के लिए राजा भोज की कथा लीजिए।

एक बार राजा भोज ने सिद्धरस बनाने वाले योगियों को आमंत्रित किया। उन योगियों की आज्ञा से समस्त आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की गई। योगियों ने अनेक चेष्टायें कीं किन्तु 'सिद्धरस' सिद्ध न हुआ। अब राजा ने अपभ्रंश के नाट्यकारों

---

‡. काव्य मीमाँसा

को आमंत्रित किया और योगियों का मजाक उड़ाने के लिए देशभाषा में नाटक लिखाया। नाटक का अभिनय होने लगा। अभिनय के मध्य में एक स्थल पर पात्र आपस में बातें कर रहे थे।

कालिका नट्ठा नट्ठा कस्स कस्स नागस्स वा बगस्स वा
नहि नहि धम्मंत फुक्कंत अम्ह कंत सीसस्स कालिम ॥

यह सुनकर राजा भोज हँसी के मारे लोट-पोट होने लगे तो एक सिद्धरस योगी ने राजा को सम्बोधित करके कहा।

अत्थि कहंत किंपिन दीसइ।
नत्थि कहउ त सुहगुरु रुसइ ॥
जो जाणह सो कहहु न कीमइ।
अज्जाणां तु वियारइ ईसई ‡ ॥

उपर्युक्त उद्धरण इस बात को तो अवश्य ही प्रमाणित करता है कि अपभ्रंश में नाटक बनते थे और उनका अभिनय राजाश्रय में भी होने लगा था। वे नाटक क्या हुए? मिल सकते हैं या नहीं, यदि नहीं मिलते तो कारण क्या है? ये प्रश्न स्वभावतः उठते हैं। अतः इनका विशद विवेचन रास-प्रकरण में किया जायगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत का नाटक-साहित्य मुख्यतः तीन भाषाओं में प्रस्तुत किया जा रहा था और प्रत्येक भाषा में एक परम्परा बन गई थी। अब विचारणीय विषय यह है कि हिन्दी के साहित्यिक नाटकों ने किस परम्परा को अपनाया और क्यों?

---

‡. पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह पृ० २२, सिंधी जैन ज्ञानपीठ, श्री जिनविजय मुनि।

विगत अर्द्ध शताब्दी में देशी भाषाओं के साहित्य की अच्छी तरह छानबीन की गई है। डा० ग्रियर्सन ने बिहार के मैथिल-साहित्य की खोज करते हुए आसामी, बंगाली, उड़िया और पूर्वी हिन्दी में उपलब्ध ग्रन्थों का भी मनन किया। विद्यापति के साहित्य का उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि विद्यापति ही प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने देशी भाषा को नाटकों में स्थान दिया। अर्थात् विद्यापति ने नाटकों का संवाद भाग तो संस्कृत ही रखा किंतु यत्र-तत्र देशी भाषा के गाने उसमें सम्मिलित कर दिये।

विद्यापति अपने युग के सबसे बड़े साहित्यिक थे। संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राकृत के अतिरिक्त देशी भाषा पर उनका प्रशंसनीय अधिकार था। उन्होंने प्रत्येक भाषा में रचना की। उस हिंदी के प्रति उनका विशेष आकर्षण प्रतीत होता है, जिसे बंगाली, आसामी और उड़िया अपनी भाषा कह कर अपनाने को लालायित हैं। वस्तुतः विद्यापति साहित्यिक अग्रदूत थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषा के चतुष्पथ पर खड़ा होकर वह दूरदर्शी कवि भारत के साहित्यिक भविष्य को निहार रहा था। प्रत्येक पथ का अनुसरण कर उसने दूर-दूर तक का दृश्य देखा, विचार किया और अपना अनुभव प्रकट किया। उस भविष्य द्रष्टा ने देख लिया कि संस्कृत जनसाधारण के दैनिक जीवन के काम की नहीं बन सकती, वह घर की पूजनीय वृद्धा माता के सदृश सम्मान की अधिकारिणी है। प्राकृत को कसौटी पर कसने पर परिणाम अच्छा निकलने की सम्भावना न हुई। नाटकों के क्षेत्र में प्राकृत को सर्वोपरि स्थान सर्वप्रथम कविवर कालिदास जी ने दिया। 'विक्रमोर्वशी' नाटक के चतुर्थ अंक का अधिकांश भाग प्राकृत में ही लिखा गया। कालिदास के दिखाये इस पथ पर

चलने का साहस विरलों ने ही किया । कई सट्टक बन कर रह गए और प्रगति रुक गई। अपभ्रंश में गम्भीर नाटक लिखने की क्षमता नहीं प्रतीत हुई, अतएव प्रहसन के अतिरिक्त और साहित्य बनाने की तत्परता उसमें भी नहीं रही।

अब रही देशी भाषा। उन्हें इसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत हुआ। देशी भाषा का गद्य-पद्य भाग विकसित हो रहा था, किन्तु अभीतक किसी को सूझा न था कि देशी भाषा को नाटकों में भी स्थान दिया जाए। विद्यापति ने सर्व-प्रथम अपने संस्कृत-नाटकों में हिन्दी को स्थान दिया। प्राचीन परम्परा में परिवर्तन करने का साहस विरलों को ही होता है। उनका यह सराहनीय साहस देख कर पूर्वी भारत में कई नाट्यकारों ने अपने-अपने प्रांतों में इस पद्धति को अपनाया।

उड़ीसा के राजा कपिलेन्द्रदेव जी ने १५०७ के आस-पास परशुराम नामक एक नाटक लिखा।

उड़ीसा के नाटक-साहित्य में सर्व-प्रथम हिंदी का प्रयोग

मुसलमानों के आक्रमणकाल में भी उड़ीसा बहुत दिनों तक सुरक्षित रहा। विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में महाराज कपिलेन्द्रदेव [१] जी वहाँ के शासक थे। उनकी वीरता के सम्मुख बहमनी और विजयनगर भी नत मस्तक हुए थे। उस शूरवीर योद्धा [२] ने जगन्नाथ जी की रथयात्रा की दर्शनाभिलाषी जनता में वीरतासंचार तथा योद्धाओं के प्रोत्साहनार्थ 'परशुराम-विजय'

---

१. कपिलेन्द्र जी का राज्यकाल '१४३५ से १४६६ ई० तक'

२. नीलकन्दर नाथस्य महोत्सव सभासदः ॥
मत्काव्याभिनयेनाथ विनोदय कुशीलव ॥ 'परशुराम विजय नाटक'

नामक एक नाटक लिखा। इस नाटक का संक्षिप्त कथानक यह है कि परशुराम जी जब महादेव जी से उनका परशु लेने के लिए तपस्या कर रहे थे तो कार्त्तिवीर्य 'सहस्रबाहु' ने उनके पिता जमदग्नि का वध कर दिया। परशुराम जी ने लौटने पर सहस्रबाहु को मारने का संकल्प किया। सहस्रबाहु की पत्नी चंद्रवदना ने दुःस्वप्न देखा। वही स्वप्न कविता के रूप में वह अपने पति को खिन्न-मना हो सुना रही है।

चन्द्रवदना† ···अमररामेण मोयते
केवल मुनि कुमर परशुदक्षिणकर
वामेण सोहे धनुशर ना
कोपेण बोलइ वीरता तु से मो बधिलु तात
आज तोर छेदिवइ माथ ना।
शुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधेना ॥१॥

ए तोर चन्द्र वदन मेघे कि टांकिला जह्न
ताहा देखि बिकल मो मन ना
आवर देखइ अरीष्ट राज्ये तो रूधिर वृष्टि
पुर वेढ़ि रोदन्ति शृगाल ना
शुण राजन हो किए तोर राज्ये ब्रह्म बधेना ॥२॥

अर्थः—हे आर्य सुनिए। एक मुनि कुमार दाहिने हाथ में परशु और वामहस्त में धनुषबाण लेकर कुपित होकर बोल रहा है, "अरे वीर, तूने मेरे पिता का वध कर दिया है, मैं तेरा मस्तक काट डालूँगा। हे राजा सुनिए, आपके राज्य में किसने ब्रह्महत्या की है ॥१॥

---

† परशुराम विजय'''गजपतिना श्री कपिलेन्द्रदेवेन विरचितोऽयं व्यायोगः।

आपका यह चन्द्रमुख ऐसा मलीन हो गया है, मानो बादलों ने ढक लिया है। उसे देखकर मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है। मैं चारों ओर अशकुन देख रही हूँ, पृथ्वी पर रक्त की वृष्टि हो रही है, और नगर के चारों ओर गीदड़ बोल रहे हैं। हे राजा सुनिए, मुझे बताइये कि आपके राज्य में किसने ब्रह्म-हत्या की है ‡ ॥२॥

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट झलकता है कि संस्कृत नाटकों में देशी भाषा के गान का सर्व-प्रथम प्रवेश कराने वाले विद्यापति की शैली उड़ीसा में भी फैल रही थी।

आसामी नाटकों में सर्वप्रथम हिन्दी

१५वीं शताब्दी के मध्य में आसाम ने एक प्रतिभाशाली कवि शंकरदेव को उत्पन्न किया। शंकरदेव जी ने बाल्य-काल में तत्कालीन अद्वितीय विद्वान् अध्यापक महेन्द्र कन्दलि से संस्कृत-विद्या का अध्ययन किया पिता और पत्नी की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने अपने गुरु जी के साथ बारह वर्ष तक तीर्थों में भ्रमण किया। उस समय सभी तीर्थों में वैष्णवधर्म का झंडा फहरा रहा था। मैथिल कोकिल विद्यापति की कोमलकांत पदावली कीर्तन के रूप में गाई जा रही थी। शंकरदेव जी ने जगन्नाथ, मिथिला, काशी, अयोध्या, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन आदि उत्तर भारत के तीर्थों के अतिरिक्त दक्षिणभारत के प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की। सर्वत्र वैष्णव धर्माचार्य धर्म-प्रचार में संलग्न दिखाई पड़े।

तीर्थाटन से लौटने पर शंकरदेव जी ने आसाम में वैष्णव धर्म-प्रचार के लिए विविधि यत्न किए। उन्होंने कई काव्य और सात प्रसिद्ध नाटक लिखे। इन नाटकों में रासयात्रा नामक एक

‡ द प्राची····क्वार्टर्ली आर्गन आफ द प्राची समिति वाल्यूम २, १९३२

नाटक है, जिस पर ब्रज के रास और जगन्नाथ की यात्रा का प्रभाव अवश्यंभावी है। इन नाटकों की नामावलि है:—"कालिय-दमन, रामविजय, रुक्मिणीहरण, केलिगोपाल, पत्नप्रसाद, पारिजातहरण, रासयात्रा।" ‡

इनके नाटकों में गद्यशैली परिमार्जित प्रतीत होती है। केवल गान ही नहीं सम्पूर्ण नाटक मैथिली में है, जिसमें आसामी का पुट पाया जाता है। उदाहरणार्थ कालियदमन नाटक का प्रारम्भ देखिए :—

सूत्र—तदन्तर नागवधू सबक परम सन्ताप पेखिए। श्री-कृष्णक कृपा उपजल। नागनारी सबक सम्बोधि बोलिल। आये कालिक भार्या नागिनी सब, सन्ताप चोरह। इहि बोलि डेव दिया नाभि सर्पक फणाहन्ते अन्तर हुआ रहल।

पयार

जय जय जगत महेश्वर। ब्रह्माशंकर याहे किंकर॥
जय भकतक भयहारी। नमो हरिचरण तोहारि॥
तव पारे (पारेगू) अतये साधि। भजि पापी अपराधी[1]॥

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी नाटकों की एक शाखा आसाम में फैल रही थी, वे नाटक अभिनय के योग्य होते थे और संस्कृत भाषा के प्रभाव से वे मुक्त हो गये थे।

नाटकों की एक धारा ब्रजभूमि और राजस्थानी में अन्य शैली पर पनप रही थी। वृन्दावन में चैतन्य के जाने के पश्चात् नव

---

‡ असामिया साहित्य की रूपरेखा पृष्ठ ३३—३६ लेखक प्रो० विरञ्चि कुमार बरुआ.
राष्ट्रभाषा-प्रचारसमिति, गुवाहाटी—असम—१९४१ वि.

१. कालियदमन नाटक पृ० १५, १६.

जागृति आ चुकी थी। रूप गोस्वामी जी जैसा भक्त विद्वान् मथुरा में बस चुका था। भक्ति के नाटक ऐसे ढंग से अभिनीत होते थे, जिन्हें प्रत्येक भाषाभाषी सरलता से समझते, जिसमें अभिनय और नृत्य के द्वारा राधाकृष्ण का प्रेम रास के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा था। वह शैली भारत की निराली है। इस में श्रीमद्भागवत की कथा के आधार पर नाटक का अभिनय इतना पवित्र तथा पूज्य माना गया कि प्रत्येक हिन्दू उसे देखना धार्मिककृत्य समझने लगा। यह पद्धति आज भी ब्रज में विद्यमान है। आज भी प्रतिदिन वृन्दावन के किसी न किसी मंदिर में रासलीला होती है।

इसी प्रकार रामलीला भी हिन्दी नाटकों का एक दूसरा रूप है। 'यात्रा' में भी अभिनय की विशेषताएँ हैं।

इन सबके अतिरिक्त ग्रामीण जनता में नाटकों की जो परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली जा रही है, वह भी उल्लेखनीय है। आज भी पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान में स्वांग[1] को देखने के लिए सहस्रों किसान और मजदूर एकत्रित हो जाते हैं। कहा जाता है कि गेहूँ की राशि को खलिहान में अरक्षित छोड़कर गाँव के नवयुवक रास देखने के लिए आठ-आठ, दस-दस कोस पैदल जाते हैं। इन नाटकों में नृत्य और संगीत की प्रधानता रहती है। इनकी विशेषता यह है कि इनमें राजनैतिक, सामाजिक, पौराणिक, सभी प्रकार के नाटक बड़ी सफलता से खेले जाते हैं। आजकल विधानसभा के निर्वाचन के उम्मीदवार ग्रामीण जनता का मत स्वपक्ष में करने के लिए अपने अनुकूल स्वांगों का प्रदर्शन कर रहे हैं।

---

१. इसका विवेचन अगले अध्याय में देखिए।

चौथा अध्याय

राजस्थानी में नाटक की उत्पत्ति

कवक सूरिकृत एक हस्तलिखित पुस्तक 'उपकेशगच्छ पट्टावली' के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि हल्लीसक, रासक और प्रेक्षणक का प्रचार जनता में विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में पर्याप्त रूप से हो गया था। कवक सूरि के गुरु का देहावसान राजस्थान में हुआ। उनके निर्वाण के समय स्थान-स्थान पर होने वाले उत्सवों का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

स्त्रीणां हल्लीसकैः स्थाने स्थाने लकुट रासकैः
प्रेक्षणैकजीयमानैः वादित्रैश्च पुरस्सरैः
सूरिर्विमानसंस्थोसौ प्रत्यक्ष इव निर्जरः
स्वर्गलोकमात्मकामो निस्ससार पुरात्ततः[1] ॥

उपकेशगच्छ पट्टावली, रचना संवत् १२७७ वि० पृ० ६६ क, ख.

इस प्रकार हल्लीसक, रासक, प्रेक्षण के द्वारा उत्सव मनाने का वृत्तान्त हमें उपलब्ध होता है।

राजस्थानी भाषा में कन्हड़ दे प्रबन्ध नामक ग्रन्थ से प्रेक्षणक का वृत्तान्त मिलता है :—

गढ़ ऊपरि नित होइ पेखणा सुनई वेणु मृदंग।
नितु उच्छव नितु पात्रज नाचइ नित नव नवा रंग॥
कन्हड़ दे प्रबन्ध खंड २ छंद ११६॥

यह वर्णन समियाने के गढ़ का है जिसे अलाउद्दीन ने

---

१. डा० दशरथ शर्मा एम. ए. डी. लिट्. के संग्रहालय से प्राप्त।

चतुर्दिक् से घेर लिया है। उस दुर्ग का अधिपति सातल चौहान अलाउद्दीन की उपेक्षा करता है और

चढि त्रिकल राइ सातल वएसइ चिहुंपख चामर ढारइ
कटक मांहि सिंहासन बैठ । पादशाह निहारइ ॥

कन्हड़ दे प्रबंध खंड २ छं० ६१

उपर्युक्त उद्धरणों को प्रमाणित करने वाले रासक ग्रंथ सैकड़ों की संख्या में राजस्थानी भाषा में विद्यमान हैं[1]। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में विरचित खरतरगच्छ पट्टावली नामक हस्त-लिखित पुस्तक से लगुण रास और ताल रास का उल्लेख मिलता है। जैनाचार्य जिन बल्लभ सूरि ने जिनकी मृत्यु संवत् ११६ वि० में हुई, खरतरगच्छ मंदिरों में उपर्युक्त दोनों रासों का अभिनय वर्जित बताया है।

अपभ्रंश काव्यत्रयी में इस मत की पुष्टि इस प्रकार की है :- "स्त्रियों का तो प्रश्न ही क्या, पुरुषों को भी देवालयों में लगुड़ रास की अनुमति न थी। इसके अनेक कारण थे। रास करने की चेष्टाएँ अधिकतर विटों की सी होतीं, कभी-कभी प्रमादवश सिर में चोट लग जाती, पाठ भी दुष्ट होता [2]।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि बारहवीं शताब्दी में रास, प्रेक्षणक तथा हल्लीसक का सर्वत्र प्रचार हो गया था। जैनाचार्यों द्वारा रचित रासग्रन्थों की विस्तृत सूची ४०० है जो परिशिष्ट में दी जा रही है। ये रास, गीतिनाट्य १३वीं शताब्दी में विरचित होने लगे थे। इनकी भाषा अपभ्रंश तथा गुर्जर या राजस्थानी मिश्रित है। प्राचीन गुजराती और प्राचीन

१. रास की सूची परिशिष्ट में देखिए।

२. अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० १२ और ४७

राजस्थानी वास्तव में एक ही भाषा है। इससे सिद्ध होता है कि जिस प्रकार संस्कृत और मैथिल मिश्रित नाटक नैपाल में रचे जा रहे थे, अपभ्रंश और राजस्थानी के संयोग से गीतिनाट्यों की रचना राजस्थान में हो रही थी। स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि तेरहवीं शताब्दी में ब्रज, मैथिल, अवधी आदि भाषाओं में रास की रचना क्यों नहीं हुई ?[१] राजस्थानी में ही रासरचना का क्या कारण था ? इन रासरचयिताओं की नामावली देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः जैनाचार्य ही इस कार्य में संलग्न थे। यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि जैनाचार्य प्रारम्भ से ही जैन धर्म-प्रचार के लिए जनभाषा का प्रयोग करते आ रहे हैं। भगवान् बुद्ध के अनुयायियों ने पाली को प्रचार और विचार का माध्यम बनाया और जैनाचार्यों ने मध्यम प्राकृत तथा अपभ्रंशमें अपने ग्रंथों का निर्माण किया। गीति-नाट्य हर्ष के समय में इतना प्रचलित हो गया था कि सम्राट् को बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की घटना का प्रचार इसी पद्धति द्वारा करना पड़ा। जैनाचार्यों ने धर्मप्रचार की इस साधनशक्ति को पहचाना और अपने मत को जनता तक पहुँचाने के लिए रासनाटकों की रचना प्रारम्भ की। यह सर्वविदित ही है कि जैनधर्मावलम्बी जनता की वासभूमि अधिकतर राजस्थान रही है। अतः राजस्थानी भाषा का प्रयोग उन्हें अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि राजस्थानी में रासों की रचना हुई और ब्रज, अवधी तथा मैथिल में इसका नितान्त अभाव रहा। दूसरा कारण यह है कि जैनीभाइयों में धर्मग्रन्थसंग्रह की प्रवृत्ति आदिकाल से

---

१. प्राचीन राजस्थानी और प्राचीन गुजराती दोनों वास्तव में एक ही भाषा हैं। नरोत्तमदास स्वामी के लेख के आधार पर (राजस्थानी का अध्ययन) राजस्थानी पत्रिका भाग २ पृ० ६०.

चली आ रही है। पुस्तकों का लिखना, उनका संग्रह पुण्य कार्य समझा जाता है। यही कारण है कि आज भी जैन-भंडारों में अप्राप्य पुस्तकों का संग्रहालय उपलब्ध है। कालोपचित धर्मग्रंथों की सम्पत्ति जितनी जैनग्रन्थ भंडारों में विद्यमान है उतनी बृहत् पुस्तकालयों के अतिरिक्त कहाँ मिलेगी ? अतएव यदि अन्य भाषाओं में गीति-नाट्य (रास) विरचित भी हुए हों तो वे आज अनुपलब्ध हैं।

रास-ग्रंथों से यह भी प्रमाणित होता है कि कालान्तर में इसकी दो धाराएँ चल पड़ीं। शृंगार-प्रधान रास की एक परम्परा अजैन रासग्रंथों में चलती रही और धर्मतत्त्व-प्रधान रासों की परम्परा जैनाचार्य विरचित रासों में। जैनाचार्य नृत्य और संगीत से पराङ्मुख होने के कारण अपने रासों को इनसे सर्वथा वंचित रखते गये। परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में ये रास केवल श्रव्य रह गए। इनकी अभिनीयता घटती गई, किन्तु अजैन रास नृत्य संगीत के आधार पर उत्तरोत्तर उन्नत होते गए। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य तथा हितहरिवंश महात्माओं ने उसे पुनः नवशक्ति संयुक्त किया और रासरसिक कृष्ण को इसका नेता मानकर धर्म के साथ नृत्यसंगीत का पुनर्मिलन कराया। इसका विशेष विवरण अगले अध्याय में दिया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अपभ्रंश के हाथ से हाथ मिला कर चलने के कारण राजस्थानी के गीतिनाट्य सबसे प्राचीन रूप में हमें प्राप्त होते हैं और इस सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण प्रदान करते हैं कि हिन्दीनाटकों की परम्परा १३ वीं शताब्दी से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

'रास' शब्द की व्युत्पत्ति

रास के नामकरण के कारण पर विविध विद्वानों ने विविध विधियों से विचार किया है। एक मत यह है कि 'रास' शब्द रस का बहुवचन है। 'रसानां समूहो रासः' तथा "रसो वै सः" सिद्धांत के अनुसार रस नाम ब्रह्म का है। महारास में एक ही कृष्ण अनेक कृष्ण के रूप में दिखाई देते हैं। यह शंका उठाने पर कि ब्रह्म तो एक ही है, उन विद्वानों का कहना है कि भागवत के अनुसार 'तासां मध्यद्वयोर्द्वयोरिति' प्रत्येक दो गोपियों के मध्य एक ब्रह्म कृष्ण) दिखाई पड़ते हैं, अतएव इस नृत्य-नाटक का नाम रास पड़ा। दूसरा मत यह है कि 'रसोत्पद्यते यस्मात् स रासः' जिससे रस उत्पन्न हो वह रास है। रास में नृत्य-संगीत के द्वारा रस की वर्षा की जाती है अतएव इसे रास कहते हैं। तीसरा मत है कि :

स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैव धृतहस्तैः क्रमस्थितैः।
मंडले क्रियते नृत्यं स रासः प्रोच्यते बुधैः॥*

जिसमें स्त्रियाँ और पुरुष हस्त बाँधकर मंडल के रूप में नृत्य करें वह रास कहलाता है। इस नृत्य में इसी प्रकार कृष्ण गोपियों के साथ मंडलाकार नर्त्तन करते हैं, अतएव इसे भी रास कहते हैं। चौथा मत है कि केवल नृत्य तथा गान ही पूर्ण अर्थ में रास नहीं कहला सकते। पंचम मत इन सबसे नितान्त भिन्न है। इस मत को मानने वाले रास की उत्पत्ति रस धातु से मानते हैं। वे लोग रस का अर्थ चिल्लाना बताकर इसका संबंध प्राचीन पशु-पालक नृत्य से जोड़ते हैं। प्रारम्भ में यह नृत्य संगीत-कलाओं से रहित था। उस समय नृत्य में मध्य-मध्य में कभी-कभी जोर

---

* रास-सर्वस्व

से चिल्ला उठते थे।* इस कारण उसका नाम रास रखा गया था। कालान्तर में नृत्य तथा संगीत कला के विकसित होने पर इसमें परिवर्तन होता गया और इसका रूप कलापूर्ण बन गया।†

छठा मत यह है कि रासलीला वास्तव में रासलीला का प्रतीकात्मक रूप (Allegorical) है। इस मत के अनुवर्त्ती भागवत से ही इसका प्रमाण देते हैं। श्रीमद्भागवत में शरद्पूर्णिमा के समय अन्तरिक्ष में शोभायमान नक्षत्र-पूर्णचन्द्र का वर्णन इस प्रकार है।

अखंडमंडलो व्योम्नि रराजोडुगणः शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि॥
आश्लिष्य समशीतोष्णप्रसूनवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः॥

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यदुपति श्रीकृष्णभगवान् गोपियों द्वारा आवृत होकर पृथ्वीतल पर शोभायमान हो रहे थे,

---

* आज भी ग्रामान्तरित होने वाले नृत्यों में नर्तक बीच में ही आ चिल्लाते हैं।

† रास is thus not to be derived from रस् but from रास् a root which means to cry aloud, which may refer to be very primitive form of this dance when the proportion of music and artistic movements may not have been still realistic and when it must have been practised as wild dance. (Types of Sanskrit Drama) By D. R. Kankad, page 143

उसी प्रकार पूर्णबिम्ब के शशि पूर्णिमा को नक्षत्रों द्वारा घिरे हुए शोभित हो रहे थे। जिस प्रकार समशीतोष्ण वनस्थ पुष्प और मंद, सुगंध पवन को आस्वादन कर मनुष्य अपने-अपने तापों को विस्मृत कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा हृदय चुराये जाने वाली गोपियाँ उनका आलिंगन कर सब क्लेश विस्मरण कर जाती हैं।

एवं अध्याय २६ में रासलीला-प्रसंग में एक स्थल पर रास करते हुए कृष्ण की शोभा का वर्णन इस प्रकार मिलताहै "ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः उदारहास द्विजकुन्द दीधितिव्यं रोचतैणांक इवोडुभिर्वृतः"। तात्पर्य यह है कि कुन्द पुष्प के सदृश दाँत वाले, उदार हास्यपूर्ण, प्रिय कृष्ण द्वारा देखी जाने के कारण प्रसन्नवदना गोपियों द्वारा घिरे वे उस प्रकार शोभायमान हो रहे थे, जैसे नक्षत्रों द्वारा घिरा चन्द्रमा।

राशिलीला का अनुकरण रासलीला को मानने वाले कहते हैं कि गोचारण के समय कृष्ण और गोपियों की मंडली परिवेष्टित चन्द्र की ज्योत्स्ना पर मुग्ध होकर उनकी अनुकृति का खेल रचाया करते थे, उसी का नाम रासलीला रखा गया।

सातवाँ मत रासलीला को रहस्यलीला समझता है। इस मत के अनुसार देवीसिंह ने आगे चलकर रासलीला को रहस्यलीला नाम देकर लीला का वर्णन किया है। उपर्युक्त सभी मत काल्पनिक हैं। हमारा मत यह हैं कि रास शब्द वस्तुतः संस्कृतभाषा का नहीं है, प्रत्युत देशीभाषा का है, जो संस्कृत बन गया है और इस देशी नाट्यकला को जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी, रास के नाम से संस्कृत ग्रंथों में उद्धत कर दिया है। रास के देशीय होने

का अनुमान इस बात से भी होता है कि रासो तथा रासक नाम से राजस्थानी में इसका प्रयोग भी मिलता है और वह रास जिसका विशेष सम्बंध गोपियों से है ग्वालों में प्रचलित कोई देशीय नाटक हो सकता है,जो संस्कृत नाटक से अपहृत नहीं माना जा सकता। यदि यह अनुमान सत्य है तो गीतिनाट्यों की धारा हिन्दी की अपनी पैतृक सम्पत्ति है, जिसके लिए वह संस्कृत की ऋणी नहीं, जिसकी परम्परा सरस्वती की धारा के समान गुप्त अथवा प्रकटरूप में युग-युगान्तर से चली आ रही है। आगामी अध्याय में यह सिद्ध किया जायगा कि रास के दो मुख्य तत्त्व हैं, एक नृत्य और दूसरा रूपकत्व। इन दोनों की शैली और परम्परा संस्कृत की नाट्यशैली से सर्वथा भिन्न है। इससे यह अनुमान प्रमाणित होगा कि रास हिन्दीनाटकों की स्वतन्त्र शैली है, जिसके प्रभाव से ही आगे चलकर गीतिनाट्य की सृष्टि हुई है।

लक्षणग्रंथों में रासक, नाट्यरासक, रास

पिछले अध्याय में हिन्दी के आदिनाटक रासक का उल्लेख किया जा चुका है। 'रासक संस्कृत' लक्षण ग्रंथों में एक उपरूपक माना जाता है। कुछ आचार्यों ने केवल नृत्यकोटि में इसकी गणना की है किन्तु निम्न लिखित प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि रासक नृत्य ही नहीं, प्रत्युत एक प्रकार का उपरूपक है। इसे पूर्णतया स्पष्ट करने के लिए संस्कृत के लक्षणग्रथों के अनुसार रासक का रूप समझ लेना चाहिये। नाट्यदर्पण में रामचन्द्र ने रासक का लक्षण इस प्रकार किया है[1] :—

---

१ नाट्य दर्पण : ओरिएंटल इंस्टिटयूट बड़ौदा, वाल्यूम १ (१०९३-११७५) एडिशन, १९२९, पृष्ठ २१४, २१५.

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नाय(यि)काः ।
पिंडीबन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम् ॥
पिंडनात् तु भवेत् पिंडी गुम्फनाच्छृंखला भवेत् ।
भेदनाद् भेद्यको जातो लताजालापनोदतः ॥
कामिनीभिर्भुवो भर्तुश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते ।
रामाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

भावप्रकाश ने रासक की कई परिभाषायें दी हैं। एक स्थान पर इसका लक्षण यह बताया है :—

लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुरगणाः पीत्वामृतं यस्तदा
पिंडीशृंखलिका विशेषविहितो युक्तो लताभेद्यकैः ।
चित्रातोद्य विचित्रितैर्लयगतो भेदद्वयालंकृतः ।
चारी खंड सुमंडलैरनुगतः सोयं मतो रासकः ॥*

यद्यपि यह रासक का लक्षण है किन्तु इसे नाट्यरासक के प्रकरण में उद्धृत किया गया है।

दूसरा लक्षण इस प्रकार मिलता है :—

षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः ।
पिंडीबन्धादि विन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्† ॥
पिंडनात्तु भवेत्पिंडी गुम्फनाच्छृंखला भवेत् ।
भेदनाद्भेद्यको जातो लता जालोपनादृतः ॥
एते नृत्तात्मना कार्या नाट्यवन्तः क्रियाविधौ ।
सुकुमारोद्धतैरंगैर्गायिकाभिर्विलक्षणाः ॥

---

* भावप्रकाश, पृष्ठ २६५, ११. १०-१३

† भावप्रकाश, नवमोऽधिकार,
पृष्ठ २६३, ६४ ।

वाक्यस्था नाट्यस्था वधयो ह्येते पिंडाद्या दृश्यजातयः।
नवभेदा विधीयन्ते ह्यनुकार्यानुरागिणः॥
कामिनीभिर्भुवो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते।
रागाद्रसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥

रासक का तीसरा लक्षण इस प्रकार है :

अथ रासकमेकांकं सूत्रधारेण वर्जितम्।
सुश्लिष्टनान्दीयुक्तं पंचपात्रं त्रिसन्धिकम्॥
पूर्णभाषाविभाषाभिः कैशिकीभारतीयुतम्।
वीथ्यंगमंडितं मुख्यनायकं ख्यातनायिकम्॥
गर्भावमर्शशून्यं च कलापोद्देशभूषितम्।
उदात्तभावविन्यासभूषितं सोत्तरोत्तरम्॥
एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन॥*

अर्थात्, १. एक अंक हो, २. सूत्रधार रहित हो, ३. सुश्लिष्ट नान्दी हो, ४. पाँच पात्र हों, ५. तीन सन्धियाँ हों, ६. विभिन्न भाषायें हों, ७. कैशिकी और भारती वृत्ति हो, ८. वीथ्यंग हो, ९. प्रसिद्ध नायक हो, १०. प्रसिद्ध नायिका हो, ११. उदात्त भाव हों, १२. उत्तरोत्तर।

साहित्यदर्पण† में विश्वनाथ जी ने रासक का लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

रासकं पंचपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम्।
भाषा विभाषा भूयिष्ठं भारती कैशिकी युतम्॥

---

* भावप्रकाश पृ० २६९, ११, १३०१९

† साहित्य दर्पण, (विश्वनाथ षष्ठ परिच्छेद पृष्ठ २६७।)

असूत्रधारमेकांकं सवीथ्यंग कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ।
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं संधिमपि केचित्प्रचक्षते ॥

रासक में पाँच पात्र होते हैं, एक अंक होता है, मुख और निर्वहण संधियां होती हैं, इसमें वृत्तियाँ कैशिकी और भारती होती हैं। सूत्रधार नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है। उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं। किसी-किसी के विचार से इसमें प्रतिमुख सन्धि भी होती है। उदाहरण के रूप में 'मैनकाहित' का नाम दिया हुआ है।

इसी के आधार पर डा० कीथ* का कहना है कि :

नाट्यरासक का लक्षण साहित्य दर्पणकार ने इस प्रकार दिया है :

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थितिः ।
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ॥
हास्योऽङ्ग्यत्र स शृंगारो नारी वासकसज्जिका ।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्यांगानि दशापि च ।
कचित्प्रतिमुखं संधिमह नेच्छन्ति केवलम् ॥

दो सन्धि के नाट्य रासक का उदाहरण 'नर्मवती' और संधि चतुष्टयवती का उदाहरण 'विलासवती' है।

साहित्य दर्पण के अनुसार नाट्यरासक में एक अंक होता है, नायक उदात्त और पीठमर्द होता है। यह हास्यरसप्रधान होता है। शृंगार का भी इसमें समावेश रहता है। नायिका वासक-सज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा लास्य

*. द संकृत ड्रामा (डा० कीथ, पृष्ठ ३५१.)

के दसों[1] अंग मिलते हैं। कुछ विद्वान् प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त शेष चारों सन्धियों का होना मानते हैं किन्तु यह प्रायः दो सन्धियों का ही मिलता है।

इस मत के आधार पर डा० कीथ लिखते है :—The Natyarasaka a ballet and pentomime.[2]

संस्कृत साहित्य में रासक

लक्षण ग्रन्थों के अतिरिक्त हल्लीसक, रासक का उल्लेख संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी उपलब्ध होता है। यदि भास के नाटक सबसे प्राचीन मान लिए जाएँ तो 'बालचरित' नामक नाटक के तीसरे अङ्क में कृष्ण के साथ गोप-गोपियों के नत्य का वर्णन इस प्रकार मिलता है।†

संकर्षणः—दामक ! सर्वे गोपदारकाः समागताः।

दामकः—आम भट्टा पव्वं घणणद्धा आ अदा। (आम भर्त सर्वे सन्नद्धा आ-गताः।)

दामोदरः—घोषसुन्दरि। वनमाले। चन्द्ररेखे। मृगाक्षि। घोषवासस्यानुरूपो यं हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्यताम्।

सर्वाः—अं भट्टा आणवेदि। (यद् भर्ता आज्ञापयति)

संकर्षणः—दामक। मेघनाद। वाद्यन्तामातोद्यानि।

---

१. साहित्य दर्पण (पृष्ठ परिच्छेद, पृष्ठ ३६७.) (१३००-४०)

२. द संकृत ड्रामा : डा० कीथ पृष्ठ ३५१। आक्सफोर्ड ऐट द क्लैरेंडन प्रेसः १९२४।

† भास नाटक चक्रम् (सी आर देवधर एम० ए०) ओरिएंटल बुक एजेंसी पृ० ५३९.

उभौ—भट्टा ! तह । (भर्तः ! तथा ।)

वृद्धगोपालकः—भट्टा । तुम्हे हल्लीसअं पकीडेन्ति । अहं एत्थ किं करोमि (भर्तः ! यूयं हल्लीशकं प्रकीडथ । अहमत्र किं करोम ।)

दामोदरः—प्रेक्षको भवान् ननु ।

भास के नाटक के उपरान्त बाण के 'हर्षचरित' में रासक का उल्लेख इस प्रकार मिलता है ।[1]

क्वचिन्नृपाबलाबलात्कारनत्यमाननृत्यानभिज्ञान्तःपुर पालभावित-भुजिष्यः सपर्वत इव कुसुमराशिभिः, सधारागृह इव शीधुप्रपाभिः, सनन्दनवन इव पारिजातकामोदैः, सनीहार इव कर्पूररेणुभिः साट्टहास इव पटहरवैः, सामृतमथन इव कलकलैः, सावर्त्त इव रासकमंडलैः, सरोमांच इव भूषणमणिकिरणैः·····

बाण के उपरान्त भट्टनारायण ने भी इसका उल्लेख अपने वेणीसंहार नामक नाटक में इस प्रकार किया है‡ ।

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णेऽनुनयः प्रसन्नदयिताहृष्टस्य पुष्णातु वः ।

उपर्युक्त नान्दी यमुना पुलिन में केलिकुपितराधिका के पदानुसरण करने वाले कृष्ण के उस रूप की वन्दना है जो राधिका का चरणस्पर्श करते हुए प्रसन्नता के कारण गद्गद् हो रहा है ।

---

१ हर्षचरित महाकाव्यम् चतुर्थ उच्छ्वास, पुत्रजन्मोत्सव ;

‡. वेणीसंहार प्रथमोऽङ्कः—श्लोक २

वेणीसंहार श्रीभट्टनारायण जी की रचना है। भट्टनारायण जी का जीवनकाल[1] विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंत में माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सातवीं शताब्दी के मध्य में रास के नायक श्रीकृष्ण जी उपास्यरूप में मान्य थे। और यह भी निश्चित है कि उनको यह मान्यता केवल किसी स्थान विशेष पर नहीं प्राप्त थी, प्रत्युत् उत्तर भारत में कन्नौज से लेकर बंगाल तक उस समय तो अवश्य ही यह मान्यता सर्वाधिक व्याप्त रही होगी। अन्यथा,जो भट्टनारायण बंगालके राजा आदिसूर के निमंत्रण पर जन्मभूमि कन्नौज छोड़कर बंगाल चले गये थे,[2] उन्हें क्या किसी अन्य रूप में कृष्णोपासना अभीष्ट न होती? उन्होंने रास में भिन्न-भिन्न स्थानों पर कृष्ण की वंदना देखी होगी, और उसका प्रभाव उनके हृदय पर इतना अधिक पड़ा होगा कि उन्हें वेणी-संहार की नांदी के लिये इससे उपयुक्त और कोई विचार नहीं सूझा।

---

1. Classical Sanskrit literature by M. Krishnamacharya, M. A., M. L., Ph.D., printed at Tirumalai Tirupatti Devasthanams Press, Madras, 1937, p. 612.

"It may therefore be referred that Bhatt Narain lived in the first half of the 7th century A. D."

2. Classical Sanskrit literature by M. Krishnamacharya p. 612:—

"Traditionally he was one of the Brahmins that migrated from Kanoj to Bengal at the invitation of Adisura, king of Bengal."

कृष्ण रास का विस्तृत वर्णन हमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में मिलता है। इस स्कन्ध में १६ से २३ अध्याय तक रास-क्रीड़ा का प्रसंग उपलब्ध होता है। प्रारम्भ में—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"

से लेकर—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः,
श्रद्धान्वितो नु शृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाशवपहिनो त्यचिरेणधीरः।

तक अर्थात् १७४ श्लोकों में रास का वर्णन मिलता है। इन्हीं श्लोकों में तेंतीसवें अध्याय में दूसरा श्लोक इस प्रकार है:—

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमंडितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्येद्वयोद्वयोः॥

यही रास परम्परा भागवत के उपरांत व्रजभाषा के कृष्णरास रूप में हिन्दी में आई।

ईसा की सातवीं शताब्दी में कृष्णरास की ही शैली पर एक और नाट्यप्रणाली प्रचलित थी, जिसका उल्लेख चीनी यात्री ईत्सिंग ने लेखों में किया है। इसमें बोधिसत्त्व को नायक बनाकर अभिनय किया जाता था। "उस समय महाराज हर्ष(शिलादित्य)ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के आत्म-बलिदान की कथा को संगीतबद्ध

करके नत्य-संगीत-कलाविद् अभिनेताओं के द्वारा अभिनय कराया था[1]।"

महाराज हर्ष ने जीमूतवाहन के आत्मबलिदान की कथा के आधार पर 'नागानन्द' नाटक की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि उस संस्कृत-नाटक का प्रचार यथेष्ट रूप में न होते देख महाराज हर्ष को जनसाधारण में जीमूतवाहन की कथा का प्रचार करने के लिये जननाटक-पद्धति रास का आधार लेना पड़ा।

रासक्रीड़ा का यह श्लोक हस्तलिखित प्रति में मिलता है, (टाइनियल केटेलाग आफ संस्कृत मैन्युस्कृप्ट इन ओरिएंटल लिटरेरी, मद्रास एक से सात।)

अंगनामंगनामन्तरे माधवो
माधवं चान्तरेणांगना।
इत्थमार्कल्पिते मंडले मध्यगः,
सज्जगो वेणुना देवकीनंदनः॥

इसी रास का विकसित रूप आज गीति-नाटकों में देख रहे हैं। यह रासक जो आज गीति-नाट्य के रूप में विकसित हो गया है, हिन्दी का प्रारम्भिक एकांकी नाटक माना जा सकता है। हिंदी के प्रारम्भिक काल तेरहवीं शताब्दी में इसके अभिनय का उल्लेख

---

1. "King Shiladitya versified the story of Bodhisatta Jimutvahan who surrendered himself in place of a Naga. The version was set to music, he had it performed by a band of actors accompanied by dancing and acting and thus popularised it in his time."

A record of Buddhist Religion in India.

मिलता है। उपकेशगच्छ पट्टावली में रास के प्रदर्शन का उल्लेख इस प्रकार मिलता है :--

"स्त्रीणां हल्लीसकैः स्थाने स्थाने लकुटरासकैः ।
प्रेक्षणकैः जीयमानैः वादित्रैश्च पुरस्सरैः[1] ॥"

'कन्हड़ दे प्रबन्ध' का उद्धरण इस प्रकार है।

फल्यामनोरथ पूगी आस, ठामि ठामि देवराइं रास।
नारी करइ लूण लूछणां, नगर माहि मांड्या प्रेखणा ॥‡

इससे प्रमाणित होता है कि "कन्हड़ दे प्रबंध" के रचयिता पद्मनाभ के समय (१५वीं शताब्दी विक्रमी) में स्थान-स्थान पर रास का प्रदर्शन होता था।

---

१. उपकेशगच्छ पट्टावली, हस्तलिखित ग्रंथ (डा० दशरथ शर्मा के संग्रहालय से उपलब्ध, लेखक कक्कसूरी पृष्ठ १६ क, ख)।

‡ कन्हड़ दे प्रबन्ध—घटना १३६७ वि० रचना काल १५वीं शताब्दी पृष्ठ २३८।

पाचवाँ अध्याय

हिंदी के आदि साहित्यिक नाटक

गत अध्याय में हम यह मत प्रतिपादित कर चुके हैं कि हमारे देश में संस्कृत नाटक के साथ-साथ जननाटक की परम्परा भी अक्षुण्ण रही है। नाटक की ये दो शैलियाँ निरंतर अपने-अपने पथ पर चलती हुई एक दूसरे पर प्रभाव डालती चली आ रही हैं। अपभ्रंश भाषा में रासक नाटकों का प्रचार इतना बढ़ा कि अन्य शैलियाँ कालान्तर में तिरोहित सी हो गयीं।[1] यह शैली पूर्णतया

1. The cultured and elite of that period considered Prakrit as a language of the yesterday which was a valuable source of literary enjoyment by virtue of its literature of tenderness and beauty but only those who could understand that language, who had studied its grammar and who were otherwise well-read, for the averagely educated and uninitiated, Prakrit had become somewhat difficult to grasp. Consequently to cater to the contemporary literary demand, the authors had to write their works in Apabhrans, as also which was a literary dialect of the time accessible to common people.

संदेश रासक पृष्ठ १६।

जननाटक की परम्परा है। यह शैली समाज की साधारण जनता की रुचि और योग्यता का ध्यान रखकर निर्मित हुई। नाटक की यह नवीन शैली रासक के नाम से प्रचलित हुई जिसकी परम्परा के संबंध में हम विचार करेंगे।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपभ्रंश नामक जनभाषा को व्याकरण के बन्धन में इस प्रकार जकड़ दिया कि यह भाषा भी साहित्यिक भाषा बन गई, परन्तु जनभाषा पूर्ववत् चलती रही। इसी अपभ्रंश शैली में, जो जन-समुदाय की भाषा थी 'रासक' नाम के नाटक का प्रथम सृजन हुआ।

विगत पच्चीस वर्षों में अपभ्रंश साहित्य के विस्तृत अध्ययन द्वारा रासक नामक नाटक पर कुछ प्रकाश पड़ा है। इस अपभ्रंश धारा में भी साहित्य प्रचुर मात्रा में विरचित होता चला आ रहा है। अपभ्रंश-साहित्य के अप्रकाशित रहने और आदि-हिन्दी के नाटकसाहित्य की अनुपलब्धि के कारण हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास-लेखक रासक की ओर दृष्टि न दौड़ा सके और हिन्दी-नाटकों का उत्पत्ति-काल सत्रहवीं शताब्दी निर्धारित करते रहे। किन्तु पिछले पच्चीस वर्षों में प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसन्धानकर्त्ता विद्वानों ने इतना साहित्य उपलब्ध कर लिया है जिससे सिद्ध होता है कि हिन्दी का नाट्य-साहित्य विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था। सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक मिलने वाला नाटक साहित्य उसी परम्परागत नाट्य-साहित्य की एक शाखा है, जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से लेकर अब तक प्रवाहित होती चली जा रही है। इस अध्याय में उसी चिरकालीन नाट्य-धारा पर विचार करेंगे।

अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध पंडित मुनिजिनविजय जी विगत ४० वर्षों से जैन भंडारों की हस्तलिखित पुस्तकों का अध्ययन कर रहे हैं। उन विशाल ग्रन्थभंडारों में उन्हें 'सन्देश रासक' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ। यह ग्रन्थ विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में एक उदार मुसलमान द्वारा अपभ्रंश मिश्रित पश्चिमी राजस्थानी में लिखा गया। इसकी भाषा और कथा-वस्तु के आधार पर यह प्रमाणित हुआ है कि इसका रचना-काल शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी के आक्रमण का पूर्वकाल था। इसकी भाषा पृथ्वीराज रासो की मूलभाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है। यह वह काल था जब अपभ्रंश भाषा में सामान्य जन की भाषा राजस्थानी अपना स्थान बनाती चली जा रही थी। अतएव ग्रंथ में अपभ्रंश तथा राजस्थानी का मनोरम संगम पाया जाता है। इसके पश्चात् जितने रासक विरचित हुए उनमें अपभ्रंश का प्रभाव क्षीण से क्षीणतर और राजस्थानी का प्रबल से प्रबलतर बनता गया और अचिरादेव रास और रासो राजस्थानी में विरचित होने लगे। रास और रासो की यह परम्परा न्यूनाधिक सात सौ वर्षों से हमारे नाट्य-साहित्य को प्रभावित करती चली आ रही है। इस परम्परा पर विचार करने से पूर्व हम उन लोगों की शंका का समाधान कर देना चाहते हैं, जो इन रासों को श्रव्य-काव्य ही मानकर नाटक-साहित्य में परिगणित न करना चाहें। इस समस्या को 'सन्देश रासक' में ही नाट्यकार ने सुलझा दिया है।

रासकों की उपयोगिता बताते हुए अब्दुल-रहमान लिखते हैं।

कह न ठाह पडवेइहि वेउ पयासियइ।
कहबहु-रुविणिवद्धउ रासउ भासियइ॥

इसी की टिप्पनक रूपा व्याख्या में इस प्रकार अर्थ मिलता है :

कुत्रापि चतुर्वेदिभिः वेदः प्रकाश्यते ।

कुत्रापि बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते ॥४३॥

अर्थ...कहीं पर चतुर्वेदी (चारों वेदों के श्रोत्रिय) वेदों की व्याख्या करते हैं और कहीं बहुरूपिये अर्थात् अभिनेता सुसम्बद्ध रासकों का कथोपकथन रूप में प्रदर्शन करते हैं ।

इस नवोपलब्ध 'सन्देश रासक' में विविध छन्द के साथ कथानक में भी नाटकत्व पाया जाता है । मंगलाचरण के उपरान्त इस रासक का संक्षेप में कथानक यह है:—विजयनगर की एक युवती अपने प्राणनाथ के वियोग में अश्रु बहाती वियोगाग्नि में झुलसती पति-दर्शन का लालायित पथ पर खड़ी चारों ओर निहार रही है । इतने में एक पथिक आता है, जिसके पास पहुँच कर हिचकियों के साथ पति को सन्देश भेजना चाहती है । उसकी विपन्नावस्था देखकर पथिक उसे एक गाना सुनाता है । पथिक और विरहिणी में इस प्रकार संवाद होता है :—[1]

विरहिणी—आप कहाँ से आते हैं, कहाँ जायेंगे ?

पथिक—भद्रे ! मैं उस शाम्बपुर से आ रहा हूँ जहाँ भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर प्राकृत के मधुर गान सुनाई पड़ते हैं, वेदज्ञ वेद की व्याख्या करते हैं, कहीं-कहीं रासकों का अभिनय नटों द्वारा किया जाता है,[2] इत्यादि ।

इस प्रकार परिचय के उपरान्त विरहिणी अपने पति को

---

१. 'सन्देश रासक' से अनूदित

२. सन्देश रासक... At places the Vedas are expounded by experts; somewhere the Rasak is staged by the actors.—Shri Jin Muni Vijaya p.80

सन्देश भेजती है। सन्देश कहते-कहते अश्रुधारा उमड़ पड़ती है। भावोन्मेष के कारण कंठावरोध हो जाता है!

पथिक—आप अधीर न हों। आँसुओं को पोंछकर धैर्य धारण करके फिर कहिये।

इस प्रकार सन्देश कहते-कहते संध्या हो चली।

पथिक बोला—अब मुझे भी प्रस्थान करना चाहिए। आप अपनी अश्रुधारा रोकिए, अन्यथा मुझे अपशकुन के कारण मार्ग में आपत्ति की आशंका होगी।

विरहिणी—आपकी यात्रा मंगलमय हो।

पथिक—सूर्यास्त हो रहा है। आप अपना सन्देश संक्षेप में सुनाइये। अब मुझे अपने पथ पर अग्रसर होना है। कृपा करके इतना और बता दीजिए कि आप कब से इस विरहाग्नि में झुलस रही है?

विरहिणी—जब मेरे प्राणनाथ विदेश चले ग्रीष्म के दिन थे, तब से एक के बाद दूसरी ऋतु नई वेदना लेकर आती है।

विरहिणी प्रत्येक ऋतु में अपनी वेदना का वर्णन करते हुए प्रियतम के पास सन्देश भेजती है। अन्त में निवेदन करती है कि हे पथिक, यदि व्यथाके वेग में मैंने कोई अप्रिय तथा कठोर शब्द प्राणनाथ के प्रति कहा हो तो उनसे न कहिएगा। मेरा सन्देश इस विधि से कहिएगा जिससे उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे।

तदुपरान्त आशीर्वाद देकर पथिक को उसने विदा किया और निशागमन के कारण द्रुतगति से निजगृह की ओर अग्रसर हुई। इतने ही में परदेशी प्रियतम का दर्शन हो गया। इस असम्भावित मिलन से उसका हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो गया।

नाटकत्व से परिपूर्ण यह रासक आशीर्वचन के साथ समाप्त होता है। इस व्याख्यान पर वादी यह आपत्ति उठा सकता है कि

रासक को श्रव्य काव्य क्यों न माना जाय। हमारा उत्तर यह है कि यह दृश्य काव्य है, क्योंकि बहुरूपिया द्वारा इसका प्रदर्शन अथवा अभिनय किया जाता है। इस प्रकार यदि श्रव्य-काव्य का अभिनय के रूप में प्रदर्शन किया जाए तो उसे दृश्य-काव्य मानने में क्या आपत्ति हो सकती है। हमारी सम्मति में यह रासक पूर्ण-तया विकसित नाटकों के प्रारम्भिक काल का वह रूप है जिसमें श्रव्य-काव्य अभिनय कला की सहायता से दृश्य-काव्य में परिणत हो रहे हैं। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।

आगामी अध्यायों में हम देखेंगे कि रासक की यह परम्परा देशी भाषा, पश्चिमी राजस्थानी में रास और रासो के रूप में चली जा रही है और विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में इसी मुख्य धारा से रास की एक और भी परम्परा प्रकट हुई।

पश्चिमी राजस्थानी में रास-नाटक की परम्परा

हम पूर्व सिद्ध कर आए हैं कि सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक गुर्जर भाषा और पश्चिमी राजस्थानी एक ही भाषा थी।* तेरहवीं से बीसवीं शताब्दी तक विरचित हस्तलिखित रास ग्रंथों का विवेचन मोहनलाल दुलीचन्द देसाई ने "जैन गुर्जर कविओ" नामक ग्रंथ के तीन भागों में किया है। यशोविजयग्रंथ-माला भावनगर से 'ऐतिहासिक रास संग्रह' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इनके अतिरिक्त कितने ही रास-ग्रंथ अभी तक जैन जनता के अधिकार में लुप्त पड़े हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण रास ग्रंथों की गणना करना तो दुष्कर कार्य है। हाँ, उपलब्ध रासग्रंथों की संख्या न्यूनाधिक एक सहस्र तक पहुँच जाती है। हमारे नाट्य-

* डा० टेसिटोरी (कन्हड़ दे प्रबंध) प्राक्कथन पृ० १.

साहित्य की इतनी बड़ी पैतृक सम्पत्ति अभी तक अछूती पड़ी है। इस पर शोध की बड़ी भारी आवश्यकता है।

इसी वर्ष अगरचन्द नाहटा ने 'गय-सुकुमार रास' नामक एक रास-ग्रंथ की शोध जैसलेमेर में की है। यह रास-ग्रंथ उस काल का है जब ग्राम्य अपभ्रंश और राजस्थानी का प्रायः सन्धि-काल था। इस रास की बड़ी विशेषता यह है कि इसमें वसुदेव की पत्नी देवकी जी कृष्ण के समान ही एक और पुत्र की कामना करती है। उनकी अभिलाषा पूर्ण होती है। वही इस रास का नायक है।

इस रास का रचनाकाल संवत् १३०० विक्रमी के सन्निकट माना जाता है। इस राम में रास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। इसके पात्र हैं: वसुदेव, देवकी, गयसुकुमार, कंस, जरासन्ध[1] और नेमिकुमार।

इसका प्रारम्भ मंगलाचरण[2] से और अन्त आशीर्वचन[3] से होता है जो नान्दी और भरतवाक्य से मिलता-जुलता है।

राजस्थानी की यह रास-परम्परा अब तक चली जा रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व शेखावाटी प्रान्त में इनका अभिनय प्रायः होता

---

१. गयसुकुमार रास (हस्तलिखित प्रति)

२. पणमेविणु सुभदेवी सुभरयण विभूसिय।
पुत्थम कमल करीए कमला सणि संठिय ॥१॥

३. आशीर्वचन—एहु रासु सुहडेयह जाई,
रक्खउ सयलु संघु अ'बाई।
एहु रासु जो देसी गुणिसी,
सो सासय सिव सुक्खइह लहिसी ॥३४॥
राजस्थानी भारती जुलाई १९५१ ई०

रहता था। लकुड़ रास तो अब तक प्रतिवर्ष अभिनीत होता ही है। इस प्रकार अपभ्रंश से उद्भूत रास-परम्परा ने हमारे नाट्य-साहित्य को इतना प्रभावित किया कि ब्रजभाषा में भी सोलहवीं शताब्दी में रास की नई परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा में नन्ददास, ध्रुवदास, ब्रजवासीदास आदि महात्माओं ने उत्कृष्ट रचना की जिनका उल्लेख ब्रज की रासधारा में किया जायगा।

राजस्थानी के न्यूनाधिक एक-सहस्र रास-ग्रंथ स्वतन्त्र शोध के विषय हैं। अतएव केवल 'गयसुकुमार रास' का उल्लेख करके हम ब्रजभाषा के रास पर आते है, क्योंकि इस परम्परा ने हमारे नाट्य-साहित्य पर काफी प्रभाव डाला है।

अन्त में हम इतना कहना चाहते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक रासक अभिनीत होते रहे, जिनमें अपभ्रंश का प्रभुत्व विद्यमान था, किन्तु 'गयसुकुमार रास' में राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें पात्रों की संख्या रासक से अधिक है। तीसरी विशेषता यह है कि यह वसुदेव, देवकी, कृष्ण से सम्बन्ध रखता है।

यदि हमारा यह अन्वेषण मान्य हो तो हिन्दी-साहित्यिक नाटक का उत्पत्तिकाल सत्रहवीं शताब्दी के स्थान पर तेरहवीं शताब्दी संवत् १२८६ वि० मानना होगा। एतदर्थ नाटक के इस विकसित रूप में विरचित यह 'गय सुकुमार-रास' ही हमारे अनुसन्धान के फल-स्वरूप प्रथम नाटक सिद्ध होता है। इस प्रकार विक्रम की तेरहवीं शताब्दी से हिन्दी-नाटक के विकसित रूप की परम्परा सिद्ध हो जाती है।

राजस्थानी रास-नाटकों की परम्परा और उनका विकास

रासग्रंथों का वृहद् भंडार जैनग्रंथागारों में मिलता है। उन ग्रंथों में 'लकुटरास', 'तालरास' आदि नाटक शृंगाररस प्रधान होते थे। भरतेश्वर बाहुबलिरास, समरसिंह-रास आदि वीररस-प्रधान होते थे, और गयसुकुमार-रास, नेमिरास इत्यादि शान्त-रस-प्रधान होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जनता ने नृत्य-गीतमय उन रासनाटकों के द्वारा जिनमें शृंगार की प्रधानता होती थी, मनोविनोद आरम्भ किया होगा। ऐसे रास-नाटकों का सफल अभिनय देखकर वीररस के नाटक लिखने वालों ने 'भरत बाहुबली रास' जैसे रासनाटकों की रचना की होगी और जनता पर ऐसे नाटकों का प्रभाव देखकर धर्म-प्राण जैनमुनियों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचारार्थ 'गयसुकुमार' 'नेमिरास' जैसे धार्मिक रासों का निर्माण किया होगा।

जैन-ग्रंथागारों में जो रास-ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः सभी धार्मिक हैं। हम यह प्रमाणित कर चुके हैं कि रास-नाटक अभिनय के लिए लिखे जाते थे। अतः यह सम्भव है ही नहीं कि शृंगार और वीररस के नाटक इतनी अल्पसंख्या में रचित होते रहे हों जितने आज उपलब्ध हैं। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि वे रास-नाटक क्या हुए? मिलते क्यों नहीं? इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अभिनेय रास-नाटक नाटक-कर्ताओं को कंठस्थ होते थे। उनको प्रायः लेखबद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं होती थी और वे गुरु से शिष्य को परम्परागत प्राप्त होते रहे। अधिकांश जन-नाटकों की आज भी यही दशा है। वे लेख-

बद्ध न होकर प्रायः मौखिक रूपमें ही मिलते हैं और समयानुसार परिवर्तन के साथ अभिनीत होते रहते हैं।

रास-नाटकों का विकास

लकुटरास, भरतेश्वर बाहुबलीरास और गयसुकुमार आदि प्रारम्भिक रास-नाटकों का कथानक बहुत छोटा होता था। दृश्य-परिवर्तन की उन्हें उसी प्रकार आवश्यकता न थी, जैसे आज के जन-नाटकों में। वाचनिक या कवि दृश्य-परिवर्तन की सूचना-मात्र प्रेक्षकों को दे देता है। मृत्यु तथा श्मशान-दृश्य, युद्ध का वर्णन भी वाचनिक स्वतः प्रेक्षकों को सुनाता है[1]।

रास-नाटकों का निर्माण प्रारम्भ में अपभ्रंशके महाकाव्यों का कथानक लेकर होता रहा। 'भरतेश्वर-बाहुबलि-रास' 'त्रिसटिठ महाकाव्य' के भरतेश्वर और बाहुबलि का कथानक लेकर रचा गया है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में रास की तीन धाराएँ हो गईं। एक धारा पूर्ववत् जन-नाटकों के रूप में प्रवाहित होती रही, जिसका परिवर्तित रूप हम जन-नाटकों में पाते हैं। लकुट-रास, ताल-रास का विकसित रूप शृंगार-प्रधान जन-नाटकों में परिलक्षित होता है।

दूसरा रूप अपभ्रंश के चरिउ और प्रारम्भिक रास-नाटकों के मध्य का था। इस धारा में नृत्य और नाट्य का क्रमशः लोप

---

१. अमरसिंह राठौर 'स्वाँग नाटक' नत्थामल, पृष्ठ २४:—

शेख सलावत का किया, अमरसिंह ने ढेर।
खड़ा बीच दरबार में, तान शेर शमशेर॥

'गयसुकुमार रास':—तावह गय सुकुमाला सिरि पालि करेई।
दारुण खयर अंगारा सिरि पूरण लेई॥२६॥

होने लगा और तीर्थंकरों तथा दानी श्रेष्ठियों की जीवन-गाथा को प्राधान्य दिया जाने लगा। उन राजाओं को भी नायक बनाया गया जो ब्राह्मणधर्म को त्याग कर जैनधर्म में दीक्षित होते रहे। इसमें आराध्य देवताओं का सम्पूर्ण चरित्र लेकर रास तैयार होता था।

रास का तीसरा रूप "रासो' है जो किसी राजा की पूरी जीवन-गाथा को लेकर विरचित होता रहा।

राजस्थानी में विरचित रासग्रंथों के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रास-नाटकों के दो मुख्य भेद, 'एकांकी' और 'पूर्णनाटक' किये जा सकते हैं। एकांकी में कथानक लघु होते थे और पूर्णनाटकों में चरित-काव्य की शैली पर कथानक विस्तृत बनाये जाते थे। इन पूर्णनाटकों में अधिकांश धार्मिक अवश्य हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तीर्थंकरों को ही नायक मानकर नाटक की रचना होती थी। रास के नायक ऐसे भी धनी-मानी व्यक्ति होते थे जो अपने धन का सदुपयोग जनता के कल्याण के लिये करते थे। उदाहरण के लिए 'संघपति* समरारास' लीजिए। इस रास की रचना संवत् १३७१ वि० में अम्बदेव नामक कवि ने की। संघपति राजस्थान का एक साधारण वणिक् था। इसने अपने पराक्रम और पुरुषार्थ से धनकोष संग्रहीत किया और उसके द्वारा दीन-हीन जनता की सेवा की। उसने शत्रुंजय नामक तीर्थ के भग्न मंदिरों का जीर्णोद्धार किया। सदाचार और नैतिकता के बल से उसने अपना जीवन इतना निर्मल बना लिया कि उस समय समाज में सबके आदर का भाजन बन गया।

---

*. संघपति समरारास—डाक्टर दशरथ शर्मा के संग्रहालय से प्राप्त।

पौराणिक कथानकों में अभिनय के अनुकूल परिवर्तन करके रास की रचना होती रही। उदाहरण के लिए धर्मदेव विरचित 'हरिश्चन्द्र' रास और ऋषिवर्धन विरचित 'नल-दमयन्ती' रास देखिये। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को पात्र बनाकर कुछ रासों की रचना हुई। ब्रह्मजिनदास विरचित 'सम्यक्त्वरास' इसका प्रमाण है। इस रास का प्रारम्भ इस प्रकार होता है।

त्रोटक

जयवंत जय जगि सार सुन्दर रामचन्द्र बखानिये।
लक्ष्मीधर अरु भरत शत्रुघ्न च्यारि पुत्र धरि जाणीए॥
कुल कमल दिनकर सकल शास्त्र सुजानवंत महामती।
देव धम्मंह गुरु परीक्षण रामचंद्र सार्तयती॥ ११॥
समिक्ति रासो निरमलाए मिथ्यातमोड एकंदाता।
गावो भवीयण सबड़ो ए जिमि सुख होइ अनंदाता॥ १॥
श्री सकल कीरति गुरु प्रणमीनए, श्री भवन कीरति भवतारतो।
ब्रह्म जिणदास मनो ध्याइए गाइए सरस अपारतो॥ २॥

राजस्थानी में रास-ग्रंथों का बृहद् भंडार है। राजस्थान में रास और रासों के अभिनय शताब्दियों तक होते रहे हैं। अभी तक हिन्दी के इस विशाल नाट्य-साहित्य की गवेषणा अवशिष्ट है।

ब्रजभाषा की रास शैली ने भारतीय इतिहास के उस काल में जन्म लिया, जब वैष्णव धर्म की चर्चा देश में सर्वत्र सुनाई पड़ रही थी। बंगाल में जयदेव कवि का गीतगोविन्द अभिनय के साथ गाया जा रहा था। चैतन्य महाप्रभु जगन्नाथपुरी में अपने भक्त मित्रों के द्वारा कृष्णलीला का अभिनय दिखाकर जनता को

मुग्ध कर रहे थे। यात्री-गण इस अभिनय की वार्ता दूर तक देशों में पहुँचा रहे थे। इस प्रकार भारतीय नाट्य-साहित्य का एक नया अध्याय रचा जा रहा था। महाप्रभु के विद्वान् शिष्य प्रसिद्ध तीर्थों में इस नवीन नाटक-शैली का समावेश कर रहे थे। कृष्णलीला की यह महत्त्वपूर्ण घटना कृष्ण के रासस्थल पर स्वयं महाप्रभु द्वारा पहुँच चुकी थी।

उस समय वृन्दावन के लताकुंजों में स्थित साधुओं के पर्णकुटीर साहित्य के उद्भट कृष्णभक्त आचार्योंके आवास बन रहे थे। स्वामी वल्लभाचार्य और हितहरिवंशरायके पर्णकुटीरों में भक्तों की भीड़ लग गई थी। प्रसिद्ध गवैया तानसेन के गुरु हरिदास जी भी वहीं आकर बस गये थे। इन आचार्यों के साथ उनका शिष्य वर्ग भी बसने को लालायित हो उठा। बंगाल से महाप्रभु जी ने अपने प्रसिद्ध शिष्य रूपगोस्वामी को यहाँ (वृन्दावन) बसाने के निमित्त भेज ही दिया था। महाप्रभु के विद्वान शिष्य श्री गदाधर भट्टजी भी वृन्दावन में बस गए। इस प्रकार आचार्यों की एक नई बस्ती बस गई, जहाँ प्रतिक्षण राधा कृष्ण की लीलाओं का प्रसंग चलता तथा भागवत की कथा होती और 'नारद-पंचरात्र' का पाठ आदि चलता रहता।

इन आचार्यों में एक आचार्य ऐसे थे जो राधा जी के परम उपासक थे। वे महात्मा राधिका जी के ऐसे भक्त हुए कि उनके सम्प्रदाय का नाम ही राधावल्लभ सम्प्रदाय पड़ गया। यह थे महात्मा हितहरिवंशराय, जिनका जन्म संवत १५५९ विक्रमी में हुआ था और जो सांसारिक व्यवहार त्याग कर वृन्दावन के एक लताकुञ्ज में नित्यप्रति ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि

इस सूक्ष्म तत्त्वदर्शी महात्मा को सेवाकुञ्ज[1] में नित्य राधिका जी से साथ कृष्ण जी का रासविहार दृष्टिगोचर होता था। कभी-कभी यह महात्मा महारास[2] का दर्शन किया करते थे।

एक दिन रासविहार का प्रसंग छिड़ा। भक्तों में स्वभावतः जिज्ञासा हुई कि आचार्य जी को वृन्दावन में भगवान कृष्ण का जो रासविहार दिखाई पड़ता है वह किस प्रकार का है। साधकों की दृष्टि से तो वह नितान्त अदृश्य रहता है। स्वामी हरिदास जी भी मडली में विद्यमान थे। आचार्य हितहरिवंश जी ने घमंडीलाल[3] महात्मा को बुलाया, उनको और स्वामी हरिदास जी को कुछ निर्देश किया। रासलीला में दृष्टिगोचर होने वाली राधा-कृष्ण की छवि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वयं हितहरिवंश जी ने किया। इस प्रकार रास-मंडल की तैयारी हुई[4]।

स्वामी हरिदास संगीत के धुरन्धर विद्वान् थे ही। हितहरिवंश जी के पद 'आज बन नीको रास बनायो' तथा 'खेलत रास दुलहिनी दूलह' को संगीत रूप में प्रस्तुत किया गया। अन्य महात्माओं ने भी सहयोग दिया। हितहरिवंश जी के साथ श्री वल्लभाचार्य तथा गदाधरभट्ट जी भी थे, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार

---

१. मांडव्य संहिताः—सेवाकुञ्जेति विख्यातो श्रीमद्वृन्दावनान्तरे।
राधया सह गोविन्दो यत्र क्रीडां करोति सः॥

२. महारास में कृष्ण अनेक कृष्ण के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

३. महात्मा घमंडीलाल उस समय नाटक-अभिनय के लिए प्रसिद्ध थे।

४. रासलीला के प्रथम संस्थापकों के नाम के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई श्री वल्लभाचार्य जी को और कोई श्री नारायणभट्ट जी को संस्थापक मानता है।

सोलहवीं शताब्दी में इन आचार्य महात्माओं ने ब्रज-भाषा में सर्वप्रथम कृष्णरासमंडल रचाया, जिसमें नृत्य, संगीत और नाट्य को ही स्थान मिला।

रासलीला का दर्शन महात्मा हितहरिवंश जी को वर्षों की साधना के उपरांत हुआ था। तपस्या करते-करते सहसा आचार्य को एक दिन आनन्दानुभूति हुई और मुख से निकल पड़ा:—

कालिन्दीतटकुञ्जे, पुंजीभूतं रसामृतं किमपि।
अद्भुतकेलिनिधानं, निरवधि राधाभिधानमुल्लसति[1] ॥

अर्थात्—कालिंदी तट के कुञ्ज में कोई अनिर्वचनीय पुंजीभूत रसामृत एवं निरवधि अद्भुत केलि निधान श्रीराधा नामक स्वरूप उल्लसित हो रहा है। अब तो आचार्य की साधना सफल हुई। उन्होंने प्रत्यक्ष एक छटा देखी जिसका वर्णन करते हुए मुख से निकल पड़ा :

आजु नागरी किशोर भांवती विचित्र जोर,
कहा कहौं अंग-अंग परम माधुरी।
करत केलि कंठमेलि बाहु दंड गंड-गंड
परस सरस रास लास मंडली जुरी ॥
स्याम सुन्दरी बिहार बांसुरी मृदंग तार
मधुरघोष नूपुरादि किंकनी चुरी।
देखत हरिवंश आलि निर्त्तनी सुधंग चालि
वारि फेरि देत प्रान देह सी दुरी[2] ॥

आचार्य ने उस रासलास पर मुग्ध होकर अपने शरीर से प्राण चुराया और उस छटा पर निछावर कर दिया। इस प्रकार

---

१. राधा सुधानिधि 'हितहरिवंश' पृ० ११७।
२. वही पृ० ४६।

कुछ लोगों के मतानुसार रास की उत्पत्ति धरणी पर हुई और उसी की अनुकृति आचार्य ने भक्तों को सिखाई। यह रासलीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धहारी प्रतीत हुई कि महात्मा घमंडीदेव ने इसका पुनः-पुनः प्रदर्शन करने के लिये ललिता सखी के गाँव वाले कुछ लड़कों को इसके अभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी। उस समय अकबरी दरबार से अवकाश-प्राप्त नृत्य-कला विशारद कलाकार वल्लभ भी वृन्दावन में आ बसा। उसने पात्रों को नृत्य की शिक्षा दी। स्वामी हरिदास जी ने संगीत सिखाया। इस प्रकार रासमंडली की ख्याति फैलने लगी और तीर्थयात्री रास का दर्शन करना भी धर्म का अंग समझने लगे। तब से अर्थात् विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर आज २१ वीं शताब्दी विक्रम तक रासलीला का यह क्रम निरन्तर चलता आ रहा है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हितहरिवंश जी से पूर्व रासलीला का प्रदर्शन होता ही नहीं था।

बारहवीं शताब्दी में श्री बोपदेव रचित श्रीमद्भागवत में कृष्ण-लीला[1] के रास का उल्लेख पाया जाता है। क्या बारहवीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक ४०० वर्ष के दीर्घकाल में कृष्णरास रचा ही नहीं गया होगा। तत्कालीन कृष्णरास का उल्लेख न मिलने से यह प्रमाणित नहीं होता कि इस काल में कृष्ण-रास का प्रदर्शन नहीं होता था। Argumentam Ex-Silentis अर्थात् वर्णनाभाव के तर्क का प्रमाण सर्वथा भ्रामक है। बारहवीं शताब्दी में विरचित श्रीमद्भागवत की कृष्ण-रासलीला के प्रमाण से तथा राजस्थानी रास की उपलब्धि से तत्कालीन कृष्ण-रासलीला की रास-पद्धति का अनुमान किया जा

---

१. श्री मद्भागवत दशमस्कंध अध्याय २९-३३

सकता है। यह पृथक् गवेषणा का विषय है, जिस पर यदि कार्य किया जाय तो अवश्य सफल होगा।

गोलोक में रासलीला का दर्शन प्रत्यक्ष रूप से करने वाले कई महात्माओं के सम्बन्ध में जनश्रुतियाँ पाई जाती हैं। गुजरात में घर-घर यह सुना जाता है कि नरसी मेहता गोलोक में होने वाली रासलीला को जब देख रहे थे तो वह रास मंडल के मध्य में दीपक लेकर खड़े थे। वह इतने ध्यानावस्थित थे कि दीपक से हाथ जलने का भी भान उन्हें न हुआ। अन्त में कृष्ण ने स्वतः उनका हाथ जलने से बचाया। इसी प्रकार श्री वल्लभाचार्य आदि महात्माओं का रासलीला को गोलोक में प्रत्यक्ष देखना अनुश्रुति के रूप में आज तक चला आता है। इससे एक बात तो प्रत्यक्ष हो जाती है कि रासलीला का प्रसार अल्पकाल में सारे देश में होने का श्रेय इन महात्माओं की साधना को ही है। आज भी गुजरात में गाँव-गाँव इस रास का प्रचार है। गुजरात के कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि रास का सर्वप्रथम उद्भव सौराष्ट्र में ही हुआ[1]। श्री नरसिंह मेहता इसके संस्थापक थे। संस्थापन की समस्या पर आगे विवेचन किया जायगा।

रासलीला प्रतिदिन वृन्दावन में किसी न किसी देवालय या कुञ्ज अथवा कालिंदी पुलिन पर होती है। इसके लिए यात्रा नाटक के सदृश पर्दे और नाटक-सम्बन्धी अन्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। लकड़ी की कुर्सियों पर गद्दे और ऊपर स्वच्छ चादर डाल कर कहीं भी रंगमंच बना दिया जाता है। जनता चतुर्दिक बैठ जाती है, स्त्रियाँ एक ओर, और पुरुष दूसरी ओर। राधा-कृष्ण तथा सखियों का आगमन होते ही जनता खड़ी हो जाती है। समीपवर्ती भक्तगण, अतिवृद्ध साधु-महात्मा भी

१. टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा बाई डी. आर. मनकड, पृ० १४२।

चरण-स्पर्श को दौड़ पड़ते हैं। राधा-कृष्ण के आसनासीन होने पर नान्दी-पाठ प्रारम्भ होता है, जिसमें जयदेव के गीतगोविन्द और आचार्य वल्लभाचार्य, हितहरिवंश आदि के स्तोत्रों से वन्दना होती है। तदुपरान्त एक सखी कृष्ण से कहती है, "रास को समय ह्वै गयो अब आप पधारें।" कृष्ण खड़े होकर राधिका जी से निवेदन करते हैं:—

"राधे, रूप उजागरि श्यामा करियो कृपा की कोर।" संगीतज्ञ कृष्ण के गान को वाद्य के साथ पुनरावृत्ति करते हैं। आगे कृष्ण फिर निवेदन करते हैं :

"रसिकन रजधानी राधिका महारानी कृपा करि हेरो,
मग जोवत राधे तेरो...
चलौ चलैं सब बनकी ओर
करिए कृपा की कोर,
राधा भानुकुमारी।"

राधिका कहती है—नन्दकिशोर मोहन कुञ्ज-बिहारी।

कृष्ण कहते हैं—

चलिए सघन बन की ओर श्री मम प्राणपियारी।
बोलत चातक-मोर फूली अति फुलवारी॥

राधे—मैं न चलूँ बन की ओर तू नटखट गिरधारी।

(दर्शक कृष्ण भगवान की जय-जयकार करते हैं)

तुम प्रीतम चितचोर उलटी रीति तुम्हारी॥

कृष्ण—हा हा! काह बतावत चोर, तुम चितचोर निहारी।
निरखो कृपा की कोर तुम राधा प्यारी।
ब्रजबनितन सिरमौर, तुम भोली-भाली।

अब राधा जी उठती हैं और सखियों के साथ कृष्ण नृत्य दिखाते हैं। कभी केवल कृष्ण और राधा का नृत्य होता है, कभ

सभी साथ मिलकर और कभी एक-एक अलग-अलग नृत्य दिखाते हैं। जिस मंडली के नृत्य और संगीत में कला होती है, उसकी प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती है और दर्शक अच्छे अभिनेता कृष्ण तथा राधा पर द्रव्य निछावर करते हैं। नृत्य के उपरान्त कृष्ण का यह गाना मधुर स्वर में दर्शकों तथा यात्रियों को मुग्ध बना देता है। वे अपनी यात्रा सफल समझते हैं।

"जो रस बरस रह्यो ब्रज माँही
याको दर्शन औ' कहुँ नाहीं।"

अब कृष्ण अपने पूर्वावतारों से कृष्ण अवतार की तुलना करते हैं।

"रामलला कब घर-घर धायो,
पकरि-पकरि कब हिए लगायो।
दै-दै माखन कौने नचायो,
बावन बनकर लम्बे हो गयो।
जो अस देखति यसुमति माता,
बाँधि तौ लेती कैसे हाथा।"

वृन्दावन का सुख वर्णन करते हैं।

राजपाट को नाहिं करैया, ओढि कमरिया गाय चरैया।
रथ विमान पर नाहिं चढ़ैया, गरुड़ पीठ पर नाहिं उढ़ैया।
पाँवन-पाँवन नंगे डोलौं, ब्रजरज-सम कोउ नाहिं।
जो रस बरस रहयो ब्रज माहीं, याको दरसन औ' कहुँ नाहिं।

इसके उपरांत आरती की जाती है। प्रेक्षक खड़े हो जाते हैं और राधा-कृष्ण की स्तुति होती है।[1]

---

१. भक्तगण आरती के समय धन दान करते हैं। रास-मण्डली वालों की वह आय होती है। उसी के द्वारा वे अपनी मंडली का व्यय चलाते हैं।

कृष्णरास और जैनरास

कृष्णरास और जैनरास में पहला अन्तर यह है कि कृष्णरास में राधा और कृष्ण का प्रेम प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु जैनरास में जैनियों के उपास्य देव अथवा तीर्थंकर का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है। दूसरा, कृष्णरास में कृष्ण के अतिरिक्त और कोई नायक नहीं हो सकता, किंतु जैनरास में कोई जैनी साधु-महात्मा, सेठ-साहूकार, धनी मानी दानी भी नायक हो सकता है। तीसरा, कृष्ण रास के सभी नाटक एकांकी मिलते हैं और वे एकांकी इस ढंग से रचे गये हैं कि दो या दो से अधिक का भी अभिनय एक साथ किया जा सकता है किन्तु जैनरास में एकांकी और पूर्ण नाटक दोनों उपलब्ध होते हैं।

लीलानाटकों का क्रमिक विकास

ब्रजभाषा के प्रारम्भिक रासलीला-सम्बन्धी नाटक नन्ददास जी द्वारा विरचित हुए। नन्ददास जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने मधुर स्वर में गाने योग्य स्फुट गेय पद, भागवत दशम-स्कन्ध के अनुवाद रूप में कथा, और लीला के रूप में दृश्यकाव्य की रचना की। कारण यह था कि उनमें सूर की तरह तन्मयता, तुलसी की तरह प्रबन्ध-पटुता के साथ साथ संवादोपयुक्त तीखी तर्क बुद्धि और वाग्वैदग्ध्य भी था। नन्ददास की गोपियाँ उद्धव को अवाक् करती हैं, आँसुओं से नहीं वाणी से। नन्ददास में दृश्यकाव्य के अनुकूल किसी कथा के आवश्यक अंग को ग्रहण करने और अनावश्यक को पृथक् करने की क्षमता थी। एक ही कथावस्तु को संगीत, कथा और दृश्यकाव्यों के योग्य घड़ लेने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। उन्होंने गोवर्धनलीला स्फुट पदों में, भगवत के अनुवाद में, और अभिनयार्थ लीला के रूपमें तीन बार लिखी। यदि उनको दृश्य-काव्य लिखने की प्रेरणा न हुई होती

तो भागवत के अनुवाद रूप में गोवर्धनलीला की रचना वे प्रथम ही कर चुके थे, पुनः दूसरे रूप में गोवर्धनलीला ही लिखने का क्या प्रयोजन था ? दोनों गोवर्धनलीलाओं की तुलना करने से यह विषय और स्पष्ट हो जाता है।

भागवत की गोवर्धन-लीला के प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं है और होना भी नहीं चाहिए, किंतु गोवर्धन-लीला में शुद्ध नान्दी है, "श्री गुरुचरण सरोज मनावौं।" इस नान्दी में १२ वर्ण हैं जो नान्दी का लक्षण है।[1]

तदुपरान्त प्रस्तावना के रूप में सामाजिकों को बताया जाता है कि आज गिरि गोवर्धनलीला होगी[2]। इस लीला के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए इसकी विशेषता का वर्णन है। "कलिमल हरन मंगलकरनी। मनहरनी श्री शुकमुनिवरनी।" कहकर सूत्रधार अथवा व्यवस्थापक प्रेक्षकों का मन आकर्षित करता है। वह कहता है कि गोवर्धन-लीला कलिमलहरण करके मंगल-विधान करने वाली है, वह आज की नहीं, बड़ी पुरातन है और शुकदेव मुनि द्वारा वर्णित है। इसमें कितनी गम्भीर अभिव्यंजना है। नाटक में तीन गुण आवश्यक हैं। मनोरंजनकारी हो, निश्रेयस और अभ्युदय का दाता हो। इस लीला में तीनों गुण विद्यमान हैं, कलिमलहरनी होने से निःश्रेयस का दाता है, 'मंगलकरनी' से अभ्युदय प्रदान-कर्त्ता है और 'मनहरनी' से रुचिकर है।

जिस क्रम से नन्ददासजी ने[3] "कलिमलहरनी" "मंगलकरनी और

---

१. नन्ददास ग्रंथावली, ब्रजरत्नदास, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण पृ० १६०।

२. गिरिगोवर्धनलीला गावौं।

३. नंददास ग्रंथावली : ब्रजरत्नदास, काशी नागरीप्रचारिणी सभा पृ० १६०।

मनहरनी" लिखा है उससे नाटककार का नाटकोद्देश्य झलकता है। उसने निःश्रेयस को प्रथम, अभ्युदय को द्वितीय और मनोरंजन को तृतीय स्थान दिया है। कृष्णलीला के प्रायः सभी नाटकों में यही उद्देश्य क्रमसे मिलता है। उन्होंने नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं लिया। वे लोग धर्मात्मा-महात्मा थे। भरतमुनि का आदेश उन्हें मान्य था। भरतमुनि श्रुतिस्मृति-सम्मत कथानक के द्वारा निःश्रेयस की, सदाचार और ज्ञान-विज्ञान द्वारा अभ्युदय की और विनोद के द्वारा मनोरंजन की सिद्धि नाटक में चाहते हैं[1]।

इस प्ररोचना के उपरान्त नाटक की मूल कथावस्तु का आरम्भ होता है। इस नाटक में भागवत की कथा के कई अंश ग्रहण नहीं किये गये हैं। जैसे भागवत की कथा के रूप में एक स्थान पर गोवर्धन पूजा के लिए पकवानों का विस्तृत वर्णन मिलता है।[2] नाटक वाली गोवर्धन-लीला में इन विविध व्यंजनों का वर्णन अनावश्यक था। अभिनय के समय विविध व्यंजनों से सुसज्जित थाल पर्याप्त हैं। उनके मध्य क्या रखा है।' इसका विवरण देना व्यर्थ है। इसी कारण नन्ददास जी ने उन्हें अग्राह्य माना है।

---

१. श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम् ।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ भारतनाट्यशास्त्र ।

२. रचहु विविध परकार सुव्यंजन । सुभग, सुगंध, स्वच्छ, मनरंजन ।
पुवा, सुहारी, मोदक भारी । गूझर, रस मूंझा, दहि न्यारी ॥
मिश्री मिश्रित पायस करौ । वर संजाव भाव विस्तरौ ।
मुद्गादाली, घृत की व्याली । रस के कंदर सुंदर साली ॥
नन्ददास ग्रंथावली (बृजरत्नदास) पृष्ठ ३०६.

भागवत की लीला के अन्त में भरतवाक्य नहीं है, और न होना ही चाहिए किन्तु भरतमुनि के आदेशानुसार इसका होना अनिवार्य है। नंददास जी की सूक्ष्मदृष्टि से नाटक का आवश्यक अंग कैसे छूट सकता था। अंत में वह लिखते हैं:—

"नवल किशोर सुन्दर गिरधारी। स्रवन नैन अमृत रूप भारी।
नन्ददास कौ उतनौ कीजै। पावन गुन गावन रीति दीजै।"

हमें वृन्दावन के मंदिरों में 'श्याम-सगाई' नामक लीला की कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं। उनके आधार पर नाटक का कथानक यह है:—

स्याम सगाई लीला का कथानक

वृषभानु कुमारी राधिका अन्य गोपियों के साथ नन्द जी के घर कभी-कभी आया-जाया करती हैं। यशोदा जी को राधिका इतनी प्रिय प्रतीत हुईं कि उन्होंने कृष्ण की सगाई का संदेश अपनी पुरोहितानी के द्वारा कीर्ति (राधा की माता) जी के पास भेजा। पुरोहितानी जी बरसाने से लौटकर कीर्ति जी का अस्वीकृति का समाचार सुनाते हुए कहती हैं.—

रानी उत्तर दयौ, सु हौं नहिं करौं सगाई
सूधी राधे कुंवरि, स्याम हैं अति चरवाई।
नंदहि ढोटा लंगर महा, दधि माखन कौ चोर।
कहत सुनति लज्जा नहीं, करति और ही और॥

इतने ही में खेलते-खेलते कृष्ण जी आ जाते हैं। माता यशोदा को चिन्तित देखकर कारण पूछते हैं। यशोदा जी कृष्ण जी से कीर्त्ति जी के उलाहने की बातें बताती हैं। कृष्ण जी माता यशोदा को समझाते हैं कि यदि मैं नन्द का ढोटा तो वह पाँय पड़कर अपनी लड़की तुझे देगी, तू चिन्ता न कर।

कृष्ण जी ग्वालबालों के साथ बरसाने के एक उपवन में जाते हैं। एक ऊँचे टीले पर बैठकर मधुर मुरली टेरते हैं। राधिका जी अपनी सखियों के साथ वहाँ पहुँचती हैं और कृष्ण के सौंदर्य पर मुग्ध हो जाती हैं। कृष्ण अपने साथियों के साथ गोकुल चले आते है, राधिका जी श्याम-श्याम रटते-रटते मूर्च्छित हो जाती हैं। उनको यह दशा देखकर सखियाँ रहस्य समझ जाती हैं और जब राधिका की मूर्च्छा निवारण होती है तो उसे समझाती हैं।

सुनौ कुँवरि तोइ इक जतन, बताऊँ,
चुप रहिकै सुन लेहु, उठौ अब घर लै जाऊँ।
कहियौ, काटी नागनैं, जो पूँछै तो माई,
हम हैं मीत गोपाल की, लैहैं तुरत बुलाइ।
कहैंगी पीर बहु॥

राधिका जी को उठाकर सखियाँ कीर्ति जी के पास लाती हैं। माता कीर्ति जी राधिका की दशा देखकर व्याकुल होती हैं। कहती हैं कि कोई उपाय करो।

एक गोपी कहती है—कहौ तौ गोकुल जाऊँ,
मनमोहन घनश्याम, तुरत वाकौ लै आऊँ।

दूसरी सखी कहती है कि वह नद का ढोटा बड़ा गारुड़ी है, वह तुरत ही अच्छा कर देगा। कीर्ति जी कृष्ण को बुलाने के लिए गोपियों को भेजती हैं। गोपियाँ गोकुल जाकर माता यशोदा से कीर्ति जी का सन्देश सुनाती हैं।

वेगि पठै नंदलाल कौ, जोउदान दै मोहिं,
पाँय लगौं विनती करौं, जग जस आवै तोहिं।

ये बातें हो ही रही थीं, इतने में कृष्ण जी खेलकर आ जाते हैं। यशोदा जी उन्हें बरसाने जाने को कहती हैं। कृष्ण जी गोपियों से कहते हैं :—

कौन वाइगी सुनैं, ताहि किन मोहि बतायो।
परपंचनि तुम ग्वालि, झूठ ही मोहिं बुलायौ।
को राजा वृषभानु हैं, कित बरसानो गाँव।
कौन तिहारी कुँवरि है, हौं जानत नहि नाँव॥

यह सुनकर एक सखी कहती है :—

सुनो नंद के लाल। सावरैं कुँवर कन्हाई।
बरसानो वह ग्राम, जहाँ तुम मुरली बजाई।
नटवर भेप बनाइकै बैठे आसन मारि।
धुनि सुनि मोही राधिका, औ ब्रज सिगरी नारि।
मनौं टोना कर्‌यौ॥

इसी प्रकार दूसरी सखी कहती है:—

"कालीनाग जु नाथियो, तुम सों और न कोइ,
वृंदावन में साँवरे, कहा सिखावत मोइ।
बात जानति सबै॥

अन्त में कृष्ण एक शर्त पर चलने को तैयार होते हैं, वह शर्त यह है:—

वह राजा वृषभानु, एक ही डोल गढ़ावै,
मोइ कुँवरि बैठारि, सखिन पै झोंटा द्यावै।
अरथदान इच्छा नहीं, पान पात नहिं लेंऊ
जौ इतनी कारज करै, तौ कुँवरि भली करि देंऊ।
बात एती अहै॥

एक सखी कहती है:—

"जौ माँगे सो लेउ, साँवरे कुँवर कन्हैया,
बिनु माँगे ही देहि तुम्हें राधा की मैया।"

कृष्ण सखियों के साथ रथपर बरसाने जाते हैं। कीर्त्ति जी

उनका स्वागत-सत्कार करती हैं। सखियाँ परस्पर यह कहकर हँसती हैं :--

बहु विधि वारति ए सखि, मुदित कुँवर की माइ।
धन्य है इहि घरी॥

कृष्ण का आगमन सुनते ही राधिका जी नेत्र खोलती हैं। सखियाँ पुरोहित जी को बुला लाती हैं। ब्राह्मण पुरोहित राधिका के हाथ से स्पर्श कराकर माला कृष्ण के गले में पहनाता है। ग्वालबालों और गोपियों का नृत्य और गान होता है। इस प्रकार 'श्याम-सगाई' नामक लीला समाप्त होती है।

उपर्युक्त नाटक का स्थान-स्थान पर जो उद्धरण संवाद के रूप में दिया गया है, उसमें गद्य का अंश विद्यमान है। यही अंश संवाद को संयुक्त करता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि इस नाटक की शैली नितांत पद्यबद्ध नहीं, प्रत्युत गद्य-मिश्रित है। गद्य का यह अंश विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसी का क्रमशः विकास होकर भारतेन्दु काल में रास में गद्य को अधिक स्थान मिलने लगा।

इस नाटक की भाषा के विषय में क्या कहा जाए? सम्पूर्ण नाटक नन्ददास जी ने अपने प्रिय छंद रोला में लिखा है, जिसके अन्त में एक पंक्ति और जुड़ती गई है जो पूरे छन्द का आवेष्टित करती है। भाषा तो नन्ददास जी की चेरी थी। जो प्राँजलता और जो प्रवाह नन्ददास जी में है वह अन्यत्र कदाचित् ही प्राप्य है। इस नाटक में कहीं-कहीं मुहावरों की छटा देखते ही बनती है, आस पुजाना, मनुहारी करना, गोदपसारि माँगना, बात चलाना, अरदास करना, नाकैं आना, फूले फिरना, धीर न धरना, बहकि बहकि बोलना, मुरझाकर पृथ्वी पर गिरना, बलैया लेना, नैन पूतरी होना, बाइगी सुनना; टोना करना इत्यादि मुहावरे उपयुक्त स्थान पर अर्थ की अभिव्यंजना में कितने सहायक हो रहे हैं।

चरवाई, बट्टा लगे आदि प्रचलित शब्दों के प्रयोग आज भी ग्रामीण स्त्रियों के मुख से सुने जाते हैं। इस नाटक में क्या नहीं है। चरित्र का निर्वाह, व्यापार की द्रुतगति, संवाद योजना का चमत्कार तथा वाग्वैदग्ध्य आदि सभी गुण इसमें विद्यमान हैं। हास्य की मधुर छटा आद्योपान्त बनी रहती है।

इस लीला में नान्दी का रूप बदल दिया गया है। प्रथम पंक्ति में राधे और श्याम का नाम देकर मानो कथा प्रारम्भ और नांदी दोनों का निर्वाह किया गया है। प्रथम रोला छंद है 'एक दिन राधे कुंवरि स्याम घर खेलनि आई।' प्रत्येक रोला के अंत में गद्य सदृश एक लघु पंक्ति जोड़ दी गयी है। रासनामक गीति-नाट्यों में कविता के साथ प्रत्येक छंद के अंत में गद्य-पद्यमय लघु अंश हमें जैनरास ग्रंथों में नन्ददास के पूर्व उपलब्ध होता है। कृष्णरास नाटकों में सर्वप्रथम इस शैली का प्रयोग नंददास जी ने ही किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि नन्ददास जी कृष्ण रास-संबंधी नाटकों की रचना करते हुए जैनरास की पद्धति को अपने सम्मुख रखते रहे होंगे। इस संबंध में जैनरास का एक उद्धरण हमारे मत की पुष्टि के लिए आवश्यक है।

जैनरास ग्रंथों में हमें एक श्रीपालरास मिला है। इसमें मंगलाचरण इस प्रकार है:—

हो स्वामी प्रणमो आदि जिणंद, बंदौं अजित होइ आनंद।
संभौ बंदी जुगतिस्यौ, हो अभिनन्दन का प्रणमो पाइ॥

यह रासनाटक ब्रह्म श्रीराममल ने संवत् १६३० वि० में विरचित किया। ब्रह्म श्रीराममल इसके अंतिम भाग में इस प्रकार लिखते हैं:—

हो मूलसंघ मुनि प्रगटे जानि, कीरति अनन्त सील की खानि,
ता तस तनौ सिधि जानि जे, हो ब्रह्म राइमल्ल दृढ़करि चित।

भाव भेद जाने नहिं होत, हि दीठै श्रीपाल चरित्र,
हो सोलासे तीसौ सुभ वर्ष, तिथि तेरस सित सोभिता।
हो अनुराधा नषित्र सुभ सर, वरन् जोग दीसी मल।
हो भनै वार सनीसरवार ॥१॥

... ...

... ...

सामायिक यौसौ करै हो.....तन नीडौ फिरौ

... ...

जैसी मति मोंहि उपनी, तौसी मति मौ बने रास
रास[1] भनौ सिरिपाल कौ—

उपर्युक्त उद्धरण के साथ नन्ददास जी की 'स्यामसगाई' की तुलना करने से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।

१. ब्रज भाषा में कृष्णरास की जो परम्परा चली, उसपर पूर्व विरचित राजस्थानी और अन्य जैनरासों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

२. "भावभेद जाने नहीं, होत हि दीठै श्रीपाल चरित्र" से यह सिद्ध होता है कि ब्रज में प्रचलित कृष्ण-रास नाटकों के पूर्व प्रचलित जैनरास नाटक भी अभिनीत होते चले आ रहे थे। तभी तो नाट्यकार ब्रह्म श्री रायमल ने श्रीपाल-चरित को रास में देखने से भेदभाव के विनष्ट होने की बात कही है। तेरहवीं शताब्दी से चली आने वाली रास नाटक की उस परम्परा में जो अब तक जैन धर्म के प्रभाव से अत्यंत प्रभावित थी, एक विशेष परिवर्तन हुआ। सोलहवीं शताब्दी में समस्त भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार हो रहा था। वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, नारायण भट्ट आदि आचार्यों ने अपठित तथा

---

१. प्रशस्ति-संग्रह पृष्ठ २७२-२७३

अल्प पठित जनता के हृदयों में राधा-कृष्ण के प्रेम की प्रेरणा उत्पन्न करने के लिये रास की नाटक शैली का सहारा लिया। राधा-कृष्ण के प्रेम की विविध कहानियाँ जो श्रीमद्भागवत में वर्णित थीं, कृष्णरास नाटकों की कथावस्तु बनने लगीं। नंददास जी ने उन मनोहारी कथानकों को अपनी काव्य-प्रतिभा के द्वारा रससिक्त कर दिया। 'श्याम-सगाई' लीला में कितना रस भरा है, यह हम पूर्व देख चुके हैं। अतः यह निःसन्देह भाव से कहा जा सकता है कि नंददास जी ने कृष्णरास नाटकों का एक नया पथ निर्माण किया। उन्होंने कृष्ण लीला का जो पथ बनाया उस पर अनेक महात्मा चलते रहे। लगभग संवत् १६३०से लेकर—श्री वियोगीहरि जी की छद्मयोगिनी लीला—संवत् १९७८ विक्रमी तक जो नाटक निरन्तर अभिनीत हुए उनकी परम्परा नन्ददास जी ने स्थापित की। रासलीला के लिए रास पंचाध्यायी और पाँच प्रमुख लीलायें लिखकर उन्होंने लीलानाटक लिखने की प्रेरणा अन्य महात्माओं को प्रदान की।

ध्रुवदास

ध्रुवदास जी राधावल्लभी सम्प्रदाय के उन महात्माओं में से थे जिनको राधिका के साथ-साथ सरस्वती की भी अनुकम्पा प्राप्त थी। ध्रुवदास जी की लेखनी से प्रचुर साहित्य का सृजन हुआ और वह साहित्य विद्वन्मंडली में अति प्रशंसनीय है। ध्रुवदास जी ने ४२ लीलायें[1] लिखीं जिनमें दान-लीला, मान-लीला अति प्रसिद्ध हैं।

---

१. 'बयालीस लीला' नामक एक हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा में विद्यमान है। हमने उसी के आधार पर लिखा

प्रथम ध्रुवदास जी की दान-लीला पर विचार किया जायगा। दानलीला के प्रसंग को लेकर अनेक महात्माओं ने रचना की है। अतएव लीला, नाटकों का क्रमिक विकास दिखाने के लिए यह लीला अधिक उपयोगी होगी।

ध्रुवदासजी ने मान-लीला सम्पूर्ण करके दान-लीला[1] लिखी। ध्रुवदासजी की बयालीसवीं लीला बयालीस ही दोहों में समाप्त होती है। कथानक यह है कि एक दिन गोपियों के मन में राधा और कृष्ण की लीला देखने की इच्छा हुई। कृष्ण इस रहस्य को समझ गये और वंसीवट के समीप जाकर खड़े हो गए।

'वंसीवट तट जा···सघन कुंज की खोर।
दानी ह्वै ठाढ़े भये, नागर नवल किशोर॥

गोपियाँ शृंगार किये हुए उस वन की ओर आईं तो कृष्ण ने मत्तगयन्द गति से उन्हें चलते देखा। वह उनका मार्ग रोक कर खड़े हो गये। उन सखियों में ललिता को पहचान कर उनके समीप पहुँचे और बोले—

'दान हमारो लगत कछु कहौ प्रिय सो जाइ'।

ललिता जी कब चूकने वाली थीं। उन्होंने झट उत्तर दिया—

'नई रीति कबते गही, यह सिखवन किन दीन'।

है। मुझे प्रकाशित प्रति देखने को नहीं मिली। यह प्रति वृन्दावन के श्री राधावल्लभ जी के मंदिर में लाला रामकिशन के द्वारा मार्गशीर्ष सवत् १८८२ वि० में लिपिबद्ध हुई। इसकी पृष्ठ संख्या २४२ है।

१. इति श्री मानलीला सम्पूर्ण ॥४१॥ अथ दानलीला लिख्यते॥ ध्रुवदास जी स्वामी हितहरिवंश के शिष्य संवत् १६८६ के लगभग विद्यमान थे।

फिर आगे कहती हैं:—

यह वन राधा कुँवरि को, इक छत राजत राज'।

कृष्ण अब भी नहीं हटते, तब ललिता फिर बोलती हैं—

'उलटी कैसे होत है, छाड़हु अधिक सयान।
ठकुराइन जिनकी तहाँ तिन पै मांगत दान'॥

कृष्ण अब भी नहीं हटते। अब ललिता जी बता रही हैं, क्या तुमने सुना नहीं:—

'दान दान तुम कहत हौ, सुन्यौ न कबहूँ कान।
इहिठा बिन कुंजेश्वरी, नहि काहू की कान॥'

कृष्ण बोले:—

'ललिता तुम मानत नहीं, जो हम कहत हैं बैन।
नवल किशोरी रूप के दिन ही दानी नैन॥'

इसके पश्चात् राधिका के सौंदर्य का वर्णन तीन दोहों में मिलता है[1]।

अब कृष्ण गोपियों को रोकने का कारण स्पष्ट बता देते हैं,

'अब तू बिच ह्वै धाय सखि, राख हमारो मान।'

ललिता जी बोलीं:—

'यह रस तो तब पाइये जो हारो निज प्रान'।

कृष्ण जी बोले:—

'चरन गहौं विनती करौं आगे दोउ कर जोरि'।

बस अब क्या था। ललिता जी ने राधिका जी से सारी बातें कहीं, राधिका जी श्याम की बिनती को सुनकर द्रवीभूत हो गईं और राधेश्याम की युगल जोड़ी देखकर सखियाँ आनन्द मनाने लगीं।

---

१. हस्तलिखित प्रति बयालीस लीला पृष्ठ संख्या २४०, २४१।

बस इतना ही कथानक है और कुल ४२ दोहों में लीला समाप्त है। इसमें 'स्याम सगाई' की तरह न तो कथा में चढ़ाव-उतार है और न संवाद-योजना में उतना चमत्कार। सीधे-साधे सन्त की सीधी-साधी भावना सीधे-साधे शब्दों में वर्णित है। किन्तु आगे चलकर दान-लीला में ब्रजवासीदासजी ने १६वीं शताब्दी में जो विकास किया, वह वास्तव में सराहनीय है और यह सिद्ध करता है कि लीला नाटकों में ह्रास और विकास का क्रम चलता ही गया।

ध्रुवदास जी का रचना-काल सं० १६६० से १७०० तक[1] माना जाता है। ध्रुवदास जी के पश्चात् लीला नाटकों में सबसे अधिक योग देने वाले चाचा वृन्दावन दास जी मिलते हैं। एक संग्रह 'श्री रास छद्म विनोद'[2] नामक मिलता है। इसमें एक लीला श्री दामोदर स्वामी जी कृत है और दूसरी श्री वंशीअलि जी कृत है। शेष चाचा वृन्दावनदास जी की कृतियाँ हैं[3]।

चाचा वृन्दावन दास जी के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्होंने चार लक्ष पदों की रचना की थी। इस प्रकार गणना की दृष्टि से इनका साहित्य सूर से भी अधिक है। केवल संख्या में ही नहीं

---

१. पं०रामचंद्रशुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहासपृ.(सं० २००२) १६७

२. श्री रास छद्म विनोद, चाचा हितवृंदावनदास जी कृत मु. वा. मंगीलाल गुप्त श्री हित कृष्णरूप निकुंजानुरागिनी जी द्वारा प्रकाशित श्री हिताब्द ४६३ विक्रमाब्द १९९२। ये लीला नाटक सं० १८०० वि० के पूर्व विरचित हैं।

३. चाचा वृंदावन की 'छद्मलीला' का उल्लेख पं० रामचंद्र शुक्ल जी ने किया है। पहले केवल २४ लीलायें मिली थीं। अब ४० लीलायें उपलब्ध हैं।

साहित्यिक गुणों में भी यह सूर से आगे नहीं तो पीछे भी नहीं रखे जा सकते। इनकी प्रथम लीला "गौने वारी लीला" कहलाती है। इसी पर विचार करके इनकी भाषा के सौष्ठव, पद-लालित्य, कथा-प्रवाह तथा नाटकत्व का दिग्दर्शन कराया जायगा। नाटक इस प्रकार है :—

एक छद्मवेश में गोपी राधिका जी के राजप्रासाद के निकट अकेली बैठी है। जब दो चार गोपियाँ इधर-उधर आती-जाती हैं तो उन्हें वह बुलाती है और कहती है :—

"मेरी बात सुनो मैं नन्द ग्राम तैं आई,
बसिहौं एक रात कोउ लायक मुहि राखो बिरमाई।"

सखियाँ आपस में कुछ बातें कर रही हैं। इतने ही में ललिता जी आ जाती हैं। ललिता जी उसकी बाँह पकड़ कर राधिका जी के पास ले जाती हैं।

ललिता राधिका जी से कहती हैं :—

"प्यारी जू निकट राखियै याकौं यह किनहु जु रुठाई।
है भामिनी काहू बड़े भवन की दै आदर बैठाई।"

छद्मवेश वाली गोपी घूंघट निकाल कर राधा जी से बात करती है। अपना परिचय देते हुए कहती है :—

छद्म गोपी—'मेरो है पीहर पूरौ मुहि तहाँ देउ पहुँचाई।
अति अनीति या गाम देखिकै पीहर चली पलाई॥'

राधिका जी पूँछती हैं :—

'कहि अनीति कैसी देखी तैं, कौ नै तोहि दुखाई,
दीखत है कुलवंती, मन की कह दै सबै सचाई।
घर छोड़े पति कैसे पावै, बड़े गोप की जाई।
जाहु-जाहु घर उलट आपने, दै मुहि भेद बताई॥'

छद्म गोपी–

"हौं गौने आई अबहीं समुझौं न कछु चतुराई,
एक दिना हों पौरी ठाढ़ी देखी कुँवर कन्हाई।
वह ढोटा रिझवार रूप कौ, मों मन भरी भुराई,
भूल्यो खेल और ठौरन मो द्वारे धूम मचाई॥
फिर-फिर रंग भिजोवै मोकूँ हौं सकुची जु महाई
गावै निपट उघारी बातें मुख माँडन ललचाई
मोहि सलौनी कहै सामरी दै दै बहुत बड़ाई
भीजों लाज कहाँ लग ढापों यह तन सुन्दरताई
लागे दोष लगावन मुहि सब नर नारी जु चवाई
घर में पाँव ठाहरै कैसे सासु मिली लरिहाई।"

इतना ही नहीं, छद्म गोपी फिर कहती है :—

"इक दिन हों कपाट दै बैठी ऐसी उक्ति उपाई।
खोलि-खोलि कहै लंगर मेरी, 'मुरली तैं जु चुराई॥'
हौं डरपी कैसी बनी दैया यासों कहा बसाई।
जुरि आई सब पास परोसिनि तिनन मोहि समझाई॥
यह राजा को कुंमर बरबसी तैं कहा कुमति उपाई।
दै चुकि याकी मुरली जो तैं कहूँ डरी है पाई।
पुनि आए सब सखासंग के, बढ़ि गई भीर सबाई।
काहूँ के कर रंग कमोरी काहू कर पिचकाई॥
बीच परी उनकी जु भिजनियाँ तिननि किवार खुलाई।
लाल कहै ढूँढी मुरली इन चोली माहि दुराई॥
भाजन रंग सोस तैं ढारे नखसिख मोहिं भिजाई।
इत त्रासें मोकौं सब घर के उत उन करी हुरयाई॥
कैसे बास होय मेरो जिय छिन-छिन में अकुलाई।

औसरु पाय निकसि के आई मोंमें कहा बुराई ।
बिधि बांधी जु गरे में शोभा यह मोहिं नाच नचाई ।
अब काहू ढिग बैठि रहौंगी वहि पुर गयौ न जाई ॥
कीजै कहा होहि जो राजा हू को सुत अन्याई ।
धर्म रहौ कै जाउ वहाँ कै नाते सौं हौं धाई ॥
कोऊ कही भली कै भौंडी मैं सब कथा सुनाई ।
होरी तौ सब ठौरि देखि नंदगाम जु बुद्धि भुलाई ॥
आठ पहर के पहुपट देखत को न जाय बौराई ।
तुम हो राज सुता जु न्याय की यहि घर रीति सदाई ।
शिक्षा देहु कृपा करि मोको जो मन मेटे कन्याई ॥

राधिका बोली...

"बसौ भवन ह्यां भांम, भोर ह्वाँ ढांढिनि दैहुँ पठाई ।
तेरे पति के सासु-ससुर के नृपसुत की जु खुट्याई ॥"

वार्तालाप करते-करते रात्रि हो जाती है । दोनों बैठकर साथ-साथ ब्यालू करती हैं । सोने की तैयारी होती है तो छद्म गोपी कहने लगी:—

"न्यारैं मोहि नींद नहि आवे और कछु न सुहाई ।
रहिकै निकट कहानी कहिहौं सुनौ कुँवरि चितलाई ।"

राधिका जी उसकी बाँह पकड़ कर साथ ले चलती हैं । उसकी शैया भी पास ही बिछवाती हैं । छद्मगोपी राधिका के चरण दबाती है । राधिका जी उससे पूछती है, यह तो बता :--

"तू कारी कारौ जु नन्दसुत कैसैं प्रीति बढ़ाई ।
उनके मन की हौं परखत तैं कोधों जुगति बनाई ॥

वे मो दृग पुतरीन बसत हौं उन दृग माँहि समाई।
मुरलीधर के व्रत अनन्य मो बिन न और मन भाई॥

इतना कहते-कहते राधिका का हृदय भर जाता है और नैनों से नीर बहना है। फिर कहती है :—

"नन्द गाम की सुनि मन लरज्यौ तोसों करी भलाई।
खोटी बात कही प्रीतम की हौं हिय जिय अनखाई।"

राधिका का अनन्य प्रेम देखकर छद्मगोपी देह-दशा भूलकर बेसुध हो जाती है।

राधिका जी आश्चर्य-चकित होकर पुकारती हैं 'ललिते! ललिते! अरी यहाँ आ। यहाँ का यह कौतुक देख। देख इस भामिनी की क्या दशा।'

ललिता दौड़ी आती है! छद्म गोपी की दशा देखकर अचरज-सागर में डूबती है। फिर कुछ सोच कर बोलती है—

"हौं बलि गई प्रिया यह प्रीतम तुमही लेहु चिताई।"

अरबरा कर कुंवरि उठती है और बेसुध छद्म गोपी को सादर उठाती हैं। छद्म गोपी की मूर्छा क्रमशः दूर होती है।

छद्मगोपी तब कहती है—

"गरुवी प्रीति कहा न करावे राखै नहि प्रभुताई।"

ललिता जी बोलीं—

"या होरी की महिमा मोहन विधिना तुमहि चिताई।
रस विलसन की घात घनेरी धनि गुरु जननि पढ़ाई॥"

कृष्ण अपना छद्मवेश हटाकर पीताम्बर की कछनी में दिखाई पड़ते हैं और वंशी निकाल कर बजाते हैं।

"इति श्री गीनै वारी-लीला को जय जय श्रीहित हरिवंश॥"

इसी प्रकार चाचा वृन्दावन दास जो ने सरस भाषा और अति सरस छन्द में निम्न लिखित ४० लीलायें लिखीं:—

१. गौने वारी-लीला २. चितेरिन-लीला ३. सुनारिन-लीला ४. मनिहारी-लीला ५. मालिन-लीला ६. बिसातिन-लीला ७. पटविन-लीला ८. रंगरेजिन-लीला ९. तमोलिन-लीला १०. नाइन-लीला ११. वैद्यनि-लीला १२. मैनावरी-लीला १३. नटोवन-लीला १४. ढाढिन-लीला १५. वीणावारी-लीला १६. गंधिन-लीला १७.ब्रह्मचारी-लीला १८.प्रथमजोगि-लीला १९.द्वितीय जोगी-लीला २०. तृतीय जोगी-लीला २१. चतुर्थ जोगी-लीला २२. पंचम जोगी-लीला २३. षष्ठ जोगी-लीला २४. मौनी जोगी-लीला २५. बनजारी-लीला २६. सांवरी सहेली-लीला २७. नेही सांवरी-लीला २८. नारद-लीला २९. ब्रह्मा-लीला ३०. महादेव-लीला ३१. शिवजोगी-लीला ३२. जोगीश्वर-लीला ३३. श्याम सहचरी सांझी ३४. राधा-दासी सांझी-लीला ३५. सुन्दर और श्याम-लीला ३६. सांवरी साथिन-लीला ३७. हित संधि सांझी-लीला ३८. श्री प्रिया जी की रूप भुराई-लीला ३९. श्रीप्रिय रूप गर्व-लीला ४०. होरी विवाह-लीला।[1]

चाचा वृन्दावन दास जी का रचना-समय अठारहवीं शताब्दी विक्रमी के आस-पास होना चाहिए। ध्रुवदास जी की लीलाओं से इनकी तुलना करने पर सौ वर्ष के मध्य विरचित रास लीलाओं

---

१. चाचा वृंदावन दास जी ने हितरूप चरित्रबेलि में अपने गुरु गोस्वामी श्री रूपलाल जी का जन्म संवत १७२७ वि० लिखा है। इससे अनुमान होता है कि वि० १८वीं शताब्दी में उन्होंने रचना प्रारम्भ की होगी। इन्होंने सवाई जयसिंह जी का वर्णन किया है। इनके गुरु श्री रूपलाल जी ने बाईस विलास लिखा है जिसमें सम्भवतः २२ लीलायें हैं। पुस्तक अभी तक मिली नहीं है।

के विकास पर प्रकाश पड़ेगा। ध्रुवदास जी के कथानक में कोई आरोहावरोह नहीं, वह समगति से चलता जाता है। चाचा वृन्दावन दास की लीलायें इतनी सरल गति से नहीं चलतीं। कृष्ण का विविध रूप से छद्म वेश में राधा के प्रेम का परीक्षण यह सिद्ध करता है कि इस काल में रासलीला-नाटकों में नाटकत्व आ गया था। 'गौने वारी-लीला' में कथावस्तु की शैली ऐसी है कि अन्त तक जिज्ञासा बनी रहती है—इसके बाद क्या होगा? राधिका जी के मुख से कृष्ण के प्रति स्वाभाविक स्नेह की उमड़ती धारा को छद्म गोपी नहीं सँभाल सकी। इसके द्वारा 'प्रेम के वश हैं भगवान' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। इस लीला में क्या नहीं है। भाव कितना स्वाभाविक और प्रवाह पूर्ण, कथा-वस्तु में कितना नाटकत्व और चरित्र-चित्रण का कितना कौशल झलकता है। इस लीला में रसधारा तो मानो उमड़ कर बहती है।

ध्रुवदास और चाचा वृन्दावन के मध्य अनेक लीलाओं का निर्माण हुआ। एक विशेषता पाई जाती है कि कृष्ण-लीला के नाटकों की शैली पर नरसिंह[1] लीला, भगीरथ[2] लीला तथा प्रह्लाद लीला[3] आदि की भी रचना होने लगी। इनके अतिरिक्त नागनौर की लीला, ग्वाल पहेली-लीला, भोर लीला, दान-लीला,

---

१. नरसिंह लीला—राजा देवी सिंह पृष्ठ २२ छन्द १३६ टीकमगढ़ के पुस्तकालय में हस्तलिखित प्रति।

२. भगीरथ लीला—तारपानि पृ० ३३ छन्द ७६ दतिया स्टेट लाइब्रेरी में हस्तलिखित प्रति।

३. प्रहलाद लीला—रामदास मालवा वाले पृ० ५४ कुलछंद १२७ स्टेट लाइब्रेरी दतिया में।

सनेह-लीला, यज्ञ-लीला, सगारथ-लीला आदि नई-नई लीलाओं की रचना होती रही। इनमें एक-एक लीला पर कई-कई महानुभावों ने नए-नए ढंग से नाटक लिखने का प्रयास किया है। दान लीला[४], सनेहलीला[५] और मानलीला[६] पर मिलने वाले हस्तलिखित ग्रंथों की संख्या तो अनेक है। कदाचित् ये तीनों प्रसंग भक्तों को अत्यन्त रोचक प्रतीत होते थे। रास लीला के सम्बन्ध में एक और नई सृष्टि इस युग में हुई। कृष्ण रास-लीला करते हैं तो उनके बड़े भाई बलदेव इससे कैसे बचें। इसलिए एक भक्त ने 'बलदेव रास

---

४. दानलीला की निम्नलिखित हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई हैं:-
   १. दानविलास—विचित्र कवि संवत् १७४० वि०
   २. दानलीला—मनचित्र पृ० २३५ छंद २०४० भारतीभवन पुस्तकालय छत्तरपुर।
   ३. दानलीला—ध्यानदास पृ० २६ छंद ६०, स्टेट लाइब्रेरी बिजावर।
   ४. दान माधुरी—माधुरी दास, स्टेट लाइब्रेरी, बिजावर।
   ५. दानलीला—चरणदास (धार के) सं० १७६० स्टेट लाइब्रेरी छत्तरपुर।
   ६. दानलीला—रामसूखे (अयोध्या) स्टेट लाइब्रेरी दतिया।

५. सनेह लीला—स्वामी मोहनदास पृ० २८ छंद १०५ (छतरपुर)
   सनेह लीला—जगमोहन पृ० २६ छंद १५६ टीकमगढ़।
   (बा० जगन्नाथ प्रसाद)
   सनेह लीला—रसिक राय पृ०६ छंद १५१ टीकमगढ़ पुस्तकालय।

६. मान लीला-नन्ददास पृ० ३० छंद १८० स्टेट लाइब्रेरी दतिया।
   मानलीला—ध्यानदास पृष्ठ २६ छंद ६३ स्टेट लाइब्रेरी बिजावर।

माला[1] नाम का ग्रंथ लिखा। इसमें बलदेव जी भी गोपियों के साथ रास खेलते हैं। नंददास की शैली पर रासपंचाध्यायी[2] लिखने की भी अनेक महानुभावों ने चेष्टायें कीं। कई ग्रंथों की भाषा इतनी परिमार्जित और सरस है कि आज कई रास-मंडलियाँ रास और महारास के अभिनय के समय इनकी सहायता लेती हैं।

इस काल में यज्ञ-लीला[3] नामक एक ग्रंथ मिला है जिसमें मथुरा के चौबे जब यज्ञ कर रहे हैं तो उनके घरों की स्त्रियाँ श्री कृष्ण जी को विविध पकवान और मक्खन खिला रही हैं।

होरी लीला[4] के भी कई ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। इतना ही

---

१. बलदेव रास माला—कवि सिंगार कुल पृ० ६८ छं० २७८(रिसर्च रिपोर्ट)

२. श्री राधिका महारास—श्री अलि जी श्री रास छद्म विनोद पृ० २३६
महारास लीला—हितदामोदर स्वामी—देखिए श्री रास छद्म विनोद पृ० १७६।
रास पंचाध्यायी—रामकृष्ण चौबे कालिंजर किला सं० १८७० वि०
रहस्य लीला—राजा देवी सिंह
कृष्ण गीतावली—पंचाध्यायी सोमनाथ मथुरावाले सं० १८०७वि०
रहस लावनी—नवल सिंह
रास पद्धति—राम सखे, स्टेट लाइब्रेरी दतिया।
रास लीला—रहीम खानखाना।
रास रसलता—नागरीदास (१८०० वि० के आस पास)

३. यज्ञ लीला—नन्ददास (संवत् १७११ वि०)

४. होरी—रूप सखी कृत।

नहीं इस काल में श्रीकृष्ण की तरह श्री राम भी होरी खेलने लगे हैं।[1]

कुछ महात्माओं ने नन्ददास जी को 'स्याम-सगाई' पर मुग्ध होकर उनसे एक कदम आगे बढ़ने की चेष्टा में श्री कृष्ण और राधा का व्याह भी करा दिया है। एक ग्रन्थ व्याहलों[2] नाम का मिलता है।

आगे चलकर एक विशेषता और दिखाई देती है। रास का प्रचार इतना फैल गया था कि रोला, सोरठा, दोहा, छंद, कवित्त आदि के अतिरिक्त कुछ मनचलों ने रेखता और लावनी में भी इसकी रचना प्रारम्भ कर दी थी। यह समय का प्रभाव था। इस से बचना भी कठिन था ही। उर्दू में रेखता की धूम मच रही थी। उर्दू वालों की यह नई शैली राजा देवीसिंह को इतनी प्रिय प्रतीत हुई कि उन्होंने रास लीला को रहस्यलीला[3] बनाकर रेखता में रचना कर डाली। इतना ही नहीं, आगे चलकर नवलसिंह ने वृन्दावन में रास देखकर अपने प्रिय छंद लावनी में इसका वर्णन कर डाला। ग्रंथ का नाम है 'रहस लावनी[4]।'

नवलसिंह ने एक ओर तो रास पंचाध्यायी[5] की रचना की

---

१. होरी-लीला—रसिक अली।

२. व्याहलों—रसिक बिहारी दास।

३. रहस्य लीला—राजा देवीसिंह—लिपि देवनागरी पृ० ८
छं० २० सं० १९१३ वि०

४. रास का रेखता में रहस्य और लावनी में रहस बन गया।
रहस लावनी—नवलसिंह कृत—दतिया में लाला लच्छीप्रसाद के पास हस्तलिखित प्रति।

५. रास पंचाध्यायी—सं० १८७३ वि०, पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास।

और दूसरी ओर लावनी छंदों में रहस लावनी लिखा । एक से विद्वानों की सन्तुष्टि हुई और दूसरे से ग्रामीण जनता को रास-लीला का रस मिला ।

चाचा वृन्दावन दास के पश्चात् सब से अधिक लीलाओं के रचयिता श्री ब्रजवासी दास जी हुए। इन्होंने एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जिसे एक प्रबन्ध-काव्य के रूप में भी पढ़कर आनन्द उठाया जाय और साथ ही साथ जिसकी एक-एक लीला रासलीला के साथ अभिनय के रूप में भी रखी जा सके। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने अपने ब्रज-विलास को अध्याय,काण्ड, परि-च्छेद इत्यादि में न बाँट कर ७४ लीलाओं में बाँटा है और प्रत्येक लीला का नाम दे दिया है।

ब्रजवासी दास जी कवि के साथ-साथ नाट्यकार भी थे। इन्होंने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद गद्य-पद्यमय भाषा में रचकर अपनी नाटक-रुचि का परिचय दिया है। ब्रज-विलास में श्री कृष्ण जी की ७४ लीलायें मिलती हैं।

रासधारी इनके आधार पर विविध लीलायें करते रहते हैं। इनकी लीलाओं में विस्तार अधिक है और कथावस्तु में उत्कर्षा-पकर्ष बहुत ही मर्मस्पर्शी है। 'अथ' लगाकर नई लीला प्रारम्भ करते हैं जैसे "अथ दान लीला"। ध्रुवदास जी की दानलीला का वर्णन पूर्व किया जा चुका है। ब्रजवासीदास जी की दान लीला उनसे कहीं अधिक विस्तृत और मनोहारी है ; कथावस्तु इस प्रकार है—कृष्ण जी ग्वालबाल के साथ उस वन-मार्ग पर खेल रहे हैं, जहाँ से ग्वालिनें गोरस बेचने जाती हैं। उन्होंने ग्वाल-बालों से परामर्श किया कि इन ग्वालिनों से दान रूप में गोरस लेकर खाना चाहिए। ऐसा प्रस्ताव कौन न मानता। योजनाएँ बनीं, तदनुसार पेड़ों की ओट में सब छिप गए। ग्वालिनें सिर पर गोरस की

मटकी धरे परस्पर छेड़छाड़ करती आ ही पहुँचीं। अवसर देखकर सब ग्वाल बाल निकल पड़े और उन्होंने गोपियों को चारों ओर से घेर लिया। गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वनमें इतने बालक सहसा कहाँ से आ गए। कई भयभीत हो उठीं और कई अवाक् रह गईं। ग्वालों ने उन्हें सशंक देखकर आश्वासन दिया— "इहा चोर ठग कोऊ नाहीं। अभय कान्ह को राज सदा ही।" आप कृपा करके "दधि का दान लगे सो दीजै।" कान्ह का नाम सुनकर उन्हें धैर्य हुआ। उनमें से एक हँसकर बोली, "कहाँ तुम्हारे प्रभु नंदलाला"। दूसरी बोली, "चोरी करि नहिं पेट अघायो। अब बन में दधि दान लगायो।" तीसरी बोली:—

"तब अति बालक हुते कन्हाई। सही जु कछु कीन्हीं लरिकाई॥"
होहु जो कछु वा धोखे मांही। परि है समुझि अबहिं छन मांही॥

इतने में कृष्ण सामने आ जाते हैं, और गोपियों को उत्तर देते हुए मुस्करा कर कहते हैं—

कृष्ण—तब तो हम लरिका हुते, सबहिं बात अनजान।
सोध्यै कौ अब मेटिकै, छांडि देहु अभिमान।
हम माँगत दधि दान, तुम उलटी पलटी कहत।
करत नंद की आन, दिये पाय हौ जान सब।

ग्वालिन—(मुस्कराती हुई) नंदहु ते कछु तुम्हें कन्हाई।
भयो जानिए तप अधिकाई।
कालहि चोर चोर दधि खाते,
घर घर देखत ही भज जाते।
रात न भयौ स्वप्न कछु आई।
प्रातहि भई आज ठकुराई॥

कृष्ण—

"तुम सी प्रजा बसाई गावहिं। सो हम ठाकुर क्यों न कहावहिं।"

एक ग्वालिन—(झुँझलाती हुई,).....

.....बात सँभारे कहहु कन्हाई।

दूसरी—ऐसो को बहि गयो हमारे। जो परजा ह्वै बस्यौ तुम्हारे।

... ...

तीसरी ग्वालिन—

'जो तुम याते हो गरवाने। तो अब तजिहीं गाँव बिहाने।'

कृष्ण-(मुस्कराते हुए) गाँव हमारो छांड़ि कै, बसिहौ का पुर मांहि।

ऐसौ कौ तिहु लोक में जो मेरे बस नाहिं॥

(हँसी त्यागकर) का गिनती में कंस, जाके हम कहवावहीं।

देहुदान को अंस, रार करत बेकाज कत॥

ग्वालिन— बड़ी बात छोटे मुँह माहीं।

आप सँभारि कहत हो नाहीं।

... ...

यह तुम बात कही तिन माहीं। जो कोइ तुमकौं जानत नाहीं।

हम इन बातन भय नहिं माने। जैसे हो तुम तैसे जाने।

दूसरी ग्वालिन—

हम सौं लीजो दान सवाई। पहले थैली लेहु मँगाई।

तीसरी ग्वालिन—

पीताम्बर बोझन फट जैहै। तब पाछे पछतावौ ऐहै।

कृष्ण—

तू ग्वालिन हम कौ कहा जाने। हम नहिं झूठी बात बखाने।

झूठी हो तुमही सब ग्वारिन। सतर होति हौ बिन ही कारन॥

... ...

नंद सौंह यों जान न दैहों।

कृष्ण--बहुरौ छोरि दही सब लेहौं।

एक ग्वालिन—

काहे कौं अठिलात कन्हाई। छांडि देहु मोहन लरिकाई।

दूसरी ग्वालिन—

पहली परपाटी चलौ, नई चली क्यों आज।
जान पाय हूँ कंस जो तौ पुनि होय अकाज॥

तीसरी ग्वालिन (खीझकर)

हँसी घरी दुवै चारि, बीतन लाग्यो याम युग।
बन में रोकी नारि, बाढ़ि जाइ है बात पुनि॥

कृष्ण—

कहा कंस कहि मोहि सुनावो। अब ही वाको जाय जनावौ।
... ...
मारि पूतना स्वर्ग पठाई। तृणावर्त महि दियो गिराई।
... ...
तुम हीं हँसी करत हो ग्वारी। देति दिवावति हौ हठि गारी।
....
चोरी सदा बेचि दधि जाहू। बिना दान क्यौं हू न निबाहू।
अब तौ आज पकरि मैं पाई। सब द्यौसन कौ लेहुँ चुकाई।

एक ग्वालिन—

गिरि धार्‌यो बल खाय हमारी। जानी हम सब बात तुम्हारी।

दूसरी ग्वालिन—

मांगि लेहु अबहूँ दधि खाहू। होत दान सुनि हमकौं दाहू।

तीसरी ग्वालिन—

हमें कहत हौ चोरटी, आप भए जो साह।
बड़े भए चोरी करत, अब लूटत हो राह॥

चौथी ग्वालिन—

लेहु दही बलि जाउँ, हमकौं होति अबार अब।
दिए दान कौ नाऊँ, एक बूंद नहिं पाइहौ॥

इस प्रकार कृष्ण तो दान लेने पर डटे हैं और गोपियाँ दान 'कर' के नाम पर एक बूंद भी नहीं देना चाहतीं। अब तो बस छीना-झपटी प्रारम्भ हो गई। ग्वालबाल डर से भाग जाते हैं। कृष्ण और गोपियों का मल्लयुद्ध प्रारम्भ होता है—

दूसरा दृश्य

यहाँ से दूसरा दृश्य है। गोपियों के हार टूट गये हैं। गोपियाँ माता यशोदा के यहाँ उलाहना लाती हैं। उनसे कृष्ण की चुगली खाती हैं कि कृष्ण ने हमारे कपड़े फाड़ दिये। वह हमसे छेड़-छाड़ करते हैं। राह रोकते हैं। अब यशोदा और गोपियों का संवाद अत्यन्त रोचक और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण है।

एक गोपी—

अति ही कान्ह भए अब ईतर। रोकत युवतिन को मग भीतर।
चोली फार हार सब तोरे। गहि गहि आंचर पट झकझोरे।
ऐसौ को कुल भयो महर के। जोबन दान लियौ जिन अरके॥

... ...

यशोदा—आप फिरत इतरात, कहत स्याम ईतर भयौ।
उरन लाय नखघात, उरहन कौं दौरी फिरत।

दसहि बरस कौ कहाँ कन्हाई। कहँ तुम सब माती तरुणाई।
दोष लगावत स्यामहिं आनी। कैसे धौ कहि आवत बानी।
तुम कों लाज लगति है नाहीं। जाहु सबै बैठो घर माहीं।

दूसरी गोपी—

'अहो महरि ऐसौ नहिं कीजै। बिन बूझे गारो नहिं दीजै।
तुमहूँ खीज करति सुत ओरी। ऐसैं ब्रज में बसि है को री'॥

तीसरी गोपी—

तजि हैं आजहिं गांव तिहारौ। बहुरि न सुनिहौ नाम हमारौ।

यशोदा—

ऐसे कहा कहत डरपाई। बसत नाहिं किन अनतहि जाई।
जोवन दिन द्वै सबहिन बौरो। तुम बांधत आकासहि डोरी॥

एक गोपी—

तुम सुत के कर्मन नहिं जानौ। हठि करि टेक आपनी ठानौ।
दस गायन करि कहा बड़ाई। अहिर जात सब एकहि माई।
महा ढीठ हरि मानत नाहीं। बन में झगरत गहि गहि बाहीं।

यशोदा— ... ...। कहत गैयन की बाम इहां री।
और चली कहा इहां जात की।
मोहि रिसि सुनि अनमिल बात की।
कहाँ बसत तुम कहाँ कन्हाई। कब हरि बाँह गही बन जाई॥
कहति बात नहिं नेकु लजाहू। सुनि है कहूँ तिहारे नाहू।
... ...
नेकु नहीं डर करति ईस को। मनौ भयौ हरि बरस बीस को।

एक गोपी—

सुनहुँ महरि तुम बात, हरि सीखे टौना कछू।
बनहिं तरुन ह्वै जात, बालक ह्वै आवत घरहि।

यशोदा जब किसी प्रकार कृष्ण के दोष को स्वीकार नहीं करती तो एक गोपी कहती है कि अच्छा महरि, अगर सब झूठी बात है तो

एक दिन बन में किसी वृक्ष की ओट में छिपकर कृष्ण की लीला देखो, 'हैं हरि दस कै बीस बरस के। देखो अपने नैन निरख के।' अब तो यशोदा जी को रोष आना स्वाभाविक था। गोपियों को जली-कटी सुनाने लगीं, जा-जा। दीठ लगावन हैं घर आई। अब टोना हटाना भी है। तो कहती हैं, 'जरहिं बरहिं ये आंख तुम्हारी। जो हरि कौं नहिं सकत निहारी'। अब गोपियों को पश्चाताप हुआ कि हमने क्यों ऐसी बातें की। एक गोपी कहने लगी, हे महरि···

'हमैं कहा मोहन प्रिय नाहीं। जीवहु जुग जुग हरि ब्रज माहीं।
कहा करैं जब बहुत खिजावैं। तब हम तुम्हें कहन दुख आवैं।

अब दोनों पक्षों में नर्मी आती है। प्रेम से गोपियाँ विदा हो जाती हैं।

तृतीय दृश्य

गोपियों ने बरसाने में यह चर्चा फैला दी है। राधा, चन्द्रावती ललिता आदि कृष्ण से मिलने के लिए गोरस बेचने के बहाने चलती हैं। कृष्ण गोप कुमारों के साथ वहाँ पहुँच जाते हैं। आज ग्वाल-बाल पेड़ों की ओट में नहीं प्रत्युत पेड़ों की डालियों पर छिपे बैठे हैं। गोपियों को देखकर एक साथ हल्ला बोल कूद पड़ते हैं और सबको घेर लेते हैं। इस बार गोपियों की संख्या सोलह सहस्र है और गोप भी पाँच सहस्र। पिछले दिन झगड़ा करके जाने वाली गोपियाँ भी इनके साथ आई हैं। आज ग्वालों को पराजित करने के विचार से बड़ी संख्या में यह समुदाय आया है। इस बार गोपियों के साथ राजकुमारी स्वतः आई हैं। पहले ग्वाले ही गोपियों से विवाद करते हैं। फिर कृष्ण आते हैं। इस बार

नई-नई युक्तियों, नए-नए[1] तर्क के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर होता है। गोपियाँ कंस की धमकी देती हैं। कृष्ण जब कंस को राजा स्वीकार ही नहीं करते, अपने को राजा बताते हैं, तो गोपियाँ कितना मार्मिक और सीधा उत्तर देती हैं—

"तौ सिंहासन बैठत नाहीं। गाय चरावत कत बन माहीं।
मोर पखन को मुकुट उतारो। नृप किरीट माथे पर धारो।
पहिरत कहा गुँज के हारा। नृप भूषन किन करत सिंगारा।
छत्र चामर सिर ऊपर राजै। तजहु मुरली अब नौबत बाजै।"

दूसरी गोपी—

"झगरत कहा दही के काजा। लखि हमकों उपजति है लाजा।

कृष्ण का उत्तर सुनिये—

"ब्रज में मेरौ राज सदाई। और इहाँ काकी ठकुराई।"

दूसरी गोपी उनके पीताम्बर पर कटाक्ष करती है—

"कामरि ओढ़न हार, तुम्हें न छाजत पीतपट।
कारे तन पर चारु कारी कामरि सोहई।"

तीसरी गोपी उनकी शक्ति का उपहास करती हुई कहती है—

और सुनहु जसुमति जब बाँधे। ऊखल सों दोऊ भुज साधे।
तब सहाय करि हमहिं बचाये। करके बन्धन जाय छुड़ाये।

अब कृष्ण अपना ब्रह्मत्व बखानते हैं कि मैं कभी पैदा नहीं होता। मैं सदा सर्वत्र विद्यमान[2] हूँ।

तब एक गोपी कितना चुटीला व्यंग करती है:

"जैसे निदरत तुम सब काहू। तैसे निदरत मात पिताहू।"

---

१. ब्रजविलास पृ० २४७

२. मैं पूरण अविगत अविनासी।
बाँधे सब माया की फाँसी।

इस प्रकार नाना तर्क-वितर्क पूर्ण वादविवाद चलता रहता है, तदुपरान्त कृष्ण गोपियों से बहुमूल्य वस्तुओं का वाणिज्य करने के कारण दान-कर-का प्रस्ताव रखते हैं। गोपियों के बहु-मूल्य वस्तुओं का नाम पूछने पर कृष्ण कहते हैं।

"मत्त गयंद तुरंगम तुम सौं। कैसें दुरत दुराये हम सौं॥
हंस मोर केहर मृग वारे। कनक कलस मद रस सौं भारे॥
चमर सुगन्ध कपोत कीरवर। कोकिल विद्रम वज्र धनुष सर॥
एतों धन खग मृग तुम पाहीं। कैसें निवहत दान विनाहीं॥"

रूपकातिशयोक्ति के द्वारा सौंदर्य का कितना रम्य वर्णन है। अनेक वादविवाद के पश्चात् गोपियाँ कृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार करके शरणागत बन जाती हैं—

"कहति कान्ह अब शरण हम, लीजिये सरवस दान।"

अब कृष्ण और ग्वाल-बाल बैठ जाते हैं। ग्वालिनें खिलाने लगती हैं। राधिका जी एक ओर चुपचाप खड़ी हैं। अब कृष्ण उनसे कहते हैं :

"औरन की मटुकी कौ खायौ। तुम्हरे दधि कौ स्वाद न पायौ॥"

अब राधिका जी मुस्करा कर अपना दही देती हैं। उसे खाकर कृष्ण कहते हैं, "मीठी है यह सबन तें" तदुपरान्त गोपियाँ कृष्ण भगवान की स्तुति करती हैं, और उनसे क्षमा माँगती हैं। कृष्ण ब्रज और गोपियों के प्रेम की प्रशंसा करते हैं और बैकुण्ठ त्याग कर ब्रजवास का रहस्य समझाते हैं। इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक ग्वाल-बाल और गोपियाँ अपने-अपने घर प्रस्थान करते हैं।

ब्रजवासीदास की दान-लीला में ६६ दोहे, सोरठे और चार हरिगीतिका छंद हैं। हर १२ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा आता है। इस प्रकार ५७६ चौपाइयाँ, ४८ दोहा, ४८ सोरठा और ४ हरगीतिका के बाद यह लीला समाप्त होती है।

भाषा

ब्रजवासीदास की भाषा पूर्व के लीला रचयिताओं से पृथक् झलकती है। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर अधिक झुकाव दिखाई पड़ता है, जैसे—श्याम, परस्पर, शरीर, शंकित, दोष, तरुणिनि, षड्रस, सहस, पंच सहस्र, वृथा, यज्ञ, नृपतित्रास, मत्तगयन्द, तुरंग, आभूषण।

ब्रजवासीदास जी ने दान-लीला की साधारण कथा में अपनी कल्पना से कितना चमत्कार पैदा कर दिया है! ऐसी संवाद-योजना तो आज के नाट्यकारों में भी विरल ही दिखाई पड़ती है। यशोदा और गोपियों के संवाद में कितनी स्वाभाविकता और मनोज्ञता है। यशोदा को विश्वास होता ही नहीं कि दस वर्ष का बालक कृष्ण इन तरुणियों के साथ छेड़छाड़ करेगा। जब गोपियाँ कृष्ण को वन में बीस वर्ष का तरुण जैसा बताती है, तो यशोदा का मातृ-हृदय गोपियों की दीठि लगने के डर से सशंक हो जाता है। जादू-टोने की नौबत आ जाती है। कहा जाता है कि नजर लगाने वाले को टोक दिया जाय तो नजर नहीं लगती। यशोदा झट झल्ला कर गोपियों को उलटा-सीधा सुनाने लगती हैं।

दृश्य योजना

यद्यपि लीलाधारी रासलीला में पट परिवर्तन की पद्धति को बहुत महत्त्व नहीं देते, किन्तु इस लीला में तीन दृश्य स्पष्ट ही हैं। तीसरे दृश्य में फलागम मिलता है। वास्तव में कृष्ण को अनन्य उपासिका के हाथ से दही खाना है। यही नाटक का मुख्य कार्य है। उसके लिए प्रथम दिवस गोपियों से दही-दान की योजना बनाई गई। जब गोपियों को ज्ञात हो गया कि कृष्ण को

इस प्रकार दही खिलाकर उनका दर्शन किया जा सकता है, उनसे प्रेमालाप हो सकता है, उनसे लड़ने-झगड़ने का अवसर मिल सकता है तो राधिका जी अपनी सखियों के साथ गोरस बेचने के बहाने आ पहुँचती हैं। इस प्रकार कृष्ण की अनन्य उपासिका राधा का मीठा दही खाने को मिलता है, यही है फलागम।

ब्रजवासी दास तक आते-आते, रासलीला में केवल काव्यमय गीति नाट्य द्वारा रसास्वादन की प्रणाली बदल चली थी। अब उसमें घटना में आरोह-अवरोह, उतार-चढ़ाव और संवादों में रमणीयता भी आने लगी थी। अतः लीला रचयिता केवल काव्यत्व की ओर अपना ध्यान न लगा कर नाटक की अन्य विशेषताओं को भी अपनाने लगे थे। स्पष्ट है कि जनता की रुचि का ध्यान नाटककार को रखना ही होता है। गद्य के प्रचार से लोग संवादों में रमणीयता चाहने लगे थे। इसलिए इसका समावेश करना आवश्यक बन गया था। इसका एक दुष्परिणाम भी हुआ। आरम्भिक लीलाओं में भाषा जितनी प्रौढ़, प्रांजल और सुव्यवस्थित है उतनी ब्रजवासीदास में नहीं मिलती। प्रारम्भिक लीलाओं में तुकान्त के लिए न शब्दों में तोड़-मरोड़ है और न पाद-पूर्त्ति के निमित्त शब्दों की भर्ती है। ब्रजभाषा निखरे रूप में भावों और घटनाओं को साथ-साथ लिए हुए जमुना की मन्द-मन्द लहरियों के समान रमणीयता बिखेरती चलती है। किन्तु १९वीं शताब्दी में मिलने वाली लीलाओं में उपर्युक्त गुण नहीं मिलते।

दूसरा दोष स्पष्ट यह झलकता है कि प्रेम और शृंगार का वर्णन जितना शिष्ट रूप से प्रारम्भिक लीलाओं में है, उतना १९वीं शताब्दी में नहीं। यहाँ चटक-मटक अधिक है, पर व्यंजना शक्ति

द्वारा भावाभिव्यंजन की क्षमता कम। व्रजवासी दास की गोपियाँ यशोदा जी को नखक्षत ऐसे रूप में दिखाती हैं जो सुसंस्कृत समाज को रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकता। दूसरा दोष है, भाषा में संश्लिष्टता का अभाव। कहीं-कहीं सारी चौपाई पिष्ट-पेषण मात्र प्रतीत होती है। वह न तो विचार-धारा को आगे बढ़ाने में सहायक होती है और न घटना की प्रगति को वृद्धि प्रदान करती है। वर्णन में न वह तन्मयता है और न वह स्निग्धता। आधुनिकता के लोभ में प्राचीनता को जैसे उपेक्षित किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है।

आधुनिक लीला-नाटकों की रचना

लीला नाटकों का यह क्रम आजतक चलता आ रहा है। भारतेंदु जी को चन्द्रावली लीलानाटिका ही तो है। अभी वियोगी हरि जी ने छद्म[1] योगिनी लीला लिखकर इस परम्परा को आधुनिक काल से संयुक्त कर दिया है।

आज रास मंडलियों द्वारा अभिनीत लीलाओं पर आधुनिकता का भी प्रबल प्रभाव पड़ा है। हास्यरस का मधुर पुट जो हम नन्ददास, ध्रुवदास और चाचा वृंदावनदास की छद्मलीलाओं में पाते हैं, वह विलीन हो गया है और आज थियेट्रिकल कम्पनियों का सा हास्य लीलाओं में प्रविष्ट हो रहा है।[2] इस प्रकार रासलीला पर यदि स्वांग और भद्दे नाटकों का प्रभाव बढ़ गया

१. वियोगी हरि-रचना काल संवत् १९७९ वि०

२. इस वर्ष हमने वृन्दावन में वंशी-चोरी-लीला कई स्थानों पर विभिन्न मंडलियों द्वारा इसका अभिनय हुआ। हमने यह देखा कि किसी में कृष्ण की मुरली को गोपियों तक पहुँचाने का काम पुरोहित जी करते हैं और किसी में कृष्ण-सखा एक गोप। गोपियों का

तो इसकी मौलिकता नष्ट हो जायगी। अब तक इसकी यह विशेषता रही है कि भद्दी जनरुचि के झंझा से भी इसकी आध्यात्मिक ज्योति कभी बुझने नहीं पाई है। आजकल दो प्रकार की रास मंडलियाँ हैं। कई रासधारी मंडलियाँ अपनी लीलाओं में गद्य को महत्त्व देती हैं, दूसरी मंडलियाँ प्राचीन महात्माओं के पदों के ही आधार पर लीला करती हैं। एकमें संवाद प्रधान होता है दूसरे में संगीत। एक में वाहवाह और हास्य की बहार रहती है, दूसरे में भक्तिभाव और रस की। एक अपनी नवीन रचनाओं से रास करते हैं, दूसरे रागरत्नाकर तथा सूर, मीरा आदि के पदों का आधार लेते हैं।

रासलीला का प्रभाव राम भक्तों पर

रासलीला का प्रचार और प्रसार इतना व्यापक हुआ कि विक्रम की १६वीं शताब्दी में एक आन्दोलन राम भक्तों की ओर से चला, जिन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि रास लीला वास्तव में राम ने की थी। कृष्ण ने तो वृन्दावन में एक जन्म में रास किया। राम रामावतार में ६६ रास कर चुके थे। एक अवशिष्ट रास राम ने कृष्णावतार में वृन्दावन में किया। फिर क्या था, गोलोक की भाँति साकेत में रास लीला होने लगी और उन

पुरोहित तथा गोप के साथ हास का बड़ा ही असंस्कृत ढंग था। वे बार-बार बूढ़े पुरोहित की पीठ पर या गोप की पीठ पर धब-धब मारती थीं और स्वतः हँसती थीं। यह ढंग स्वांग जैसा प्रतीत होने लगता है। एक तो संवाद में गद्य परिमार्जित न होने से यों ही आध्यात्मिकता का पुट नहीं रहता, दूसरे बार-बार मज़ाक करने से तो वह बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है।

नर्त्तकियों में रामा और उर्वशी तो आई हीं, वृन्दावन से राधा और चन्द्रावली भी पहुँच गईं। इसके प्रमाण में ग्रंथ निर्माण होने लगे। यहाँ तक कि महारासोत्सव नामक ग्रंथ १६०४ विक्रमी में प्रकाशित भी हो गया। तदनुसार वृन्दावन के अनुकरण पर चित्रकूट में भी क्रीड़ा[1]-कुंज बन गए।

पुरी के मुख्य जगन्नाथ मंदिर के अन्तर्गत एक भाग नृत्य-मंदिर कहलाता है। इसकी छत पर रंगीन चित्रावली बनी है, उसमें एक स्थान पर रास-मंडल दिखाया गया है।

रास की स्थिरता क्यों ?

पिछले अध्याय में हम देख आए हैं कि व्रजभाषा में रास-परम्परा महाप्रभु वल्लभ तथा हितहरिवंश आदि महात्माओं के समय से अब तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। साहित्यिक-नाटकाभिनय का कोई भी ऐसा अन्य रूप ढूँढना कठिन है जो शताब्दियों तक निरन्तर इतनी मनोज्ञता के साथ चला जा रहा हो। इस रास में कोई ऐसी विशेषता अवश्य है जो राजा-रंक, विद्वान-मूर्ख, नास्तिक-आस्तिक, सेठ-भिखारी, महात्मा-दुरात्मा, रसिक-अरसिक, बाल-वृद्ध आदि सभी वर्ग को प्रसन्न करने की शक्ति रखती है ? वह शक्ति क्या है। वह विशेषता यह है कि रामायण महाकाव्य की तरह, इसमें सबको अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल रसास्वादन कराने की सामर्थ्य है। एक अनपढ़ युवा किसान जो गोपालन के अतिरिक्त और कुछ जानता ही नहीं, जो जंगलों में ग्वाले-ग्वालिनों के साथ रहता है, वह अपनी ही तरह स्वच्छन्दता से विहार करने वाले कृष्ण को देखता है तो उसे

---

१. पंडित रामचंद्र शुक्ल—हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० १३२ सं० २००२ वि०।

अपने जीवन की झांकी मिलती है। वह यह देखकर रीझ जाता है कि बड़े-बड़े राजे-महाराजे भी ग्वाले कृष्ण की प्रशंसा करते और पदवंदन को लालायित होते हैं। उसे न रास के अध्यात्म से कुछ लेना-देना है, न कृष्ण की ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकता पर विवाद करना है। वह तो इस लीला में भाग लेने वालों का नृत्य देखकर प्रफुल्लित हो जाता है। उसे रास के साहित्य-संगीत की कला से क्या नाता। सभ्यता की प्रथम सीढ़ी पर पग रखने वाले अनपढ़ मूर्ख गँवार को इस प्रकार रस-मग्न करने की क्षमता इस रास में है।

नितान्त अनपढ़ से ऊपर स्तर वालों को रास के मधुर संगीत की लहरी मोहित करती है। कृष्ण और राधा के कोमल कंठ से उद्भूत संगीत अमृत-वर्षा के द्वारा उन्हें मन्त्रमुग्ध बना देता है उसी रास में वे विभोर हो जाते हैं। इस संगीत में क्या राग-रागिनी है, क्या कौशल है, कितनी कला है, कहाँ संगीत में त्रुटि आती है, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं। वह तो अलाप के माधुर्य पर मुग्ध रहते हैं। यह हुआ सभ्यता की दूसरी सीढ़ी पर पग रखने वाले प्रेक्षकों की मनोहारिता का प्रसंग। हाँ, संगीतज्ञ तो संगीत की स्वरलहरी पर नाच ही उठते हैं।

ध्वनि-छटा से भी अधिक रमणीयता चाहने वाले व्यक्ति इसमें शब्दच्छटा देखकर इसकी सराहना करते हैं। जयदेव, वल्लभ, हितहरिवंश, सूरदास, नन्ददास, ध्रुवदास, नागरीदास, वृन्दावन दास, हितदामोदर, श्री हरिवंश, हरिनाथ स्वामी, श्री वल्लभ रसिक, श्री हरिदास स्वामी, चन्दसखी, श्यामा, चरणदास, श्री माधुरी जी, मीरा आदि भक्त साहित्यिकों की रस से ओत-प्रोत वाणी किस सहृदय को मंत्रमुग्ध न कर देगी। इस प्रकार

सहृदय साहित्यिकों को भी रस प्रदान करने की क्षमता इस रास में है।

ऐतिहासिक विद्वान् रास के कृष्ण में सहस्रों वर्षपूर्व जन्म लेकर वृन्दावन में विचरण करने वाले एक ऐसे बालक की कल्पना करता है, जिसने कंस जैसे अन्यायी राजा को अपने बाहुबल से पछाड़ा था। जिसमें बांसुरी की तान अलापने के साथ साथ सुदर्शन चक्र चलाने की भी शक्ति थी। जो अगणित सुन्दरियों के मध्य में रहता हुआ भी योगिराज कहलाता था। रास उसके बाल्यकाल की एक झांकी है, जिसमें नृत्य है, संगीत है, साहित्य है, कला है। इन विचारों के साथ वह कृष्ण की शोभा और शक्ति के मानसरोवर में अमृतरस पीकर मस्त हो जाता है।

अवतार के विश्वासी ऐतिहासिक इस कृष्ण को सर्वशक्तिसम्पन्न और अन्तर्यामी मानकर इसी वृन्दावन में विचरण करने वाले भगवान की लीला देखते हुए रसमग्न हो जाते हैं। किन्तु जो अवतारवाद के विरोधी हैं और संसार को प्रकृति का खेल समझते हैं, वे इसे एक प्रतीक नाटक मानते हैं और श्रीकृष्ण को चन्द्रमा, राधा को अनुराधा नक्षत्र और गोपों को आकाश-गंगा के तारों का रूप समझकर अन्तरिक्ष में होने वाली केवल बुद्धिगम्य लीला को निज नेत्रों से देख-देख कर रस मग्न हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति-प्रेमियों को भी रस प्रदान करने की क्षमता रास में है[1]।

---

१. क. विदग्ध माधव पृष्ठ ७।

ख. वही पृष्ठ १४।

(शेष उद्धरण अगले पृष्ठ पर देखिए)

श्रद्धालु भक्तों के लिए तो राधा का सौंदर्य और प्रेम कृष्ण-मिलन के लिए व्याकुल बनाता है। राधा से मिलकर उनके आराध्यदेव को आनन्द मिलता है। जिस लीला से आराध्यदेव को आनन्द मिलता है, उसी को बार-बार देखने की अभिलाषा रहती है। आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण चन्द्र की आनन्ददायिनी रास-लीला में उन्हें रस मिलता है। इसलिए रासलीला को नित्य देखते हुए भी वे सन्तुष्ट नहीं होते, इस रास के प्यासे बने रहते हैं।

शोध-प्रेमियों को रास, कृष्ण के रूप में उस आनन्दघन चैतन्य तत्त्व को प्रदर्शित करता है जिसको समाज ने वैदिक साहित्य से लेकर युग-युग तक नए-नए नामों और रूपों में अनुभव किया। वैदिक काल का विष्णु, गोविन्द, वासुदेव होता हुआ गोपाल कृष्ण के रूप में अवतरित हुआ। इस प्रकार रास का यह रूप अति विस्तृत परम्परा को समेटकर नर्तन, वादन और गायन करता हुआ मन को मुग्ध बनाता है। एक तत्त्वज्ञानी

श्री कृष्ण जी चन्द्रावली से कहते हैं—

तस्य षोडशकलस्य षोडशी वल्लभा स्फुरति या नभस्तले।
राधया सुवदने कथं तया संगतिर्भुवि ममाद्य संभवेत्।११।

अ. षोडश कलस्य षोडशी राधा। आकाशस्थया तया सह संगतिः भुवि स्थितस्य मम कथं संभवेदित्यादिना सैवैका मया ज्ञायतेऽन्या का वा भवतीति भावः॥ चतुर्थ अंक पृष्ठ ९६।

ग. अद्‌भुत विश्वलीलाना प्रतीक रूप श्रीकृष्णनी रास लीला अमोघ रसे वारंवार गातां के गोपी भावे हरि ने रमता घोलायतां पण।
नरसिंह कवि नरसिंह।
(गुजराती साहित्यिनी रूपलेखा पृष्ठ ३९)।

लीलाओं का वैज्ञानिक[1] अर्थ समझता हुआ रास-नायक कृष्ण में परिपूर्ण मानव की सर्वोत्कृष्ट शक्ति का आरोप कर रस-मग्न हो जाता है।

एक तत्त्वदर्शी महात्मा इस रासलीला को अध्यात्म की दृष्टि से देखता है। उसे कृष्ण सदेह सच्चिदानन्द-आनन्दघन रसरूप

---

१. क. दावानल—जीवन की विकराल अग्नि है जो उस समय व्रज में सर्वत्र व्याप रही थी। कृष्ण ने अपनी शक्ति से उसे शान्त किया।

ख. यमलार्जुन—यमलार्जुन यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे, जो शाप-वश वृक्ष बने थे। वैदिक परिभाषा के अनुसार नाम रूप दो महान यक्ष हैं, ते (नाम रूपे) ह महती यक्षे महती अम्बे। नाम रूप दो बड़े यक्ष हैं जो अम्ब है, दिखाई पड़ने पर भी नहीं हैं। जो नाम रूप के दो वृक्ष हमारे जीवन को रोके खड़े हैं, उन्हें उखाड़ फैंकना ही अध्यात्म का मार्ग है।

ग. वरुण पाश—कुमार स्वामी का कहना है कि वैदिक परिभाषाओं में मृत्यु को वरुण पाश या मृत्यु कहते हैं। इसपर अधिकार पाना अध्यात्मशास्त्र की आवश्यक सीढ़ी है। उनके अनुसार मुचीलन्द नाग के ऊपर बुद्ध की विजय और मुचुकुन्द के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही बात है।

आवरणात्मक पाश डालने वाली शक्ति है अहि वृत। समुद्रवासी जरठ बुड्ढा जब पीठ पर सवार हो जाता है तो कठिनाई से छुटकारा मिलता है। वरुण ही समुद्र-वासी बुड्ढे हैं। वे नन्द को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नन्द का उद्धार करते हैं।

में दिखाई पड़ते हैं। राधा उनकी अपरा-शक्ति हैं, गोपियाँ उसकी सखी-सहेली, सहचरी और दूती हैं। अपरा-शक्ति रसघन के सौंदर्य पर मुग्ध होकर उनसे मिलने को व्याकुल होती है। ये सखियाँ चित्तवृत्तियाँ हैं, जो देहधारिणी बनी हैं। ये चित्तवृत्तियाँ इस परमात्मा से अपराशक्ति को मिलाने वाली हैं। इन चित्त-वृत्तियों 'भावनाओं' को उस श्यामसुन्दर से स्वतः एकीकरण की अभिलाषा नहीं होती। ये तो जीवात्मा रूपी अपराशक्ति को घनश्याम से जोड़ने में उससे अधिक आनन्द पाती हैं जितना स्वतः अपरा शक्ति को आनन्दघन के साथ एकाकार होने के समय होता है। ये पवित्र भावनाएँ जीवात्मा का साथ तभी कर पाती हैं, जब उनमें नितान्त निर्मलता आ जाती है। यद्यपि राधिका नित्य हैं, गोपियाँ नित्य हैं, किंतु वासना के निवारण होने पर दृष्टिगोचर होती हैं[1]।

घ. कालियनाग—वैदिक परिभाषाओं में भूतल पर रेंगने वाली अन्धकार-प्रधान वृत्ति की संज्ञा सर्प है। जीवन-जल के सब सोतों पर नागों का अधिकार है। जीवन के जितने जलकमल या शील चक्र हैं, सब कालियनाग के अधिकार में हैं। शक्ति का यह प्रतीक यह कालियनाग सबके भीतर बैठकर जीवनी शक्ति को अपने ही वश में रखना चाहता है। नागनथैया कृष्ण उन कमलों का उद्धार करते हैं जो जीवन के रूप हैं।

१. इमां तु मत्प्रियां विद्धि राधिकां परदेवताम्।
अस्याश्च परितः पश्चात् सख्यः शत सहस्रशः॥
निद्राः सर्वा इमा रुद्र यथाहं नित्यविग्रहः
सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम॥

(शेष आगामी पृष्ठ पर)

ज्ञानी ऊधो परकीया-भाव से[1] प्रेम करने वाली राधा की प्रशंसा में कहते हैं कि यह राधा लक्ष्मी से भी अधिक भाग्य-शालिनी है। इसने गोविन्द को जिस रूप में पाया है वह तो किसी को भी उपलब्ध नहीं होता। रासोत्सव में कृष्ण की भुजा इनके कंठ में पड़ी है और यह भगवान के साथ रास-विहार कर रही हैं[2]। इस प्रकार ज्ञानी महात्मा उद्धव भी रसमग्न हो जाते हैं।

भक्तगण गोपियों में अध्यात्म प्रेम के ११ तत्त्व पाते हैं, इसलिए उनकी प्रशंसा करते हैं[3]।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि मानव-सभ्यता के प्रथम चरण से लेकर मानवता को देवत्व की ओर ले जाने वाली सर्वोच्च अध्यात्म प्रेरणा का दर्शन इस रासलीला में हो जाता है। यही कारण है इसकी महत्ता का, और यही कारण है इसकी सर्वप्रियता का। इसी के बल पर यह रास पूर्व रूप में आज तक निरन्तर चला आ रहा है, फिर भी इसका आकर्षण कम नहीं होता।

यद्यपि रासलीला की रोचकता के अनेक कारण गिनाये जा सकते हैं, किन्तु रासलीला को लोकप्रिय बनाने का मुख्य कारण

सर्वमेतन्नित्यमेव, चिदानन्द रसात्मकम्।
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम॥
(पद्मपुराण, पाताल खण्ड ७३-७५)

१. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध ३३ अध्याय ३१, ३६, ३७।

२. श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध ३१ अध्याय ५, ६, १३।

३. गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति
(नारद भक्ति सूत्र २३)।

है मनुष्य का स्वभावतः शृंगार रस का प्रेमी होना और प्रेम भी यदि स्वच्छन्द रीति का हो तो उसकी रुचि के अधिक अनुकूल पड़ता हैं। शृंगार का विप्रलंभ रूप अधिक मनोनीत है। मनुष्य की इस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति कृष्णलीला नाटकों में सुचारु रूप से पाई जाती है। रसराज के संयोग और विप्रलंभ दोनों ही रूप राधा और कृष्ण के मिलन तथा वियोगात्मक में अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु एतावन्मात्र लक्षण ही कृष्ण लीलाओं के लोकप्रिय होने का कारण नहीं बन सकता। लौकिक प्रेम की तृप्ति उस प्रेमकी ज्वाला को शीतल करने में सशक्त है। अतः कृष्ण-लीलाओं में किसी और ही तत्त्व का समावेश होना चाहिए जिससे संयुक्त होने से स्वच्छन्द प्रेम की निरन्तर तृप्ति होने पर भी अतृप्ति को परम वेगवती बनाती रहे। यह तभी संभव है जब लौकिक प्रेम पारमार्थिक प्रेम का रूप धारण कर ले। प्रेम की उच्छृंखलता लौकिक रूप का परित्याग कर आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित हो जाए। इस आदर्श प्रेम की प्यास बुझने वाली नहीं। यही कारण है कि कृष्ण लीला के नाटकों को युग-युगान्तर से देखने की प्रवृत्ति घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है। नाटक का यही एक ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप है जिसमें लौकिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में उन्नयन हो जाता है। शृंगारिक शब्दावली, वेशभूषा, प्रसाधन आदि रसोत्पादन के संकेत मात्र रह जाते हैं। और जिस रस का परिपाक होता है वह लौकिक भोगविलास का पर्यायवाची नहीं, प्रत्युत वह अध्यात्म-रस है जिसकी प्यास कभी बुझने वाली नहीं है। रास लीला की यही विशेषता है कि यह सांसारिक भोग-वासना को ईश्वरीय आनन्द के रस में परिणित कर देता है। दर्शक के लिए राधिका जीवात्मा का प्रतीक और कृष्ण परमात्मा का प्रतीक बन जाता है। दोनों की परस्पर प्रेम

लीला से चित्त कभी ऊब नहीं सकता। इसमें समाधिस्थ योगी की तरह परमानन्द की प्रतीति होती है।

हिंदीनाटकों में संस्कृत और रासशैली

हम पिछले अध्याय में लिख आए हैं कि विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में संस्कृत नाटकों में सर्व प्रथम मैथिल गीतों ने प्रवेश पाया और वे गीत इतने आकर्षक प्रतीत हुए कि संस्कृत नाटकों में मैथिलीभाषा को उत्तरोत्तर अधिक स्थान प्राप्त होने लगा। परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में मैथिली संपूर्ण नाटक में व्याप्त हो गई, संस्कृत का कार्य नाटक का केवल ढांचा प्रस्तुत करना रह गया। पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते संस्कृत शैली पर संपूर्ण मैथिल नाटक विरचित होने लगे। ये मैथिल नाटक राजसभा का आश्रय पाकर नैपाल में विकसित होने लगे। यह है पूर्वी भारत में नाटकों का विकास-क्रम। भारत के पश्चिमी भाग राजस्थान में नाटक की उत्पत्ति दूसरे ढंग से हो रही थी। तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश के जो रासक ग्रंथ विरचित हो रहे थे, उनमें जनभाषा राजस्थानी प्रयुक्त होने लगी थी। अल्पकाल में ही राजस्थानी में समग्र रास नाटक विरचि होने लगे। अपभ्रंश नाटकों में स्थान पाने से इन रास नाटकों का ढांचा संस्कृत के रूप में न होकर अपभ्रंश की ही शैली पर हो गया। इस प्रकार हिन्दी के प्रारम्भिक नाटक दो शैलियों में विरचित होते रहे।

संस्कृत शैली में विरचित मैथिली नाटक नैपाल राज्य में विकसित होते रहे। भारतीय जनता से सम्पर्क न रहने के कारण उन नाटकों का प्रभाव हमारे देश के जन नाटकों पर न पड़ सका, अतएव हमारा-नाट्य साहित्य उनसे पृथक् ही रह गया। हाँ, राजस्थानी की रास शैली ने हिंदी के प्रथम उत्थान के नाटकों को अवश्य प्रभावित किया।

नाटकों पर रास का प्रभाव दिखाने के पूर्व रास शैली की विशेषतायें समझ लेनी आवश्यक हैं।

रास शैली की विशेषताएँ

१. रास नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होता है।

२. रास नाटकों में गद्य भाग सर्वथा उपेक्षित रहता है। कारण यह है कि गद्यांश को संगीतबद्ध नहीं किया जा सकता।

३. नाटक के सभी पात्र अथ से इति तक रंगमंच पर ही विद्यमान रहते हैं। पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण का संकेत नहीं मिलता।

४. संपूर्ण नाटक नृत्य और गीत पर अवलम्बित होता है।

५. इन रास नाटकों का मंगलाचरण तथा प्रशस्ति-पाठ स्वांग नाटकों के सदृश है। प्रमाण यह है कि रास और स्वांग दोनों में नाट्यकार अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए उनको श्रद्धांजलि अर्पण करता है। प्रमाण के लिए 'नेमीश्वर रास' का उद्धरण देखिए—

अहो मूल संगि मुनि सरस्वति
गच्छू छोड़ि हो चार कषायनि निभछि।
अनंत कीर्ति गुरु वन्दिते अहो
तास तणौ सुखो कीयो वरवाण।
राइमल ब्रह्म सो जाणिज्यो,
स्वामो हो पारसनाथ के थानि ॥१॥

नाट्यकार ब्रह्मरायमल स० १६१५ वि०।

६. रास के अन्त में नाट्यकार नाटक लिखने का प्रयोजन बताते हैं और उसके पढ़ने, सुनने, गाने और अभिनय से पुण्यफल की प्राप्ति का उल्लेख करते हैं। किन्तु संस्कत नाटकों में

प्रस्तावना के साथ ही नाटकाभिनय का प्रयोजन और उद्देश्य प्रगट कर दिया जाता है। प्रमाण के लिये धनपाल रास मे उद्धरण देखियेः—

श्री सकल कीरति गुरु प्रणमीनें, श्री भवन कीरति भवतार।
दानतणा फल वरणव्या, ब्रह्म जिणदास कहें सार॥१॥
पढ़े गुणें जो सांभले, मनधरी निरमल भाऊ।
मन वंछित फलरु बढ़ा, लाभें शिवपुर ठाऊ॥२॥
नाट्यकार ब्रह्मजिनदास।

७. रासनाटक में स्वांग के सदृश आद्योपांत सभी दृश्य पट-परिवर्तन रहित होते हैं। उनमें संस्कृत नाटकों के समान अङ्क, प्रवेशक, विष्कम्भक तथा अंकावतार आदि नहीं होते। नाटक के मध्य में घटनास्थल परिवर्तित हो जाता है, तो उसकी सूचना कवि किसी पात्र विशेष के द्वारा दिला देता है। अङ्क नहीं बदला जाता।

८. रास की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रायः नितांत अभाव तथा तद्भव और देशज शब्दों का बाहुल्य है।

हम पूर्व देख आए हैं कि नाटकों के नामकरण में भी संस्कृत शब्दों का बहिष्कार और अपभ्रंश का प्रयोग मिलता है, जैसे 'गज सुकुमार रास' के स्थान पर 'गय सुकुमार रास'। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा, कथा-संविधान तथा नाट्य-कला की दृष्टि से रास नाटक संस्कृत नाट्य परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि हिन्दी के आदि नाटकों पर संस्कृत शैली का कोई भी प्रभाव नहीं। इसके विपरीत रास नाटकों ने तत्कालीन संस्कृत नाटकों पर अपना प्रभाव डाला। तथ्य तो यह है कि प्रत्येक युग का नाटक उस युग की जनरुचि से अवश्य प्रभावित रहता है। रास-नाटकों में सर्वत्र गेय पदों की प्रधानता इस मनोवृत्ति का प्रमाण है कि उस काल की जनरुचि

नाटकों में संगीत को सबसे अधिक महत्त्व देती थी, नाटक के अन्य अवयव उसे विशेष नाटकोपयोगी नहीं प्रतीत होते थे। जब पद्यबद्ध नाटक ही जनता की रुचि के अनुकूल थे तो संस्कृत नाटककार इस तथ्य की उपेक्षा किस प्रकार कर सकते थे। जब संस्कृत नाट्यकारों ने गीति नाट्यों से जनता को मुग्ध होते देखा तो उन्होंने भी क्रमशः पद्यभाग की वृद्धि और गद्यांश का लोप करना प्रारम्भ किया होगा। परिणाम-स्वरूप संस्कृत में पद्य-प्रधान नाटक निर्मित होने लगा। हमारे इस मत की पुष्टि डा० दासगुप्ता और डा० डे भी इस प्रकार करते हैं।

"The presumption is not unlikely that such vernaculer semi-dramatic performances of popular origin reacted on the literary Sanskrit drama and influenced its forms and manner to such an extent as to render the production of such apparently irregular types greately probable. [1]

---

1. History of Sanskrit literature by Dr. Dasgupta and S. K. De, page 509.

छठा अध्याय

द्वितीय उत्थान

संस्कृत-मिश्रित रासशैली

वैष्णव आन्दोलन का प्रभाव

हम पूर्व यह सिद्ध कर आये हैं कि हिन्दी के प्रारम्भिक नाटक (रास नाटक) संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहे। इसका मुख्य कारण यह था कि रास नाटकों का उद्भव ही अपभ्रंश रास नाटकों से हुआ था। दूसरा कारण यह था कि रास नाटकों के रचयिता जैनाचार्य तथा धर्मप्रचारक कविगण अपभ्रंश साहित्य से अधिक परिचित और प्रभावित होते थे, अतएव संस्कृत का उन पर प्रभाव नहीं पड़ता था। इन कारणों के अतिरिक्त देश की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था भी संस्कृत-प्रचार के अनुकूल न थी। इस प्रकार रास नाटकों का यह क्रम न्यूनाधिक तीन शताब्दियों तक अपभ्रंश साहित्य के साथ-साथ चलता रहा, किंतु पन्द्रहवीं शताब्दी में एक नया धार्मिक आन्दोलन खड़ा हो गया जिसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण देश वैष्णव धर्म के नूतन आन्दोलन से आलोड़ित हो उठा था। वैष्णव मन्दिरों का निर्माण और मूर्ति-पूजा के विविध उपचार होने लगे। श्री मद्भागवत और रामायण का पठन-पाठन सर्वत्र होने लगा था। वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए साधु-महात्मा गांव-गाँव भ्रमण करने लगे। कथा-कीर्तन

का प्रचार होने लगा। इस कारण संस्कृत के अध्ययनाध्यापन के साधन संकलित होने लगे। जनता भी भजन-पूजन के लिए उत्सुक हो उठी। स्थान-स्थान पर कीर्तन होने लगे। वैष्णव-भक्त संस्कृत पद्यावली संयुक्त गेय पदों की रचना करने लगे। देशी भाषा की रचना में अपभ्रंश के स्थान पर संस्कृत के तत्सम, अर्द्धतत्सम शब्दों का प्रयोग चल पड़ा। हिन्दी में महाकाव्यों की रचना होने लगी।

इस नव जागरण काल में वैष्णव-मन्दिरों में कृष्णरास, (एकांकी नाटक) का प्रदर्शन होने लगा था। इसके पूर्व तेरहवीं शताब्दी से जैनाचार्य अपने धर्म-प्रचार के लिए जैन-रास की रचना करते आ रहे थे। अब वैष्णव महात्मा भी भक्तों के लिए कृष्ण-रास की रचना करने लगे थे। जैन रास में नृत्य का अभाव हो चला था, और अभिनय के योग्य रास के स्थान पर अपभ्रंश 'चरिऊ' की शैली पर बृहत् रास केवल पठन और श्रवण के लिए विरचित होने लगे थे। ऐसे समय में कतिपय विद्वानों को देश-काल और जनरुचि के अनुकूल कथावस्तु, भाषा तथा शैली का ध्यान रखकर पूर्ण नाटक रचना की प्रेरणा हुई। हम पूर्व कह आये हैं कि जनता वैष्णव धर्म की ओर आकर्षित हो रही थी, अतएव कथावस्तु के लिए रामायण और भागवत से सामग्री लेनी उचित प्रतीत हुई। वैष्णव धर्म के प्रचार से संस्कृत शब्दों का व्यवहार होने लगा था, अतएव जनभाषा तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों के सम्मिलन से निखरने लगी। उपर्युक्त दोनों समस्याओं को सुलझा लेने पर शैली का प्रश्न सम्मुख आया। शताब्दियों से नाटक की रास शैली से परिचित जनता सहसा संस्कृत शैली अपनाने को सन्नद्ध कैसे होती। रास के गेय पदों में संगीत और नृत्य का जो आकर्षण जनता को मिलता था

वह शुष्क गद्य में कहाँ उपलब्ध होता। उस काल के दूरदर्शी विद्वान् नाट्यकारों ने इस रहस्य को समझ लिया था। अतएव संस्कृत नाटकों से प्रभावित होने पर भी उन नाट्यकारों ने रास शैली पर छन्दोबद्ध नाटकों की ही रचना की।

इस मत को प्रमाणित करने के लिये आलोच्यकाल के नाटकों का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है। हिन्दी के पूर्ण नाटक हमें विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उपरान्त प्राप्त होते हैं। अद्यापि प्रकाशित तथा अप्रकाशित नाटकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है।

रामायण महानाटक

रामायण महानाटक की रचना संवत् १६६७ विक्रमी में हुई। इस नाटक में भगवान राम का सम्पूर्ण चरित दोहा-चौपाइयों में में विरचित है। रामकथा संवाद द्वारा वर्णित है। नाटक-रचना का उद्देश्य कवि अन्त में इस प्रकार लिखता हैं।

रामचरित जो कहै बखाना। बाढ़ै धर्म पाप होए हाना॥
अरु जो सुनै श्रवन चित लाई। सो जमपुर के निकट न जाई॥
... ...
नारद बालमीक दुर्वासा। तिन्हूँ राम नाम की आसा॥

हनुमन्नाटक

दूसरा नाटक कवि हृदयराम कृत हनुमन् नाटक है। इसका रचना-काल संवत् १६८० वि० है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद है, किन्तु हम इस मत से सहमत नहीं है। कारण यह है—

१. संस्कृत के हनुमन्नाटक से केवल ३८ छंदों में भाव-साम्य

मिलता है। हिंदी हनुमन्नाटक[1] में कुल ११८३ छंद है। ११८३ छंदों में केवल ३८ छंदों का भावसाम्य नगण्य ही है।

२. संस्कृत हनुमन्नाटक में नान्दी सूत्रधार मिलते हैं, किन्तु हिंदी हनुमन्नाटक में इनका कहीं पता नहीं।

३. वस्तु-संविधान में दोनों नाटकों में अन्तर है। संस्कृत नाटक में परशुराम के शान्त होने पर रामविवाह सम्पादित होता है, किन्तु हृदयराम जी ने विवाह के उपरान्त अयोध्या के मार्ग में परशुराम के साथ लक्ष्मण का वाद-विवाद दिखाया है। इसी प्रकार मूल के छठे अंक में हनुमान का लंका-दाह अत्यन्त संक्षेप में मिलता है, किन्तु हिंदी में उसका वर्णन ८ छन्दों में विस्तार के साथ किया गया है। एक ही छंद में प्रश्नोत्तर दिखा कर हृदय राम ने अपनी संवाद-योजना का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए देखिए :—

कौन है रे कपि हौं रे, कौन कपि ? हनुमान,
काको सुत ? बूझ नीके अंजनी को पूत हौं।
कौन काज बाग तोर दार्‌यो सुत मार्‌यो मेरो ?
भूख लागी तोरयो अरि मारवे को भूत हौं॥
मेरे आगे सूर है कहावत कहाऊँ क्यों न ?
तोसो गिरि तोरिबे को बज्र पुरहूत हौं।
क्यों है लंक आयो ? रघुवीर है पठायो
कछु लागत है ? सेवक हौं दूतन को दूत हौं॥[1]

---

१. हनुमन्नाटक के चौदह अंकों में छंद संख्या क्रमशः इस प्रकार है, १५, ८८, १०६, १६, ६४, ११६, ३४, ११६, १२६, ६२, ६६, ५८, १११, १३३। कुल संख्या ११८३।

१. हनुमन्नाटक—भारत जीवन प्रेस, काशी, पृष्ठ १७१, ७२।

४. इसी प्रकार मूल संस्कृत में सागर और राम का वार्त्तालाप बाल-चापल्य सा प्रतीत होता है, किन्तु हिन्दी में वही संवाद गम्भीर और सजीव है।

५. मूल के दसवें अंक में रावण और सीता का संवाद मिलता है, किंतु हिंदी में उसका कहीं लेशमात्र संकेत भी नहीं।

इस प्रकार वस्तु-संविधान, संवाद-योजना आदि कई बातों में इतना अन्तर है कि हिंदी नाटक को न तो संस्कृत का अनुवाद कह सकते हैं न रूपांतर। हृदयराम जी ने अंकों का संविधान अवश्य संस्कृत नाटक के अनुसार किया है। इस कारण इसका भी नाम हनुमन्नाटक रख दिया है।

समयसार नाटक

तीसरा नाटक बनारसी दास कृत समयसार है, जिसकी रचना संवत् १६६३ विक्रमी में आगरे में हुई। नाट्यकार इसकी कथा के स्रोत के सम्बन्ध में स्वय लिखता है[1]—

अब यह बात कहूँ है जैसे, नाटक भाषा भयौ सु ऐसे।
कुन्द-कुन्द मुनि मूल उधरता, अमृत चन्द टीका के करता ॥२१॥

समय सार नाटक सुख दानी, टीका सहित संस्कृत बानी।
पंडित पढ़ें सुदिढ़ मति बूझै, अलपमती कौ अरथ न सूझै ॥२२॥

सोरह सौ तिरानवा बीतैं, आसो मास सित पच्छ विनीते।
तिथि तेरस रविवार प्रवीना, ता दिन ग्रंथ समापत कीना ॥३७॥

यद्यपि अमृतचन्द के 'कलश' के आधार पर इस नाटक की रचना हुई है, किन्तु कलश और नाटक की तुलना करने से दोनों

---

१. समय सार नाटक—प्रकाशक ब्रह्मचारी नन्दलाल दिगम्बर जैन ग्रंथमाला मिराड, ग्वालियर वि० संवत् २००७ पृष्ठ ६०८, ६१४।

में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। नाट्यकार ने अपने दृष्टि-कोण के अनुसार मूल भाग में परिवर्त्तन और परिवर्द्धन कर दिया है। उदाहरण के लिए "कर्त्ता, कर्म, क्रिया द्वारा" प्रसंग को लीजिए। मूल के ५४ श्लोकों का अनुवाद २६ छंदों में किया गया है किंतु "बंध प्रसंग" के १७ श्लोकों को विस्तृत करके ५८ छंदों में लिखा गया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने प्राकृत ग्रंथ का नाम केवल 'समय सार' अथवा 'समय पाहुड़' दिया है, किन्तु अमृत-चन्द्राचार्य ने अपनी संस्कृत टीका में "इति ह पूर्व रंगः समाप्तः" "इति समय सार व्याख्यायामात्मख्यातौ प्रथमोंकः" आदि संकेतों के द्वारा इसको नाटक उपाधि प्रदान की। उसी के आधार पर बनारसीदास जी ने इसे नाटक माना। अन्यथा इसमें कहीं भी संवाद-योजना नहीं मिलती।

चंडी चरित्र

समय सार के उपरान्त हमें गुरुगोविंद सिंह विरचित 'विचित्र नाटक' या 'चंडी चरित्र' उपलब्ध होता है। गुरु जी ने इस विचित्र नाटक में तत्कालीन विरचित नाटकों को अनुपयोगी बताकर उनकी निंदा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वीररस के नाटकों का अभाव था और गुरु जी औरंगजेब से युद्ध करने के लिए वीरों की सेना संकलित करने में संलग्न थे। अतएव उन्हें वीररस का नाटक लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। गुरु तेगबहादुर के बलिदान पर वह स्वयं लिखते हैं[1] :—

---

१. श्री गुरु गोविन्द सिंह जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र : प्रकाशक द यूनाइटेड सिक्ख मिशनरी सोसाइटी, मथुरा, सन् १९३५ ई० पृष्ठ ४३।

धर्म हेत साका जिन कीया। सीस दिया पर सिर्र न दीया॥
नाटक चेटक किये कुकाजा। प्रभु लोगन कह आवत लाजा॥१४॥

गुरु जी ने वीर रस का जो नाटक लिखा उसमें चंडी का चरित्र है। जैसा इसका विषय है, वैसी ही प्राण-संचारिणी इसकी भाषा भी है। उदाहरण के लिए देखिए :[1]—

नमो चक्र पाणं। अभूतं मयाणं।
नमो उग्र दाढ़ं। महा गृष्ट गाढं॥१६॥
नमो तीर तोपं। जिनै शत्र घोपं॥
नमो घोप पट्टं। जिनै दुष्ट दट्टं॥१७॥

प्रबोध चन्द्रोदय

इस संस्कृत नाटक के अनेक अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होते हैं। इसका प्रथम अनुवाद महाराज यशवंत सिंह ने संवत् १७०० वि० के आस-पास किया। इस अनुवाद में मूल श्लोक का अनुवाद पद्य में और गद्य का अनुवाद गद्य में किया गया। इस अनुवाद के २६ वर्ष बाद ही अनाथदास जी ने इसका समस्त अनुवाद छन्दोबद्ध रूप में किया। यहाँ तक कि रंगमंच के संकेत भी कवितावद्ध बन गए। महाराज यशवंत सिंह के उपरांत आलोच्यकाल में जितने भी अनुवाद[2] हुए वे सभी छंदोबद्ध रूप में मिलते हैं।

---

१. विचित्र नाटक (द युनाइटे सिक्ख मिशिनरी सोसाइटी मथुरा) पृ० ३११

२. प्रबोध चन्द्रोदय के अनुवाद :
   १. जन अनन्य कृत—रचना काल अज्ञात
   २. सुरति मिश्र कृत—रचना काल संवत् १८०० वि०
   ३. ब्रजवासीदास कृत—रचना काल १८१६ वि०
   ४. आनन्द कृत "नाटकानन्द" रचना काल संवत् १८४० वि०

शकुन्तला नाटक

कविवर नेवाज ने कालिदास के शकुन्तला का अनुवाद संवत् १७२७ विक्रमी में किया। समस्त अनुवाद दोहा चौपाई में मिलता है। रंगमंच के संकेत भी पद्य में ही मिलते हैं। उदाहरण के लिए दुष्यन्त के दर्शन से शकुन्तला और सखियों की दशा का वर्णन देखिए :—

निरखि नृपहि बिन मोल बिकानी। तीनों छकीं डरीं अकुलानी॥
ठाढ़ी रहि न सकीं नहिं डोलें। जकि सों रहीं कछू नहीं बोलें॥
अनुसूया तब मन दृढ़ कीन्हों। महाराज को उत्तर दीन्हों॥

मूल और अनुवाद में कथानक के अतिरिक्त बृहद् अन्तर है। मूल में सात अंक हैं, किन्तु अनुवाद में केवल चार। मूल के विष्कम्भक और प्रवेशक का अनुवाद में चिह्न भी नहीं। एक ही अंक में भिन्न-भिन्न स्थानों पर घटित होने वाली घटनाएँ पट-परिवर्तन के बिना ही दिखाई गई हैं। उदाहरण के लिए तीसरा अंक देखिए। इस अंक का प्रारम्भ दुष्यन्त के प्रस्थान के कारण शकुन्तला के विरह-वर्णन से होता है। तदुपरांत दुर्वासा का शाप, कण्व का आशीर्वाद, शकुन्तला के विदा का वर्णन मिलता है। इसके पश्चात् दुष्यन्त के पास जाने का वर्णन इसी अंक में इस प्रकार दिखाया गया है। "चलत-चलत पतिपुर नगिचायो"।* शकुन्तला शिष्यों के सहित दुष्यन्त की राजसभा में पहुँच जाती है। शकुन्तला और राजा का प्रश्नोत्तर कथा† रूप में वर्णित है। तदुपरान्त शकुन्तला का मेनका का पृथ्वीलोक से ले जाना,

---

* कवि नेवाज कृत शकुन्तला उपाख्यान अंक तीसरा।

† विदा होत तुम दई अँगूठी। यातें हौं हुइहौं नहि झूठी।
और भेद अब कहा बतावौं। वहै अँगूठी कहो दिखावौं।

पुरोहित का राजा को सूचना देना, राजा का अज्ञात कारण से खिन्न रहना कथारूप में मिलता है। शकुन्तला नाटक की शेष सम्पूर्ण घटनाएँ चौथे अंक में दिखा दी गई हैं और नाटक का अन्त इन शब्दों के साथ किया गया है :

"इति श्री शकुन्तला नाटक कथा चतुर्थांक सम्पूर्णम्।"

सभासार नाटक

सभासार नाटक के रचयिता अहमदाबाद निवासी श्री रघुराम नागर हैं। उदयपुर राज्य के "सरस्वती भंडार" में उपलब्ध प्रतिलिपि पर रचना काल संवत् १८१६ वि० मिलता है, किन्तु नाटक का रचना-काल संवत् १७५७ विक्रमी है। लेखक ने इस नाटक की रचना का उद्देश्य इस प्रकार बताया है :

ज्यों सब संगति जानिये, प्रभु सों कहो पुकार।
सकल सभा वर्णन कहूँ, नृपति आदि निरधार ॥६॥
सब लछिन पहले सुनो, पुन्य सुसंगति पाई।
मन चंचलता जानि जग, नीच संग न सुहाई ॥७॥

तदुपरान्त भले बुरे की पहचान के लक्षण बताये गए हैं। इस नाटक में विविध व्यक्तियों के धर्म-कर्म का वर्णन मिलता है। व्यक्तियों की विस्तृत नामावली में राजा, कपटी, बेवकूफ, गाफल, चोर, सभाचतुर, सभा-बिगार, मुनसी, उम्रदाता, विवेकी दाता, लबार दाता, कलि के दाता, खबीस दाता, सूम, लालची, कुकवि,

---

... ...

जो मैं लखन अंगूठी पाऊँ। तो मैं तुमहि सांच ठहराऊँ।
कर मैं तब न अँगूठी पाई। हाय हाय तिहि ठौर मचाई।
नेवाज कृत शकुन्तला तीसरा अँक।

सूर, कवि, कायर, सदरी मीत, अधीर, लड़ाका, मसखरा, चुगल, ठग, नारी, परोपकारी, दुष्ट, महादुष्ट, दगाबाज, सत्यवादी, खुशामदी, मूरख, पोस्ती, उद्धत, विरही, गुंडा, नास्तिक, आस्तिक, मसखरा आदि विविध प्रकार के मनुष्यों का वर्णन मिलता है।

करुणाभरण

इस नाटक के रचयिता कृष्णजीवन लछीराम हैं। इसका रचना-काल, उदयपुर के सरस्वती भंडार में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति पर, इस प्रकार अंकित है—"महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंह जी लिखाविता। भट्ट कृष्णदासेन लिखिता संवत् १७७२ वर्ष कार्त्तिक वदि कृष्ण ५ गुरुवारे॥ शिवमस्तु सर्व जगत।" संपूर्ण नाटक सात अंकों में समाप्त होता है। अंकों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं :—राधा-अवस्था, व्रजवासी-अवस्था, सत्यभामा-अवस्था, राधा-मिलन, नित्यबिहार तथा अद्वैत अङ्क। कथानक का आधार है कुरुक्षेत्र में श्री कृष्ण और गोप-गोपियों का पुनर्मिलन। सूर्यग्रहण के अवसर पर श्री कृष्ण जी द्वारिका से और गोपी-गोप व्रज से कुरुक्षेत्र पधारे हैं। वहीं सब का मिलन होता है। नाट्यकार ने नाटक का उद्देश्य प्रारम्भ में इस प्रकार बताया है :‡

प्रेम बढ़े मन निपट ही, अरु आवे अति रोइ।
करुना अरु सिंगार रस, जहाँ बहुत करि होइ॥
लछीराम नाटक कर्‌यो, दीनी गुननि पठाइ।
भेष रेष नर्तन निपुन, लाए नरनि सधाइ॥
सुरद मंडली जोर तहां, कीनो बड़ो समाजु।
जो उनि नाच्यो सो कह्यो, कविता में सुख साजु॥

---

‡ करुणाभरण नाटक :—कृष्ण जीवन लच्छीराम (पहला अंक) राधा अवस्था अंक।

इस नाटक में भी संवाद तथा घटनाएँ, प्रबन्ध काव्य की शैली में दिखाई गई हैं। उदाहरण के लिए देखिए—§

तब राधा ऐसी कही, तो वृन्दावन जाऊँ।
के नित संग विहरूँ तहाँ, के ह्यां सरहि सुसाउँ ॥५४॥
एवमस्तु हरि जू कह्यो, तब आई सर तीर॥
श्री रुकमनि सुख पाइ के पहिराए नव चीर॥५५॥

उपर्युक्त नाटकों की रचना विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में माधवविनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला बिहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, नहुष नाटक, तथा आनन्द रघुनन्दन नाटक की रचना हुई। इन नाटकों में केवल 'माधव विनोद' ऐसा है जो संस्कृत "मालती माधव" का पद्यबद्ध अनुवाद है। शेष सम्पूर्ण नाटक मौलिक हैं और रामचरित तथा कृष्ण चरित के आधार पर विरचित हैं।

१७वीं से १६वीं शताब्दी तक विरचित उपर्युक्त पन्द्रह नाटकों में छः नाटक रामचरित सम्बन्धी, तीन नाटक कृष्ण-चरित सम्बन्धी, एक दुर्गा सम्बन्धी, तीन नाटक प्रतीकात्मक हैं, एक नीति सम्बन्धी है। केवल शाकुन्तला और माधव-विनोद ऐसे नाटक हैं जो धार्मिक नहीं।

इन दोनों नाटका की रचना में नाट्यकार को ग्रंथ-निर्माण की प्रेरणा अपने अन्तःकरण से नहीं हुई है, प्रत्युत् आश्रयदाताओं की रुचि का इसमें प्राधान्य है। नेवाज ने शाकुन्तला नाटक अपने आश्रयदाता आजमशाह के प्रोत्साहन से लिखा और सोम-

§ करुणाभरण नाटक : कृष्ण जीवन लच्छीरामः (छटा अंक) छन्द ५४, ५५।

नाथ ने भरतपुर के राजकुमार प्रतापसिंह की प्रेरणा से 'मालती माधव का' अनुवाद किया।

इस प्रकार यदि शकुन्तला और माधव-विनोद को पृथक् कर दिया जाय तो शेष समस्त नाटक वैष्णव धर्म के प्रभाव से प्रभावित भक्त नाट्यकारों की अन्तःप्रेरणा से विरचित प्रतीत होते हैं। इन नाटकों की रचना का उद्देश्य नाट्यकारों ने भगवान की भक्ति ही माना है। उदाहरण के लिए हनुमन्नाटक को देखिए—

शुभ लच्छन दच्छन सुदेस कविराम विचच्छन।
कृष्णदासतनु कुल प्रकास जस दीपक रच्छन।

रघुपति चरित्र तिन यथामति प्रगट कह्यो शुभलगन गणि॥
दे भक्तिदान निर्भय करहु जय रघुपति रघुवंश मणि॥‡

हम पूर्व कह आए हैं कि वैष्णव धर्म के नव जागरण का प्रभाव हिंदी नाट्यकारों पर इतना पड़ा कि वे रामकृष्ण के चरित से कथावस्तु का संविधान करने लगे। यद्यपि रास की शैली पर सम्पूर्ण नाटक छन्दोबद्ध होते रहे, किन्तु वस्तु-संविधान संस्कृत-पद्धति के अनुसार अंकों में विभाजित होने लगा। अङ्क शब्द के अतिरिक्त संस्कृत नाट्यशास्त्र का अन्य कोई बन्धन एक के अतिरिक्त किसी नाट्यकार को मान्य न हुआ। इस आलोच्य काल में एक ही नाट्यकार ऐसा है जिसने संस्कृत नाट्यशास्त्र के समग्र नियमों का पालन अपने अनूदित नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में करना चाहा है। कृष्णमिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद महाराज यशवन्तसिंह ने मूल के अनुसार ही किया है। इस कारण श्लोक का अनुवाद पद्य में और गद्य का अनुवाद गद्य में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि

‡ हनुमन्नाटक : कविराम—प्रकाशक-भारत जीवन काशी, पृष्ठ ४२७

महाराज यशवन्तसिंह संस्कृत-शैली पर हिन्दी-नाटकों का निर्माण देखना चाहते थे। उन्हें रास-शैली पर किसी नाटक ग्रंथ को आद्योपान्त छन्दोबद्ध रूप में विरचित करना रुचिकर नहीं प्रतीत होता था। किन्तु उनकी यह नवीन शैली उन्हीं तक सीमित रही। तीन सौ वर्षों में किसी अन्य नाट्यकार ने उस शैली पर नाट्य-रचना नहीं की। इससे यही प्रमाणित होता है कि रास-शैली जनता में इतनी प्रिय बन चुकी थी कि संस्कृत शैली पर विरचित-नाटकों का कोई मूल्य ही नहीं था। यही कारण है कि हिन्दी-नाटकों में संस्कृत-शैली का पूर्ण प्रभाव इस काल के उपरांत ही मिलता है।

संस्कृत-शैली पर विरचित बीसवीं शताब्दी के नाटकों का विवेचन करने के पूर्व उन समालोचकों का शंका-समाधान करना आवश्यक है जो उपर्युक्त छन्दोबद्ध नाटकों को नाटक न मानकर प्रबन्ध-काव्य की कोटि में परिगणित करते हैं।

ब्रजभाषा के द्वितीय उत्थान के इन नाटकों को कुछ समालोचक नाटक कहना भी उचित नहीं समझते इन्हें 'प्रबन्ध-काव्य, की कोटि में रखते हैं‡। यह विषय अति विवादास्पद बन गया है कि हनुमन्नाटक आदि हिंदी के नाटक काव्य की कोटि में आते हैं अथवा नाटक की श्रेणी में।

सर्व प्रथम विचारणीय बात यह है कि क्या आज से तीन शताब्दी पूर्व नाटक का वही तात्पर्य समझा जाता था, जो आज ड्रामा से माना जा रहा है? आज ड्रामा का क्या अर्थ है? आज ड्रामा कहते ही हमारे नेत्रों के सम्मुख आधुनिक प्रणाली से सुसज्जित रंगमंच पर अभिनेय वह खेल आता है, जिसके

‡ हिंदी नाटक-साहित्य का इतिहास... डा० सोमनाथ गुप्त, हिंदीभवन प्रयाग, पृष्ठ ७।

कथानक में मानस-धनुष की भावना-प्रत्यंचा को इतना तनाव देने की शक्ति होती है कि कुतूहल का बाण सनसनाता हुआ हृदय को चीरकर निकल जाता है। अर्थात् कौतूहल, विस्मय और सनसनी पहुँचाने वाले कथानकों से पूर्ण मनोहारी अभिनय दिखाने वाले खेल ड्रामा कहलाते हैं।

सम्भव है ड्रामा का यह अर्थ अद्यतन न रह गया हो। ड्रामा का रूप जनता की रुचि के साथ-साथ बदलता रहता है और जनरुचि काल के चक्र के साथ-साथ चलती रहती है; वह स्थायी नहीं रहती। यदि जनरुचि स्थायी नहीं तो नाटक के स्वरूप भी स्थायी कैसे हो सकते हैं?

यह स्थिति केवल हमारे ही देश में नहीं, संसार के अन्य देशों में भी पाई जाती हैं। गत शताब्दी के मध्य तक शेक्सपियर के नाटक आदर्श माने जा रहे थे, किन्तु अब उनका वह महत्व संशयात्मक बन गया है। बर्नाड शा ने लिखा है:—

"शेक्सपीयर की गहराई की अब चर्चा करना निरर्थक है। उसमें संगीत के अतिरिक्त कुछ अब रह नहीं गया है। 'पियर जिट' के सामने 'हैमलेट' बेरीढ़ की मूर्ति है, 'नौरा हेल्मर' के सामने 'हमोजेन' खिलौना-मात्र और 'जूपिलन' के सामने 'ओथेलो' इटालियन अपेरा की परम्परा-मात्र है[1]।

उपर्युक्त उद्धरण यह प्रमाणित करता है कि अंग्रेजी नाटकों का रूप तीन सौ वर्षों में इतना बदल गया है कि वे प्रसिद्ध नाटक जिनको शेक्सपीयर की अमर कृति माना जाता था, आधुनिक युग में 'संगीत मात्र' कहे जाने लगे हैं। इसी प्रकार यदि हिन्दी के प्राचीन नाटकों को आज केवल नाटक-

---

१. नई धारा: पृष्ठ २५ "बर्नाड शा अंक"

कीय काव्य (ड्रामेटिक पोइटरी)[२] कहा जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। आधुनिक नाट्यकला की कसौटी पर प्राचीन नाट्यकारों की कृतियों को कसना उन्हें न्याय से वंचित रखना है। किसी भी कलाकार को आज की समृद्ध कला के दृष्टिकोण से देखने से उसका समुचित मूल्यांकन न हो सकेगा। काल, स्थान और परिस्थिति को सम्मुख रखकर किसी कलाकार की कला का मूल्यांकन करना ही उचित है। एतदर्थ उन नाटकों के देश काल और परिस्थिति को सामने रखकर उनके नाटकत्व की परख करनी चाहिए।

हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाटकों को नाटक न मानने वाले विद्वानों की प्रथम युक्ति यह है कि ये नाटक पद्यबद्ध हैं, और पात्रों का वार्तालाप पद्य में होता है, जो अस्वाभाविक है हमारा मत यह है कि पद्यबद्ध संवाद को इसी कारण तो हेय और अनुपयोगी समझा जाता है कि इससे नाटक में अस्वाभाविकता आ जाती है। किन्तु पद्य के कारण न तो नाटक में अस्वाभाविकता आती है और न अस्वाभाविकता के कारण नाटक नाटक नहीं रह जाता। सत्य तो यह है कि नट की क्रिया का नाम नाटक है। इसलिए नाटक का मुख्य लक्षण है क्रियाशीलता, जिसकी अभिव्यक्ति का साधन अभिनय है। अतः अभिनय नाटक का प्राण है। अब रही भाव व्यक्त करने की बात। कोई कवि पद्य शैली में अपने आशय को भली प्रकार प्रगट कर सकता है और कोई गद्य द्वारा। जैसे बाणभट्ट का अधिकार गद्य पर अधिक था, उसने गद्यमय काव्य लिखे। इसी प्रकार यूनानी नाटककारों तथा शेक्सपीयर ने ब्लैंक वर्स में रचना की, किन्तु पद्यबद्ध होने से उनका नाटकत्व तो नहीं नष्ट हो जाता।

---

२. हिन्दी-नाटक-साहित्य का इतिहास : डा० सोमनाथ गुप्त, हिंदी भवन प्रयाग, पृष्ठ ७।

एक बात को विस्मृत नहीं करना चाहिए। ३०० वर्षों—सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक—अंग्रेजी में जितने नाटक लिखे गये वे प्रायः पद्यबद्ध थे। फिर हिन्दी ही के नाटकों पर क्यों आपत्ति उठाई जाती है?

शकुन्तला नाटक का अनुवाद भी जब नेवाज कवि करने लगे तो उन्होंने गद्य को भी पद्य में परिणत कर दिया। यहाँ तक कि रंगमंच के संकेत भी पद्यबद्ध होने लगे। उनका शकुन्तला नाटक पद्यमय है, गद्य का उसमें नाम तक नहीं।

विचारणीय विषय यह है कि अनूदित नाटकों में भी पद्य-पद्धति का कारण क्या था। इस परिवर्तन का कारण ढूँढ़ने के लिए तत्कालीन जन-नाटकों, रास और स्वांग, की प्रवृत्तियाँ समझ लेनी चाहिए। उस युग[1] में लिखे जाने वाले नाटकों में गद्य भाग और संवाद-चमत्कार घटते-घटते न्यूनतम एतदर्थ उपेक्षणीय बन गये थे। पाँच-छः शताब्दियों तक जन नाटक केवल संगीत-मय होते रहे।

"The prose and the dialogue are thereby reduced to a minimum and the little that remains of them loses all dramatic quality for the simple reason that everything of importance is expressed in verse."

उपर्युक्त उद्धरण से दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो तत्कालीन मनोवृत्ति पद्य की ओर झुकी हुई थी, दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि जो प्रणाली एक काल में अस्वाभाविक मानी जाती है वही दूसरे काल में स्वाभाविक समझी जा सकती है। फिर स्वाभाविकता का नित्यरूप क्या हुआ? जो कुछ एक व्यक्ति के

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर बाई डा० दासगुप्ता, पृ० ४४५।

लिए स्वाभाविक है वही दूसरे के लिए अस्वाभाविक, कृत्रिम। इतना ही नहीं जो कुछ एक व्यक्ति के लिए एक समय स्वाभाविक है वही उसी व्यक्ति के लिए दूसरे अवसर पर अस्वाभाविक हो सकता है। नाटककार विभिन्न पात्रों की रुचि का ध्यान रखकर उसके अनुकूल संवाद की योजना करता है। इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर टी. एस. इलियट ने एक पात्र के मुख से यह सिद्धांत प्रमाणित किया है कि :—

"The human soul, in intense emotion strives to expressa itself in verse."

दूसरा पात्र कहता है :—

"All poetry tends towards drama, and all drama toward poetry."‡

इसलिए किसी नाटक को छन्द-बाहुल्य के कारण नाटक न कहना समुचित नहीं प्रतीत होता।

दूसरा आक्षेप यह है कि हिन्दी के प्राचीन नाटकों में क्रियाशीलता नहीं है। यह आक्षेप नितान्त निर्मूल है। व्याख्यान दो प्रकार का हो सकता है, साभिनय और अभिनयशून्य। साभिनय व्याख्यान ही नाटक है। क्या अभिनय को ग्रंथों में दिखाया जा सकता है? भवभूति के उत्तररामचरित में क्रियाशीलता की मात्रा अत्यल्प है तो क्या वह नाटक नहीं है? उस पर इतना ही दोष लगाया जा सकता है कि क्रियाशीलता की कमी है किन्तु उसे नाटक ही न मानना क्या उचित है?

तीसरा लांछन है कि संस्कृत से अनूदित होने पर भी ये नाटक नान्दी, प्रस्तावना तथा भरतवाक्य आदि नाटकीय नियमों का परि-

‡ Problems of the Drama, page 26.

पालन नहीं करते। इसका उत्तर तो स्पष्ट है। यह तो हिन्दी की मौलिकता है कि उसने प्राचीन सभी बन्धनों से अपने को मुक्त रखा है। ये नाटक संस्कृत की शैली का अनुसरण करते ही कब हैं? ये नाटक संस्कृत के नियमों की दासता मानते ही नहीं, यही स्वतन्त्रता तो हिन्दी-नाटकों का अलंकार रहा है। यह नाटक साहित्य उस अन्तर्वर्त्तिनी जनधारा से निकला है जो आदिकाल से स्वतन्त्र और अबाध गति से बहती चली आ रही है।

चौथा आरोप है कि ये नाटक जनता से इतने दूर रहते हैं कि उनमें जनजीवन के रोग की ओर संकेत और उनके निदान तथा उपचार का कहीं पता ही नहीं अर्थात् ये नाटक अपने उद्देश्य से दूर जलती हुई विश्वज्वाला की शान्ति का प्रयास न करके वास्तविक उद्देश्य से दूर रहकर जगती से उदासीन संन्यासी के समान देवस्त्रोत्र करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें न मानवता की सुधि है न सांसारिकता की परख। वे तो देवता अथवा अति मानव के गुणगान में मग्न हैं। अतएव इन नाटकों को देव-स्तोत्र क्यों न कहा जाय?

इसका उत्तर यह है कि यदि देवता-सम्बन्धी नाटकों को देव-स्तोत्र कहा जाता है तो मनुष्य-सम्बन्धी-नाटकों को मनुष्य-स्तोत्र क्यों न कहा जाय? यदि मनुष्य-स्तोत्र नाटक कहे जा सकते हैं तो वे देवस्तोत्र नाटक क्यों न कहे जायं? मनुष्य-स्तोत्रों को नाटक इसीलिए तो कहते हैं क्योंकि वे अभिनयशील हैं इसी प्रकार देव-स्तोत्र में अभिनय विद्यमान होने से वह भी नाटक नहीं तो और क्या है? देवस्तुति और मानवस्तुति जनता की रुचि के अधीन होती है। उस युग में जनरुचि देवस्तुति की ओर थी किन्तु आज की जनरुचि मानव-प्रशंसा की ओर है।

इसलिए हमारा यह मत है कि हिन्दी के प्रथम उत्थान की कृतियाँ, जिनका उल्लेख किया गया है, हिन्दी के मौलिक नाटक हैं। ऐसी कोई युक्ति नहीं प्रतीत होती, जिससे इनको नाटक न माना जाय।

उपसंहार

हम सिद्ध कर आये हैं कि रामायण महानाटक से प्रद्युम्न-विजय तक विरचित नाटकों में केवल महाराज जसवन्तसिंह-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' संस्कृत नाटक का अनुवाद है, शेष नाटक न तो संस्कृत के अनुवाद हैं, न उनकी शैली पर लिखे गये हैं। संस्कृत-नाटकों का नाम-साम्य और यत्र-तत्र भाव-साम्य इनमें अवश्य पाया जाता है किन्तु इनके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों से इनमें इतना अधिक वैषम्य उपलब्ध है कि इनकी सृष्टि संस्कृत नाटक की परम्परागत शैली के आधार पर मानी ही नहीं जा सकती। संस्कृत-नाटकों की तरह नाम और कथावस्तु का कारण भी रहा होगा। संस्कृत-परम्परा में परिपालित विद्वानों को जन-नाटक शैली के नाट्य-साहित्य का रसास्वादन कराने के उद्देश्य से संस्कृत-नाटकों का नाम तथा कथावस्तु रखना कदाचित् अधिक उपायोगी समझा गया होगा। जिस प्रकार तुलसी ने संस्कत के विविध ग्रंथों के सारभूत काव्य 'रामचरित मानस' द्वारा हिंदी-जगत को ऐसा ग्रन्थ दिया जो संस्कृतविद् तथा साधारण जनता दोनों में प्रचलित हुआ, उसी प्रकार 'हनुमन्नाटक', 'समयसार', 'प्रबोध-चन्द्रोदय' आदि नाटक दोनों वर्गों को मान्य और कल्याणकारी सिद्ध हुए। संस्कृत के विद्वानों को हिन्दी-नाटकों में संस्कृत-नाटकों का कथानक देकर आकर्षित करना सहज था और रास-शैली द्वारा जन-साधारण को इनका अभिनय दिखाना

सम्भव था। इन नाटकों के द्वारा संस्कृत और भाषाविद् जनता को समीप लाना भी सम्भव था। बनारसीदास जी ने अमृत-चन्द्राचार्यकृत समयपाहुड़ के गूढ़ कलश को समझने वाले संस्कृत-विद्वानों तथा समयसार पढ़ने वाले हिन्दी-भाषा-भाषियों को सुलभ रीति से नाटक का रसास्वादन कराया। समस्त जनता को विविध संस्कृत-नाटकों का सार जन-नाटक शैली के पात्र में रखकर रसास्वादन कराने का पुनीत प्रयास इन नाट्यकारों की मौलिकता का परिचायक है। इसका प्रमाण आलोच्य नाटक से उद्धृत किया जा सकता है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' के प्रारम्भ में नाट्य-कार लिखते हैं:—

बोधचन्द्र के उदय को, नाटक सरस सुग्रन्थ।
तेहि छाया भाषा करी, प्रकट मुक्ति को पन्थ॥
कछुक रीति वाशिष्ठ की, कछु गीता की उक्ति।
कछु कछु अष्टावक्र पुनि, कहीं वेद की उक्ति॥
कहूँ भागवत को मतो, कहूँ सन्त अनुमान।
सुलभ किये सब जगत को, जानो सन्त सुजान॥
कहुँ भारत कहुँ सांख्य मत, कहुँ अपनो अनुमान।
सुलभ किये सब नरन कों, जानो जान अजान[1]॥

उपर्युक्त उद्धरण से दो बातें परिलक्षित होती हैं। एक तो यह है कि नाटकरचना में न केवल संस्कत ग्रन्थों का ही आधार है प्रत्युत 'कहुँ अपनो अनुमान' भी है। दूसरी बात यह है कि 'जान और अजान', ज्ञानी तथा अज्ञानी, संस्कृतज्ञ तथा अपढ़ सभी के लिए नाटक का मूल उद्देश्य बोधगम्य रूप में रखा गया।

---

१. प्रबोध चन्द्रोदय–महात्मा अनाथदास–(नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ) अक्टूबर १८८३ ई०

अतएव हमारा यह मत प्रतिपादित हो गया कि हिंदी के प्रारम्भिक साहित्यिक नाटक मौलिक हैं और नाटक की कोटि में आते हैं, ये काव्य अथवा ड्रामैटिक पोएट्री 'नाट्य काव्य' नहीं है। डा० सोमनाथ यह अपत्ति उठाते हैं[1] कि "सब रचनायें कविता में हैं। इनमें पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान का कोई संकेत नहीं, अंक विभाजन और दृश्य-परिवर्तन का कोई चिह्न नहीं, गति-निर्देश के लिए छंदों का सहारा लिया गया है, लेखक स्वयं अनेक स्थानों पर एक पात्र बन गया है।" उनकी यह आपत्ति निराधार है। रास-शैली की परम्परा पर ध्यान न जाने के कारण उनको यह शंका उत्पन्न हुई है। हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाट्यकारों ने जन-नाटकों की शैली अपनाई है, जिसमें कविता दोष नहीं, गुण मानी जाती है और अन्य बातें हेय समझी जाती हैं। नाटकों की कथावस्तु संस्कृत के नाटकों, धर्मग्रन्थों तथा काव्यों से लेकर जनता की रुचि को परिमार्जित किया गया है और संस्कृतज्ञ विद्वानों का ध्यान हिन्दी-नाटक-शैली की विशेषता की ओर आकर्षित किया गया है। एतदर्थ हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाट्यकारों ने देश-काल का ध्यान रखकर नाटकों द्वारा जन-रंजन तथा उन्नयन का जो स्तुत्य कार्य किया है वह विद्वद् समाज और जनसमाज दोनों के लिए कल्याणकारी था। हमारे देश में काव्यकार और नाट्यकार दोनों ही कवि हैं, कविता का प्रयोग दोनों करते हैं, अतएव छन्दोबद्ध होने के कारण नाटक श्रव्यकाव्य नहीं बन जाता। हाँ काव्य और नाटक में एक अन्तर अवश्य है।

"The drama stands away from pure poetry in that it is primarily an art-form that makes its appeal to a precise and often limited body of

---

१. हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७।

spectators. A poet may in seclusion produce his prophetic rhapsodies independently of his public: he may write more for the readers yet unborn than for the readers of his time but dramatist must always bear in mind the audience before whom he is to present his work[1]."

जिस प्रकार कवि को वर्तमान समाज की उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी भविष्य की, उसी प्रकार नाट्यकार को वर्तमान समाज की जितनी चिन्ता रहती है उतनी भविष्य की नहीं।

आलोच्यकाल के नाट्यकारों ने समाज की स्थिति को समझा। उन्होंने अनुभव किया कि पंडितसमाज जननाट्य शैली की रमणीयता से पराङ्मुख हो रहा है और साधारण जनता संस्कृत नाटकों के भाव-गाम्भीर्य से वंचित रह जाती है। अतएव ऐसे नाटकों की आवश्यकता थी जो दोनों वर्गों को रमणीय और उन्नायक सिद्ध हों।

श्री बनारसीदास, हृदयराम तथा गुरुगोविन्दसिंह प्रभृति नाट्यकारों ने युग की इस मनोवृत्ति को समझा और तदनुकूल नाटक-साहित्य का सृजन किया। यही कारण है कि आलोच्य नाटकों में भावधारा तो संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर चलती रही किन्तु शैली जननाटक की ही अपनाई गई।

---

1. Introduction to Dramatic Theory by Allardyce Nicoll M.A. page 20.

सातवाँ अध्याय

तृतीय उत्थान सम्वत् १९०० वि०

संस्कृत शैली के प्रथम हिंदी-नाट्यकार

भारतेन्दु[1] जी ने अपने नाटक नामक ग्रंथ में देवभाषा प्रपंच, प्रभावती तथा आनन्द-रघुनन्दन को सर्वप्रथम नाटक-रीति पर विरचित नाटक माना है। बाबू गुलाबराय[2] तथा बाबू ब्रजरत्नदास[3] का मत है कि आनन्द-रघुनन्दन ही हिन्दी का सर्व-प्रथम नाटक है। यह धारणा संस्कृत की नाटयशैली पर नान्दी, सूत्रधार तथा विष्कंभक आदि के कारण बनी है, अन्यथा हिन्दी का प्रथम नाटक तो रास के रूप में गीतिनाट्य हैं जो विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया था, जिसके विषय में गत अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

आनन्द-रघुनन्दन के रचयिता रीवां के महाराज विश्वनाथ सिंह हैं। इनके पिता महाराज जयसिंह साहित्य-प्रेमी और साहित्य निर्माता थे। इन्होंने प्रायः २० पुस्तकों की रचना स्वतः की थी। ऐसे साहित्यिक राज-परिवार में विश्वनाथसिंह का जन्म सम्वत-१८४६ में हुआ। इन्हें बाल्यकाल से ही अध्ययन की लगन लग गई थी। विद्वानों का सत्संग मिला, और देश-देशान्तर में भ्रमण

---

१. भारतेन्दु नाटकावली : श्याम सुन्दरदास पृ० ८३६, ३७।

२. हिंदी नाट्य विमर्ष : बाबू गुलाबराय पृ० ७६।

३. हिंदी नाट्य साहित्य : बाबू ब्रजरत्नदास पृ० ५८।

का अवसर भी प्राप्त हुआ। संवत् १८७० विक्रमी में इनकी योग्यता पर रीझ कर महाराज जयसिंह जी ने अपने जीवन-काल में ही इन्हें राजगद्दी सौंप दी। इनके दरबार में विद्वानों का स्वागत-सत्कार और भी अधिक उत्साह से होने लगा। कविता और कवियों को आश्रय मिला। दोनों को पल्लवित होने का अवसर प्राप्त हुआ। देश के विभिन्न भागों से विद्वान् आने लगे। विभिन्न प्रान्तों में विरचित साहित्य की समालोचना चलने लगी। इस काल में बंगाल अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हो चुका था और वहाँ हिन्दी भी पहुँच चुकी थी। संवत १९०० वि०में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई, जहाँ संस्कृत तथा अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी का पठन-पाठन भी प्रारम्भ हो गया। सिरीरामपुर मिशन निर्मित हो चुका था, जहाँ मुद्रण-यन्त्र के साधन से पुस्तकें प्रकाशित होतीं, और उनका प्रचार होने लगा।

संस्कृत और अंग्रेजी शिक्षा-प्रचार द्वारा भारतीय और यूरोपीय दो विचार-धारायें परस्पर टकराने लगीं। इस संघर्ष से देश में नव जागरण-काल आया। बंगाल में मिशनरी कार्यकर्त्ताओं और पंडितों के प्रयास से संस्कृत का पठन-पाठन उत्साह के साथ चल पड़ा। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता रमेशचन्द्रदत्त ने लिखा है कि :—

The conquest of Bengal by the English was not only a political revolution but involved a greater revolution in thought and ideas, in religion and Society.

बंगाल में अंग्रेजी नाट्यशाला का निर्माण

बंगला के नाटक-क्षेत्र में नई उर्वरा शक्ति क्रमशः आ रही थी। कारण यह था कि कलकत्ता नगर में बसने वाली विनोद-

प्रिय जनता ने संवत् १८१३ विक्रमी में सर्वप्रथम एक नाट्यगृह निर्माण कराया। तदुपरान्त संवत् १८३२ वि० में कलकत्ता थियेटर का निर्माण हुआ। उस समय वारेन हेस्टिंग्स और सर इ. इम्पे आदि ने एक लाख रुपये के चन्दे से उक्त रंगशाला को निर्मित कराया था। संवत् १८३७ वि०आते आते अंग्रेजी नाटकों के अभिनय का तांता लग गया। अंग्रेजी में नाटकों का बाहुल्य देखकर देश-भाषा प्रेमी विद्वानों की आँखें खुलीं। भारतीय भाषा में नाटक रचना की ओर प्रतिभाशाली लेखकों का ध्यान गया। हम पूर्व कह आये हैं कि संस्कृत का अध्ययन पुनः होने लगा था। अतः यह स्वाभाविक था कि नाट्यकार अपनी प्रचुर पितृ-नाट्य-संपत्ति को विस्मृति के गर्त से खोदकर निकालते।

इसी समय देशी भाषाओं का महत्त्व क्रमशः बढ़ने लगा था। फोर्ट विलियम कालेज में लल्लू जी लाल, मुंशी सदा सुखलाल आदि हिन्दी-ग्रंथ-प्रणयन के कार्य में संलग्न थे। स्वाभावतः विद्याप्रेमी कुँवर विश्वनाथसिंह उस साहित्य की ओर दृष्टि रखने लगे। विश्वनाथसिंह जी ने कई काव्यों की रचना की। वे स्वयं कवि थे और उनके यहाँ कवियों का नित्य समागम रहता था। कविता से मंजी लेखनी को नाटक लिखने की प्रेरणा अन्तःकरण से मिली। राजा का परिवार रामोपासक था। यह आनंद-रामायण काव्य की रचना कर चुके थे। रघुनन्दन की कथा से बढ़कर आनन्ददायिनी और कौन कथा होती; अतः उनके मानस-पटल पर जिस आनन्ददायी रघुनन्दन का चित्र खिंच गया था, उसी को नाटक के रूप में उन्होंने जनता के सामने रखा। आनन्द-रघुनन्दन से पूर्व १६ वीं शताब्दी तक राम सम्बन्धी नाटकों का प्रणयन होता रहा। किन्तु इन सभी नाटकों में संस्कृत शैली का पूर्ण रीति से अनुसरण न किया गया था।

रास की प्राचीन शैली (Technique) ही प्रधान रूप से चल रही थी। यूरुप में संस्कृत नाटकों की प्रशंसा देखकर भारतीय विद्वानों का ध्यान पुनः उनकी ओर आकर्षित हुआ। शकुन्तला-नाटक के अंग्रेजी अनुवाद का सफल अभिनय रंगमंच पर होने और उसकी सर्वत्र चर्चा फैलने से संस्कृत-नाटकों के प्रति श्रद्धा बढ़ी। बंगाल में रामनारायण तर्करत्न ने संस्कृत शैली पर बँगला में नाटकों की रचना प्रारम्भ कर दी थी। ऐसे पुनरुत्थान के युग में नाट्यशास्त्र के नियमों के आधार पर नाटक लिखना श्रेयस्कर समझा गया। परिणाम यह हुआ कि विश्वनाथ जी ने अपना नाटक नये दृष्टिकोण से लिखना प्रारम्भ किया। उनका हृदय विशाल था, उनकी बुद्धि विकसित थी, रुचि संस्कृत थी, ज्ञान विस्तृत था और अनुभव अपार था। इन सब शक्तियों ने मिलकर हिन्दी-नाटकों में ऐसी क्रांति पैदा कर दी, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रथम उत्थान के नाट्यकारों ने संस्कृत शैली पर वस्तु संविधान में केवल 'अंक' का प्रयोग किया था। विश्वनाथ जी ने नाट्यशास्त्र के अन्य नियमों को भी अपनाया।

गद्य का प्रयोग

संवत् १९०० तक लिखे जाने वाले नाटकों में प्रायः गद्य-शैली अलक्ष्य है और यदि कहीं प्राप्त हो भी जाती है तो उसका रूप नितान्त उपेक्षणीय है। विश्वनाथ जी ने सर्व प्रथम मौलिक नाटकों में ब्रजभाषा की गद्य शैली का प्रयोग मुख्य पात्रों से कराया। उन्हें भरतमुनि का भाषा सम्बन्धी नियम सदैव स्मरण रहता था कि पात्रों की भाषा में स्वाभाविकता होनी चाहिए।

पात्र जिस प्रांत के हों वहाँ की भाषा का प्रयोग ही भरतमुनि[1] को ग्राह्य था। नाट्यकार ने इस नियम का पूर्ण पालन किया है। यही कारण है कि इस नाटक में एक-दो नहीं, प्रत्युत भारत की कई प्रमुख भाषाओं का दर्शन होता है। नागकन्या नाम भाषा का प्रयोग करती है. तो मिथिला के गायक स्वयंवर काल में मैथिली में गान सुनाते हैं। राम जब वनगमन के समय ग्रामों के समीप जाते हैं, तो ग्रामीण स्त्रियों की भाषा अपभ्रंश[2] हो जाती है। राम जब किष्किन्धा में पहुँच जाते हैं, तो महाराष्ट्र प्रदेश में मराठी भाषा का प्रयोग मिलता है। राम और आगे जाते हैं और करनाटक प्रांत में पहुँचते हैं तो करनाटकी[3] भाषा का दर्शन होता है। इसी प्रकार द्राविड़[4] और पैशाची[5] का भी प्रयोग हुआ है।

समन्वय-साधना

क्या भाषा, क्या आख्यान, क्या गद्य, क्या पद्य, क्या अंक, क्या दृश्य, क्या प्रकृति-वर्णन, क्या चरित्र-चित्रण, क्या विचार-दर्शन, क्या संदेश, सभी ज्ञातव्य विषयों में विश्वनाथजी समन्वय-वादी प्रतीत होते हैं। ऐसा ज्ञात होता है, कि रामकथा-संबंधी प्रायः सभी काव्यों और नाटकों का अध्ययन करके उन्होंने यह नाटक लिखा था। नाट्यशास्त्र को आलोडित करके नाटक की विभिन्न परम्पराओं को आत्मसात् कर लिया था, नागरिक और ग्रामीण, सुपठित और अल्प-पठित सभी की रुचियों को उन्होंने पहचान लिया

---

१. नाट्य शास्त्र (भारतमुनि) अध्याय सत्रह, पृष्ठ ३७२ से ३७८ तक Gaikwad's Oriental Series Vol. 11 Oriental Institute, Baroda.

२. अपभ्रंश का प्रयोग पृष्ठ ५० ३. करनाटकी पृष्ठ ७६

४. द्राविड़ भाषा का प्रयोग पृ० ७८ ५. पैशाची पृ० ८५

था। संस्कृत को समादृत करने के विचार से सर्वत्र रंगमंच के संकेत संस्कृत में ही मिलते हैं। इस प्रकार देशी भाषा में विरचित राम-चरित रूपी मणि-माणिक्य को अथ से इति तक संस्कृत संकेतों से गूँथकर एक नवल हार का उपहार विश्वनाथ जी ने देश को दिया है। इसमें विद्यापति, तुलसी और केशव की काव्य-छटा, आदि कवि बाल्मीकि का दर्शन, भवभूति का प्रकृति-वर्णन, कालि-दास का नाटकत्व, सूर का वाग्वैदग्ध स्थान-स्थान पर झलकता है। बाण तथा सुबन्धु की अलंकारमय गद्यशैली, तथा लल्लू जी लाल जैसा अनुप्रास प्रयोग भी विद्यमान है।

विश्वनाथ जी ने बेदकाल की यज्ञक्रिया से प्रारम्भ करके सूर तुलसी की भक्ति-व्यवस्था तक के धार्मिक विचारों को अपनी नाट्यकला के आवरण में इस प्रकार सजाकर रखा है कि पाठक का चित्त कलाचातुर्य पर विमुग्ध हो जाता है। विश्वामित्र की यज्ञ-क्रिया का दर्शन और स्थान-स्थान पर वेद-पाठ की मधुर-ध्वनि दर्शक तथा पाठक के सामने वैदिक कालीन भारत का दृश्य उप-स्थित कराती है। विश्वामित्र यज्ञ के रक्षार्थ ही दिक्जान राजा दशरथ के पास लोकहितकारी को माँगने आते हैं। दिक्शिर रावण अपने महान् बल तथा अपनी राज्य-शक्ति से उन्मत्त होकर वैदिक क्रिया तथा वैदिक धर्म को नष्ट करने का प्रयास कर रहा है। वेद का चिन्तन, बैदिक क्रियाओं का अनुसरण औ याग-यज्ञों का संवर्धन करने वाले ऋषियों का कायोवरोधन हो रहा था। ऐसी संकटापन्न स्थिति में नाटक का बीजारोपण होता है, किन्तु जग हितकारी विविध विपदाओं का सामना करने के उपरांत भारत देश में ऐसी व्यवस्था बना देते हैं कि सर्वत्र आनन्द मंगल की

सूरदास विरह वर्णन	गोपियों जैसा
भवभूति...गोदावरी वर्णन	कलिंदजा जैसा

वाद्य-ध्वनि सुनाई पड़ती है । युद्ध के अस्त्र-झंकार के पश्चात् नूपुर[1] की ध्वनि कानों को आकर्षित करती है । सर्वत्र सुख शांति फैल रही है । इस प्रकार देश संकट की स्थिति से निकल कर आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है ।

तात्पर्य यह है कि संस्कृत-शैली के हिन्दी के प्रथम नाटककार विश्वनाथ जी ने वैदिक काल से चली आती हुई धार्मिक परम्परा को रामभक्ति धारा में जोड़कर दीर्घकालीन इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया है ।

नाटक की रचना-शैली

सात अंकों में नाटक समाप्त किया गया है । कथा का क्रम प्रायः वही है जो तुलसी ने रखा है ।

अंक और दृश्य

इस नाटक में सात अंक हैं, और प्रत्येक अंक में अनेक दृश्य हैं । दृश्य-परिवर्तन की पद्धति विश्वनाथ ने यह बनाई है कि जहाँ 'सर्वे निष्क्रान्ताः' आ जाय वहीं दृश्य-परिवर्तन समझ लेना चाहिए । इस प्रकार जहाँ एक कथांश समाप्त होता है, वहीं दृश्य परिवर्तन इस रूप में हो जाता है कि पाठक को पढ़ते समय कथा की शृंखला टूटती हुई नहीं प्रतीत होती ।

रस

हमारे शास्त्रों में काव्य का उद्देश्य है सामाजिक के हृदय को रस-निमग्न करना, और नाटक रस की अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट

---

१. ततः प्रविशन्त्यप्सरसो गंधर्वाश्च । सर्वे महिजां हितकारिणीं प्रणम्य नृत्यमारंभन्ते (आनन्दरघुनन्दननाम नाटकम् लाइट यंत्रालय सं० १९२८ वि० प० १३६ ।)

प्रतीक है। इसलिए अभिनवगुप्त ने 'नाट्यमेव रसः, रस समुदायो हि नाट्यम्' माना है। देखना यह है कि इस नाटक आनन्दरघुनन्दन में प्रधान रस क्या है ? साधारणतः धार्मिक ग्रन्थों में शांतरस प्रधान होता है। शांतरस का स्थायीभाव निर्वेद है, किन्तु उसकी इसमें कहीं झलक भी नहीं। फिर इसमें प्रधान रस क्या है ? वास्तव में यह नाटक वीरता से प्रारम्भ होता है। प्रथम अंक में जनहितकारी और डील धराधर धनुषवाण से सुसज्जित होकर मख-रक्षा को जाते हैं, मानो वीररस साकार जा रहा हो।

धनुषयज्ञ में भी लक्ष्मण की वीरता-भरी बातें सुनाई पड़ती हैं। वीररस का स्थायी-भाव उत्साह है। इस नाटक में आद्योपात उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा है। वह उत्साह जगहितकारी और दिक्शिर[1] दोनों के पक्ष में है। हनुमान[2] अंगद और लक्ष्मण वीररस के प्रतीक जान पड़ते हैं।

वीर रस के सहायक करुण और भयानक दोनों रस अंगीभूत होकर आते गये हैं। महिजा (सीता) के अपहरण के बाद हम राम को विलाप करते हुए पाते हैं, किन्तु ये अश्रुकण उत्साह की अग्नि को धधकाने वाले सिद्ध हुए; उसे निर्दग्ध करने वाले नहीं। वही सीतापहरण युद्ध का कारण हुआ। इस प्रकार महिजाहरण से पुनः प्राप्ति तक जगहितकारी तथा उनके सहायक वर्ग का जीवन अत्यन्त उत्साहपूर्ण रहा है।

अब विचारणीय विषय यह है कि आनन्द-रघुनन्दन को नाटक की किस कोटि में परिगणित किया जाय। बाल-रामायण

---

१. प्र० अंक० पष्ठ २०

२. चतुर्थांक पृ० ७६।

को शारदातनय ने नाटक की 'भास्वर'[1] कोटि में परिगणित किया है। यह नाटक भी उसी शैली पर लिखा गया है। इसलिए इसे भी नाटक की 'भास्वर' कोटि में ही रखना चाहिए।

भास्वर नाटकों में वृत्ति भारती होती है और रस, वीर तथा अद्भुत। संधियाँ होती हैं—माला, नायक सिद्धांग, ग्लानि, परिन्नय और मात्रावशिष्ट-संहार।

माला में पन्नी और विपन्नी स्पष्ट हो जाते हैं। आनन्द-रघुनन्दन के प्रथम अंक में ही यज्ञ के रन्नक लोक-हितकारी और उसके विध्वंसक राक्षस परोन्न रूप से ज्ञात होने लगते हैं। धनुषयज्ञ में यह बात कुछ-कुछ झलकने सी लगती है कि दिक्शिर का सामना होगा, किंतु परशुराम एक नया कांड अलग खड़ा कर देते हैं। इसलिए दोनों का सामुख्य कुछ काल के लिए स्थगित हो जाता है। दूसरी संधि नायक सिद्धांग नाम की होती है, जिसमें नायक को धोखा दिया जाता है। इस नाटक में मारीच के छलमय व्यवहार के द्वारा राम को प्रतारणा दी जाती है। तीसरी सन्धि है ग्लानि, इसमें आंशिक सफलता के दर्शन होते हैं। लंका को घेर लेने तक की स्थिति इसी के अन्तर्गत है, क्योंकि दिक्शिर की विशाल सेना से जनहितकारी के सैनिक आंशिक विजय पायेंगे, इसमें विभीषण को भी सन्देह है। चौथी सन्धि है परिन्नय। युद्ध में आंशिक सफलता मिलती है, किन्तु युद्ध के पीछे राम-लक्ष्मण को नागफांस लगा दिया जाता है। यहाँ तक परिन्नय सन्धि है। पांचवीं सन्धि है मात्रावशिष्ट संहार। यह सन्धि नाटक के अंत में अग्नि परीन्ना के समय तक रहती है।

इस कोटि के नाटकों में नाट्यकार के सम्मुख हास्यरस सन्निवेश की एक बड़ी कठिनाई आती है। शृंगाररस के नाटकों में

---

१. गंगानाथ कमेमोरेशन वाल्यूम।

हास्य के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है किन्तु हास्य वीर रस का बाधक हो जाता है। तथ्य तो यह है कि जहाँ जीवन और मरण का प्रश्न खड़ा हो, राज-निकाला के उपरांत पत्नीहरण और विभिन्न संकट उपस्थित हो, वहाँ हास्यरस को स्थान कहाँ? विश्वनाथ जी ने इस तथ्य को समझ लिया था, किन्तु हास्यरस का नितान्त अभाव भी उन्हें खटकता रहा। एतदर्थ प्रारम्भ में ही हास्य का एक पुट उन्होंने दे दिया है।

नृत्य से नाटक प्रारम्भ होता है। रामजन्म की बधाई में नाच-गाना तथा उत्सव हो रहा है। यहीं नट अपनी नटी को ढूँढ रहा है, तो सभासद् कह रहा है—"अपनी दूसरी नटी से पूछ ले पहली कहाँ गई?"

नट जाकर कहता है कि मेरी नटी तो महाराज के भौन में है, हुकुम होय तो टेर लेऊँ।

सभासद—अरे नट, यह तो बड़ा आश्चर्य है। महाराज का हुकुम है टेरि ले।

नट—ये नटी, ये नटो, आवे आवे।

[नेपथ्य में हाँ जी, हाँ जी, पहुँची पहुँची।]

द्वितीय नटी—साहु साहु अदि अपुव्वं कादुअं कअं।[1]

(इतने में विदूषक आता है)

विदूषक—अरे नट, ऐसे मुँह मटकाय नैनानि नचाय झूलनी झमकाय सबके उर आनन्द झरलाय हों न समुझ्यो तेरो दूजी नटी प्रथम कौन बोली बोली?

नट—यह नागकन्या है, नागभाषा भने हैं।

---

१. अर्थ—शाबास शाबास तुमने अति अपूर्व कौतुक किया।

विदूषक—अरे नट तैं नर यह नागिन कैसे संग भयो।

नट—अरे विदूषक, तैं नहीं जाने है कि नारी गंगा है।

(प्रहस्य सभासदः) अरे विदूषक तौ दौरि याहि गहि हरगंगा हर-गंगा कहन लग्यौ।

नट—अरे या कहा करे है।

विदूषक—अरे बावरे हौ हूँ अस्नान करौं हौं[1]।

तदुपरांत नृत्य और संगीत प्रारम्भ होता है किंतु क्षणिक सुख के पश्चात् ही विश्वामित्र आते हैं और राम को देशहित में संलग्न होना पड़ता है। इस कर्मपरायण वीर को राज्यारोहण तक चौदह वर्ष भूमि पर शयन मिला। कन्द, फल-फूल का अशन मिला और युद्ध की लगन में जीवन बिताना पड़ा। लंका से अयोध्या आने पर पुनः नृत्य, संगीत की ध्वनि सुनाई पड़ती है। फिर तो रास-लीला की प्रत्यक्ष छटा, नायिका-भेद के समस्त साहित्यिक उदाहरण नर्तकियों[2] के रूप में सामने आते हैं। सच बात तो यह है कि विश्वनाथसिंह जैसे कुशल कवि हैं, वैसे ही प्रवीण नाट्यकार। इस नाटक में जितना रस काव्यमय भाषा में मिलता है, उतना ही नाटकीय संवादों में। अंगदरावण का संवाद कितना मनोहारी है। कदाचित् सबसे अधिक स्थान कवि ने इसी संवाद को दिया है। कारण यह है कि यहाँ नाट्यकार को नाट्यकला का परिचय देने का अवसर मिल गया है[3]।

---

१. आनंद रघुनंदन नाटकम् पृ० ६।

२. नर्तकियों के नाम—कलकंठी, आनंद-लतिका, मदनमंजरी, अनंग सुन्दरी आदि।

३. पृष्ठ ६४ से ६६ तक।

इस प्रकार विश्वनाथ जी ने सर्वप्रथम नाटकों में गद्य का शास्त्रीय रीति से प्रयोग किया। नान्दी, सूत्रधार, विष्कम्भक, भरतवाक्य का हिन्दी-नाटक में स्थान दिया। चरित्र-चित्रण और संवाद-योजना में पूर्ण सफलता पाई और भविष्य के नाटककारों को एक नया पथ दिखाया।

यदि इतनी ही इस नाटक में विशेषता होती तो भी हिन्दी नाट्यकारों का पथ-प्रदर्शन करने को यह पर्याप्त था, किन्तु इसमें और भी विशेषतायें हैं। आज के कतिपय समालोचक[1] इस को पात्रों के बाहुल्य तथा नाम-वैचित्र्य के कारण उपहासास्पद बता रहे हैं। अब इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहिए।

नाटक का गुप्तभाव

इस नाटक में पात्रों की विस्तृत सूची देना आवश्यक था ही। भारतदेश को उस वेदविरोधी शक्ति से जिसको दशों दिशायें मुकुट पहिना रही थीं, बचाना कोई हँसी-खेल नहीं था। उस समय दो विचार-धारायें बह रही थीं, एक में जगहित की कामना थी, दूसरी संहार के लिए दशों दिशाओं में सिर उठा रही थी। एक के प्रतीक थे जगहितकारी (राम), दूसरी के दिक्-शिरा (रावण)।

इन दोनों पक्षों का संघर्ष शीलकेतु की पुत्री महिजा के स्वयंवर में होते-होते बच गया। शील और मही (धैर्य) से उत्पन्न बालिका जो संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, वह लोकहितकारी को स्वभावतः वरण करना चाहती थी। वही योग्य भी थे, क्योंकि उनमें सभी गुण विद्यमान थे और उन्होंने धनुष तोड़ने (प्रतिज्ञा-पालन) में सफलता पाई थी, एवं अपने सौजन्य से

१. हिंदी नाट्य साहित्य : ब्रजरत्नदास पृ० ५६

शीलकेतु की नगरी को विमुग्ध कर लिया था। इसके विपरीत दिक्शिरा (रावण) ने अपने संयमरहित व्यवहार से नियम-भंग के द्वारा उस पृथ्वी की लक्ष्मी को पाने का प्रयास किया। यहाँ लोकहितकारी की प्रथम विजय हुई।

जगहितकारी के तीन भाई—जगडह-डहकारी, डील धराधर और दंभहर हैं अर्थात् संसार के कल्याणकारी के तीन सहायक हैं, जग को आनन्दित करने वाले भरत, शेषनाग के अवतार लक्ष्मण और पाखंड के विनाशकारी शत्रुघ्न। इनके पिता(जगजान) संसार का ज्ञान रखने वाले हैं। उनसे उत्पन्न इन चारों भाइयों में जग-डहडहकारी और दंभहर अपराजित नगरी में जगहितकारी की आज्ञा से रह जाते हैं, किन्तु दण्ड की शक्ति रखने वाले डील-धराधर (लक्ष्मण) जगहितकारी के साथ चल रहे हैं।

सुवर्णमृग की प्रतारणा से जगहितकारी प्रतारित किये जाते हैं, और पृथ्वी की लक्ष्मी पर जगध्वंसकारी दिक्शिरा अन्याय और अत्याचार द्वारा अधिकार करना चाहता है। उस असहायावस्था में त्रेतामल्ल, भुजभूषण और सुगल प्राप्त होते हैं। जगहितकारी को शक्ति, शोभा और मधुर कण्ठ की सहायता प्राप्त होती है। विपत्ति का सागर जगहितकारी की शक्ति से विकम्पित हो जाता है और मार्ग दे देता है। जगहितकारी के गुणों से रीझकर भयानक (विभीषण) भी भक्त बन जाता है, विभीषिका भक्त बन जाती है। दिक्शिरा के भाई-बन्धु सभी पराजित होते हैं किन्तु वह तब भी महिजा अर्थात् पृथ्वी की पुत्री लक्ष्मी को प्राप्त करना चाहता है। उसके शक्तिप्रयोग से त्रेतामल्ल और डीलधराधर मूर्छित हो जाते हैं अर्थात् बल और दंडशक्ति कुछ काल के लिए कुण्ठित बन जाती है, किन्तु हिमालय की जड़ी अर्थात् प्रकृति की

कृपा से जगहितकारी की पराजय विजय में परिवर्तित होने लगती है। दंडशक्ति पुनः जीवित हो उठती है। जगहितकारी और दिक्शिरा में घोर युद्ध होता है, जिसमें जगहितकारी की विजय होती है। इस प्रकार प्रेक्षकों को सद्नीति तथा लोकहित-चिन्तन की ओर यह नाटक संकेत करता है।

जिन नामों पर आज के समालोचकों को हँसी आती है वे नैतिकता की ओर संकेत करते हैं। यह एक उत्कृष्ट नीतिप्रधान (प्ले आफ मोरलिटी) नाटक रचा गया है। भारतेन्दु जी ने इसके रहस्य को समझा था। अतः उन्होंने हिन्दी के प्रथम सफल नाटक की उपाधि से इसे विभूषित किया था।

इस नाटक में रसिकों को राम की रसमय चर्चा से और विरक्तों को नैतिकता के संकेत से मुग्ध करने की शक्ति विश्वनाथ जी ने पुञ्जीभूत कर दी है। इसमें जीवन-दर्शन और आनन्ददायी रस दोनों साथ-साथ आदि से अन्त तक चलते हैं। उन दोनों में ऐसी मैत्री है कि कभी एक दूसरे का विरोध नहीं करते, प्रत्युत सहायक बनते रहते हैं।

प्रबोध चन्द्रोदय, मोहराज पराजय, समयसार आदि नाटकों में अध्यात्म का निरूपण ऐसा प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है कि उसमें सर्वत्र जीवनदर्शन अध्यात्मशास्त्र के रूप में आ जाता है, किन्तु इस नाटक में उस ओर केवल संकेत मात्र है और केवल नाम के साम्य द्वारा उसकी ध्वनि अर्थात् झंकारमात्र सुनाई पड़ती है। इसकी ओर यदि विद्वान समालोचकों का ध्यान जाए तो अनन्त रत्न निकाले जा सकते हैं।

विश्वनाथ जी की काव्यकला कहीं नाट्यकला से आगे बढ़ जाती है, कहीं नाट्यकला और काव्यकला साथ-साथ दौड़ती हैं, तो कहीं नाट्यकला काव्यकला से बाजी ले जाती है, किन्तु सम्पूर्ण

नाटक मिलाकर देखने से यह कहना पड़ेगा कि विश्वनाथ जी का नाटकत्व काव्यत्व से बाजी ले गया है। निस्सन्देह विश्वनाथ-सिंह ऐसे सफल नाट्यकार हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को पात्रों के चरित्र-चित्रण में सन्निविष्ट कर देते हैं। वे नाटकीय परिस्थितियों के सच्चे पारखी हैं। प्रकृति की लीलाओं को पात्रों की लीलाओं के साथ ऐसी कला के द्वारा समन्वित कर देते हैं कि चकोर भी राम के साथ रोदन करता है, सुपर्ण गृह भी उनके लिए युद्ध करता है सागर भी मार्ग दे देता है। आख्यान परिवर्तन में कुशलता दिखाने का अधिक अवसर न पाकर चिरविश्रुत कथानक के अनुसार ही करुणा और हास्य, वीर और भयानक, अद्भुत और रौद्र रसों का परिपाक ऐसी कुशलता के साथ किया है कि उसी चिरपरिचित व्याख्यान में पग-पग पर आनन्दानुभूति होने लगती है। जहाँ-जहाँ वह क्रियाशीलता और वर्णन का पथ छोड़कर व्यंजना का आश्रय लेते हैं, वहाँ नाटक अधिक आकर्षक बन गया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है उन्हें सरस्वती और लक्ष्मी की कृपा से सब प्रकार की सुविधायें थीं। विद्वत्ता और अनुभूति में कौन अधिक थी, यह कहना कठिन है! कहीं-कहीं अनुभूति से पुस्तक-ज्ञान बढ़ा हुआ मालूम पड़ता है। भरत-वाक्य के पूर्व ३५ प्रकार की नायिकाओं का नृत्यसंगीत नाटक की दृष्टि से कुछ अनावश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि काव्यरस के प्रवाह में यह खटक बहती जाती है, किन्तु नितान्त लुप्त नहीं होती। जगत-हितकारी व्यक्ति जब आसुरी शक्तियों का दमन कर लेता है तो वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ मानसिक वृत्तियाँ नर्तकी के समान नृत्य करती हुई दिखलाई पड़ती हैं, किंतु उसके अन्तस्तल पर कोई विकारमय प्रभाव नहीं डाल सकतीं। उस समय जीव जीवन्मुक्त बन जाता है।

विश्वनाथ जी अपने राम को जगहितकारी दिखाकर देश-वासियों के सामने जगसेवा का आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। जगहितकारी दीनों के हितकारी हैं, जगहित के लिए राजपाट, धन-स्त्री आदि सर्वस्व अर्पण करते हैं, असंस्कृत भालू-बन्दरों के समुदाय को संस्कृत और सुखी बनाते हैं। शत्रु पर भी कल्याण की भावना रखते हैं।

इन गुणों के साथ-साथ इस नाटक में कई दोष भी हैं। भाषाओं का प्रयोग कहीं-कहीं अस्वाभाविक प्रतीत होता है। पाठक और प्रेक्षक में इतनी विविध भाषाओं के प्रयोग के कारण अरुचि सी उत्पन्न होने लगती है। दूसरा यह दोष है कि इसका कलेवर नाटक के अनुपयुक्त बन गया है। संवाद बहुत ही लम्बे-लम्बे हैं। अतः संवाद-योजना में नाटकत्व कम निखर पाया है।

विश्वनाथ का प्रभाव हिन्दीनाटकों पर

प्रायः २५० वर्षों तक चली आने वाली नाट्य-शैली को विश्वनाथ ने एक नए मार्ग पर मोड़ दिया। नाटयशास्त्र के नियंत्रण को नाटयकारों ने पूर्णतया स्वीकार किया। यह स्वाभाविक भी था। हिन्दी नाट्यकारों ने १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक संस्कृत नाटयशास्त्र की उपेक्षा की थी। सत्रहवीं शताब्दी में महाराज जसवन्तसिंह ने संस्कृत-नाट्यशास्त्र के नियमों का उपयोग कराना चाहा, किन्तु वह सफल न हो सके। ६ सौ वर्षों के बाद देश में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया कि नाट्यकार विश्वनाथसिंह ने पूर्णतया संस्कृत की नाटयशैली को अपनाया और इस कार्य में वह सफल हुए। विश्वनाथ द्वारा प्रचारित

नान्दी, सूत्रधार और प्रस्तावना के विधि-विधान सबको मान्य हुए। भारतेन्दु-कालीन नाट्यकारों के नाटकों से होती हुई यह परम्परा प्रसाद के प्रारम्भिक नाटक 'सज्जन' तक चलती रही। यद्यपि यत्र-तत्र आज भी उसके दर्शन हो जाते हैं किन्तु अब उसकी झाँकी ही रह गई है।

गद्य का प्रयोग

विश्वनाथसिंह ने गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा का उपयोग किया। गद्य में भारत की कई देशी भाषाओं का प्रयोग इस नाटक में मिलता है। मैथिल, गुजराती, मराठी आदि कई भाषायें इसमें उपलब्ध हैं। आगे चलकर हिन्दी नाटकों में इसी प्रकार प्रान्तीय भाषाओं का समावेश पात्रों के अनुसार होने लगा।

छंद-रचना

भाषा के अतिरिक्त अन्य नियमों में भी इसने नेतृत्व किया। समयसार, हनुमन्नाटक आदि में सवैया, कवित्त, दोहा इत्यादि सस्वर पढ़े जाने वाले छन्दों का बाहुल्य रहता रहा, किंतु विश्वनाथ जी संगीत के प्रेमी थे, अतएव उन्होंने स्थान-स्थान पर गेय पदों का भी निर्माण किया। भजन, पद, विरहा आदि नए-नए गेय पदों की रचना करके नाटक में संगीत को प्रमुख स्थान देने की जो शैली विश्वनाथ जी ने सर्वप्रथम निकाली, उसका प्रचलन भारतेन्दु के समय में मान्य हुआ और 'प्रसाद' जी ने अपने गीतों में उस शैली को अपनाया। लाला श्री निवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट आदि सभी श्रेष्ठ नाटयकारों ने इस पद्धति को स्वीकार किया।

दृश्य-परिवर्तन

दृश्य परिवर्तन की नवीन पद्धति का प्रभाव भविष्य में इतना अधिक पड़ता गया कि प्रसाद-काल तक उन्हीं का पालन होता रहा। विष्कंभक, आकाशभाषित आदि का प्रयोग भारतेन्दु-(काल) तथा उसके पश्चात् 'प्रसाद' के पूर्व तक चलता रहा। इस प्रकार विश्वनाथ जी का प्रभाव नाटक के क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक बना रहा।

———

आठवाँ अध्याय

चतुर्थ उत्थान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु जी इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनके पूर्वजों पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा शताब्दियों से चली आ रही थी। भारतेन्दु जी का जन्म इसी सुसंस्कृत परिवार में संवत् १९०७ विक्रमी में काशी में हुआ। इनके पिता गोपालचंद्र जी प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने 'नहुष' नामक एक नाटक भी लिखा था। भारतेन्दु जी में बाल्यकाल से ही कविता के प्रति रुचि थी।

भारतेन्दु जी की प्रारम्भिक रचनायें रीतिकालीन कविता की शैली पर शृंगार-प्रधान थीं, क्योंकि कविता के क्षेत्र में नये युग का प्रभाव अभी नहीं पड़ा था। भारतेन्दु जी के बाल्यकाल में नाटक की प्रधानतः पाँच शैलियाँ प्रचलित थीं। एक शैली ब्रज में रासलीला की, दूसरी उत्तरभारत में रामलीला की और तीसरी यात्रानाटक की, चौथी स्वांग आदि जननाटकों की थी। इनके अतिरिक्त पाँचवीं नवीन शैली महाराज विश्वनाथ ने आनंद-रघुनंदन में स्थापित की थी, जिस पर संस्कृतनाटकों का पूर्ण प्रभाव था। इनके बाल्यकाल में भारतेन्दु जी के पिता ने नहुष नाटक लिखा था जो विश्वनाथ जी की शैली पर विरचित था। नहुष नाटक में गद्य और पद्य दोनों मुख्यतया ब्रजभाषा में मिलते हैं। सम्पूर्ण नाटक का प्रायः तीन चौथाई भाग पद्यबद्ध है। इस

नाटक के निम्नलिखित उद्धरण से भारतेन्दु जी के पिता की नाट्यशैली का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

कार्तिकेय—जब वृत्रासुर के भय सों सुर सब भागे तब छीर-निधि के निकट जाय कै यह कहन लागैः—

छप्पय

जै रमेस परमेस सेस साई सुरेस हरि।
जै अनंत भगवंत संत वंदित दानव अरि॥
जै दयाल गोपाल प्रतिपाल गुनाकर।
जै अनन्य गति धन्य धर्मधुर पंचजन्य धर।
वृंदारक वृंद अनंद कर कृपाकंद भवफंद कर।
हर वंद्य मनोहर रूप धर जै मुकुंद दुखदंद हर [1]॥

इस नहुष नाटक में नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना का समावेश आनंदरघुनंदन के सदृश मिलता है।

तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु को बाल्यकाल में नाटक शैली के रूप में जो पैतृक सम्पत्ति मिली वह ब्रजभाषा में पद्य-प्रधान थी। कथानक धार्मिक थे। इसी काल में उन्हीं की नगरी में एक विशेष घटना और घटी। क्विस कालेज में अँग्रेजी नाटकों का पठन-पाठन चल पड़ा था। पिन्काट साहब की प्रेरणा से राजा लक्ष्मण-सिंह ने शकुंतलानाटक का पहला अनुवाद संवत् १६२० वि० में शुद्ध खड़ीबोली में किया। उस समय भारतेन्दु जी उसी कालेज में पढ़ते थे और उनकी अवस्था १३, १४ वर्ष की थी। इस काल में गद्य में अनूदित शकुन्तला नाटक की धूम थी।

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य 'ब्रजरत्नदास पृ० ६०, ६१।'

२. शकुन्तलानाटक (प्रथम संस्करण) राजा लक्ष्मणसिंह 'सन् १८६३ ई०।

भारतेन्दु जी में स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा थी। साथ-ही-साथ बाल्यकाल से ही राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मणसिंह जैसे साहित्यिकों के सम्पर्क में आने से उनमें काव्य-रचना की शक्ति और भी बलवती हो उठी। वह काल देश में नवजागरण का काल था। धार्मिक विचारों पर स्वामी दयानन्द और राजा राममोहनराय का प्रभाव पड़ रहा था, राजनीतिक उथल-पुथल सन् ५७ की क्रांति के कारण हो ही चुकी थी! अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन से देश-प्रेम, जाति-प्रेम, भाषा-प्रेम की भावना उमड़ती जा रही थी। प्राचीन और नवीन विचार-धाराओं के ऐसे संघर्ष-काल में भारतेन्दु जी ने साहित्यिक कार्य प्रारम्भ किया।

अंग्रेजी नाटकों को पढ़ने वाले भारतीय, संस्कृत और देशी भाषाओं के नाटकों का उपहास कर रहे थे। भारतेन्दु जी जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति को यह उपहास मार्मिक आघात पहुँचाता था। अतएव उन्होंने मातृभाषा की सेवा-हित अपना सर्वस्व निछावर करने का संकल्प कर लिया और इसी कार्य पर आरूढ़ हो गए।

देश की दशा को जानने और अनुभववृद्धि के लिए उन्होंने दूर-दूर स्थानों का भ्रमण किया। इससे उन्हें देशकालानुकूल साहित्य-रचना की विशेष प्रेरणा मिली। उन्हें यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अपने भावों और विचारों को जनता तक पहुँचाने का सर्वोत्तम साधन नाटक है। अतएव नाटक-रचना की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।

भारतेन्दु जी के सम्मुख यह समस्या उठी कि सर्वप्रथम कौन नाटक लिखा जाय। वह लिखते हैं, "मुझे शाकुंतला और रत्नावली दो संस्कृतनाटक सबसे अच्छे प्रतीत हुए।" शाकुंतला का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह पूर्व ही कर चुके थे, अतएव स्वभावतः उनका

ध्यान रत्नावली की ओर गया, और उन्होंने रत्नावली का अनुवाद हिंदी में आरम्भ किया। परंतु यह विषय संदिग्ध है कि जो रत्नावली की प्रति इस समय उपलब्ध है और उनकी कृति बतलाई जाती है, वह वास्तव में उन्हीं की रचना है। क्या यह सम्भव नहीं कि उनकी वास्तविक रचना इस समय अप्राप्य हो और उपलब्ध रचना किसी अन्य की कृति हो? यह विषय अभी अत्यंत विवादास्पद है। अतः इस विषय में पड़ना हम उचित नहीं समझते।

विद्यासुन्दर

रत्नावली के उपरांत भारतेन्दु जी ने बंगप्रदेश में प्रचलित विद्यासुन्दर के कथानक को लेकर एक नाटक की रचना की। इस विद्यासुन्दर नाटक में नांदी-सूत्रधार को स्थान नहीं मिला। यह नाटक बँगला के 'विद्यासुन्दर' का छायानुवाद[1] है। अतएव उसी बँगला शैली का पूरा-पूरा निर्वाह किया गया है। इस नाटक के सभी पात्र बँगला नाटक से लिए गए हैं। केवल प्रहरी को चौकीदार बना दिया गया है। बँगला[2] विद्यासुन्दर के पात्र हैं:—राजा वीरसिंह, मंत्री, गंगाभाट, सुन्दर, धूमकेतु कोतवाल विद्या, हीरा मालिनी, सुलोचना, चपला, विमला, प्रतिहारी और प्रहरी। भारतेन्दु जी के पात्रों के नाम भी अक्षरशः यही हैं। राजकुमारी की सखियों के नाम में भी परिवर्तन की आवश्यकता भारतेन्दु जी ने नहीं समझी।

बँगला में विद्यासुन्दर

संवत् १६२२ विक्रमी में इस बँगला नाटक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने इस संस्क-

---

१. विद्यासुन्दर द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम, भारतेन्दु हरिश्चंद्र पृ० १

२. बंगला विद्यासुन्दर : इंडियन स्टेज वाल्यूम पृष्ठ १०४, १०५।

करण से अत्यन्त अश्लील भाग निकाल दिया था। ३० दिसम्बर सन् १८६५ ई० को इसका अभिनय महाराज रीवां को महाराजा यतीन्द्रमोहन ने दिखाया था। यह नाटक इतना सर्वप्रिय हुआ कि बलगछिया थियेटर में आठ बार इसका अभिनय निरन्तर होता रहा।

डा० सोमनाथ ने इस नाटक से भारतेन्दु जी की "अपरिपक्व नाट्यकला" का निर्देश किया है। उन्होंने कारण यह बताया है, "राजा अपने गंगाभाट को, गुणसिन्धु राजा के पुत्र को अपने साथ लाने के लिए भेजते हैं। परन्तु गंगाभाट के वहाँ पहुँचने के पहले ही न जाने किस समाचार के आधार पर, सुन्दर पहले ही से वर्धमान के राजा की नगरी में पहुँच जाता है।"

हमारा उत्तर यह है कि समाचार का आधार प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक में ही प्रकट कर दिया गया है। राजा गंगाभाट को कांचीपुर भेजने के पूर्व कहता है, "कविराज, अब तक तुमने अनेक देशों में भ्रमण किया और अनेक राजपुत्रों को यहाँ ले आए।" इस वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि विवाह-सम्बन्धी विद्या की प्रतिज्ञा देशभर में फैल गई थी।[1]

विद्या का प्रण है कि जो विवाद में मुझे पराजित कर देगा उसके साथ पाणिग्रहण करूँगी। गंगाभाट का काम है इस सन्देश को देश देशान्तरों में व्याप्त करना। वह समाचारपत्र के विज्ञापन (मैट्रिमोनियल) के समान सर्वत्र सूचना देता फिरता है। इस

---

१. विद्यासुन्दर नाटक पृ० १३

हीरा मालिन विद्या से कहती है, "आपकी प्रतिज्ञा तो संसार में सब पर विदित ही है।"

विवाह में जाति-पांति का बन्धन नहीं, धनी-दरिद्र का प्रश्न नहीं। कोई व्यक्ति किसी समय राजा की अनुमति से विद्या के साथ विवाद कर सकता था।

जब यह सन्देश देश-देशान्तरों में फैला तो स्वाभाविक था कि प्रत्येक राजा का कविराज (भाट) इस सन्देश से अभिज्ञ हो। भाटों का कार्य ही है देश-देशान्तरों में अपने राज्य की सूचना भेजना और अन्य राज्यों की सूचना अपने राज्य में फैलाना। स्वच्छन्द प्रेमोपासक राजकुमार तरुण सुन्दर से उसका भाट ऐसी सुखद सूचना कैसे गुप्त रख सकता था। अतएव यह स्पष्ट है कि राजकुमार अपने भाट से यह समाचार सुनकर विद्या के साथ विवाह करने को स्वतः आया। इस रहस्य का उद्‌घाटन वह विद्या के प्रथम दर्शन में ही कर देता है। वह सखियों से कहता है, "भाट के मुख से तुम्हारी राजकन्या के विवाह का समाचार सुन के यहाँ आया हूँ।" सुन्दर गंगाभाट का नाम ही कब लेता है। गंगा भाट का प्रस्थान प्रथम अङ्क के गर्भांक में होता है और जवनिका गिरती है। तत्क्षण ही पर्दा खुलते-खुलते सुन्दर प्रेक्षकों के सामने आता है। अर्थात् गंगा भाट के गमन से सुन्दर के आगमन का कोई सम्बन्ध नहीं।

यदि गंगाभाट के निमंत्रण पर सुन्दर आता और अन्य राजकुमारों के समान विवाद के द्वारा विद्या को जीतने का प्रयास करता तो सुन्दर के चरित्र का वैशिष्ट्य ही लुप्त हो जाता। वह स्वच्छंद प्रेमोपासक अपने राजवैभव के बल से नहीं, अपने ज्ञानभंडार और तर्कबल से भी नहीं, प्रत्युत गुणसिन्धु से उत्पन्न अपने सौंदर्यबल से विद्या को जीतने के लिए लालायित है। वह

हीरा के प्रस्ताव को ठुकरा देता है, और राजमहल में सुरंग बना कर स्वयं राजकुमारी विद्या के समक्ष उपस्थित होता है।

तथ्य तो यह है कि राजकुमार सुन्दर किसी अन्य साधन द्वारा किसी को मध्यस्थ बना कर विद्या का प्रणय नहीं चाहता, वह तो उस आत्मविश्वासी राजकुमार के समान है जो वर्षा की फुंकार मारने वाली सरिता में तैरने का आनन्द उठाने के लिए सब प्रकार की भयंकर परिस्थितियों का सामना करने को प्रस्तुत है। इसके चरित्र में वीर और शृंगार का समन्वय है।

डा० सोमनाथ की दूसरी आपत्ति है कि "गंगाभाट को किस प्रकार इन घटनाओं का पता चला और उन्होंने अपने दूतत्व का किस प्रकार उपयोग किया.....आदि प्रसंगों पर नाटक में किसी प्रकार का प्रकाश नहीं पड़ता।"

नाट्यकला का यह एक सिद्धान्त है कि जिसका अनुमान प्रेक्षक कल्पना के द्वारा प्रसंग की ध्वनि से निकाल सकता है उसे प्रत्यक्ष प्रगट कर देना एक दोष है, क्योंकि उस ध्वनि का भान होने पर प्रेक्षक को जो आनंदानुभूति होती है, उससे वह वंचित रह जाता है। चरित्र-चित्रण में नाट्यकार का नैपुण्य समझ लेने से सारी समस्या दूर हो जाती है। गंगाभाट बुद्धिमान कविराज है। कांचीपुरी में जाने पर उसे सुन्दर की अनुपस्थिति का कारण तथा उसका चरित्र-वैलक्षण्य अवश्य ज्ञात हो गया होगा। यह अनुभवी कविराज वर्द्धमान में आते ही सुरंग खोदकर विद्या से मिलने वाले पुरुषार्थी व्यक्ति का समाचार पाता है। कोई भी दूर-

---

१. विद्या सुन्दर पृ० ३१

"सुन्दर ने हीरा मालिन से कहा था, मौसी, मैं परदेशी हूँ इस नगर की सब बातें नहीं जानता और राजा के घर में चोरी से घुसकर बच जाना भी साधारण कर्म नहीं।

दर्शी यह अनुमान लगा सकता था कि ऐसा उन्मत्त प्रेमोपासक राजकुमार सुन्दर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है। सत्य तो यह है कि डा० सोमनाथ जिस अवर्णित सूचना को नाटक का दोष मान बैठे हैं वह तो उस नाटक के अनेक गुणों में एक गुण है। अतएव उनका यह कहना कि "विद्यासुन्दर उच्च कोटि की रचना नहीं कहला सकती" सर्वथा अनुचित है, उचित नहीं। और भारतेन्दु जी की काव्यप्रतिभा पर यह लांछन कि उनकी "नाट्य-कला अपरिपक्व है" सर्वथा निर्मूल और कपोल-कल्पना है। इस नाटक में प्रणयबद्ध विवाह का दोष और गन्धर्वविवाह की विशेषता दिखलाई गई है। विद्या हीरा मालिन के प्रस्ताव पर कहती है, "नहीं, ऐसा न होने पावे, पहले मैं देख लूँ तब और कोई देखे।"

उस समय तरुणियाँ मनोनुकूल तरुण से संलाप, मेल-मिलाप करके माता-पिता को विवाह-वार्त्ता के लिए आमंत्रित करना चाहती थीं, किंतु प्रथा दूसरी थी। उस समय की प्रथा हीरा मालिन स्पष्ट करती है, "मैं कैसे पहिले तुम्हें दिखा दूँ।... जो कोई जान जायगा तो क्या होगा?" अर्थात् जनमत उस समय इस प्रकार के गंधर्वविवाह का समर्थक नहीं बना था, किंतु तरुण तरूणियों का एक वर्ग विवाह की प्राचीन पद्धति का विरोध कर रहा था।

हिन्दी में विवाह-सम्बन्धी सामाजिक प्रश्न को कथानक बना कर इतने सुसंगठित रूप से लिखा हुआ यह प्रथम नाटक है। स्वेच्छा-विवाह और नियोजित-विवाहके गुणदोष कितने स्वाभाविक रूप में दिखाए गए हैं। राजा विद्या के विवाह के सम्बन्ध में कहता है–विद्यावती के संग जो इसका गंधर्वविवाह हुआ वह अच्छा ही हुआ।...मैं अपने हाथ से कन्या को जन्मभर का दुःख दे चुका

था, अहा भगवान ने बहुत बचाया।" आगे चलकर राजा सुन्दर से कहता है :

राजा—"तूने विद्यावती से जो गान्धर्व-विवाह किया है, उसमें मैं प्रसन्नतापूर्वक सम्मति प्रगट करता हूँ, जिससे अवश्य तुमको बड़ा सन्तोष होगा।"

राजा प्रसन्न होकर अपनी सम्पत्ति भी समर्पण कर देता है। यद्यपि सुन्दर और विद्या ने अभिभावकों को अज्ञान में रखकर स्वेच्छा से गान्धर्व-विवाह कर तो लिया किन्तु विवाहोपरांत उनकी आत्मा अन्तर्वेदना को प्रगट कर देती है।

राजा ने जब सुन्दर से पूछा कि पकड़े जाने के समय तुमने अपना नाम क्यों नहीं बताया तो सुन्दर आत्मग्लानि-पूर्ण उत्तर देता है :

सुन्दर*—महाराज, क्षत्री के निष्कलंक कुल में उत्पन्न होकर ऐसे बुरे कर्म में अपना नाम प्रगट करने से प्राण-त्याग करना उत्तम है।

विद्या भी अपने किए पर कभी-कभी पश्चात्ताप करने लगती है। भगवान से क्षमा माँग रही है, "हे भगवन्, मेरे अपराधों को क्षमा करना।"† किंतु उसे एक विश्वास है कि मैंने एक पुरुष से ही प्रेम किया; मैं पतिव्रता हूँ। वह कहती है—

"और जो मैं पतिव्रता हूँ—तो मुझे इस दुख से पार करो।"

इस प्रकार नाट्यकार ने इस गान्धर्व विवाह में राजा की उदात्त भावना से इस नाटक को दुखांत होने से बचा लिया है। यह नाटक एक समस्या-नाटक है। इसमें समस्या यह है कि

*. भारतेंदु नाटकावली पृ० ५१।

†. वही पृ० ५२।

विवाह केवल अभिभावकों की इच्छानुसार ही हो अथवा वर-वधू को भी विवाह में निर्वाचन का कोई अधिकार है ? इस नाटक में नवीन विचार के अनुसार विद्या और सुन्दर विवाह तो कर लेते हैं, किन्तु चिरकाल-प्रचलित-परम्परा की उपेक्षा के कारण उनमें अन्तर्द्वन्द्व भी उत्पन्न हो जाता है। नाट्यकार ने इस संघर्ष को कलापूर्ण शैली में दिखाया है और राजा की उदात्त भावना के कारण यह नाटक शोकांत होने से बच गया है। इस नाटक में जो नूतन और पुरातन विवाह-पद्धतियों का संघर्ष है वह संघर्ष समयानुकूल है और भारतेन्दुजी की सुधारक बुद्धि के अनुसार है। इसीलिए यह नाटक उन्हें रुचिकर प्रतीत हुआ होगा। भारतेन्दुजी की प्रतिभा ने वैवाहिक रुढ़ि तथा नव क्रांति के द्वन्द्व का समाधान उसी प्रकार करा दिया जिस प्रकार कालिदास ने अपने शकुन्तला नाटक में शकुन्तला और दुष्यन्त के विवाह को कण्व ऋषि की अनुमति दिलाकर सामाजिक समस्या को हल किया। इसमें विद्या और सुन्दर समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जो गान्धर्व विवाह का समर्थक है। इस नाटक में विवाह की समस्या को सुलझाने की दो विधियाँ बताई गईं। प्रथम तो यह कि गान्धर्व विवाह में तरुण-तरुणी को विवाह के पश्चात् पश्चात्ताप करना पड़ता है, अतएव उन्हें दूरदर्शिता से काम लेकर इस पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। दूसरी विधि यह है कि अभिभावकों को भी इतना उदार होना चाहिए कि यदि उनकी संतान गांधर्व विवाह कर ही डाले तो उसका समर्थन करें।

उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त इस नाटक से यह और अर्थ भासमान हो रहा है। यह सम्पूर्ण नाटक प्रतीकात्मक प्रतीत होता है। विद्या (Wisdom) उन राजपुत्रों को प्राप्त कैसे हो सकती है

जिन्हें अपने राजवैभव का बल है और उसी बल पर विद्या (Wisdom) को प्राप्त करना चाहते हैं। विद्या की प्राप्ति के लिए गुणसिन्धु-प्रसूत सुन्दर के सदृश राजवैभव त्याग कर प्रवासी बनना पड़ता है। विद्या के प्रहरी का प्रहार सहना पड़ता है। प्रकृति-प्रांगण की पुजारिन मालिन का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। नानाशास्त्रों की कलापूर्ण माला प्रस्तुत करनी पड़ती है। विद्या (आत्मविद्या) के अभेद्य स्थलों को वेध कर अनाश्रित एकाकी बन उसका साक्षात्कार करने के लिए समस्त बाधायें सहने की शक्ति संचित करनी होती है, तब कहीं उसका साक्षात्कार हो सकता है, जैसा सुन्दर ने किया था। साक्षात्कार होने पर भी विद्या (आत्मविद्या) साधक की परीक्षा लेने के लिए सुख को आवरण से आच्छादित कर लेती है। ऐसी स्थिति में उसकी सखियाँ विमला[1] (निर्मल बुद्धि) और सुलोचना[2] (पर्यवेक्षण शक्ति) सहायक बनती हैं। इतने पर भी विद्या 'आत्मविद्या' की प्राप्ति सम्भव नहीं। सुन्दर के सदृश कारागार के एकांत स्थल में बैठकर तप भी अपेक्षित है।

नाटक के पात्रों के नाम और घटनाओं के द्वारा उपर्युक्त अर्थ परिलक्षित हो उठता है। इस प्रकार यह नाटक सामाजिक कोटि से ऊँचे उठकर प्रतीकात्मक बन जाता है और चिर सत्य का दिग्दर्शन कराता है। भारतेंदु का ध्यान इस अर्थ की ओर अवश्य था। तभी तो प्रारम्भ में ही कहते हैं, "इतने राजपुत्र आए पर

---

१. विमला विद्या की सखी है।

२. सुलोचना विद्या की सखी है।

उपर्युक्त दोनों सखियाँ सुंदर का मेल विद्या से कराती हैं।

उनमें मनुष्य एक भी नहीं आया। इन सबों का केवल राजवंश में जन्म तो है पर वास्तव में ये पशु हैं।"

भारतेंदु ने तत्कालीन मूर्ख राजाओं की कैसी मीठी चुटकी ली है। भारतेंदु जी ने बंगला के इस नाटक को इसीलिए अनुवादार्थ चुना कि इसमें नाट्यकला के गुणों के अतिरिक्त सामाजिक परिस्थिति पर प्रकाश पड़ता है और एक चिर सत्य का संदेश जनता तक पहुँचाया जा सकता है। तथ्य तो यह है कि इस नाटक में क्या नहीं है। वस्तु-संविधान की स्वाभाविकता, चरित्र-चित्रण, भावनाविलास, काव्यत्व, रचना-कौशल, अद्भुत रम्यता, क्रिया-शीलता आदि समस्त गुणों का समुचित समावेश देखकर ही यह नाटक चिरजीवी बना है। भारतेंदु जी प्रारम्भ से अन्त तक स्थान-स्थान पर विनोद का झीमा-झीमा फौहारा छोड़ते जाते हैं। हीरा-मालिन की विनोदशीलता इसे अत्यंत रोचक बनाती चलती है। विनोद-प्रियता के कारण ही अधेड़ावस्था में वह बारह वर्ष की बालिका के समान प्रतीत होती है। उसे विपत्ति में भी हास्य सूझता है। जब चौकीदार उसे पकड़कर ले जाते हैं, उस समय उनका वार्तालाप सुनने योग्य होता है।[1]

विद्या—तेरा शरीर बूढ़ा हो गया पर चित्त अभी बारही बरस का है।

चौकीदार—अरे यह छिनाल बड़ी छतीसी है...। ऐसा मन होता है कि इस रांड की जीभ पकड़ कर खींच लें।

---

१. भारतेंदु नाटकावली, विद्यासुंदर पृष्ठ ४७-४८।

हीरा मालिन—दोहाई महाराज की, दोहाई महाराज की ! हे धर्म देवता, तुम साक्षी रहना, देखो यह सब मुझे अकेली पाकर मेरा धर्म लिया चाहते हैं, दोहाई राजा की।

पहला चौकीदार—(कोतवाल से) महाराज, यही राँड सब कुकर्म की जड़ है और तिसपर ऐसी-ऐसी बातें बनाती है।

हीरा मालिन—एक मैं ही दुष्कर्म करती हूं और तुम सब साधु हो। देखो कोतवाल, हम तो कुछ नहीं करतीं और तुम सब हमारी प्रतिष्ठा बिगाड़ते हो।

सबसे बड़ा गुण इस नाटक में यह है कि असम्भावित घटना, अतिमानवीय शक्ति तथा अविश्वसनीय वार्ता की इसमें कहीं गन्ध भी नहीं आने पाई है।

अभिनय की दृष्टि से भी इस नाटक के कई स्थल बड़े ही मर्मस्पर्शी[1] हैं। इसी कारण कलकत्ते में रीवाँ[2] महाराज इसका अभिनय देखकर मुग्ध हो गए थे।

---

१. सुन्दर का सुरंग में से सहसा प्रगट होना और विद्या की सखियों के साथ हास्य विनोद, सुन्दर और हीरा का बन्दीरूप में राज-दरबार के पथ पर चलना, गंगाभाट के परिचय से मुक्त होना, आदि घटनाएँ।

2. It is said that the Raja was so highly pleased with the play that when it was over, he caused two packages of Kashmire shawls and a bag of money to be brought and offered for distribution to the actors.

The Indian stage vol. 11.

पाखंड-विडंबन सं० १९२९ वि०

भारतेंदु जी ने हिंदी-नाट्यकारों का ध्यान 'रत्नावली' के द्वारा संस्कृत नाटकों की ओर और विद्यासुंदर के द्वारा आधुनिक नाटकों की ओर आकर्षित किया। ये दोनों नाटक सामाजिक रूपकों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दोनों के पीछे दीर्घ-कालीन परम्परा अन्तर्निहित है। रत्नावली और विद्यासुंदर की रचना के उपरांत भारतेंदु जी ने प्रबोध-चंद्रोदय के तृतीय अङ्क का हिंदी अनुवाद किया, जिसका नाम पाखंड-विडम्बन रखा। मानसिक वृत्तियों को पात्र मानकर कृष्णमिश्र द्वारा लिखा प्रबोध-चंद्रोदय नाटक अपनी कोटि में सर्वश्रेष्ठ परिगणित होता है। उसी नाटक के केवल तीसरे अङ्क का अनुवाद भारतेंदु जी ने किया। इसका अनुवाद गद्य और पद्य में मूल के आधार पर ही हुआ है।

प्रश्न उठता है कि भारतेंदु जी ने केवल एक अङ्क का अनुवाद क्यों किया ? उसमें भी पुस्तक के मध्य में से तीसरा अङ्क क्यों चुना ?

तीसरे अङ्क में तामसी श्रद्धा का विविध विनोद कपालिनी के रूप में दिखाया गया है। वह कापालिक भिक्षुक दिगम्बर का आलिंगन करता है और उसे दूषित करता है। इसके पश्चात् मदिरा का दौर चलता है और सब इस मद में झूमकर मदिरा की प्रशंसा[1] करते हैं।

---

१. पाखंड विडंबन पृष्ठ ७४।

अहा हा ! वाहरे या मदिरा की मिठास, वाहरे स्वाद, वाहरे सुगन्ध, वाह रे मादकता, अरे मैं तो अर्हत के मत में रह्यौ सो

मदोन्मत्त कापालिक जगत को ठगने के लिए कहता है:—

"जाहि विलोकौं बनै सोई सिद्ध,
धरूँ निज चित्त जो सोई करौं।
... ...
पुनि मोहन मारन कर्षन थंमन,
आदि अनेकन सिद्धि भरौं।"

ये सभी दुराचारी साधु केवल एक प्रयत्न में तल्लीन हैं कि किसी प्रकार——

"धर्मरी बेटी श्रद्धा कूँ पकड़ कै म्हाराज के पास ले चलें"

किन्तु ये पाखंडी यह सुनकर हताश होते हैं कि श्रद्धा तो श्री कृष्ण-भक्ति महारानी के संग में है। यह समाचार पाकर शांति और करुणा प्रसन्न होती हैं।

इस एक ही अंक में पाखंडियों का बाह्याडंबर और उनके द्वारा दुराचार का परिहार भी झलकता है। इसी कारण भारतेन्दु जी ने यह अंक अनुवाद के लिए चुना हो। केवल श्री कृष्ण की श्रद्धा-भक्ति से ही जनता का कल्याण, और दुरात्माओं का दमन हो सकता है, यही प्रदर्शित करने के लिए भारतेन्दु जी ने इसका अनुवाद किया।

एक विलक्षणता अनुवाद में यह है कि शुद्ध संस्कृतपद्यों का अनुवाद उन्होंने कई स्थलों पर ऐसे शब्दों में किया है जो विलक्षण से प्रतीत होते हैं:—जैसे,

लहने को मिला घल छुन्दलछा,
अलु भोगन को मिली छुन्दल नाली।

ऐसी मदिरा बिना बहुत ही ठग्यो गयो रे, अरे भिच्छुक मेरो तो माथो घूमै छै, तासो हूं तो सोऊँगो।

१. पाखंड विडंबन, पृ० ७५ (भारतेन्दु नाटकावली)।

लद्द अनेकन भोजन कों मिले,
छैन के हैत ऐ छेज छुखाली ॥
कै छलधा जुअती छब अंगन,
लाओत तेलफुएछो छुवाली ।
दै गल में बइयाँ छुख छो इमि,
वीतत है नित लात उजाली* ॥

कदाचित् दूर देश का निवासी भिक्षु अपने विलक्षण उच्चारण से ऐसी भाषा का प्रयोग करता है। दूसरा उद्देश्य सम्भव यह हो कि ऐसी भाषा से दर्शकों को हँसी भी आयेगी, एतदर्थ दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायेंगे।

इस नाटक का उद्देश्य जनता को शुद्ध कृष्णभक्ति द्वारा दुराचारी कापालिक, भिक्षु और दिगम्बरों से बचने की विधि बताना है। भारतेन्दु जी स्वयं वैष्णव थे, अतएव वैष्णव सम्प्रदाय को कल्याणकारी बताते हैं। भारतेन्दु जी के प्रदर्शित इस पथ पर आगे चलकर कई नाट्यकारों ने नाटक लिखे, जिनमें प्रसाद जी का कामना नाटक, सुमित्रानन्दनपन्त का ज्योत्स्ना नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं।

---

* मूल संस्कृत है :

आवासोलयनं मनोहरमभिप्रायानुरूपा वणिङ्
नार्यो वांछितकालमिष्टमशनं शय्या मृदुप्रस्तराः ॥
श्रद्धापूर्वमुपासिता युवतिभिः कल्पोक्तांगदानोत्सव-
क्रीडानन्दभरैर्व्रजन्ति विलसज्ज्योत्स्नोज्ज्वला रात्रयः॥

प्रबोधचन्द्रोदयम् पृ० १०५
अंक ३ श्लोक ६

धनंजय-विजय (सं० १९३० वि०)

कदाचित् रौद्ररस-प्रधान नाटक की छटा दिखाने के उद्देश्य से भारतेन्दु जी ने धनंजय-विजय का अनुवाद किया हो। इस अनुवाद से दो कार्य-सिद्धि हुई। एक तो रौद्र रसास्वादन की सुविधा, दूसरे व्यायोग एकांकी नाटक का रूपज्ञान। व्यायोग नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सम्पूर्ण कथानक एक ही दिन में घटित हो जाता है। और वह अति प्रसिद्ध हुआ करता है। नायक भी विख्यात राजा[1] अथवा देवता होना चाहिए। विविध विधि के युद्ध इस नाटक में अनिवार्य हैं। अतएव नायक का धीरोद्धत होना आवश्यक है। इसमें विष्कम्भक और भारती तथा आरभटी वृत्तियाँ होनी चाहियें। सन्धियों में गर्भ और विमर्श के लिए स्थान नहीं[2]।

मूलसंस्कृत नाटक के रचयिता हैं कांचन कवि। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। दुर्योधन राजा विराट की गायों को अपहृत करके जाने लगा तो अर्जुन ने अपने साथ उत्तर को लेकर कौरवों से गायें छीन लीं। इसी से प्रसन्न होकर राजा विराट ने अपनी कन्या का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया।

इस नाटक का अनुवाद करने में स्वभावतः नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, भरत वाक्य भी अनूदित हो गए हैं। विद्यासुन्दर, पाखंड-विडंबन में इनका अभाव था।

इस नाटक का 'भरतवाक्य' मूल से कुछ परिवर्तित है। राजवर्ग[3] का मद त्याग कर विद्या में निपुण होना और राजकर

१. नाट्यशास्त्र एन. एस. अ. १८, श्लोक १३५से १३७ तक।

२. दशरूपक (तीसरा अध्याय श्लोक६०)

३. राजवर्ग मद छोडि निपुण विद्या में होई।

का छूटना, ये दो बातें मूल में वृद्धि कर दी गई हैं। इनसे सामयिकता का ज्ञान होता है कि उस समय शासकवर्ग मदमत्त होकर नित नए कर की वृद्धि कर रहा था। इसका विरोध नाटक के द्वारा ही किया जा सकता था। भारतेन्दु जी में यह विलक्षणता थी कि विपक्षी के दोषों का निर्देश अपनी नाटकीय कला में सँवार कर इस ढंग से करते जो हृदय पर चोट करके भी पीड़ा न पहुँचाए।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (सं. १९३० वि०)

भारतेन्दु जी ने पाखण्ड-विडम्बन में अवैदिकों का भंडाफोड़ किया था, अतएव यह आवश्यक था कि पाखंडी वैदिक धर्मानुयायियों की भी खबर ली जाय और जनता को उनसे सावधान किया जाय। प्रहसन के रूप में मांसाहारी पुरोहित का उत्साह से यज्ञ करना, एवं शैव-वैष्णवों का मांस खाने को लालायित रहना दिखाकर पाखंडियों की खिल्ली उड़ाई गई है। हिंसामय यज्ञ करने वाला राजा जब यमराज के सम्मुख उपस्थित

छुटे राज कर, मेघ समे पर जल बरसावें।

मूल संस्कृत . सारस्वतं स्फुरतु चेतसि सत्कवीनाम्।
चक्षुर्भवन्तु कृतिनो गत मत्सराश्च।
भूयाश्च सन्तु कवि सूक्तिषु सानुरागाः
सन्त्यज्य मंडलकविप्रणयानुरागम् ॥९०॥

धनंजय विजय॥

होता है तो चित्रगुप्त उसका लेखा उपस्थित करता है। वह स्थल[1] अत्यन्त आकर्षक है।

यह स्थल सर्वसाधारण के लिए कितना महत्त्व का है। इसके आगे एक संकेत है जो केवल राजा शिवप्रसाद जी की ओर ही हो सकता है[2]।

इस नाटक में प्रहसन के द्वारा समाज को दूषित करने वाले पाखण्डियों की खूब खबर ली गई है। ऐसा सहेतुक प्रहसन लिखना भारतेन्दु जी की विलक्षणता थी।

प्रेम योगिनी (सं० १९३२)

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन के उपरान्त भारतेन्दु जी ने दो वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा। सम्भवतः काशी में होने वाले पाखंडों, बाह्याडंबरों तथा अनर्थों का निरीक्षण करते रहे और अपने ही नगरवालों का भंडाफोड़ करना था,

---

१. महाराज, सुनिए, यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पंडितों से ले ली, लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया, पर आड़ सदा धर्म की रखी। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किए, जो कुछ किया वह केवल वितंडा-कर्मजाल किया, जिसमें माँस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले, और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की। जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।

२. चित्रगुप्त—"महाराज, सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार करता है उसको स्टार आफ इण्डिया की पदवी मिलती है।"

अतएव संयत भाषा और अति संयत शैली में दिग्दर्शन कराना था। काशीवासी के नाते प्रच्छन्न रूप से 'आप बीती' भी बतानी थी। यह कार्य सरल न था। इसके लिए उत्कृष्ट कला अपेक्षित थी। नाटक सम्पूर्ण न हो सका, अतएव कला की दृष्टि से क्या कहा जाय। यह नाटक समाज की यथार्थ दशा का चित्रण बड़ी ही सफाई से कर गया है। प्रारम्भ में यात्रियों को दर्शन कराने वाले गुसाइयों का कदाचार जिस रूप में दिखाया गया है, वह आज भी देखा जा सकता है। गैवी पर जुटे हुए गुण्डों, भड़ेरियों, गंगापुत्रों और दलालों का वार्तालाप देश की पतनोन्मुख स्थिति का सूचक है।

मुगलसराय स्टेशन पर पंडों की लीला आज भी तद्वत बनी है। यहाँ पर सुधाकर नामक एक विदेशी पंडित काशी का माहात्म्य न्यूनाधिक आठ पृष्ठों में वर्णन करता है। अभिनय की दृष्टि से यह वर्णन अत्यन्त दोषपूर्ण और शुष्क है। आश्चर्य है कि भारतेन्दु जी ने इसे और किसी रोचक ढंग से क्यों न उपस्थित किया ?

विविध बोलियों और संकेतमयी भाषा की छटा काशी की स्थानीय विनोद-शैली के साथ जैसी इस नाटक में मिलती है वैसी भारतेंदु के अन्य किसी नाटक में नहीं।

इस अपूर्ण नाटक की भाषा इतनी स्थानीय बन गई है कि काशी की बोली से अपरिचित व्यक्ति इसमें उस प्रकार रम नहीं सकता, जिस प्रकार काशीवासी मग्न हो जाता है।

बाबू ब्रजरत्नदास जी का कथन है कि भारतेंदु जी ने इस नाटक में अपने को भी एक पात्र बना डाला है। हम समझते हैं

कि यह भी इस नाटक के अपूर्ण रहने का एक कारण हो सकता है। नाट्यकार तभी सफल होता है जब वह नाटक की घटनाओं को निर्लिप्त होकर दर्शक रूप में देखता है। ज्योंही नाट्यकार किसी एक पात्र की ओर विशेष रुचि रखकर नाटक की रचना करने लगता है तो नाटक का संतुलन विनष्ट हो जाता है, फिर नाटककार सफल नहीं हो सकता। सम्भव है कि निजी चरित्र को चित्रण करने की धुन के कारण भारतेंदु जी यह नाटक आजीवन पूर्ण न कर पाए हों।

सत्यहरिश्चन्द्र (सं० १९३२ वि०)

भारतेंदु जी के नाटकों में 'सत्यहरिश्चन्द्र' ने सबसे अधिक ख्याति पाई। उस युग में इसका अभिनय नगरों में तो होता ही था, ग्राम्य-जीवन भी इसके अभिनय द्वारा मुखरित हो उठा था। सबसे अधिक प्रेक्षक भी कदाचित् इसी नाटक ने देखे होंगे। इस नाटक ने मानव-हृदय की करुण रागिनी को तड़पाने में सबसे अधिक सफलता पाई। कुछ विद्वानों का मत है कि भारतेंदु जी की यह सबसे प्रौढ़ और उत्तमकृति है। जितनी ही इसकी ख्याति फैली है, उतनी ही इसकी मौलिकता के प्रति आशंकाएँ भी उठी हैं। डा० सोमनाथ गुप्त ने चंडकौशिक और हरिश्चन्द्र नाटकों की विस्तृत तुलना करते हुए यह परिणाम निकाला है कि "अपनी सम्पूर्ण स्थिति में सत्य हरिश्चन्द्र न तो एक दम मौलिक ही है और न बिलकुल अनुवाद ही। यदि हम उसे रूपान्तरित मान लें तो किसी प्रकार के विवाद के लिये स्थान नहीं रह जाता। इसमें लेखक की मौलिकता अधिक है और अनुवाद की मात्रा कम[1]।"

डाक्टर सोमनाथ ने उपर्युक्त मत के समर्थन में जिन स्थलों

---

१. हिन्दी नाटक साहित्य का विकास : डा० सोमनाथ गुप्त। हिन्दी भवन लाहौर जालन्धर, प्रथम संस्करण १९५० ई० पृ० ४८, ४९

का उद्धरण, 'चंडकौशिक' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' से देकर सत्य हरिश्चन्द्र को चंडकौशिक का उस सीमा तक अनुवाद माना है, वे ही स्थल भारतेंदु की मौलिकता के प्रमाण कहे जा सकते हैं। सत्य पालन के लिए राजा हरिश्चन्द्र का बिक जाना आर्य क्षेमीश्वर की कल्पना नहीं, यह तो पुराण-प्रसिद्ध वार्ता है। किंतु उस वार्ता को दोनों नाट्यकार जिस ढंग से उपस्थित करते हैं उसमें मौलिकता की परख होती है। उद्धरणों को तुलना कीजियेः—

चंडकौशिकः—

आत्मानमेव विक्रीय सत्यं रक्षामि शाश्वतम्।
यस्मिन्न रक्षिते नूनं लोकद्वयमरक्षितम्॥

सत्य हरिश्चन्द्रः—

बेचि देह दारा सुअन, होई दास हू मंद।
रखि है निज वच सत्य करि, अभिमानी हरिश्चंद॥

दोनों की तुलना कीजिए, किसमें विदग्धता तथा मार्मिकता अधिक है? इन दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। कैसे एक को दूसरे का अनुवाद कहा जाय?

मौलिकता का प्रश्न चंडकौशिक के कारण उतना नहीं उठता, जितना बँगला नाटक की प्राचीन प्रति की उपलब्धि से खड़ा होता है। प० रामचन्द्र शुक्ल[1] कहते हैं, "सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला नाटक देखा है, जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।"

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल : काशी ना० प्र० सभा २००२ वि० पृ० ४००।

शुक्ल जी ने न तो नाट्यकार का नाम दिया है और न नाटक का रचना-काल। शोध करने से ज्ञात हुआ है कि भारतेंदु के समकालीन मनमोहन बोस ने हरिश्चन्द्र नामक एक नाटक लिखा। इसका रचनाकाल दिसम्बर १८७४ ई० है। भारतेंदु जी का नाटक इससे पूर्व प्रकाशित हो चुका था और स्थान-स्थान पर उसका अभिनय हो रहा था। 'मनमोहन बोस' ने बँगला संवत् मध्यस्थ, माघ १२८१ में यह नाटक 'बाऊ बाज़ार थियेटर के लिए लिखा'[1]। इसी नाटक का द्वितीय संस्करण सन् १८८० ई० में प्रकाशित हुआ[2]। उक्त नाटक वास्तव में भारतेंदु जी के हरिश्चंद्र नाटक से बहुत कुछ साम्य रखता है। उसकी समालोचना करते हुए डा० पी० गुहा ठाकुर लिखते हैं:—

---

1. The party next staged Manmohan's Harishchandra written in December, 1874.
Indian Stage Vol. 11, p. 132-133.
2. Bengali Drama : by P. Guha Thakurta. p. 241.
3. Ibid b. 93.

"Harish Chandra may be regarded as Man Mohan's best work. In it he created true powerfully dramatic character of Viswamitra, the famous Ksatriya hero of Hindu legendary. He made him a typical representative of the ancient Ksatriya culture, noble aggressive and great. He also revealed in Harischandra the noblest ideals of a Hindu King who strove to gain spiritual power through sacrifice and renunciation. The

केवल बँगला में ही नहीं प्रत्युत ठीक इसी प्रकार का हरिश्चन्द्र नाटक मराठी में भी उसी युग में लिखा गया। भारतेंदुजी के समकालीन प्रसिद्ध मराठी नाट्यकार अन्ना साहब किलोस्कर[1] ने भी सन् १८८० ई० में हरिश्चन्द्र नाटक लिखा। उनके नाटक में संगीत को प्रधान स्थान दिया गया।

प्रश्न यह उठता है कि हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती[2] में हरिश्चन्द्र एक समय में लिखने का कारण क्या था। दो ही बातें सम्भव हैं। एक तो यह कि भारतेंदु जी के हरिश्चन्द्र की ख्याति-इतने वेग से बढ़ी कि प्रांतीय सीमायें छिन्न-भिन्न होकर इसमें विलीन हो गयीं और वह अंतःप्रान्तीय बन गया। इस कारण अन्य भाषा के नाट्यकारों ने इसकी अभिनेयता पर रीझ कर अपनी-अपनी भाषा में इसका रूपान्तर कर डाला। अथवा अँग्रेजी राज्य में न्यायालय स्थान-स्थान पर खुल गए। उन न्यायालयों में असत्य की पूजा और सत्य की हत्या देखकर इन नाट्यकारों के हृदय में एक वेदना उत्पन्न हुई। उसके कारण जनता

---

character of the much suffering queen Saibya is drawn with consummate skill. She is utterly tragic in her tenderness, and yet so austerely heroic in the endurance of the sufferings that came upon her and her husband Harish Chandra, who lost his kingdom and all rather than break his plighted word to Viswamitra. ....."

१. मराठी नाट्य संसार : लेखक पी. स. खांडेलकर : पौराणिक काल

२. रणछोड भाई कृत हरिश्चन्द्र नाटक—Further Milstones Page 189.

में फैलते हुए असत्य का वेग रोकने के लिए उन्हें एक साथ ही सत्य हरिश्चंद्र नाटक लिखने की प्रेरणा मिली । स्वतः भारतेंदु बाबू को भी न्यायालय का अनुभव[1] था। इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी न्यायालयों में दिन दहाड़े असत्य की शिक्षा न्याय के नाम पर दी जा रही थी। निश्चय ही इन नाटकों के अभिनय ने सहस्र-सहस्र-प्राणियों के हृदयों में सत्य के प्रति अनुराग एक साथ ही उत्पन्न किया। उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठा और समाज में सदाचार के लिए बल मिला। इस नाटक में चार अंक हैं और प्राचीन नाटकों की तरह अंक दृश्यों में विभाजित नहीं। आधुनिक काल के रंगमंचों पर ऐसे नाटकों का अभिनय कठिनता से होता है। तीसरे अंक में काशी की गलियों में हरिश्चन्द्र अपने आपको बेचते दिखाई पड़ते हैं और उसी अङ्क में उन्हें श्मशान भूमि पर कम्बल ओढ़े लाठी लिए दिखाना पड़ता है। प्रयोग की दृष्टि से यह दोष होने पर भी इस नाटक में कुछ ऐसा आकर्षण है कि आज भी हरिश्चन्द्र नाटक देखने के लिए जनता टूट पड़ती है। सम्भवतः इसके मूल में वे शाश्वत तत्व निहित हैं जो चिर

---

१. भारतेन्दु जी पर एक बार एक महाजन ने दावा किया। सर सैयद अहमद खां उस समय सदर आला थे । कदाचित् उनके संकेत या परीक्षा की दृष्टि से भारतेन्दु से मुकर जाने के लिए कहा गया। भारतेंदु ने उत्तर दिया :

"मैं अपने धर्म और सत्य को साधारण धन के लिए नहीं बिगाड़ने का। मुझ से इस महाजन ने जबरदस्ती हुंडी नहीं लिखवाई और न मैं बच्चा ही था कि समझता न था, जबकि मैंने अपनी गरज से समझ बूझ कर उसका मूल्य तथा नजराना आदि स्वीकार कर लिया तो क्या अब देने के भय से मैं उस सत्य को भंग कर दूँ।"

सत्य हैं, चिर प्रतिष्ठित हैं। यद्यपि समाज की गति इतनी द्रुत है कि बीस-पचीस वर्ष पूर्व लिखित नाटक आज प्राचीन और धूमिल पड़ गए हैं; किन्तु ७५ वर्ष से अधिक हो गए, इसकी ज्योति पूर्ववत् जगमगा रही है।

यदि इस नाटक में दो एक दोष न होते तो इसकी ज्योति और भी उज्ज्वलतर हो जाती। काल-दोष तो इसमें मानना ही पड़ेगा। महाराज हरिश्चन्द्र गंगावतरण कराने वाले भगीरथ के पूर्वज हैं, अतः हरिश्चन्द्र काल में गङ्गा-वर्णन शोभा नहीं देता।

प्रायः नाटकों में अन्तिम अङ्क पूर्व अङ्कों से लघुकाय रखा जाता है, किन्तु भारतेन्दु जी ने अन्तिम अङ्क को सबसे बड़ा और विस्तृत भाषण-पूर्ण बना दिया है। किन्तु ये दोष हरिश्चन्द्र नाटक के गुण-सागर में नगण्य से हैं।

कर्पूर-मंजरी (संवत् १९३२ वि०)

कर्पूर मंजरी राजशेखर-रचित एक सट्टक है। संस्कृत में सात[1] सट्टक प्रसिद्ध हैं। उनमें शैली की दृष्टि से सबसे विख्यात 'कर्पूर मंजरी' है। कदाचित् सट्टक का एक नमूना हिन्दी जनता के सामने रखने ही के लिए भारतेन्दु जी ने इसका अनुवाद किया। अन्यथा एक योगी की शक्ति द्वारा प्राप्त सुन्दरी कन्या से एक लम्पट राजा का विवाह करना भारतेन्दु युग के लिये क्या महत्व की बात थी? उन्होंने इतना श्रम इस अनुवाद में क्यों

---

१. बा० ब्रजरत्नदास अपने ग्रन्थ हिन्दी नाट्य साहित्य पृष्ठ ७५ पर न जाने कैसे प्राचीन सट्टकों की संख्या एक निर्द्धारित करते हैं, सात सट्टक तो आज उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख हम पूर्व कर आये हैं।

किया ? ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा में नाटकों का क्या रूप होता था, उसकी भी एक झाँकी हिन्दी जनता को दिखाना उन्होंने आवश्यक समझा।

सट्टक वास्तव में एक प्रकार की नाटिका है। यह आद्योपांत प्राकृत भाषा में लिखी जाती है। राजा, मंत्री, विदूषक, स्त्रियाँ, सेवक आदि सभी प्राकृत भाषा में वार्तालाप करते हैं। इसमें अद्भुत रस होता है और अङ्क के स्थान पर जवनिका[1] होती है।

सट्टक की वृत्ति कैशिकी और भारती होती है, इसमें कोई संधि नहीं होती[2]। भाव प्रकाश का तो कहना है कि राजा को संस्कृत में ही बोलना चाहिए, अन्य पात्र प्राकृत में बोलें। किंतु इस मत से अन्य नाट्यशास्त्र सहमत नहीं हैं। इसमें विष्कंभक और प्रवेशक भी वर्जित हैं[3]।

कर्पूर मंजरी में ये सभी गुण विद्यमान हैं और नृत्य प्रधान है। अतएव भारतेन्दु जी ने अन्य सट्टकों को छोड़कर इसी का अनुवाद किया। अनुवाद में नाटकीय वातावरण अनुकूल बनाने के निमित्त मूल में परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिया है। एक विलक्षणता इस अनुवाद में और है। पद्यभाग का अनुवाद सर्वत्र पद्य में नहीं किया गया है। कहीं पद्य भाग पद्य में अनूदित है तो कहीं गद्य में। उदाहरणार्थ भैरवानन्द कहता है—

मतो ण तंतो ण अ किंपि जाणे,
झाणं च णो किं पि गुउप्पसादा।

---

१. साहित्य दर्पण अध्याय ६, पृष्ठ २७६।

२. भाव प्रकाश पृ० २६६।

३. नाट्य दर्पण पृ० २१३।

मज्जं पिवामो महिलं रमामो,
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा ॥[1]

अवि अ,

रंडं चंडा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णोभादि रम्मो ॥

किं च,

मुत्ति मणँति हरिवम्ह मुहा वि देवा
झाणेण वेअपठणेण कदुविक आहिं।
एक्केण केवलमुमादइदेण दिट्ठो,
मोक्खो समं सुरअ केलि सुरार से हि ॥

इसका अनुवाद भारतेन्दु ने ऐसी लच्छेदार भाषा में किया है कि मूल से भी अधिक रस मिलता है। 'अवि' 'अ' 'किं' 'च' इत्यादि को छोड़ दिया है। तात्पर्य यह है कि अनुवाद में जहाँ जैसी आवश्यकता सूझ पड़ी है, वैसा ही हेर-फेर कर दिया गया है।

इस अनुवाद से कदाचित् भारतेंदु जी यह दिखाना चाहते हैं कि सिद्धों का प्रभाव राज-परिवार के ऊपर राजशेखर[2] काल

---

१. कर्पूर मंजरी : निर्णयसागर मुद्रणालयम् मुंबई चतुर्थ संस्करणम् १९४९ प्रथम जवनिका पृष्ठ २९, ३०।

2. From his explicit references to Mahendrapala, Mahipala and Yuvaraja, his date has

में कितना विषैला पड़ रहा था। रानी का तांत्रिक गुरु भैरवानंद कुन्तल देश की सुन्दरी राजकन्या कर्पूरमंजरी को लाता है और राजा चन्द्रपाल को उसकी ओर आकर्षित करके गृह-कलह उत्पन्न करा देता है। अन्त में षड्यंत्रों से विवश होकर रानी उस राजकन्या से विवाह कराने की अनुमति दे देती है।

इसके दो परिणाम निकलते हैं। एक तो यह कि तांत्रिक सिद्ध ने अपने दुराचरण और चमत्कृति पूर्ण व्यवहारों से राजकुल तथा जन साधारण का सदाचारमयजीवन संकट में में डाल दिया था, जो भारत के अधःपतन का कारण बना। दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि उस समय शुद्ध साधनामय आध्यात्मिक चिन्तन का स्थान वे रहस्यवादी सिद्धतांत्रिक अपहरण कर रहे थे, जिनमें 'आत्म कल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर' ले जाने की क्षमता ही न थी। इसका दुष्परिणाम भारत को शताब्दियों तक भोगना पड़ा। कदाचित् ऐसे पाखंडी साधुओं से सावधान करने के उद्देश्य से ही भारतेन्दु जी ने इसका अनुवाद किया हो, अन्यथा किसी भी दृष्टि से इस नाटक की कोई उपादेयता नहीं। राजशेखर उस युग का नाट्यकार है जब संस्कृत और प्राकृत नाटकों का अधःपतन सीमा को पहुँच गया था। राजशेखर में न चरित्र की कला है न रंगमंच का अनुभव। न तो विदूषक में हृदय को गुदगुदाने वाला हास्य है,

---

been fixed with some certainty at the last quarter of the 9th and the first quarter of the 10th century.

–History of Sanskrit Literature by S.N, Das Gupta University of Culcutta, 1947, p.455,

न गुरु जन में लोक-कल्याणकारी भावना। डा० कीथ[1] का कहना है कि पात्रों का प्रवेश और निष्क्रमण इतना अनियमित और अव्यवस्थित है कि इस नाटक का अभिनय करना दुस्साध्य बन जाता है।

भारतेंदुजी ने इस नाटक केअनुवाद का उद्देश्य भारतवाक्य[2] में स्पष्ट कर दिया है। उनका आशय है कि इस नाटक को पढ़कर और खेलकर जनता शिक्षा ले जिससे आर्यों का चित्त उन्नत बने, कपट-व्यवहार छोड़कर जनता सत्य-पालक बने। भारतेंदु बाबू की आकांक्षा है कि आर्यों में यवनों के संसर्ग से जो दोष आ गए हैं वे मिट जायें और सभी आर्य भाइ भक्ति-पथ का अनुसरण करें। उनका भक्त वैष्णव हृदय यवन-संसर्ग के कारण आर्यों का दुराचारमय जीवन देखकर विदीर्ण हो जाता है। अतएव वह बार-बार पाखडियों के कलुषित जीवन और दुराचारी धर्माचार्यों के अपावन कृत्यों की आर संकेत करते चलते हैं।

---

1. There can be no doubt of the demerits of Rajacekhara's works; he is devoid of the power to creat a character.....the confusion of exits and entrances in the Karpuramanjari is difficult to follow and probably more difficult to act.

Sanskrit Drama : Dr. Keith (oxford At the Clarendon Press 1924) P.235.

२. कर्पूर मंजरी : भारतेंदु नाटकावली पृष्ठ १६३

उन्नत चित हवै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट नेह तजि सहज सत्य व्यवहार चलावैं

विषस्य विषमौषधम् (सं० १९३३)

यह प्रसिद्ध है कि संवत् १९३२ में जब महाराज गायकवाड़ अपने कुप्रबन्ध के कारण राजच्युत कर दिए गए तो भारतेंदु जी ने प्रसन्नता प्रगट करने के लिए यह भाण लिखा। इससे एक उद्देश्य तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दी में भाण का उदाहरण आ जाये।

भावप्रकाश† के अनुसार भाण के नौ भेद होते हैं। उन भेदों में से भारतेंदु जी रचित भाण 'चित्र' जाति का है। इसमें नाना भाषाओं का संयोग होता है। इस भाण में हिन्दी-संस्कृत प्रधान रूप से प्रयुक्त हुई हैं, इनके अतिरिक्त विभिन्न भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग हुआ है। भारतेंदु बाबू ने इस नाटक में मुहावरों की झड़ी लगा दी है। कदाचित् यह बताना चाहते थे कि नाटकों में "भाण' उस जाति का है जिसमें बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग नाटक को रोचक बना देता है। इसमें हिन्दी-संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं के मुहावरों की छटा विद्यमान है। एक-एक पृष्ठ पर कई-कई मुहावरे हैं। जैसे अपनी नाटक ठहरी जिधर फेर दिया, उनकी बकरी जिस घाट पानी पिलायें, बिजली को घन का पच्चड़, पचड़ा गाना, परचल गोह करोंदा खाय, जान निछावर करना, यस्यास्ति भाग्यं स नरः कुलीनः, हसब ठठाइ फुलाउब गालू, पासा पड़े सा दाव, राजा करे सो न्याव..... इत्यादि।

इन कहावतों को विस्तार से देने का यह प्रयोजन है कि हिन्दुस्तानी के उन भक्तों को उत्तर मिल जाय जो महावरेदार भाषा के पक्ष में हैं और भारतेंदु की भाषा पर आक्षेप लगाते हैं। कदाचित् अपने गुरु राजा शिवप्रसाद जी की प्रिय भाषा में यह भाण

† भाव प्रकाश पृ० २६८

लिखने का प्रयास भारतेन्दु जी ने किया। इससे उनका यह उद्देश्य प्रगट होता है कि जहाँ विषय गम्भीर न हो वहाँ यह हल्की-फुल्की भाषा काम दे सकती है, अन्यत्र नहीं।

इस नाटक के कारण भारतेन्दु जी की राष्ट्रीयभावना पर दोषारोपण किया जाता है। कुछ समालोचकों का आक्षेप है कि विदेशी सरकार द्वारा एक देशी राजा के राजच्युत होने पर हर्ष मनाना कहाँ की राष्ट्रीयता[1] है। इसका उत्तर तो भारतेन्दु जी ने स्वतः नाटक के नामकरण में ही दे दिया है। वह तो कहते हैं कि "विष की औषध विष है।" अर्थात् देशी राजाओं के अत्याचार को मिटाने का जो उपचार है, वह भी तो विष ही है। उसे भारतेन्दु जी अमृत कब मानते हैं? किंतु वे ऐसे दुराग्रही नहीं, जो स्वदेशाभिमान के जोश में अपनी दुर्बलताओं पर भी आवरण डाल दें। हां 'अपने देश की साधारण दुर्बलताओं को छिपाना अनुचित तो नहीं है किंतु जहां वे हद से बढ़ जांय, वहाँ उनका उद्‌घाटन कर देना श्रेयस्कर ही होता है।'[2]

भारतवाक्य में भारतेन्दु जी की चेतावनी न केवल प्रजा प्रत्युत। राजन्य वर्ग के लिए भी है।[3]

'परतिय परधन देखि, न नृपगन चित्त चलावें'

चन्द्रावली (सं० १९३३ वि०)

प्रायः सभी समालोचक इस बात में सहमत हैं कि 'चन्द्रावली' भारतेंदु जी के मौलिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। इस नाटिका में वैष्णवभक्त भारतेंदु का कृष्ण प्रेम निहित है। सम्पूर्ण लौकिक

---

१. भारतेन्दु नाटकावली प्रस्तावना : बाबू श्यामसुन्दरदास।

२. बाबू गुलाब रायः साहित्य सन्देश पृ० २१९ भारतेंदु अंक अक्टूबर नवम्बर ५०।

३. भारतेन्दु नाटकावली : विषस्य विषमौषधम्। पृ० ५९२, ९३।

सीमाओं के बंधन को उत्तीर्ण करता हुआ चंद्रावली के समान उनका हृदय कृष्णचन्द्र तक पहुंचने के लिए उमड़ता दिखाई पड़ता है।

चंद्रावली को एक पात्र मानकर नाटक की रचना का सर्व-प्रथम प्रयास रूपगोस्वामी जी ने अपने 'विदग्धमाधव' नाटक में किया है। संभव है उसी चंद्रावली की धारणा भारतेंदु की अव-चेतना में बैठी इस नाटक रचना की प्रेरणा करती रही हो।

इस नाटिका में चार अंक तथा एक विष्कंभक हैं। प्रथम तीन अंकों में चन्द्रावली अपनी सखियों तथा वनदेवी, वर्षा, संध्या के सामने अपने अन्तःकरण की व्यथा एवं कृष्ण मिलन की तीव्र उत्कंठा मानों हृदय खोलकर रख देती है। तीसरे अंक में चंद्रावली अपनी सखियों—कामिनी, माधवी, माधुरी, विलासिनी—के साथ एक सरोवर के समीप उद्यान में बातें करती हुई दिखाई पड़ती है। चंद्रावली की प्राणान्तक परिस्थिति देखकर सखियाँ कृष्ण-मिलन की योजना बनाती हैं। यहाँ तक इस नाटिका की रचना 'विदग्ध-माधव' की शैली पर हुई है। किंतु चौथा अंक विगत अंकों से भिन्न लीला नाटकों की शैली पर विरचित प्रतीत होता है। यदि इसे चाचा वृन्दावनदास की 'योगिनी छद्मलीला' का तद्वत् रूप कहा जाय तो कोई त्रुटि नहीं। जिस प्रकार चाचा वृन्दावनदास जी की छद्मलीला में कृष्ण छद्मयोगिनी का रूप धारण कर राधिका के प्रेम की परीक्षा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार चौथे अंक में कृष्ण जो गेरुआ सारी पहिनकर हाथ में सारंगी लिए हुए चंद्रा-वली के सिंहद्वार राजप्रासाद में पहुँचकर उसके प्रेम की परीक्षा लेते हैं। परीक्षा में चंद्रावली को दृढ़ और सत्यव्रती पाकर जब उसके मुंह से यह सुनते हैं :—

रोम-रोम प्रति नैन श्रवन मन, केहि धुनि रूप लखाऊं।
बिना सुजान-शिरोमनि री केहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ॥

और चन्द्रावली को विरह की अग्नि में संतप्त मूर्च्छावस्था में पाते हैं तो उसे कंठ से लगा लेते हैं। फिर तो सखियाँ आनद-मंगल मनाने लगती हैं। कृष्ण जी की आँखों में प्रेमाश्रु झलकने लगता है और वे परीक्षा की बात स्पष्ट करके कहते हैं[1] परन्तु मोहि निहचय है कै हमारे प्रेमिन को हम सो हूँ हमारो विरह प्यारो है। ताही सो मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ। या निठुरता में जै प्रेमी हैं विनको तो प्रेम और बढ़े और जै बच्चे हैं विनकी बात खुल जाय।" ठीक इसी प्रकार का वर्णन हमें चाचा वृन्दावनदास जी की 'प्रेम योगिनी[2]' लीला में मिलता है। 'विदग्ध-माधव[3]' में चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन का और ही रूप है। वहाँ कृष्ण को छद्मयोगिनी का रूप नहीं धारण करना पड़ता, प्रत्युत अपनी काव्यकुशलता से वे ऐसे श्लोकों की रचना करते हैं जिस का अर्थ चन्द्रावली और राधिका दोनों की प्रशंसा में ठीक-ठीक घट जाता है। 'विदग्ध माधव[4]' में चन्द्रावली कृष्ण के प्रेम की परीक्षा करती है न कि कृष्ण चन्द्रावली के। एक बार कृष्ण के मुख से जब धारा के स्थान पर राधा[5] निकलता है तो चन्द्रावली रुष्ट हो जाती है। रूपगोस्वामी इसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं:—

कृष्ण—"विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा।
अमृतमयी त्वद्विरहे समर्जान मम तापनुत्तये राधा॥"

---

१. भारतेंदु नाटकावली पृ० ५६६ (इंडियन प्रेस) बा० श्यामसुंदर दास।

२. वही पृ० ५७१।

३. बयालीस छद्मलीला : चाचा वृंदावनदास।

४. विदग्ध माधव : श्री रूपगोस्वामी 'निर्णय सागर प्रेस' बम्बई १९०३ ई० पृ० ६४, ६५।

५. वही पृ० ६५।

(इति ससंभ्रमः) धारा धारा—

कृष्णः—प्रिये, द्वयोर्वर्णयोः कर्णयोर्वा विपरीतत्वमित्यस्मिन्नास्ति विचारः।

चंद्रावली[1]—"अइ दानसौंड' अलं एदाए अवहित्थाए। अज्ज अप्पणो मणहारिणो सुवण्णजुअलस्स विण्णासादो साहु माहुरीपूरिदकण्णम्हि किदा।"

तदुपरान्त कृष्ण को लताकुंज के भीतर से एकान्त में अपनी प्रशंसा करते हुए सुनकर अपनी सखी पद्मा और कृष्णमित्र मधुमंगल के समझाने से, चंद्रावली पुनः कृष्ण के पास आती है और वैजयन्ती की माला कृष्णकंठ में डाल देती है। इस प्रकार दोनों का आनंदपूर्वक सम्मिलन होता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतेंदु जी ने विदग्ध माधव[2] की चंद्रावली और वृन्दावनदास की छद्मयोगिनी का समन्वय इस ढंग से किया है कि एक दूसरे की त्रुटि के पूरक बन जायें। विदग्ध माधव में नाट्यशास्त्र का पूर्णतया परिपालन हुआ है, किंतु लीला-नाटकों के सदृश आकर्षण का अभाव भी उसमें खटकता है। इसी प्रकार लीला नाटकों में सभी आकर्षक गुण हैं पर शास्त्रीयपद्धति का अभाव उसमें अवश्य है। भारतेंदु जी ने इन दोनों का सम्मिश्रण ऐसी समन्वयात्मक शैली से किया जाता है कि दोनों का वैशिष्ट्य एक दूसरे का पूरक होकर नाटक के चमत्कार में वृद्धि पैदा करदे।

---

१. संस्कृत रूपान्तर
आर्य दानशौण्ड, अलमेतयावहित्थया। अद्यात्मनो मनोहारिणः सुवर्णयुगलस्य विन्यासात्साधु माधुरीपूरितकर्णास्मि कृता।

२. विदग्ध माधव : श्री रूपगोस्वामी 'निर्णय सागर प्रेस' बम्बई सन् १९०३ ईस्वी पृ० १५।

भारतेंदु जी ने यह नाटिका रासलीला की शैली को लक्ष्य कर के लिखी है। यह पूर्व कहा जा चुका है कि भारतेंदु जी किसी नाटक-परम्परा का बहिष्कार एवं संहार नहीं चाहते थे, वरन् उसके परिष्कार और उद्धार के लिए प्रयत्नशील थे। चंद्रावली के द्वारा रासलीला नाटकों में एक नवीन विधान का संयोग कराना चाहते थे। यद्यपि चंद्रावली की छन्द-योजना प्रायः चाचा वृन्दावन दास की 'छद्मलीला'[1] की शैली पर हुई किंतु छद्मलीला से इसमें एक विशेषता है। इसके वार्तालाप में गद्य का प्रयोग मिलता है। इस प्रकार लीला नाटकों में गद्य का प्रवेश और शास्त्रीय पद्धति का समावेश करके भारतेंदु जी ने अभिनवशैली के द्वारा लीला नाटकों को नये पथ से संयुक्त कर दिया। भारतेंदु जी के पश्चात् लीला नाटकों में गद्य का प्रयोग स्थान-स्थान पर होने लगा। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से निरन्तर अभिनय होने वाले लीलानाटकों को विकसित करने का श्रेय भी भारतेंदु बाबू को ही देना चाहिए। इसका प्रमाण यह है कि न केवल अभिनय में ही प्रत्युत लीला सम्बन्धी कृष्ण के साहित्यिक नाटकों में भी भारतेंदु जी की शैली मान्य बन गई। श्री वियोगी हरि जी का छद्म योगिनी नाटक इसका प्रमाण है।

रूपगोस्वामी के समान भारतेंदु जी ने राधा और चंद्रावली की सखियों में विभेद नहीं माना है। रूप गोस्वामी ने ललिता को राधिका की और पद्मा को चंद्रावली की अन्तरंग सखी माना है। भारतेंदु जी ने यह भेदभाव नहीं रखा है। विदग्ध माधव में चन्द्रावली और राधिका का सापत्न्यभाव दिखाया गया है और वह सापत्न्यभाव इतना तीखा है कि कृष्ण के मुख से राधा का नाम सुनते ही चन्द्रावली रुष्ट हो जाती है। किंतु भारतेंदु जी ने

१. बयालीस छद्मलीला : चाचा वृन्दावन दास।

ऐसी परिस्थिति कहीं नहीं आने दी है। केवल एक स्थान पर इतना संकेत अवश्य कर दिया है कि राधिका जी को प्रसन्न करने के निमित्त चन्द्रावली की एक सखी राधिका के पास जाते हुए दिखाई पड़ती है।

सम्पूर्ण नाटक में आद्योपांत जिस प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया गया है, उसके द्वारा भारतेंदु जी ने आदर्श कृष्ण-प्रेम की स्थापना की है। वास्तव में एक-निष्ठ-प्रेम और निष्काम-रति की जो विवृति चन्द्रावली में दिखाई गयी है, वह परमतत्त्व और परमात्म-प्रेम की ओर संकेत करती है। चन्द्रावली में कृष्ण के प्रति सच्ची तन्मयता और सम्पूर्ण आत्मसमर्पण दिखाकर भारतेंदु बाबू ने आध्यात्मिक प्रेम-पूर्णता की ओर मानव-हृदय को ले जाने की चेष्टा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है वह उनके भक्तिभाव का प्रतिबिम्ब है'।[1] इस प्रेमतत्त्व के सम्बंध में स्वयं भारतेंदु बाबू ने स्पष्ट कह दिया है "इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं।"[2]

चंद्रावली की कल्पना साहित्य में इस निमित्त से की गई प्रतीत होती है कि शृंगार की पुष्टि के लिए सापत्न्यभाव के दर्शाने का अवकाश प्राप्त हो। जिस प्रकार साहित्य में राधा की कल्पना की सृष्टि इस निमित्त से प्रतीत होती है, कि अनेक गोपियों का निर्मर्यादित प्रेम एक गोपी में केन्द्रीभूत होकर विलक्षण प्रेम को प्राप्त हो। भागवत में राधा की कल्पना का सर्वथा अभाव है। उसके स्थान पर अनेक गोपी-रसमय-विहार का वर्णन प्राप्त है। यह साहित्यिक विकास का एक प्रकार है।

---

१. डा० श्यामसुंदरदास भारतेंदु नाटकावली पृष्ट ६१-६२।

२. भारतेंदु नाटकावली पृष्ठ ५६४।

मुद्राराक्षस (संवत् १९३५)

यह नाटक संस्कृत के अति प्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का अनुवाद है। नीतिज्ञ राजनीतिक चाल की चोटें किस प्रकार लगाते और रोकते हैं, इसे देखने के लिए मुद्राराक्षस से बढ़कर और कौन नाटक हो सकता था? भारतेंदु जी इसके पूर्व कई नाटकों का अनुवाद कर चुके थे। वे अब सिद्धहस्त हो गए थे, तभी इतने गूढ़ नाटक का अनुवाद इतनी सफाई से कर पाए। इसमें अन्य अनुवादों से एक विशेषता है। इस नाटक में भारतेंदु जी ने विस्तृत भूमिका में पूर्वकथा और उपसंहार में इतिहास सम्बन्धी शोध के विवरण दिए हैं। इस नवीनता ने ऐतिहासिक नाट्यकारों को नई दिशा की ओर संकेत किया। 'प्रसाद' जी ने इस संकेत को पहिचाना और अपने कई ऐतिहासिक नाटकों में इस संकेत से सहायता ली। इस प्रकार हिन्दी-नाटक के इतिहास में एक नवीन पद्धति चल पड़ी। नाटक-प्रेमियों को नाटक पढ़ने में तो रस मिलता ही है, इतिहास के शोध और नाटक में उसके प्रयोग से आनन्द द्विगुणित हो जाता है। यह भारतेंदु जी की विलक्षण सूझ थी।

भारतेन्दु जी ने यह नाटक क्यों समयोपयोगी समझा और राजा शिवप्रसाद जी को क्यों समर्पण[1] किया है? यह एक विचारणीय विषय है कि भारतेन्दु जैसा वैष्णव भक्त जो जीवन के प्रत्येक अंग में प्रेम की गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना का उपासक हो, इस हिंसा-प्रतारणा और कुचक्र-समन्वित नाटक में क्यों व्यस्त

---

१. परम श्रद्धास्पद श्रीयुत राजा शिवप्रसाद बहादुर, सी. एस. आई. के चरणकमलों में केवल उन्हीं के उत्साहदान से उनके वात्सल्य-भाजन छात्र द्वारा बना हुआ यह ग्रंथ सादर समर्पित हुआ।

हो गया। उस समय देश को विदेशी शासन से मुक्त करना था। इस नाटक की, जिसमें दो भारतीय महानुभाव परस्पर एक दूसरे पर प्रहार कर रहे हों, क्या उपयोगिता थी? भारतेन्दु ने इतना श्रम इस नाटक के अनुवाद में क्यों उठाया? और फिर इसे लिख कर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द को क्यों समर्पित किया? यह तो सर्वविदित है कि राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु जी का राजनैतिक तथा भाषा-सम्बन्धी विचारों में मतैक्य नहीं था। एक तो सरकार के न्याय तथा अन्यायमय सभी विचारों का समर्थक था, दूसरा प्रजा-हित-चिन्तन में संलग्न रहकर सरकार के उत्तम गुणों का प्रशंसक होते हुए भी दुर्गुणों का निर्देशक था। गुरु-शिष्य का मतभेद क्रमशः इतना बढ़ गया कि परस्पर मनोमालिन्य की स्थिति उत्पन्न हो गई। मनोमालिन्य ने खुले विरोध का द्वार खोल दिया और दोनों एक दूसरे की कटु समालोचना पर उतारू हो गए। भाषा और राजनीति के क्षेत्रों में इस कटुता ने शत्रुता का रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु के परम प्रयास से सरकार ने हिंदी के उत्तम ग्रंथों पर पुरस्कार-प्रदान का वचन दिया तो राजा साहब ने अपने किसी चाटुकार अनुवादक को, अरबी-फारसी की शब्दावली में विरचित 'उत्तर रामचरित' के अनुवाद पर पुरस्कार दिलाकर निज शैली का प्रचार करना चाहा। भारतेन्दु-जी ने इसके विरुद्ध लेख लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें तत्कालीन लाट सर विलियम[1] म्योर और लेवी[2] की नीति का खुल्लम-खुल्ला खंडन किया। सरकार ने भारतेन्दु जी को उन पत्रिकाओं

---

१. मर्सिया (सर विलियम म्योर पर कटाक्ष)।

२. लेवी प्राण लेवी (लेवी दरबार में हिन्दुस्तानी रईसों की दुर्दशा)।

को जिनकी प्रशंसा यूरुप में गासी दी तासी[1] ने भी की थी, निन्द्य घोषित किया और उनको लेना बंद कर दिया।

भारतेन्दु जी को आनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से भी हटना पड़ा। इन सबके मूल में राजा शिवप्रसाद की वैरभावना बैठी प्रेरणा दे रही थी। यह रहस्य अब गुप्त नहीं रह गया था। तात्पर्य यह है कि ये दोनों व्यक्ति उस समय एक दूसरे के विरोध में प्राणपण से संलग्न हो गए थे। जिस समय मुद्राराक्षस का अनुवाद हो रहा था, यह वैमनस्य-भाव चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था।

भारतेन्दु जी सहृदय साहित्यिक थे। राजनीति की झंझा में भी उनमें कृतज्ञता, उदारता, आदि सद्गुण अचल बने रहे। यह नाटक अपने गुरुदेव को समर्पण करके उन्होंने अपनी कृतज्ञता और उदारता का परिचय दिया। साथ ही 'भरत वाक्य' के द्वारा जन समाज को यह सिखलाया कि राजनीति में दो विरोधी मतावलम्बी होना अहितकर नहीं, अपने सिद्धांत की सिद्धि के लिए विविध प्रयत्न करना भी अनिष्टकर नहीं, विनाशकर है वह धारणा, जो केवल निजोन्नति के लिए स्वार्थ से प्रेरित बुद्धि के द्वारा देश का अमंगल कराती है।

चाणक्य और राक्षस दो विरोधी सिद्धांतों के प्रवर्त्तक हैं। दोनों राजनीति में धर्माधर्म का विचार त्यागकर अभीष्ट सिद्धि की साधना में संलग्न हैं। दोनों के साधनों का मूल्यांकन सिद्धि करती है, धर्म और न्याय नहीं। विषकन्या का प्रयोग भी विहित है, वचनभंग, प्रतारणा, हिंसा आदि सभी दुर्गुण क्षम्य हैं। दोनों साधन की नैतिकता नहीं देखते, सिद्धि की प्रगति देखते हैं।

---

१. ली लेंगुआडेस हिन्दुस्तानिस (सन् १८७० ई०) गार्सी दी तासी।

उपर्युक्त दुर्गुणों के दास होते हुए भी दोनों महान माने जाते हैं। क्यों? दोनों का स्वभाव भिन्न, दोनों की शक्ति भिन्न, दोनों का उद्देश्य भिन्न, दोनों का मन्तव्य भिन्न। कहाँ राक्षस सूक्ष्मदर्शी, कोमल, भावुक और भूल पर भूल करने वाला, कहाँ चाणक्य रहस्यमय, अविश्वासी और अनुदार। कहाँ राक्षस स्पष्ट, मिलनसार और उदार। एक से उसके घनिष्ट मित्र भी भयभीत और दूसरे पर उसके साथी प्राणोत्सर्ग को प्रस्तुत! तथ्य तो यह है कि चाणक्य की कठोरता का प्रकाश राक्षस की कोमल भावुकता को और भी जाज्वल्यमान बना देता है। चाणक्य राक्षस की इन कोमलवृत्तियों की प्रशंसा करता है और उनसे लाभ उठाकर अपने उद्देश्य की सिद्धि भी करता है। चाणक्य की सिद्धि होती है, राक्षस पराजित होता है किंतु पराजित होने पर भी वह चाणक्य* के सदृश ही महान् है।

अब प्रश्न है कि दोनों महान् क्यों? भारतेन्दु जी ने इसे स्पष्ट कर दिया है। महत्ता का लक्षण है निःस्वार्थ कार्य-निष्ठा। राजनीति में महान् वह, जो व्यक्तिगत उन्नति को देशोन्नति में विलीन कर दे। चाणक्य और राक्षस दोनों कुशल राजनीतिज्ञ, साधन-सम्पन्न, राजोन्नति के लिए एकनिष्ठ होकर भी पद-तृष्णा को ठुकरा देते हैं, दोनों राजपद से निर्लिप्त हैं, स्वार्थभावना से बहुत ऊपर हैं। इसी कारण दोनों महान् हैं। इस तथ्य को समझाने की आवश्यकता जितनी विशाखदत्त के समय में थी, उतनी ही भारतेन्दु युग में थी और उतनी ही आज भी है। इसी कारण

---

* भारतेन्दु नाटकावली पृष्ठ ३२८।

चाणक्य···"भला अमात्य, आपने यह कहाँ से निकाला कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य।"

भारतेन्दु जी ने इस नाटक का अनुवाद किया। राजनीति में सदा प्रत्येक देश में दो मत होते ही हैं। कभी सारी जनता एक मतावलम्बी होती ही नहीं। देशहित की समस्या मतभेद के कारण उतनी जटिल नहीं होती, जितनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दासवृत्ति वालों के कारण होती है। भारतेन्दु जी राजा साहब की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता आदि के प्रशंसक थे, पर उन्हें वेदना इस कारण पहुँचती थी कि राजा साहब[1] केवल स्वयं उच्चपद पाने के प्रलोभन में फँसकर देशहित को भूल जाते थे। इसी कारण अन्त में वे राजा साहब से अनुरोध करते हैं[2]।

'अपनो देश धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।'

दुर्लभबन्धु (सम्वत् १९३७)

अब तक संस्कृत के कई नाटकों का अनुवाद हिन्दी जनता के सम्मुख आ चुका था। इस काल में अंग्रेजी नाटकों का पठन-पाठन नगर-नगर में हो रहा था। शेक्सपियर के नाटकों की चर्चा स्थान-स्थान पर चल पड़ी थी। भारतेन्दु जी ने उसी शेक्सपियर के एक नाटक 'मर्चेंट आफ वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभबन्धु' नाम से किया। भारतेन्दु जी के नामकरण की अपनी प्रणाली थी। उन्होंने वेनिस का व्यापारी न कहकर नितान्त भारतीयकरण करने का प्रयास किया है। अण्टोनिया का अनन्त, बसानियो का बसंत पोर्शिया का पुरश्री कितना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

---

१. 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में इसकी ओर संकेत हो चुकाहै।

२. भारतेन्दु नाटकावली (मुद्रारा.स नाटक पृष्ठ ३३५-३३६)

'लहौ सुख सब विधि भारत वासी

... ...

अपने देस धरमकुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।'

विदेशी नाटकों के अनुवाद की जो यह पद्धति भारतेन्दु जी ने चलाई, उसकी आशातीत प्रगति हुई। अनेक नाटक इस पद्धति पर अनूदित होकर भारतीय बन गए।

अनुवाद की दृष्टि से यह नाटक बहुत सफल और सरल होते हुए भी कई स्थलों पर खटकता है। विवाह की भारतीय पद्धति यूरोपीय पद्धति से नितांत भिन्न है। कासकेट का दृश्य इटली के लिए जितना ही उपयुक्त है, उतना ही भारतीय वातावरण के अनुपयुक्त। स्वयंवर हमारे देश में वीरता की परीक्षा का सूचक होता था किन्तु इस प्रकार का विवाह कभी प्रचलित था ही नहीं। यह विवाह तो सम्बन्ध-स्थापन नहीं, प्रत्युत नियति से जुआ खेलना है।

दूसरा स्थल है शैलाक्ष के कार्पण्य का। शैलाक्ष यहूदी शायलाक का भारतीयकरण नाम है। नाम की संगति तो अनुवाद में ठीक बैठ जाती है, किन्तु गुण और नाम का परस्पर मेल नहीं हो पाता। यूरुप में धनी यहूदी अर्थ-पिशाच नाम से प्रसिद्ध हैं, किंतु भारत में उस भावना का निर्देशक कोई समुदाय विशेष नहीं है। अतएव शैलाक्ष को जैन बनाने से वह अभिव्यंजना नहीं होती जो यूरुप में यहूदी जाति से होती है। भारतेन्दु जी ऐसी त्रुटि कर नहीं सकते। सम्भव है कि अपूर्ण नाटक को समाप्त करने वाले विद्वानों ने ऐसी कल्पना कर ली हो।

'भारत दुर्दशा (सं० १९३७ वि०)

'भारत दुर्दशा'' और 'अंधेर नगरी' इन दोनों नाटकों में देश की दयनीय दशा का उद्घाटन करके जन-जागरण का उद्देश्य झलकता है। इन दोनों में भारतेन्दु की पुंजीभूत अन्तर्वेदना मानो अगणित रूपों में रोदन करने का अवसर पा जाती

है। सच तो यह है कि इन अश्रु रेखाओं की भाषा में भारतेंदु जी की क्रांतिकारी आत्मा घोर परिवर्तन का सन्देश सुनाती दिखाई पड़ती है। विलक्षणता तो यह है कि यद्यपि दोनों में ६ अंक हैं तथापि एक ही सन्देश उपर्युक्त दोनों नाटकों में दो विभिन्न शैलियों से जनता के सामने रखे गये हैं। 'भारत-दुर्दशा' में मध्यमवर्ग, कलाविद् तथा पंडित प्रेक्षकों के अनुकूल विचार शैली का उपयोग किया गया है, और अँधेर नगरी में ग्रामीण नर-नारियों के योग्य सरल ढंग से किसी बात को समझाने के लिए सुगमशैली प्रयुक्त की गई है। एक शैली भावात्मक है, दूसरी प्रभावात्मक। एक में डिसलायल्टी, आशा, निर्लज्जता, सत्यानाश भारत भाग्य आदि मानव रूप में आते हैं, दूसरे में चने वाला और चूरनवाला चना चूरन लेकर आते हैं।

उदाहरण के लिए देखिए 'भारत दुर्दशा' में भारत-भाग्य को। देखिए वह खिन्नमना होकर चेतावनी दे रहा है—

'सोई वंश रुधिर वही, सोई मन विश्वास।
वही वासना चित्त वही, आसय वही विलास॥
कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि कोटि अति सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले यहाँ की धूर॥
सोई भारत को आज यह भई दुर्दशा हाय[1]॥

इसकी शब्दावली और इसके विचार पठित-समाज के लिए भावात्मक दिखाये गए हैं। किन्तु दूसरे नाटक अंधेर नगरी में गोवर्धन दास गाता है—

'सांच कहैं ते पनहीं खावें। झूठे बहु विधि पदवी पावें।
अंधाधुँध मच्यौ सब देसा। मानहु राजा रहत विदेसा[2]।'

---

१. भारतेंदु ग्रंथावली प्रथम भाग पृष्ठ ४६५।

२. वही पृष्ठ ६७०

अंधेर नगरी के विषय में विस्तृत विवेचना अलग की जायगी। यहाँ भारत-दुर्दशा के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए।

भारत-दुर्दशा एक प्रतीकात्मक नाटक है (Allegorical-play)। प्रतीकात्मक या भावात्मक नाटक की कई श्रेणियाँ होती हैं। उनमें तीन श्रेणियाँ मुख्य हैं। प्रथम श्रेणी में नाटक की स्वाभाविक या प्रस्तुत कथा तो रसात्मक होती ही है, उस कथा से नाम, रूप तथा गुण साम्य के द्वारा जो रहस्यमय अर्थ आद्योपांत परिलक्षित होता है, वह भी चमत्कार पूर्ण होने से विज्ञजनों का आनन्द विधायक होता है। ऐसे नाटकों में स्थल-स्थल पर दूसरे रहस्यमय अर्थ की ओर संकेत मात्र होता है, पंक्ति-पंक्ति में उस अर्थ की ओर संगति खोजना ठीक नहीं। इस प्रकार का नाटक विद्यासुंदर है जिसमें हम दूसरे अर्थ की ध्वनि पाते हैं।

दूसरी कोटि में वे नाटक हैं जिनके प्रस्तुत और स्वाभाविक अर्थ में उतना चमत्कार नहीं होता, जितना प्रतीक का अर्थ समझ लेने पर अप्रस्तुत अर्थ में प्रतीत होता है। 'प्रबोध चंद्रोदय' ऐसा नाटक है। तीसरी श्रेणी मिश्र प्रतीकात्मक नाटकों की हैं। इसमें कतिपय पात्र मानवी होते हैं, कतिपय मानवीकरण के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस श्रेणी में कभी अधिक संख्या मानवी पात्रों की होती है और कभी मानवीकरण द्वारा प्रदर्शित पात्रों की। 'चैतन्य चंद्रोदय' इसी कोटि का है।

भारतेंदु जी का 'भारत दुर्दशा' नाटक इस तीसरी[1] श्रेणी में

१. डा० सोमनाथ गुप्त इसे प्रबोध चन्द्रोदय की कोटि में रखते हैं किंतु यह चैतन्य चंद्रोदय की शैली से अधिक मिलता है न कि प्रबोध चंद्रोदय की। हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त पृष्ठ ५१।

रखने योग्य है। इसके आधे से कम पात्र वर्ग या समुदाय के प्रतिनिधि हैं और अधिक पात्र मानवीकरण द्वारा प्रगट किए गए हैं। फटे वस्त्र लपेटे हुए भारत, खुले अंग वाली निर्लज्जता, लड़की के वेष में आशा, आधा क्रिस्तानी आधा मुसल्मानी वेश-धारी भारत दुर्दैव, सत्यानाशफौजदार, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार, डिस्लायल्टी तथा भारत-भाग्य का मानवीकरण किया गया है किंतु सभापति, बंगाली, दो देशी, कवि, एडिटर, महाराष्ट्री अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि रूप में आए हैं।

इस नाटक में भारत-भाग्य केवल छठे अंक में दिखाई पड़ता है। भारत की दीन दशा देखकर वह मानो परिहास कर रहा है। अंत में भारत के जीवन की कोई आशा न देखकर भारत-भाग्य अपनी छाती में कटार भोंक लेता है और अंतिम पटाक्षेप हो जाता है।

कुछ समालोचकों ने भारतेंदु जी का सबसे बड़ा दोष इस दुखांत नाटक की समालोचना में यह दिखाया है कि उन्होंने आशा की कहीं झलक नहीं दिखाई और भारतीयों को कोई रक्षा का पथ नहीं बताया और भारत-भाग्य का अन्त करके सदा के लिए भारत का उन्नतिपथ बंद कर दिया। एक प्रसिद्ध समालोचक का तो कहना है कि "भारत दुर्दशा[1]" में भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का अच्छा चित्र अंकित किया गया है, पर यह दुखांत कर दिया गया है। इससे अंत में नैराश्य

---

१. भारतेंदु नाटकावली, (बा०श्यामसुन्दरदास) इंडियनप्रेस १९२७ई. पृष्ठ ६६।

२. हिंदी नाटय साहित्य, (बा०ब्रजरत्नदास) हिंदीसाहित्य कुटीर काशी २००४ वि० पृष्ठ ८४।

का भाव उत्पन्न होता है, पर होना चाहिए भारतोदय करने की दृढ़ता का भाव।"

हमारा कहना यह है कि इस नाटक का सम्यक् विवेचन करने पर उपर्युक्त समालोचनाएँ तर्कसंगत नहीं प्रतीत होतीं।

बाबू ब्रजरत्नदास[1] जी ने भारत-भाग्य तथा भारत दुर्दैव को नायक प्रतिनायक मानकर इस नाटक को दुखांत माना है क्योंकि अंत में भारत-भाग्य दुखी होकर आत्महत्या कर लेता है और भारत दुर्दैव विजयी होता है। यही कदाचित् भ्रम का कारण है। विचारणीय बात यह है कि यदि इस नाटक का नायक भारत-भाग्य होता तो भारत दुर्दैव अपनी सेना रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार और सत्यानाश फौजदार को भारत को घेरने के लिए क्यों भेजता। वह तो बार-बार यही कहता है:—

"कहाँ गया भारत मूर्ख·····देखो तो अभी इसकी क्या दुर्दशा होती है[2]।"

"सब लोग मिलकर चारों ओर से हिन्दुस्तान को घेर लें[3]। रोग से—

"आज्ञा क्या है, भारत को चारों ओर से घेर लो।"

आलस्य से—

"तुम्हारे और साथी सब हिन्दुस्तान की ओर भेजे गए हैं, तुम भी वहीं जाओ[4]।"

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य पृ० ८४

२. भारतेंदु ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी २००७ विक्रम पृ० ४७४।

३. वही पृ० ४७८

४. वही पृ० ४८१

मदिरा से—

".....तुम भी हिन्दुस्तान की तरफ जाओ और हिंदुओं से समझो तो[1]।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह तो प्रमाणित हो गया कि भारत-भाग्य नायक नहीं है। इसका नायक वास्तव में भारत है और प्रतिनायक है भारत दुर्दैव। भारत के सहायक हैं निर्लज्जता और आशा। भाग्य तो उस समय भारत के पास आता है जब वह मूर्छित पड़ा होता है। इसके पूर्व उसका कहीं दर्शन नहीं होता। वह तो भारत का प्रच्छन्न शत्रु है, मित्र रूप में अपने को प्रगट करता है। वह प्रच्छन्न शत्रु भारत को विनाश-पथ पर चलाता रहा। इसी की मैत्री के कारण भारत ने आलस्य, कलह, कुमति और अज्ञान का साथ किया। जब तक भारत के पास वैभव था, यह प्रच्छन्न शत्रु इसे धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करता रहा और भारत को निर्धन, रोगी, आलसी, कलह-प्रिय, अशक्त, अज्ञानी बनाता रहा।

प्रथम अंक में ही इसकी ओर संकेत कर दिया गया है। योगी गाना गाता हुआ आता है और भारत के वर्तमान की तुलना उसके अतीत के साथ करता हुआ गाता चला जाता है। उसी गान में है :—

"दिन-दिन दूने दुख 'ईश' देत हा हा री[2] भाग्य के भरोसे बैठ आलसी भारत दूसरे अंक में रोता है।

---

१. वही पृ० ४८३

२. भारतेन्दु ग्रंथावली : ना० प्र० सभा काशी सं० २००७ वि० पृ० ४७०

"अरे देव ने सब कुछ मेरा नाश कर दिया, पर अभी संतुष्ट नहीं हुआ।"

कदाचित् कुछ लोगों ने इसी 'दैव' को ईश्वर समझ लिया है। इसी कारण भ्रम उठा है, परन्तु भारतेन्दु जी ने इन दोनों दैव और ईश्वर का अन्तर स्पष्ट कर दिया है। भारत प्रच्छन्न मित्र 'दैव' को तो दोष देता है, किंतु ईश्वर से रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। वह कहता है

"सब विधि दुख सागर में डूबत धाइ उबारो नाथ।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह प्रमाणित हो गया कि भारत ने अब अपने प्रच्छन्न शत्रु को पहचान लिया, किंतु पहचाना उस समय जब उसकी समस्त शक्ति विनष्ट हो चुकी थी। उसके सारे सहायकों-धन, बल, विद्या, बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदि का संहार हो चुका था। भाग्यवादिता के कारण इसे सन्तोष, खुशामद, कायरता मरी आदि प्राप्त हो चुके थे।

प्रच्छन्न शत्रु भाग्य का परम मित्र है संतोष। उसने भारत के प्रतिनायक भारत दुर्दैव की बड़ी सहायता की। वह (भाग्य) भारत का मित्र बनकर आया। उसने राजा-प्रजा सब को अपना चेला बना लिया।" इसका परिणाम क्या हुआ? "अब हिंदुओं को खाने मात्र से काम, देश से कुछ काम नहीं। राज न रहा, फैशन ही सही। रोजगार न रहा सूद ही सही। ..... "रोटी ही को सराह-सराह के खाते हैं। उद्यम की ओर देखते ही नहीं। निरुद्यमता ने भी संतोष को बड़ी सहायता दी।.....व्यापार को इन्हीं ने मार भगाया।" भाग्य ने भारत को अज्ञान में डाल दिया। विस्फोटक हैजा आदि बीमा-

रियाँ हों तो भाग्य के भरोसे बैठे-बैठे भारतवासी प्राण गँवा देंगे। और यदि रोग के शत्रु डाक्टर और विद्वान् इसी विस्फोटक के नाश का उपाय टीका लगाना इत्यादि करेंगे तो भी शीतला के डर से न मानेंगे [1]।"

भारत का प्रच्छन्न शत्रु जब भारत का सर्वस्व हरण करके उसको दुर्दैव से पराजित करा चुका और भारत अचेतनावस्था में पड़ा रह गया, तब फिर 'भाग्य' आता है और उसको अचेतनावस्था में देखकर गाता है। अब भारत का पूर्व इतिहास वर्णन करता है और मृत भारत को शव समझ कर उसे सरयू, यमुना, गंगा आदि के प्रवाह में विसर्जित कर सदा के लिए मिटा देना चाहता है। वह नदियों से कहता है :—

"बोरहु भारत भूमि सबेरे। मिटे करक जिय की तब मेरे [2]।"

जब भाग्य ने देख लिया कि अब भारत उठ नहीं सकता तो वह अपने यथार्थरूप को प्रकट करके कहता है।

"मुझ से वीरों का कर्म नहीं हो सकता [3]।"

वह जानता है कि भारत के अतिरिक्त से प्रश्रय देने वाला संसार में अन्य कोई देश नहीं, अतएव आत्मघात कर लेता है।

इस विस्तृत विवेचन का प्रयोजन यह था कि 'भाग्य' का स्थान नाटक में निर्धारित हो जाय। भाग्य (fate) के भरोसे बैठने से भारत का सर्वनाश हुआ। भाग्य का संहार ही भारतोदय का श्रीगणेश करता है। भारत अभी अचेतनावस्था में पड़ा था, मृतक नहीं बना है। अतएव यह नाटक दुखान्त है ही नहीं।

---

१. भारतेंदु ग्रंथावली: बाबू ब्रजरत्नदास ना० प्र० सभा, भाग प्रथम पृ० ४७१।

२. वही पृ० ४७८ से ७९ तक।

३. वही पृ० ४९६।

इससे यह ध्वनि निकलती हैं कि भारतेंदु जी ने भारत को दो रूपों में प्रदर्शित किया। एक पराधीन भारत, जो भाग्याधीन है, दूसरा स्वाधीन भारत है जो उनका आदर्श भारत है। स्पष्ट ही है कि भाग्याधीन भारत के उपरत हुए विना स्वाधीन भारत का उदय हो ही नहीं सकता। अतएव भाग्याधीन भारत का निधन इस कथावस्तु का अवश्यम्भावी परिणाम है। इसी कारण भाग्याधीन भारत के निधन से स्वाधीन भारत का उदय दिखाया गया है। इसका प्रमाण यह है कि इसका सन्देश नकारात्मक नहीं है। वह तो उस सुख का सन्देश-वाहक है, जिसका स्वरूप क्रान्ति है, जो स्वाधीन भारत-सूर्य का अरुणोदय है।

इसी अर्थ का संदेश हमें पंचम अंक में प्राप्त होता है। अब बचा दूसरा आक्षेप। दूसरा आक्षेप यह है कि भारतेंदु जी ने कोई आशा का संदेश नहीं दिया। तथ्य तो यह है कि इस संदेश के निमित्त ही उन्होंने पाँचवाँ अंक रखा है। इस अंक में तत्कालीन देश-हितैषियों की सभा होती है। चक्करदार टोपी, चश्मा, छड़ी वाले कदाचित् कांग्रेस के संस्थापक पारसी सर फिरोजशाह मेहता, बंगाली सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, महाराष्ट्री जस्टिस रानाडे, देशी भाई राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द प्रतीत होते हैं। कवि[1] महोदय उस समय के कवियों के प्रतिनिधि हैं जो भारत दुर्दैव से रक्षा का हास्यास्पद मार्ग बताते हैं।

दूसरे देशी भाई राजा साहब हैं जो डरते हैं कि "हाकिम लोग[2] नाराज हो जायें, और कल ही झाड़ बाजी होय।" केवल

१. भारतेंदु ग्रंथावली पृ० ४८६ कवि "जब फौज इस पार उतरने लगे कनात के बाहर हाथ निकाल कर उंगली चमकाकर कहे "मुए इधर न आइयो, इधर जनाने हैं।" बस बस दुश्मन हट जायेंगे।"

२. वही पृ० ४८८।

महाराष्ट्री और बंगाली सभासद् सभापति के साथ निर्भय रूप से काम करने को प्रस्तुत हैं और डिसलायल्टी के पकड़ने पर विपत्तियों का सामना करने को प्रस्तुत हैं; बंदीगृह का दुख सहने के लिए सन्नद्ध हैं। क्या यह आशा का चिह्न नहीं है ? क्या संवत् १९३३ वि० का लिखा नाटक संवत १९७७ वि० में होने वाले असहयोग आन्दोलन की भूमिका नहीं है ? यह एकनिष्ठ देश-हित-चिन्तक जिस उपाय की ओर संकेत कर गया, क्या वही ४५ वर्ष बाद उपयोग में नहीं लाया गया ? इससे बढ़कर सन्देश कोई कवि या नाटककार क्या दे सकता था ? उस सत्याग्रही ने सत्यपथ को नहीं त्यागा। उसकी पत्रिकायें बंद कर दी गईं। उसने आनरेरी मजिस्ट्रेटी त्याग दी, सरकार का सदा कोप-भाजन बना रहा, किंतु निर्भय होकर देशवासियों को राष्ट्रीयता का सन्देश सुनाता गया। उसने एक सदस्य के मुख से कहलाया "सब लोग मिलकर एक-चित्त हो विद्या की उन्नति करो,कला सीखो।""सार्वजनिक सभा की स्थापना करो कपड़ा बीनने की कल मंगाओ, हिन्दुस्तानी कपड़ा पहिनो।" इससे अधिक और क्या चाहिये।

इस विषय में बाबूगुलाबराय जी का मत है कि "भारत-दुर्दशा नाटक के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई गई है कि वह दुखान्त है, और उसमें आशा का संदेश नहीं है। यह ठीक है, किंतु कहीं-कहीं करुणा का आधिक्य लोगों को उद्योगशील बना देता है। करुणा में प्रायः वीररस की 'आवृत्ति' हो जाती है,"आइ गयहु हनुमान जिमि करुना महँ वीर रस।' कवि का लक्ष्य जागृति उत्पन्न करना था, वह चाहे आज्ञा और उत्साह द्वारा और चाहे करुणा के द्वारा।"[1]

---

१. साहित्य संदेश—वर्ष १२ अंक ४,५ पृ० २१६, २०
(भारतेंदु अंक)

हम समझते हैं कि बाबू गुलाबराय जी ने "करुणा में वीर रस के समान हनुमान" उस वार्त्तालाप की ओर संकेत करके कहा है जो डिसालायल्टी और सभा के वीर सदस्यों के मध्य हुआ। बाबू जी ने तथ्य को पकड़ कर ही उसकी ओर संकेत किया है और आशा का सन्देश-वाहक हनुमान के समान उसी दृढ़ता को बताया है जो बंगाली, महाराष्ट्री तथा सभापति के संवादों से टपकती है। किंतु उनका यह कहना कि यह नाटक दुःखान्त है, बिना किसी प्रमाण के आधार पर कैसे मान लिया जाय ?

अंधेर नगरी (सं० १९३८वि०)

पूर्व-लिखित नाटकों में भारतेंदु जी ने अपनी दृष्टि के सम्मुख उन शिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित, आभिजात्य तथा मध्यम वर्ग के प्रेक्षकों को रखा था, जिनमें कला-प्रेम के साथ-साथ परख की भी कुछ सामर्थ्य होती है, किंतु जनता का प्रतिनिधि (भारतेन्दु) लक्ष-लक्ष उन अशिक्षित ग्रामीणों को कैसे विस्मृत कर सकता है, जो शताब्दियों से पठन-पाठन की सुविधा, कलामय वातावरण तथा विनोद के उत्तम साधनों से वंचित है।

भारतेंदु जी ने ग्राम्यजीवन की त्रुटियों को भी समझा था। उन्होंने देखा था कि विवाह आदि उत्सवों के अवसरों पर भांड और स्वांग-मंडलियाँ किन अवांछनीय अश्लील खेलों से ग्रामीणों को हँसा कर रुपया ऐंठती हैं। इन मंडलियों में इसी बात की होड़ लगती है कि किस मंडली का घोड़ा अश्लीलता में सबसे आगे

छूटता है।[1] जो मंडली जितना ही अधिक अश्लील, भोंड़ा, भद्दा, वासनोत्तेजक खेल दिखाती है, वह अपने को उतनी ही प्रसिद्ध मानती है। उन मंडलियों का एक ही लक्ष्य होता है, किसी प्रकार निम्नतम स्तर के लोगों को रुचिकर प्रतीत होने वाला आख्यान अश्लीलतम शब्दों में अधिक से अधिक भोंड़े और भद्दे रूप में प्रदर्शित करना।

जैसा पूर्व कहा जा चुका है कि भारतेंदु जी किसी भी विनोद-परम्परा का बहिष्कार तथा संहार नहीं चाहते थे, प्रत्युत उसके परिष्कार तथा सुधार के अभिलाषी थे। यह नाटक कदाचित् उन्हीं अनपढ़ लोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, जिनकी शब्दावली अति परिमित होती है, और जिन्हें सीधे-सादे आख्यान के द्वारा प्रहसन देखने का अभ्यास है। भारतेंदु जी जनता की नाड़ी पहचानते थे। उन्होंने प्रहसन का ऐसा आख्यान निकाला जो ग्रामीण जनता को रुचिकर भी हो और लोगोंकी रुचि को परिमार्जित भी कर सके। शब्दावली उन्हीं के घर की हो, पर सुरुचिपूर्ण हो। घटनायें उन्हीं के मध्य घटित होने वाली हों, पर कला से वंचित न हों। वही चूरन वाला चूरन बेचता है और चने वाला चने। उन्हीं के घरों में प्रचलित शब्दावली, उन्हीं की शैली, किन्तु एक विज्ञ कलाकार उन सभी अवयवों का समीकरण जिस कौशल से करता है, वह नाटक में प्राण-प्रतिष्ठा कर देता है। उन्होंने गानों में से गाली-गलौच के अश्लील शब्दों को हटाकर उन्हीं के घरों में बोले जाने वाले कृष्णमुरारी, श्याम-सलोना को रख दिया है।

---

१. भांड मंडलियाँ प्रायः खेल प्रारम्भ होने के पूर्व छोड़ा छोड़ने का अभिनय करती हैं। पूर्वी प्रदेश में इसकी विशेष प्रथा है।

चूरन अमल वेद का भारी। जिसको खाते कृष्णमुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना। जिसको खाता श्याम-सलोना॥[1]

चूरन वाला चूरन के बहाने ऐसी अनूठी बातें सीधे-सादे शब्दों में कह जाता है कि सरकार की काली करतूतों का खुल्लम-खुल्ला भंडा-फोड़ हो जाता है और कानून की पकड़ में भी नहीं आता। देखिए :—

"चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता।
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।
चूरन हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते॥[2]

हजम कर जाने में कितनी अभिव्यंजना है। ऐसे स्थलों पर भी भारतेंदु बाबू की विलक्षण प्रतिभा का परिचय पाकर विस्मय होता है। पराधीनता की वेदना प्रगट करने का जहाँ भी अवसर मिला, वे चूके नहीं। ग्रामीण जनता के मध्य इन छोटे-छोटे शब्दों और पदों में हास्य का पुट देकर राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना उन्हीं का काम था। आज भी गाँवों में चना और चूरन इन्हीं गानों के साथ बेचे जाते हैं। सैकड़ों मनुष्य उनके चतुर्दिक् खड़े होकर इन गानों को सुनते और आनन्द उठाते हैं।

प्रायः प्रत्येक जाति के प्रत्येक वर्ग के दोषों को इस प्रहसन में दिखाया गया है। उदाहरण के लिए देखिए :—

"ब्राह्मण[3]—टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायें और धोबी को

---

१. भारतेंदु नाटकावली पृ० ६६०।

२. भारतेंदु नाटकावली पृ० ६६१

३. वही पृ० ६८६।

ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान।"

इस नाटक में ग्रामीण जनता ने आद्योपान्त जितना हास्य-विनोद पाया, उतना ही राष्ट्रीयता का पाठ भी अनजाने सीख लिया। अन्यायी राजा को अन्त में टिकठी पर चढ़ाकर भारतेंदु जी भविष्य में भारतोद्धार की ओर संकेत भी करते हैं। अकेले इस नाटक ने जितना उपकार ग्रामीण जनता का किया, उतना कदाचित् ही अद्यावधि किसी अन्य नाटक ने किया हो? ग्रामीण शब्दों की छटा देखिए—टिकस, बोदा, चौपट्ट, नैनुवा, गैया, लकलक, बुंबक-बुंबक, भिच्छा।

भारतेंदु जी ने स्वांग-मंडलियों और भांड़ों को जो मार्ग दिखाया, उस पर चलने से ग्रामीण अनपढ़ जनता की रुचि का परिष्कार भी होता और उनको हास्य-विनोद में भी और अधिक रस मिलता। कुछ काल तक भारतेंदु के पथ का अनुसरण हुआ। किंतु आगे चलकर पठित समाज में कोई ऐसा प्रतिभाशाली नाट्यकार न हुआ जो इस प्रकार के अन्य नाटकों द्वारा प्रहसन में विविध विषयों का समावेश करके जनता का मंगल करता। आज के नाट्यकार यदि इस ओर ध्यान दें तो हिन्दी-साहित्य के एक और अंग की श्री-वृद्धि हो।

नीलदेवी (गीतिरूपक) (सं० १९३८ वि०)

भारतेंदु जी ने अभी तक मुस्लिम राज्य-काल की कोई ऐतिहासिक घटना लेकर नाटक की रचना नहीं की थी, और न स्त्रियों के वीरत्व का उल्लेख किया था। कदाचित् इन दोनों

अभावों ने इस नाटक-सृजन की प्रेरणा दी हो। इस नाटक के प्रारम्भ में दुर्गापाठ[1] के मंत्र हैं। तदुपरांत समर्पण इस प्रकार है—

"मातृ-भगिनी-सखी-तुल्या आर्य ललनागण को।"

ग्रंथ समर्पण करते समय वह अपना उद्देश्य इस प्रकार प्रगट कर देते हैं ....."जिस भांति अँग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज संभालती हैं, अपने सन्तानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, उसी भांति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोध हम लोगों की वर्तमान कुल परम्परामात्र है और कुछ नहीं है[2]।"

इन उद्धरणों से भारतेन्दु बाबू का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। नारी जाति को उद्बुद्ध कर जाति और देश की विपत्ति निवारण करने के लिए उन्हें कुछ करने की प्रेरणा देना उनका ध्येय जान पड़ता है। किंतु इस नाटक पर यह आपत्ति उठाई जाती है कि "जिस आदर्श को सामने रखकर भारतेन्दु जी ने इसकी रचना की है—उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है[3]।"

---

१. भारतेंदु ग्रंथावली भाग पहला (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी सं० २००७ पृ० ५१७।)

२. वही पृ० ५१६।

३. भारतेंदु नाटकावली (इंडियन प्रेस प्रयाग) सन् १६२७ ई० बा० श्यामसुन्दरदास पृ० ६८।

देखना यह है कि बाबू श्यामसुन्दरदास जी का आक्षेप कहाँ तक उचित है। भारतेन्दु जी ने निज उद्देश्य-पूर्ति के लिए उन राजपूत-नारियों को पात्र नहीं बनाया है जो पुरुषों के पराजित होने पर हँसते-हँसते जौहर ज्वाला में भस्म हो जाती थीं और विजेता यवन सुखपूर्वक उनके दुर्गों पर अधिकार कर लेते थे। भारतेन्दु ने अपने युग में इस प्रकार के नारी-वीरत्व को उपयोगी न समझ कर एक नया पथ ढूँढा। उन्होंने पंजाब के राजा सूर्य-देव और अमीर अब्दुश्शरीफ खाँ सूर के युद्ध को कथावस्तु के रूप में ग्रहण किया। इस नाटक में रात्रि के समय अचानक धावा बोलकर अमीर के सैनिक राजा सूर्यदेव को बन्दी बना लेते हैं। पिंजड़े में बन्द राजा धर्म-परिवर्तन के लिए आग्रह करने वाले मुसलमानों पर थूक देता है और कहता है "तुझ पर थू और तेरे मत पर थू[1]।" जब उसे मारने के लिए सैनिक अस्त्र लेकर दौड़ते हैं तो वह पिंजड़े के छड़ तोड़कर बाहर निकलता है और कई यवनों का संहार कर वीरगति पाता है।

राजा की मृत्यु के कारण राजपूतों की अधिक संख्या निराश हो युद्धक्षेत्र छोड़कर चली जाती है। ऐसी अवस्था में रानी विजय की कोई युक्ति न देख छद्मवेश में नर्त्तकी बनती है और अमीर से प्रतिशोध लेकर पति के साथ चिता पर भस्म होने में उल्लास से भर जाती है। राजपूतों की विजय और अमीर की पराजय होती है।

भारतेन्दु जी का यह मौलिक नाटक है। इसमें उनका हृदय देश की दीनदशा पर आठ-आठ आँसू रोता है और अपनी उस

---

१. भारतेंदु ग्रंथावली भाग प्रथम पृ० ५३५ नागरीप्रचारिणी सभा काशी सं० २००७ वि०।

व्यथा को वह वसंत और पंडित जी नामक दो पात्रों के द्वारा प्रकट करते हैं।

वसंत[1] और पंडित जी के संवाद द्वारा भारतेन्दु जी ने यह बतलाना चाहा है कि राजा धर्मात्मा था और अधर्म-युद्ध में मारा गया। अब देश-रक्षा का कोई उपाय नहीं था। प्रजा भगवान-नामोच्चारण के अतिरिक्त और कोई पथ नहीं पा रही थी। ऐसी दशा में क्या करना चाहिए।

नाटक के प्रारम्भ में यह दिखाया गया है कि रानी[2] ने राजा सूर्यदेव से अधर्म युद्ध में तत्पर मुसलमानों के प्रति सावधान रहने को कहा। राजा को यह विश्वास था कि मुसलमानों को युद्ध में हम अवश्य जीत लेंगे, किंतु उन्होंने रानी की आशंका पर ध्यान न देकर दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। राजा की धारणा थी कि यवन रात्रि के समय सुप्तावस्था में आक्रमण नहीं करेंगे।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० ५३६।

मियाँ (पंडित जी)—हाय! अब भारतवर्ष की कौन गति होगी? अब त्रैलोक्य-ललाम सुता भारत कमलिनी को यह दुष्ट यवन यथासुख दलन करेंगे। अब स्वाधीनता का सूर्य हम लोगों में फिर न प्रकाश करेगा। हाय! परमेश्वर तू कहाँ सो रहा है। हाय! धार्मिक वीर पुरुष की यह गति।

कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
जागत नेक न जदपि बहुत विधि भारतवासी रोए।
... ...
सब विधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई॥

२. "रानी—सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं।"
भारतेन्दु ग्रंथावली भाग प्रथम, पृ० ५२३

ऐसा अधर्म-युद्ध असम्भव समझ कर वह निश्शंक शयन कर रहा था। ऐसी अवस्था में आक्रमणकारी यवनों ने राजा को बंदी बना लिया और उनका वध कर डाला। अब स्थिति विकराल बन गई। अब रानी क्या करे ? उसके सम्मुख तीन मार्ग थे, जिनका अनुसरण वह कर सकती थी। एक मार्ग यह था कि प्रजा में सहस्रों अनाथ अबलाओं को विजेताओं की नृशंसता और स्वेच्छाचारिता का शिकार बनने के लिए छोड़कर स्वतः जौहर की ज्वाला में जल जाती। अथवा अस्त्र-शस्त्र लेकर अल्पसंख्यक राजपूतों के साथ युद्धक्षेत्र में मर मिटती। उस अवस्था में भी प्रजा असहाय अवस्था में ही लूट जाती। अथवा उस कला के द्वारा जिसमें वह अत्यन्त प्रवीण थी अन्यायी शत्रुओं को मुग्ध बनाकर अधर्म युद्ध का बदला उसी प्रकार लेती जिस प्रकार छद्म घटा-निवारण होने पर अर्जुन ने कौरवों से अधर्म युद्ध में आहत अपने पुत्र के बध का बदला लिया था।

बाबू श्यामसुन्दरदास जी कदाचित् एक "आर्य ललना" का मुसलमानी दरबार में नर्तकी के भेष में जाना भारतीय मर्यादा के विरुद्ध समझ कर यह आपत्ति उठाते हैं कि भारतेन्दु जी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए।

सोचने की बात है कि भारतेन्दु जी का उद्देश्य है क्या ? वे चाहते हैं कि भारतीय ललनाएँ भी विविध कलाओं के द्वारा आत्मरक्षा तथा देश-कल्याण में सहयोग दें। हाथ पर हाथ धर कर अकर्मण्य न बनी रहें। परम्परा के मिथ्या-बन्धन में अपने को न बाँधे। नीलदेवी यदि प्रथम दो मार्गों में से किसी एक का अनुसरण करती तो किस प्रकार देशहित, जाति-रक्षा आत्मरक्षा में सहायक होती। तीसरे पथ के अनुसरण से उसने जाति की स्वतन्त्रता बचाई, अबलाओं का धर्म बचाया और अन्याय युद्ध-

कर्ताओं को अधर्म का मजा चखाया। प्रजा को सुखी देखते हुए पति के साथ हँसते-हँसते अन्त में चिता पर जलकर भस्म हो गई।

एक विचारणीय बात यह है कि भारतेन्दु इस नाटक में केवल धर्मनीति ही नहीं बताना चाहते, प्रत्युत धर्मनीति और राजनीति का समन्वय करना चाहते हैं। "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" वाली नीति यदि राजनीति में सहायक हो सकती हो तो उस परिस्थिति में साधुता के द्वारा देश और जाति का संहार भारतेन्दु जी को उचित नहीं प्रतीत होता। राजा सूर्यदेव अधर्म-युद्ध करने वालों से धर्म युद्ध की अपेक्षा करता था, उसका फल कितना विषैला हुआ। अधर्मी के साथ कौशल-द्वारा-युद्ध ही कल्याणकर हो सकता है। भारतेन्दु बाबू यही सिद्धांत एक पात्र के मुख से कहलाते हैं:—

"आर्य वंश को बधन पुन्य जा अधम धर्म में।
गोभच्छन द्विज श्रुति हिंसन नित जासु कर्म में॥
तिनको तुरतहिं हतौ मिले रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किये हूँ पुन्य सदाहीं[1]॥"

एक बात को विस्मरण करने से भारतेन्दु जी के साथ हम अन्याय करेंगे। भारतेन्दु जी ने यह आपद्धर्म बताया है। शांति-काल में इस नीति का उपयोग अवश्य ही वर्जनीय है। शान्तिकाल में भारतेन्दु बाबू आर्य ललनाओं को लज्जा की तिलांजलि देकर अपने पति के साथ गौरांगी युवती के समान घूमना भी निन्द्य समझते हैं। नर्तकी बनकर मुसलमान दरबार में एक आर्य ललना का जाना कैसे सहन कर सकते हैं। दूसरी बात यह है कि किसी दरबार में नृत्य और संगीतकला का प्रदर्शन कब वर्जित है?

---

१. भारतेंदु ग्रंथावली प्रथम भाग पृष्ठ ५४०।

वर्जित नृत्य-कला-प्रदर्शन नहीं प्रत्युत वह स्वार्थमय निन्द्य उद्देश्य है जिसकी प्रेरणा से नर्तकियाँ राजा-नवाबों के विलास और उपभोग की सामग्री बनती हैं। इस नाटक में रानी नीलदेवी का उद्देश्य है अपनी जाति के स्वातन्त्र्य की रक्षा और पति-वध का प्रतिशोध। इसमें अपवित्रता की गंध कहाँ ? ज्योंही अमीर अब्दुलशरीफ "जान-साहब" सम्बोधित कर मद्यपात्र देने के लिए निकट पहुँचता है, रानी चंडी के समान उसका रक्त पी लेती है। उसके [1] शब्दों में कितना बल है ! धन्य है रानी के साहस को। दानव रूप शत्रुओं के मध्य में चंडी के सदृश निर्भय जाकर प्रलय-नृत्य करने वाली रानी का साहस जौहर में जलने वाली क्षत्राणियों तथा युद्धक्षेत्र में लड़ने वाली लक्ष्मीबाई से किस प्रकार कम है ?

उपर्युक्त तर्कों को यदि छोड़ दिया जाय और नीलदेवी को रानी न मानकर एक कलाविद् नर्तकी ही समझ लिया जाय तो भी क्या नीलदेवी का शौर्यमय कृत्य निन्द्य है ? एक नर्तकी अपना अभिनय दिखाने के लिए किसी शाही दरबार में जाती है तो क्या शासक का यही कर्त्तव्य है कि उसके सतीत्व को भंग करने की चेष्टा करे ? प्रत्येक नर्त्तकी वैश्या नहीं। गायिका नीलदेवी ने दरबार में जिस शर्त पर गाना प्रारम्भ किया था उसे भी ध्यान से सुन लेना चाहिए[2]।

---

१. भारतेंदु ग्रंथावली पृ० ५४५।

"नीलदेवी—ले चंडाल पापी ! मुझको जान साहब कहने का फल ले, महाराज के बध का बदला ले। मेरी यही इच्छी थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से बध करूँ.....

अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।"

२. भारतेन्दु ग्रंथावली पृ० ५४३।

"अमीर—तुम्हारा क्या नाम है ?

गायिका—मेरा नाम चंडिका है। मैं बड़ी दूर से आप का नाम सुनकर आती हूँ।

अमीर—बहुत अच्छी बात है। जल्द गाना शुरू करो। तुम्हारा गाना सुनने को मेरा एश्तियाक हर लहजे बढ़ता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा।

गायिका—जो हुक्म।"

गायिका गाती है, दरबारी प्रसन्न होते हैं। अमीर गायिका को मद्यपान के लिए बार-बार विवश करता है, किंतु वह अस्वीकार करती जाती है। वह तब तक प्रार्थना करती है जब तक अमीर मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। जब अमीर शराब का प्याला स्वयं उठाकर पीने को बाध्य करता हुआ उसका शरीर स्पर्श करना चाहता है और "लो जान" कहता है, तभी गायिका प्रहार करने को विवश होती है। भारतेन्दु जी ने कितनी सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया है। कोई स्वाभिमानिनी कलाविद् नर्तकी इस हत्या के लिए क्षम्य मानी जाती, रानी का तो प्रश्न ही क्या। इसका यह भी उद्देश्य झलकता है कि भारतीय नारी अबला ही नहीं, प्रत्युत चंडी भी है। आपत्तिकाल में वह चंडी बनकर आत्मरक्षा कर सकती है। इस सम्बन्ध में बाबू गुलाबराय जी का तर्क भी हमारे मत की पुष्टि करता है। बाबू जी कहते हैं "साध्य के उत्तम होने से साधनों की नीचता क्षम्य हो जाती है। पद्मावती ने भी ऐसा ही किया था। उसने अलाउद्दीन के पास विवाह की स्वीकृति भेज दी थी।"

बाबू श्यामसुन्दरदास जी का निजी मत भी इस नाटक के सम्बन्ध में दो स्थानों पर भिन्न-भिन्न है। दोनों में किसी प्रकार

संगति नहीं बैठती। इस नाटक की असफलता का मत पहले उद्धृत किया जा चुका है। दूसरा मत प्रशंसा-सूचक यह है—"भारतदुर्दशा और नीलदेवी में भारतेन्दु जी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है और इनके द्वारा वे पढ़ने वालों अथवा अभिनय देखने वालों के सामने देश का एक सजीव आदर्शपूर्ण तथा अनुकरणीय चित्र उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। ये दोनों रचनाएँ देश-हितैषिता के भावों से कूट-कूट कर भरी हुई हैं[1]।"

उपर्युक्त दोनों मतों में किसे ठीक माना जाय? एक श्वास में तो बाबू जी इसे 'अनुकरणीय' कहते हैं और दूसरे ही क्षण निजमत का खंडन करते हुए कहते हैं, "जिस आदर्श को सामने रख कर भारतेंदु जी ने इसकी रचना की है उसकी सिद्धि इससे नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।"[2]

इन्हीं मौलिक नाटकों की समालोचना के आधार पर बाबू जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "जो कुछ आक्षेप या दुख की बात है, वह यह है कि संस्कृत के कई नाटकों के अनुवादक होने पर भी भारतेंदु जी ने अपने परम उन्नत नाट्यशास्त्र के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया।"[3]

नीलदेवी की समालोचना में भारतेंदु जी की जो कल्पना 'प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना' देने वाली कह कर लेखक के

---

१. भारतेंदु नाटकावली (बाबू श्यामसुन्दरदास) इंडियन प्रेस प्रयाग सन् १९२७ ई० पृष्ठ ६६।

२. वही—पृष्ठ ६८।

३. वही—पृ० ७१।

नाट्यशास्त्र के अज्ञान का प्रमाण मानी गई है, वास्तव में कला दृष्टि से वही इस नाटक की प्राणविधायिनी है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने केवल कथानक की रूप-रेखा के आधार पर अपना मत दिया है, क्योंकि नाटक की संक्षिप्त कथावस्तु का उल्लेख करके अन्त में उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है। इसके अन्य अवयवों का उल्लेख तक नही किया है।

विचारने की बात है कि क्या कथावस्तु[1] ही नाटक में सबसे प्रधान है या उसके और भी अवयव महत्ता रखते हैं। नाटकों को सफल बनाने में "पताका-स्थानक" विशेष बल प्रदान करता है। नीलदेवी का नर्त्तकी बनकर दरबार में जाना वास्तव में कला की दृष्टि से विशेष प्रभाव रखता है। यही पताका स्थानक है जिससे नाटक में चमत्कार बढ़ गया है। इससे रानी के चरित्र में

---

1. "At the same time, it can never be admitted that the plot is of chief importance in a drama, or that it is the plot that gives to a great tragedy or to a great comedy its outstanding position. That outstanding position must come from the presentation of character, from the ideas and the atmosphere and the style of the drama, for all of which the plot but forms the setting."

Book—An Introduction to Dramatic Theory by Allardycl Nicoll. Page 33.

विकास और नाट्यकार की कला का प्रस्फुटन होता है । पताका-स्थानक[1] का विशेष महत्त्व वर्णन किया गया है। शकुन्तला, वेणीसंहार, रत्नावली में इसके कारण चमत्कार आ गया है। आज के समालोचक भी पताका-स्थानक के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। नीलदेवी के दशम दृश्य में उसी की उत्कृष्ट झांकी भारतेन्दु जी ने प्रेक्षकों को दिखाई है।

पताकास्थानक में सहसा स्थिति-विपर्यय से अर्थ-सिद्धि द्वारा कथावस्तु की धारा-दिशा मोड़ दी जाती है। 'अमीर' दरबारियों के साथ सौंदर्यमयी-नर्त्तकी के मधुर संगीत से मुग्ध होकर शृंगार रस की अनुभूति कर रहा था। अचानक घटना-प्रवाह परिवर्त्तित होता है और खंगधारिणी दुर्गा के सदृश नीलदेवी का रौद्र रूप देखकर विस्मित प्रेक्षकों को अद्भुतरस का आस्वादन होने लगता है। प्रेक्षक दुरात्मा अमीर को आहत देख कर धर्म की विजय और अधर्म की पराजय पर प्रसन्न होते हैं। इतने ही में और भी विस्मयकारी घटना घटती है। राजकुमार सोमदेव अपने सैनिकों के साथ अमीर का शिविर छिन्न-भिन्न करते हुए शत्रुओं का संहार करने लगते हैं। 'भारतवर्ष की जय'[2] 'आर्य कुल की जय' 'महारानी नीलदेवी की जय' आदि जयकारों से वायुमंडल गूंज जाता है। प्रेक्षकों में स्वभावतः हर्ष का संचार होता है। रानी के सिद्धान्तों की विजय और देश के स्वातन्त्र्य की रक्षा होती है। इस प्रकार सुखान्त नाटक समाप्त होता है।

---

१. पताका स्थानकः—सहसैवार्थ सम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परकीर्त्तितम् ॥
साहित्य दर्पण षष्ठः परिच्छेदः ॥३०३॥

२. भारतेंदु ग्रंथावली : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी । संवत् २००७ वि० पृ० ५४६ ।

कुछ समालोचक[1] इसे नितान्त दुखान्त नाटक मानते हैं। दुखान्त तो तब होता जब धर्म के ऊपर अधर्म की विजय होती, या रानी नीलदेवी को पराजय प्राप्त हो जाती। रानी नीलदेवी का ध्येय पूरा होता है। देश स्वतन्त्र रह जाता है, पति का हत्याकारी परलोकगामी बनता है और रानी का पुत्र सिंहासनासीन होता है। एक आर्य-ललना को और क्या चाहिए? पति युद्धभूमि में अधर्मियों का संहार करते हुए वीरगति पाता है और पुत्र उसके राज्य को सँभाल लेता है। रानी स्वर्ग से पति के पुनरागमन कराने में असमर्थ थी अतएव उनसे मिलने को प्रस्थान करती है। इसमें दुख किसको और क्यों हो? प्रेक्षक रानी को चितारूढ़ नहीं देखते। हाँ, रानी अन्त में यह कहती हुई अवश्य सुनी जाती है, "मेरी यही इच्छा थी कि 'मैं इस चांडाल का अपने हाथ से बध करूँ'.....सो इच्छा पूर्ण हुई। अब मैं सुख पूर्वक सती हूँगी।"

भारतेंदु जी ने अन्तिम वाक्य कहलाकर नीलदेवी के मानव-चरित्र को देवत्व से सुरभित कर दिया। अन्यथा उसके ऊपर प्राणभीरु होने का आक्षेप लग सकता था। उसने प्राणों के मोह से छद्मवेश नहीं बनाया था, उसने राज्य-प्रलोभन के कारण यह दुस्साहस नहीं किया, उसने छद्म-दुर्गा का रूप केवल जाति, देश और धर्म की रक्षा की भावना से प्रेरित होकर किया। चरित्र का मूल्यांकन भावना से होता है न कि वेश से।

भारतेंदु द्वारा संशोधित 'भारतजननी' (संवत् १९३४ वि०)

यह नाटक बँगला का अनुवाद है। १५ फरवरी सन् १८७३ ई० को नेशनल-थियेटर कलकत्ता में 'भारतमाता' नामक नाटक 'अमृत-बाजार-पत्रिका' के संपादक बाबू शिशिर कुमार घोष की

१. डा० सोमनाथ : हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास पृ० ५२।

प्रेरणा से खेला गया था। बाबू ब्रजरत्न दास† का कहना है कि भारतेंदु जी ने स्वतः बँगला से अनुवाद नहीं किया, प्रत्युत उनके एक मित्र ने अपने अनूदित नाटक को इनसे संशोधन कराया। संशोधन में नाटक का सम्पूर्ण रूप ही बदल गया, अतएव उन्होंने अपना नाम मुखपृष्ठ पर देना उचित नहीं समझा। अतः इस नाटक में कितना अंश भारतेंदु जी का रचित है और कितना अनुवादक का है यह कैसे निर्णय किया जाय!

डा० सोमनाथ‡ इस नाटक को भारतेंदु जी की मौलिक रचना मानते हैं और साथ ही साथ यह भी कह जाते हैं कि "इसे नाटक कहना व्यर्थ है।" नाटक न कहने का कारण बताते हैं कि "इसमें एक ही दृश्य है और सारा कार्य-व्यापार उसी में आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है।" डा० सोमनाथ जिस कारण से नाटक नाम देने का विरोध करते हैं वह तो उत्तम एकांकी नाटक का लक्षण है। एक ही दृश्य में आद्योपान्त कथावस्तु दिखाई जा सके तो अभिनय में पट-परिवर्तन का झगड़ा ही बच जाये और प्रेक्षकों को सफलता से रसानुभूति कराई जा सके।

इस नाटक को स्वयं भारतेंदु जी ने मौलिक नाटक नहीं बताया है। आश्चर्य है कि डा० सोमनाथ किस आधार पर इसे मौलिक मानते हैं। भारतेंदु जी लिखते हैं, "भारत-जननी-रूपक जो गत नवम्बर सन् १८७८ ई० से छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। वह रूपक मेरा बनाया नहीं है। बंगभाषा में "भारतमाता" नामक जो रूपक है वह उसी का अनुवाद है जो

---

† हिंदी नाट्य साहित्य : बाबू ब्रजरत्नदास. हिंदी साहित्य कुटीर बनारस, पृ० ७६।

‡ हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ५१।

मेरे एक मित्र का किया है, जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है। कवि की कीर्ति का लोभ नहीं करना। अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ।‡

हमारे मत में तो एक दृश्य में समाप्त होने वाला यह नाटक आधुनिक युग का उत्तम एकांकी है।

---

१. भारतेंदु नाटकावली : संपादक श्यामसुंदर दास बी. ए. (भूमिका पृ० २) प्रकाशक इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२७ ई० प्रथम संस्करण।

नवाँ अध्याय

भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि नाट्यकार

भारतेन्दु जी ने स्वयं तो नाट्यरचना की ही, अपने मित्रों को भी नाट्य-निर्माण और नाट्याभिनय के लिए प्रेरणा दी। उनके व्यक्तित्व और प्रोत्साहन से आकर्षित होकर तत्कालीन सभी प्रसिद्ध लेखक उनके सम्पर्क में आए। जो भी एक बार सम्पर्क में आगया वह उनके प्रेमपाश में ऐसा आबद्ध हुआ कि आजीवन उनका मित्र बना रहा। जिसमें उन्होंने साहित्य-सृजन की अल्पक्षमता भी पाई, उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। फलतः एक बृहद् साहित्यिक मंडल निर्मित हो गया जिसके केन्द्र रूप भारतेन्दु जी विराजमान थे।

इस साहित्यिक मंडल का एक उज्ज्वल नक्षत्र भारतेन्दु जी की मृत्यु के दो वर्ष बाद ही अस्त हो गया। मेरा तात्पर्य लाला श्री निवासदास जी से है। लाला जी को भारतेन्दु जी अपना मित्र कहा करते थे। लाला जी ने प्रह्लाद चरित, तप्तासंवरण (सं०१९३१ वि०) रणधीर-प्रेममोहिनी (सं०१९३४ वि०)और संयोगता स्वयंवर (१९४२ वि०)नामक चार नाटक लिखे। इनमें तप्तासंवरण और रणधीर-प्रेममोहिनी के कथानक काल्पनिक हैं। तप्तासंवरण में शकुन्तला नाटक की शैली[1] पर पत्र लेखन, ऋषि-

---

१. पत्र लेखन : शकुन्तला के सदृश तप्ता भी विरह के कारण पत्र लिखती है।

शाप[1] और शाप निवारण[2] विधि आदि बातें पाई जाती हैं। यह नाटक सुखान्त बना दिया गया है। इनके दूसरे नाटक रणधीरप्रेम मोहिनी में कथानक का सृजन और चरित्र-चित्रण प्रायः पश्चिमी शैली पर मिलता है। इसमें प्रस्तावना का भी अभाव है। स्वयंवर की रचना भारतीय-पद्धति पर की गई है किंतु अंत में पश्चिमीय शैली की गंध आती है। प्रेमी नायक रणधीर सब शत्रुओं का संहार कर आहत हो जाता है और अपनी प्रेयसी प्रेममोहनी की गोद में प्राण-विसर्जन कर देता है और दोनों एक चिता पर जलाए जाते हैं। इस प्रकार रणधीर और प्रेममोहिनी अपने प्रेम-प्राण का पालन करते हैं; रिपुदमनसिंह और रणधीरसिंह मैत्री का निर्वाह करते हैं। रिपुदमनसिंह की सामान्य त्रुटि ने दो परिवारों का सर्वनाश कर दिया। इस प्रकार यह हिंदी का सर्वप्रथम दुखान्त नाटक माना जाता है। एक विद्वान् का कहना है 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाम ही 'रोमियों ऐंड जुलियट' की ओर ध्यान ले जाता है। कथावस्तु भी इसकी प्रचलित प्रथानुसार पौराणिक या ऐतिहासिक न होकर कल्पित है[3]।

किंतु इस नाटक में हमें तीन युग की सामाजिक स्थिति का चित्र मिलता है। सूरत के महाराज द्वारा अपनी पुत्री की स्वयंवर-योजना प्राचीन युग का दृश्य उपस्थित करती है। सखी मालती के इस कथन से कि "प्रेम मोहिनी के स्वयंवर

---

१. ऋषि शाप : दुर्वासा के सदृश गौतम भी संवरण को शाप दे देते हैं।

२. शाप निवारण : मुद्रिका दर्शन के समान शापनिवारणविधि अंगस्पर्श बताई गई है।

३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पं० रामचंद्र शुक्ल पृ० ४१०

में शास्त्रविद्या की परीक्षा के बीच जो वीर रणधीर ठहरेगा उसको उसी समय ये प्रतिमा दी जायगी[1]—यह मत और भी स्पष्ट हो जाता है।

मध्यकाल की प्रथा का सूचक यह पद है—

"देख्यो प्रेम को पंथ जुदोही।
जाने प्रीति रीति रस चाख्यो, ताहि न भावत कोई,
दीपक की छवि लख पतंग ने, पंख आपनी खोई।
बेधत मधुप काठ पर हितबस, कमल न छेदत सोई।
जाकी प्रीति लगी काहू सों, याको जानत वोई[2]।"

तत्कालीन स्थिति इस प्रकार मिलती है—

"हे भारत-भूमि! तू अपनी सन्तान का ये हाल देखकर क्यों नहीं फटती। हाँ! किसी नदी या समुद्र में भी इतना जल नहीं आता जो हम लोग उसमें डूब जायें[3]।"

लाला जी का तीसरा नाटक 'प्रह्लाद-चरित' है। इस नाटक का प्रारम्भ बैकुंठ के दृश्य से होता है। द्वारपाल 'जय-विजय' एवं सनकादि ऋषियों को रोकने के कारण शापग्रस्त बनते हैं। यहाँ से कथा प्रारम्भ होती है, और प्रह्लाद का पूरा चरित दिखाकर नृसिंह अवतार होने के उपरांत समाप्त होती है।

हम पूर्व लिख आये हैं कि रासनाटकों में भी 'प्रह्लाद-लीला' और 'नृसिंह-लीला' का प्रचार था। प्रह्लाद का सम्पूर्ण चरित्र गीतिनाट्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। इस प्रकार प्रह्लाद चरित नाटक रास-नाटकों की परम्परा में आता है और

---

१. रणधीर और प्रेम मोहिनी प्रथम अंक पृ० २।

२. रणधीर और प्रेम मोहिनी प्रथम अंक पृ० २२।

३. वही पृ० ८३।

'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' नवीन शैली का अनुसरण करता है। इससे सिद्ध होता है कि लाला जी रास से लेकर अंग्रेजी शैली तक की विशेषताओं को समेटे चलते हैं।

भारतेन्दु और लाला श्री निवासदास की मृत्यु के उपरान्त भारतेंदु-मंडल न्यूनाधिक चालीस वर्षों तक अपने नेता के पथ पर चलता हुआ नाट्य साहित्य को विकसित बनाता रहा। इस प्रकार भारतेन्दु-प्रदर्शित नवीन मार्ग नाट्य-साहित्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करता रहा। इस पथ के पथिक थे – पं० प्रतापनारायण मिश्र (१६१३ से १६५१ वि० तक) राधा कृष्णदास (१६२२ से १६६४ वि० तक), बालकृष्ण भट्ट (१६०१ से १६७१ वि० तक), पं० बदरीनारायण चौधरी (१६१२ से १६७६ वि० तक), राधाचरण गोस्वामी(१६१५ से १६८२ वि०तक),अम्बिकादत्त व्यास(१६१५ से १६५७ वि० तक), तोताराम (१६०४ से १६५६ वि० तक)। इनके अतिरिक्त कार्तिक प्रसाद, काशीनाथ खत्री, शालिग्राम, अमानसिंह गोटिया, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, दामोदर शास्त्री, कृष्णदेवशरण सिंह "गोप" आदि भी कुछ न कुछ नाट्य साहित्य की वृद्धि कर गये हैं।

यदि भारतेन्दु युग को चार भागों में विभाजित कर दिया जाय तो एक-एक भाग के प्रतिनिधि नाट्यकार निर्णय किए जा सकते हैं।

प्रतिनिधि नाट्यकार संवत् १६४२ से १६५० वि० तक

पं० प्रतापनारायण मिश्र (सं० १६१३ से १६५१ वि० तक):— मिश्र जी ने भी भारतेन्दु जी के 'भारत-दुर्दशा' नाटक की शैली पर 'भारत-दुर्दशा रूपक' लिखा। इन्होंने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का स्वतन्त्र अनुवाद 'संगीत-शाकुन्तल' नाम से किया। यह

'संगीत-शाकुन्तल' गीतिनाट्य कदाचित् स्वांगवालों को लक्ष्य-कर के लिखा गया। कलियुग के दुर्व्यवहारों को प्रगट करने के लिए 'कलिकौतुक' नामक नाटक इन्होंने लिखा। यह नाटक भारत की सामाजिक परिस्थिति का यथार्थ चित्रण करता है। इसमें कपटी साधुओं का वितंडावाद, दुराचारियों का दुर्व्यवहार, माँस-भक्षियों तथा मदिरा-सेवियों का अनाचार, दिखाया गया है। 'गोसंकट नाटक' में गौओं की दुर्दशा दिखाई गई है। 'कलि प्रभाव' में कलियुग का प्रभुत्व और 'जुआरी-खुआरी' में द्यूतक्रीड़ा के अनर्थों का वर्णन मिलता है। 'जुआरी-खुआरी' एक प्रहसन है। 'हठी हमीर' में अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण का वर्णन है और हम्मीरसिंह की वीरतापूर्ण लड़ाई दिखाई गई है।

मिश्र जी भारतेंदु-मंडल में विनोद की मीठी गुदगुदी उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध थे। इनकी भाषा में कहीं शुद्ध-संस्कृत-पदावली का आनन्द मिलता है तो कहीं सलीस-उर्दू की जिन्दादिली। कई भाषाओं पर अधिकार होने के कारण इनके नाटकों में विभिन्न पात्रों की विभिन्न भाषायें नाटक को रोचक बना देती हैं। मुहावरों का जितना अच्छा प्रयोग मिश्र जी के नाटकों में मिलता है, उतना कदाचित् ही अन्यत्र मिले।

हिन्दी में उस काल तक नारी समस्या के आधार पर कथावस्तु प्रस्तुत करने वाले नाट्यकारों की संख्या अत्यल्प थी। मिश्र जी इस त्रुटि को समझते थे। अतएव हिन्दी-साहित्य को सब प्रकार से पूर्ण करने के अभिलाषी उस कवि ने नाटक लिखने का भी संकल्प किया और 'कलि-कौतुक-रूपक' में उस पतिव्रता हिन्दू नारी की दुःखद दशा प्रदर्शित की जो अपने वेश्यागामी पति के हाथों नाना प्रकार की विपत्ति सहते हुए भी उसके मंगल

की कामना करती है। ऐसी ही कथावस्तु के आधार पर भारतेंदु-युग में अनेक नाटक लिखे गए। अतः मिश्र जी को हम भारतेंदु युग का प्रतिनिधि नाट्यकार मानते हैं।

राधाकृष्णदास

प्रतिनिधि (सं० १९५० से १९६० तक)

राधाकृष्णदास (सं० १९२२ से १९६४ वि० तक)। राधाकृष्णदास जी भारतेंदु जी के फुफेरे भाई थे और प्रायः उन्हीं के साथ-साथ रहा करते थे। इन्होंने 'दुखिनी-बाला' नामक एकांकी नाटक लिखा। इनके 'महाराणी पद्मावती' और 'महाराणा प्रतापसिंह" दो ऐतिहासिक नाटक अपने युग के अति प्रसिद्ध नाटक माने जाते हैं। 'धर्मालाप' में केवल संवाद चमत्कार है। वार्त्तालाप द्वारा सनातनी, वेदान्ती, वैरागी, शैव, शाक्त, कौल, वैष्णव, आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज और थियासोफिस्टों का गुण-दोष दिखाया गया है।

राधाकृष्णदास ने 'दुखिनी-बाला' में एक हिन्दू-विधवा की दुखभरी कहानी नाटक रूप में दिखाई है। यह नाटक भारतेंदु जी के जीवन-काल में ही लिखा गया था। इसका प्रथम संस्करण सं० १९३७ वि० में प्रकाशित हुआ, जिसमें नायिका श्यामा पति की मृत्यु के उपरान्त संयममय जीवन की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारिणी बन जाती है और निन्दामय जीवन व्यतीत करती है। दो ही वर्ष बाद दूसरी आवृत्ति प्रकाशित हुई जिसमें सामाजिक निन्दा के भय से विषपान द्वारा विधवा श्यामा प्राण-विसर्जन कर देती है।

कथावस्तु में परिवर्तन यह संकेत कर रहा है कि सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम दुःखान्त नाटकों में प्रदर्शित करने की रुचि नाट्यकारों में पनप रही थी।

राधाकृष्णदास की प्रसिद्धि 'महारानी-पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' दो नाटकों के द्वारा फैली। ये दो ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं और देश पर बलिदान होने को आह्वान करते हैं। 'महारानी-पद्मावती' की रचना भारतेंदु जी के जीवन-काल में हुई थी।

किंतु 'महाराणा प्रताप' सं० १९५४ में लिखा गया। इस नाटक में दो कथानक साथ-साथ चलते दिखाई पड़ते हैं। यह सहवर्त्तिनी काल्पनिक घटना ऐतिहासिक वृत्त को अधिक आकर्षक रोचक और चरित्र-विधायक बनाती चलती है। एक ओर तो महाराणा प्रताप और अकबर की दृढ़ता, मानसिंह, सलीम और मुहब्बत खाँ के आक्रमण की विभीषिका और युद्ध का कोलाहल सुनाई पड़ता है तो दूसरी ओर गुलाब और मालती का मधुर प्रेमालाप, ब्रजवासियों के गीत चित्त को आकर्षित करते हैं। राजनीतिक चालों में अकबर की कूटनीति, मानसिंह का महाराणा के प्रति द्वेष, खानखाना का महाराणा की प्रशंसा और पृथ्वीराज का महाराणा को स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए प्रोत्साहन, ऐसे प्रसंग हैं, जो दर्शकों के हृदय-पटल पर नाना भावों को सजीव खड़ा कर देते हैं।

प्रेमालाप करने वाले गुलाब और मालती को भी नाट्यकार ने अन्त में वीर नर-नारी के रूप में दिखाया है। युद्ध में आहत गुलाबसिंह का शव ढूँढने वाली मालती को संन्यासिनी के वेश में देखते ही शृंगार-रस करुणा-सागर में विलीन हो जाता है। यह वीर-रस-प्रधान नाटक शृंगार और करुणा के सम्मिलन से मनोरम बन जाता है।

भारतेन्दु जी विरचित अपूर्ण 'सती प्रताप' नाटक को बाबू

राधाकृष्णदास जी ने इस योग्यता से सम्पूर्ण किया है कि पाठकों को दोनों की रचना में भेद प्रतीत होता ही नहीं।

चरित्र-चित्रण

पात्रों के चरित्र-चित्रण में बाबू राधाकृष्ण दास जी को अपूर्व सफलता मिली है। स्वतन्त्रता की वेदी पर परिवार सहित हँसते-हँसते बलि होने वाला प्रताप, धीरता, वीरता, क्षमा-शीलता और दृढ़ता का मानो आदर्श देवता है। मंत्री भामाशाह का जीवन-संचित-धन-द्वारा राष्ट्रहित में योग देनेवाला धनीमानी अधिकारियों को त्याग की प्रेरणा देता हुआ आदर्श मंत्रित्व का रूप खड़ा कर देता है। इन साहित्यिक सद्गुणों के अतिरिक्त इसकी अभिनेयता का यह प्रमाण है कि न जाने कितने रंगमंचों से इसका अभिनय दिखाया जा चुका है और आज भी इस नाटक की उपयोगिता कम नहीं हुई है।

भाषा

नाटक की भाषा में नाट्यकार ने आद्योपान्त इस बात का ध्यान रखा है कि मुसलमान पात्र सलीस उर्दू का प्रयोग करे। 'दरहदात' 'दाद गुस्तरी' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। जो पात्र मुसलमान नहीं हैं, उनकी भाषा कहीं साहित्यिक है और कहीं बोल-चाल की। पात्रों का ध्यान रखकर भाषा का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित हो जाता है कि ऐतिहासिक नाटकों में 'महाराणा-प्रताप' एक विशेष स्थान का अधिकारी है।

बालकृष्णभट्ट

प्रतिनिधि (सं० १६६० से १६७० वि० तक)

बालकृष्ण भट्ट (सं० १६०१ से १६७१ वि० तक):—भट्ट जी के निबन्ध जितने पांडित्यपूर्ण और गम्भीर होते हैं उतने ही इनके नाटक सरस और हास्यरस संयुक्त होते हैं। इनके नाटकों की संख्या भी तत्कालीन सभी नाट्यकारों से अधिक है। कतिपय इतिहास-लेखक इनके प्रकाशित तथा अप्रकाशित नाटकों की संख्या १५ तक बताते हैं। किन्तु अभी तक इनके सब नाटक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इन्होंने माईकेल दत्त के दो नाटकों 'पद्मावती और 'शर्मिष्ठा' का अनुवाद भी किया है। इनके मौलिक नाटकों में 'दमयन्ती-स्वयंवर', 'वेणु-संहार' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्तिम नाटक प्रहसन है, जिसमें वेश्यागामी को जो दुष्परिणाम झेलने पड़ते हैं, उनका दिग्दर्शन कराया गया है[1]।

'दमयन्ती-स्वयंवर' संवत् १६५४ वि० में 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित हुआ। भारतीय नाट्यशैली के अनुसार नान्दी, सूत्रधार और प्रस्तावना का समावेश किया गया है। प्रत्येक अङ्क में दो या अधिक गर्भांक हैं। पौराणिक कथानक को लेकर शास्त्रीय पद्धति पर लिखे हुए इस नाटक में कहीं-कहीं संस्कृत के श्लोक मिलते हैं। इस नाटक की संवाद-योजना में इनके अन्य नाटकों से अधिक सौष्ठव दिखाई पड़ता है। आश्चर्य है कि आद्योपांत नाट्य शास्त्र का अनुसरण करते हुए इन्होंने अन्त में 'भरत-वाक्य' क्यों छोड़ दिया।

इनकी दूसरी प्रसिद्ध रचना 'वेणु-संहार' (सं० १६६६ वि०) में प्रस्तुत हुई। इसका भी पौराणिक कथानक अति प्रसिद्ध

१. प्रहसन के प्रकरण में इस नाटक का विशेष विवरण दिया जायगा।

है। नान्दी,[1] सूत्रधार और प्रस्तावना के साथ नाटक का आरम्भ होता है। इस नाटक में राजा वेणु के अत्याचारों से संतप्त प्रजा का रोदन और ऋषिशाप द्वारा राजा का संहार दिखाया गया है।

यद्यपि कथानक मूलतः पौराणिक है, किन्तु कथावस्तु के संविधान में तत्कालीन रुचि और देश-दशा का सुन्दर चित्र-चित्रण है। ब्रिटिश राज्य के उन खुशामदियों की ओर संकेत मिलता है जो खिताब के प्रलोभन में देशाभिमान को त्याग देते हैं। प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक में इसकी एक झाँकी देखिए—

नागरिक—जे छूँछे खिताब को लोभी करैं जाति अपमान।
स्वारथ-वश नित करैं खुशामद त्यागि देश-अभिमान॥
जो पुरखन के पुन्य भाव ते दुरैं कबौ भगवान्।
पदवी पाय अनादरी ऐहैं ज्यों कूकर को कान॥

तत्कालीन सामाजिक स्थिति का दृश्य देखिए:—

कुप्रवृत्ति नाम की एक तरुणी वेणु के आचार-विचार और राज की प्रशंसा करते हुए कहती है—"ये निपूती के निगौड़े नाहक हमारे राजा को बदनाम किये हैं। सच तो यह है कि ऐसा सुख न पहले कभी रहा न आगे होगा। सब लोग सब भांति आजाद और स्वतन्त्र हैं। यहाँ तक कि सभ्यता को इस नई चलन में बेटा बाप को मूर्ख और गँवार कहता है।.....
.....। इस महा स्वतन्त्रता का मूल वाक्य भी लोगों ने सुना ही होगा 'न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्।'.....

---

१. भट्ट जी ने इस नाटक में नान्दी संस्कृत श्लोक के रूप में रखी है।

बनैं साहब पहन कर कोट पतलूं,
मजा इसमें बड़ा है जिन्दगी का।
... ...
हैं कोरे अक्ल के बेदुम के टट्टू,
हुए ऐसे नए फैशन पै लट्टू।
समय यह खूब आया सभ्यता का,
खिला गुल हिन्द में आवारगी का॥

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि राजा वेणु की जीवनी को कथावस्तु के रूप में रखने का प्रयोजन तत्कालीन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना है।

इस नाटक को तीन अंक और आठ गर्भांक में समाप्त किया गया है। समझाने पर भी सन्मार्ग पर न आने वाला वेणु ऋषियों के मारण-मन्त्र के प्रयोग द्वारा सिंहासन से नीचे गिर गत-प्राण हो जाता है।

इसके अन्त में भरत-वाक्य नहीं मिलता। इस नाटक में एक बड़ा दोष है काल-विरोध का। राजा वेणु के समय की राजनीतिक और सामाजिक अवस्था का वर्णन करते हुए कवि उन्नीसवीं शताब्दी का दृश्य इस रूप में वर्णन करने लगता है कि पाठक अथवा प्रेक्षक को यह दोष स्पष्ट होकर रस-बाधक हो जाता है। एक दृश्य में तो महर्षि अत्रि, वामदेव और भृगु का वर्णन है और दूसरे दृश्य में सूटधारी हिन्दुस्तानी साहबों का मजाक और उस मजाक में भी राजा वेणु के कामों का उल्लेख। राजा वेणु के समय और अंग्रेजी सभ्यता के प्रचार-काल में शताब्दियों का अन्तर है। इस कारण इस नाटक में (unity of time) नहीं है। काल-विरोध दोष पाया जाता है।

भट्ट जी के नाटक

कहा जाता है कि भट्ट जी ने निम्नलिखित नाटकों की रचना की[1] —'शर्मिष्ठा, पद्मावती, चन्द्रसेन, मृच्छकटिक, किरातार्जुनीय, पृथु-चरित्र, शिशुपाल वध, नल-दमयन्ती, दमयन्ती-स्वयंवर, शिक्षा-दान, आचार-विडंबन, नई रोशनी का विष।' उपर्युक्त नाटक अभी तक अप्रकाशित हैं। संवत् २००४ विक्रमी में नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने 'बृहन्नला', 'वेणु-संहार' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक तीन नाटकों को प्रकाशित किया है।

राधाचरण गोस्वामी

प्रतिनिधि (संवत् १९७० से १९८० तक)

राधाचरण गोस्वामी (१९१५ से १९८२ तक)—गोस्वामी जी ने १९४४ विक्रमी से नाटक-रचना प्रारम्भ की। इनके आठ नाटकों का उल्लेख मिलता है। 'सती चन्द्रावती' 'अमरसिंह राठौर' 'श्री दामा' बड़े नाटक हैं। और तीन छोटे प्रहसन हैं–'बूढ़े मुंह मुँहासे' 'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण' और 'भंग तरंग'।

'सती चन्द्रावली'–इस नाटक में चन्द्रावली अपनी सखियों के साथ जल भरने जाती है। शाहजादा अशरफ उसे पकड़ लेता है, और उसका पिता औरंगजेब जनता की प्रार्थना को ठुकरा कर चन्द्रावली को मुक्त करना अस्वीकार कर देता है। हिन्दुओं के विद्रोह में अशरफ की मृत्यु होती है। औरंगजेब रोषपूर्ण होकर नाना प्रकार का अत्याचार करता है। चन्द्रावली स्वतः अग्नि में भस्म हो जाती है। इस ऐतिहासिक नाटक में एक वीर नारी का चरित्र दिखाया गया है, जो राजसुख को त्याग कर अपने धर्म

१. भट्ट नाटकावली—नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ४।

पर आरूढ़ रहती है और धर्मरक्षा के लिए युद्ध करते हुए शरीर त्याग देती है। इस प्रकार यह दुखान्त-नाटक समाप्त होता है।

'अमरसिंह राठौर' भी वीररस का ऐतिहासिक नाटक है। भारतीय-पद्धति के अनुसार मंगलाचरण के द्वारा इसका आरम्भ होता है। अमरसिंह के वीरत्व प्रदर्शन से हिन्दुओं में वीरभाव भरना ही इसका उद्देश्य प्रतीत होता है। वीर अमरसिंह युद्ध में आहत होता है। उसकी पत्नी घोड़े पर सवार होकर पति का शव ढूँढती है और साथ-साथ चिता पर जल जाती है। यह दुखान्त नाटक है। गोस्वामी जी ने अपने प्रहसन 'तन-मन-धन गोसाईं जी को अर्पण' में दुराचारी गुरुओं का भंडाफोड़ किया है। इसमें यह दिखाया है कि किस प्रकार मूर्खता से अन्धभक्त अपनी बहिन-बेटियों की प्रतिष्ठा संकट में डाल देते हैं।

रचना-उद्देश्य

गोस्वामी जी ने नाटक-रचना का उद्देश्य प्रत्येक नाटक की भूमिका में दे दिया है। 'सती चन्द्रावली' का उद्देश्य उसकी भूमिका में इस प्रकार मिलता है, "एक दिन मेरी प्राणाधिक प्रियतमा ने कहा कि श्रावण के गीतों में बहुधा उपदेश-पूर्ण गीत भी है जैसा कि चन्दना, रानी गेंद और चन्द्रावली आदि। तब मैंने उनसे वे गीत सुने और उनमें चन्द्रावली का गीत और इतिहास मुझे बहुत ही आदर्श और उन्नत जान पड़ा। बस यह नाटिका मैंने उसी सूत्र पर बनाई है।"

उपर्युक्त उद्धरण से तत्कालीन नाट्यकारों की रुचि का पता चलता है। वे लोग अपने नाटकों के लिए जनता में प्रचलित ऐसी कथायें ग्रहण करते थे, जिनमें जन-जीवन को विकासोन्मुख करने की शक्ति हो।

एक दूसरे नाटक 'अमरसिंह राठौर' की भूमिका में राधाचरण-गोस्वामी लिखते हैं, 'भारत में जब कि प्रकृत स्वाधीनता और वीरता का प्राण-वियोग हुए सैंकड़ों वर्ष हो गए, तब पुस्तक-पत्रों के द्वारा ही हम स्वाधीनता, वीरता के लिए अश्रु-विसर्जन करके कृतार्थ होंगे।'

उपर्युक्त उद्धरण यह प्रमाणित करता है कि उस काल के नाट्यकार देश की परतन्त्रता को देखकर अत्यन्त दुःखी हो रहे थे। देश को स्वाधीन बनाने के लिए पुस्तक-पत्रों का सहारा ले रहे थे। उनके सामने जीवन का एक ही उद्देश्य था—हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान की उन्नति। इसी की पूर्ति के लिए वे लोग नाटकों की रचना कर रहे थे। इन नाटकों के द्वारा देश, जाति, भाषा, समाज सभी का सुधार उनका लक्ष्य था। यही कारण है कि अवसर तथा प्रसंग के बिना भी देश-सुधार, समाजोन्नति तथा भाषा की उन्नति के लिए प्रोत्साहन की बातें इनके नाटकों में मिलती रहती हैं।

इन सुधार-प्रेमी नाट्यकारों ने उद्देश्य-पूर्ति में जहाँ-जहाँ नाट्य-नियमों को बाधक-रूप में पाया, वहाँ इन का बहिष्कार किया। इन्होंने उद्देश्य को नाट्य-कला से उच्चतर स्थान दिया था। इनके लिए नाट्यकला का महत्त्व इसलिए था कि वह सुधार-कार्य में सहायक थी। यह युग का प्रभाव था।

भारतेन्दु युग के अन्य नाटक और उनकी नाट्य-प्रवृत्ति

भारतेन्दु जी की साधना का फल हिंदी-नाट्य-साहित्य को जितना उनके जीवनकाल में मिला, उससे कहीं अधिक उनके दिवंगत होने पर प्राप्त हुआ। भारतेन्दु का मित्रमंडल अपने नेता की आकांक्षा-पूर्ति के हित सतत प्रयत्नशील रहा, मानो भारतेन्दु जी

की दिव्यात्मा उनको नवशक्ति प्रदान करती हुई निरन्तर प्रेरणा दे रही थी। इन नाटक-रचयिताओं की सत्यनिष्ठा से आकर्षित होकर नए नाटयकारों ने अपनी लेखनी आजमाई। उन लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल राजनैतिक, पौराणिक, धार्मिक तथा कल्पित कथानक चुने। वीर, शृंगार, हास्य और करुण-रस के नाटक बनने लगे। दुखान्त नाटकों का नितांत अभाव दूर हो गया। कितने ही प्रसिद्ध दुखान्त नाटकों की रचना इस काल में हुई। राष्ट्रीय नाटकों की भी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। हास्य-रस के नाटकों की रचना बड़े वेग से होने लगी। सामाजिक नाटकों में विवाह की समस्या पर सबसे अधिक बल दिया जाने लगा। प्रमी की विविध अवस्थाओं और प्रेमतत्त्व-निरूपण का विशद विवेचन इस काल की मुख्य देन है।

इस युग में रामकृष्ण की लीलाओं को कथावस्तु बनाकर जो नाटक लिखे गए वे पिछले नाटकों से शैली में नितान्त भिन्न थे। भारतेंदु के पूर्व रामकृष्ण सम्बन्धी नाटक या तो रामलीला और रासलीला के लिए लिखे जाते थे, अथवा शुद्ध साहित्यिक होते थे। शुद्ध साहित्यिक नाटकों में अभिनय की नितान्त उपेक्षा होती और अभिनय योग्य नाटकों में साहित्यिक शैली का अभाव रहता। इस काल में मनोवृत्ति बदली। यद्यपि कुछ नाटक केवल रासलीला और रामलीला के दृष्टिकोण से लिखे गए किंतु अधिकांश आधुनिक रंगमंच का भी ध्यान रखकर लिखे जाने लगे। रामसम्बन्धी नाटकों का अभिनय इस काल से पूर्व प्रायः तुलसीदासजी की रामायण को नाटक-रूप में बदल कर किया जाता था, किन्तु इस काल में दृष्टिकोण बदल गया। साहित्यिक नाटक रंगमंच की दृष्टि से भी दूसरे ढाँचे में ढले। सुखान्त नाटक भी बनने लगे। कभी-कभी तो एक ही व्यक्ति ने दोनों प्रकार के

नाटकों की रचना की। कदाचित् उनका लक्ष्य यह था कि यदि राम-सम्बन्धी नाटक आधुनिक रंगशाला के अनुकूल न होंगे तो लीलाओं में तो उनकी सहायता से अभिनय कराया ही जा सकेगा। देवकीनंदन जी का सीताहरण (१८७६ ई०) और राम-लीला (१८७६ई०), बलदेव जी का रामलीला-विजय, दामोदर सप्रे का ७ कांडों में समस्त रामलीला के सात नाटक (१८८६ ई०) बन्दीदीन कासीताहरण और सीतास्वयंवर (१८६६ ई०), ज्वालाप्रसाद मिश्र का सीता-बनवास (१८६५ई०)और रामलीला रामायण (१६०४ई०) बदरीनारायण प्रेमघन का प्रयाग-रामागमन (१६०४ई०),तथा वामनाचार्य गिरि का वारिदनाद-वध-व्यायोग इसी प्रकार के नाटक हैं।[1]

उपर्युक्त नाटकों में सप्रे जी के नाटक रामलीला के विशेष उपयुक्त हैं। सीता बनवास और सीता स्वयवर में संगीत का इतना प्राधान्य है कि वे स्वांग वालों के विशेष उपयोगी हैं। संवाद-योजना का शैथिल्य इन्हें अभिनयशाला के योग्य नहीं बना पाता।

कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों में रामलीलाऔर अभिनयशाला दोनों के योग्य प्रचुर रचना हुई। इस युग में साधु-महात्माओं के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक नाट्यकारों ने भी रासलीला के उपयुक्त नाटकों की रचना की। और महारास की भी नवीन रचना हुई। हरिहरदत्त दुबे और खड्ग बहादुर मल्ल ने महारास की रचना की। भारतेंदु जी की 'चन्द्रावली' की शैली पर अंबिकादत्त व्यास ने 'ललिता' नामक नाटक रचा। इस काल में कृष्ण की 'वृन्दावन-लीला' की ओर किसी-किसी लेखक का ध्यान गया अन्यथा द्वार-

काधीश कृष्ण ही की लीला पर नाटकों का सृजन हुआ, जैसे—कृष्ण-सुदामा (१८७०) रुक्मिणी-हरण (१८७६) उषा-हरण (१८८७) उद्धव-वशीठ-नाटिका (१८८७) प्रद्युम्न-विजय (१८९३) रुक्मिणी-परिणय (१८९४) द्रौपदी-वस्त्रहरण (१८९६)। इस काल में महाभारत तथा पुराणों की कथा पर अनेक नाटक रचे गए, जैसे दमयन्ती स्वयंवर (१८८५) अभिमन्यु वध (१८९६) ध्रुव-तपस्या (१८८५) सावित्री (१९००) अंजना सुन्दरी (१९०१)।

मोरध्वज और भर्तृहरि दो ऐसे प्रसिद्ध नाटक हैं जिनका अत्यधिक प्रचार स्वांग-मंडलियों में हुआ। ये दोनों नाटक आज तक स्वांग मंडलियाँ बड़े उत्साह से खेलती हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में पद्मावती (१८८२), महाराणा प्रताप (१८९७), संयोगिता स्वयंवर (१८८५), श्री हर्ष (१८८४) और अमरसिंह राठौर (१८८५) अत्यन्त प्रसिद्ध हुए।

राष्ट्रीय नाटकों में भारतोद्धार (१८८३), भारत-आरत (१८८४), भारत-सौभाग्य (१८८७), वर्तमान-दशा (१८९०), देश-दशा (१८९२), भारत-दुर्दिन (१८९५), भारत-हरण (१८९९), भारत-दुर्दशा (१९०२), अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त राष्ट्रीय नाटकों में भारत की दयनीय दशा दिखाकर पूर्व भारत के वैभव से तुलना करने की चेष्टा की गई है। सभी नाटकों में देश-दैन्य रूपी रोग का निदान पराधीनता और तज्जन्य आलस्य, फूट, प्रमाद और पश्चिमीय सभ्यता का अन्धानुकरण बताया गया है।

समस्या नाटकों में बाल-विवाह और साधु-पाखण्ड को लक्ष्य करके व्यंग्य के द्वारा समाज-सुधार की चेष्टा झलकती है जैसे

इस पृ० पर विक्रमी संवत् के स्थान पर सन् ई० का प्रयोग हुआ है।

अबला-विलाप (१८८४), बाल-विवाह[1] (१८७४) दुखिनी-बाला (१८८०) बाल-विवाह[2] (१८८१) विधवा-विवाह (१८८२) विवाहित-विलाप (१८८३) विवाह-विडम्बन (१८८४) बाल्य-विवाह (१८८४) बाल-विवाह-दूषक (१८८५) वृद्धावस्था-विवाह (१८८८), बाल-विवाह[3] (१८९८)। उपर्युक्त नाटकों में बाल विवाह और विधवा विवाह ये दो विषय मुख्यतः कथानक बने।

भारतेंदु जी के विद्यासुन्दर नाटक का जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि इस शैली पर अनेक नाटक रचे गए, जैसे—रणधीर-प्रेममोहिनी(१८७७) तप्तासंवरण (१८८३) मदन-मंजरी (१८८४) चंद्रप्रभा मनस्विनी (१८८४) विद्या-विलासिनी (१८८४) रति-कुसुमायुध (१८८५) मयंक-मंजरी (१८९१) लावण्यवती-सुदर्शन (१८९२) प्रेम-सुन्दर (१८९२), विद्या-विनोद (१८९२) कमलमोहिनी-भंवरसिंह (१८९८) मालती-बसन्त (१८९९) रूप-बसन्त १९०१) माधवानल-काम-कंदला (१९०४) चन्द्रकला-भानुकुमार (१९०४)।

उपर्युक्त नाटकों में 'विद्यासुन्दर' की शैली ही प्रायः अपनाई गई है, रणधीर प्रेममोहिनी की तरह दुखान्त नाटक अल्प संख्यक रहे। प्रेमसम्बन्धी नाटकों की सूची तो लम्बी अवश्य बनी किन्तु विद्यासुन्दर के समान अभिव्यंजना शैली का प्रायः अभाव पाया जाता है। एक भी नाटक उस कौशल को न पा सका। उस नाटक में जितना चमत्कार और रचना-कौशल है उतना कदाचित् ही किसी अन्य नाटक में आया हो।

रूप बसन्त का सबसे अधिक मान स्वांग-नाटक-मंडलियों

---

१. बाल विवाह : शरण कृत (१८७४)।

२. बाल विवाह : देवकीनन्दन त्रिपाठी (१८८१)।

३. बाल विवाह : छुट्टन लाल स्वामी कृत (१८९८)।

इस पृ० पर ई० सन् का प्रयोग हुआ है।

ने किया। यह नाटक आज भी ग्रामीण जनता का अतिप्रिय बना हुआ है।

इस युग में सबसे अधिक विकास हास्यरस के नाटकों का हुआ है। जयनारसिंह की (१८७६) स्त्री-चरित्र (१८७६) एक-एक-के-तीन-तीन (१८७६) बैल छः टके को, सैंकड़ों में दस-दस, जैसा काम वैसा परिणाम (१८७७), ठगी की चपेट (१८८४ हास्यार्णव (१८८५) कलि-कौतुक (१८८६) बूढ़े मुँह मुँहासे (१८८७) अपूर्व रहस्य (१८८८) तन मन धन गोसाई जी के अर्पण (१८६०) भंगतरंग (१८६२) चौपट चपेट (१८६१) दादा और मैं (१८६३) वेश्या नाटक १८६३) हास्य (१८६३) महा अंधेर नगरी (१८६२) अति अंधेर नगरी (१८६५) देसी कुत्ता विलायती बोल (१८६८)।

हास्य रस के नाट्यकार

इस प्रकार इस काल में हास्यरस प्रधान नाटकों के कई लेखक उत्पन्न हुए, जिन्होंने समाज की विविध बुराइयों पर नाटक रूप में व्यंग किया। मादक-द्रव्य-सेवन, बहु-विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अंग्रेजी फैशन, सूद-खोरी आदि का दुष्परिणाम दिखाते हुए हास्यरस का परिपाक किया गया है। इन नाटकों में पण्डा-पुरोहितों का कुकृत्य, ढोंगी साधुओं की काली करतूत, अत्यधिक ब्याज लेने वाले महाजनों की दुर्दशा, वेश्यागमन का दुष्परिणाम दिखाया गया है। अन्ध विश्वासों तथा रूढ़िगत परम्पराओं की खिल्ली उड़ाई गई है। इस काल में पश्चिमी सभ्यता के उपासक मद्यमांस प्रेमी सज्जन भी हास्यरस के नाटकों के नायक बने। अंग्रेजी आचार-विचार की वे बातें जो भारतीय वातावरण के प्रतिकूल प्रतीत हुईं, ऐसे नाटकों के लिए सुन्दर कथावस्तु बन गई। विविध विषयों के आधार पर इस काल में

इस पृष्ठ पर ईस्वी सन् का प्रयोग हुआ है।

हास्यरस के जो नाटक बने, उनसे समाज का मनोविनोद ही नहीं अपितु सुधार भी हुआ।

इस काल में हास्यरस-प्रधान नाटकों के अति प्रसिद्ध रचयिता थे—देवकीनन्दन त्रिपाठी और पण्डित बालकृष्ण भट्ट। देवकी-नन्दन जी ने सन् १८७० ई० से ही प्रहसन का सृजन प्रारम्भ कर दिया था। अपने सोलह वर्ष के रचनाकाल में उन्होंने निम्न-लिखित प्रहसन लिखे :—रक्षाबन्धन, एक एक के तीन-तीन, स्त्री-चरित्र, वेश्याविलास, बैल छः टके को, जय नारसिंह की, सैकड़े में दस दस, कलजुगी जनेऊ।

'रक्षा-बन्धन' नाटक में मदिरा सेवन और वेश्यागमन का दुखद परिणाम दिखाया गया है। 'एक एक के तीन तीन' में ऋण देने वाले बेईमान व्यक्तियों की बेईमानी दिखाई गई है। 'स्त्री-चरित्र' में कुटिल स्त्रियों का त्रियाचरित्र और वेश्याविलास में वेश्यागामियों का कुत्सित चरित्र दिखाया गया है। 'बैल छः टके को' लिखने का उद्देश्य मनोविनोद के साथ यह शिक्षा देना है कि मनुष्य अधिक लोभ में न फंसे, किसी के अनिष्ट की इच्छा न करे, परोपकार की भावना रखता हुआ 'सांची करे मीठी खावे।' 'जय नारसिंह की' नाटक तत्कालीन प्रचलित अन्ध विश्वासों की खिल्ली उड़ाने के उद्देश्य से लिखा गया है। इस प्रहसन में जादू-टोना करने वाले, भूतप्रेत के पुजारी ओझा और सयानों का भंडाफोड़ किया गया है। 'सैकड़े में दस दस' में उन धनी व्यक्तियों का घृणित जीवन दिखाया गया है जो द्यूत-क्रीड़ा, मद्यपान आदि निन्द्य कर्मों के कारण पुलिस के हथकंडों में फँसकर नाना प्रकार का क्लेश उठाते हैं।

वेश्यागामियों की दुर्दशा दिखाने को एक नाटक बालकृष्ण भट्ट ने लिखा है, 'जैसा काम वैसा दुष्परिणाम'। इसमें रसिक

लाल नामक एक धनी पुरुष की क्रूरता धर्मपत्नी के प्रति दिखाई गई है। रसिकलाल मोहिनी वेश्या के मोह में अपनी धन-सम्पत्ति नष्ट करता है और अपनी धर्मपत्नी मालती को नाना प्रकार का कष्ट देता है। सब प्रकार का अत्याचार सहते हुए वह अपने पति से यही कहती है कि नाथ: 'इहामुत्र च नारीणां परमा हि गतिः पतिः‡ (इह लोक और परलोक दोनों के लिए स्त्रियों को पति ही शरण है।) मालती की सहनशीलता का रसिक पर प्रभाव पड़ता है और वह अन्त में इस प्रकार क्षमा माँगता है—"मालती, निस्संदेह मेरे कारण तुम्हें बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े। अब मैं विनय-पूर्वक अपने सम्पूर्ण अपराधों की तुमसे क्षमा चाहता हूँ और आज से शपथ करता हूँ कि सिवाय तुम्हारे किसी अन्य स्त्री की ओर दृष्टि न डालूँगा*।"

इस नाटक का भरत-वाक्य तत्कालीन नाट्यकारों की नाटक-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करता है।

होहिं एक पत्नी व्रत रत सब भारत नर वर।
तजहिं कुपथ, पथ गहहिं धर्म कर दुर्मति तज कर॥
तजि वेश्या-संग रमन करहिं श्रद्धा निज तिय पर।
जामों सुधरहिं दशा दीन भारत की सत्वर†॥

इस काल की नाट्यशैली

अङ्क गर्भांक :—इस काल के नाट्यकारों ने महाराज विश्व-नाथसिंह द्वारा प्रयुक्त और भारतेन्दु द्वारा प्रशंसित वह शैली अपनाई जो नाट्यशास्त्र के नियमों में देशकालानुसार परिवर्तन

‡ भट्ट नाटकावली : नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ १२४।

* वही पृष्ठ १२५।

† भट्ट नाटकावली : नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ १३६।

और परिवर्द्धन करने की शक्ति रखती है। इस काल के अधिकांश नाटकों में नान्दी, सूत्रधार और भरत-वाक्य का प्रयोग मिलता है। यद्यपि नाटक अङ्कों और गर्भांकों में विभाजित हैं, किन्तु गर्भाङ्क का अर्थ भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार नहीं लिया गया है। गर्भाङ्क का अर्थ दृश्य मान कर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रमाण के लिए पं० बालकृष्ण भट्ट के 'बृहन्नला' और 'वेणुसंहार' नाटक देखिए। 'बृहन्नला' के प्रथम अंक में तीन गर्भांक द्वितीय अंक में तीन गर्भांक, तृतीय अंक में एक गर्भांक और चतुर्थ अंक में एक गर्भांक मिलता है।

प्रस्तावना:—प्रस्तावना शब्द द्वारा प्रस्तावना का संकेत इस काल के नाटकों में मिलता है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'वेणु संहार' में प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक में नान्दी पाठ के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश कराया है। संस्कृत नाटकों की शैली पर ही सूत्रधार कहता है, "तो उचित है कि गुण-लोभी इन सुजनों को अपने तौर्यत्रिक वाद्यनाद्य गान से ऐसा लुभावें कि सब लोग प्रसन्न हो जायें। अच्छा, तो आज कौन से नए नाटक का अभिनय उचित होगा। (थोड़ा ठहर याद कर) हम तो भूल ही गये थे, अच्छी याद आई, हाल में हिन्दी-प्रदीप के सम्पादक महाशय ने एक नया नाटक तैयार कर हमें दिया है। वह इस समय के लोगों की रुचि के बहुत ही अनुकूल होगा।"

इति प्रस्तावना।

प्रस्तावना के अतिरिक्त, अपवारित, स्वगत-भाषण, संवादों में कविता-प्रयोग के भी उदाहरण मिलते हैं। यद्यपि अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव देश-व्यापी बन रहा था और पाश्चात्य नाटयशैली पर नाटक विरचित हो रहे थे, किन्तु इस

काल के हिन्दी नाटकों में अल्प परिवर्त्तन[1] के साथ नाट्य-शास्त्र के नियमों का पालन किया जा रहा था। भारतेंदु जी का प्रभाव इस युग के अधिकांश नाटकों पर इसी रूप में पड़ रहा था। भारतेंदु जी ने वस्तु-संविधान, संवाद-योजना आदि में जिस नाट्यशैली का पथ प्रदर्शित किया, उस पर प्रायः सभी नाट्यकार सुख-पूर्वक चलते हुए हिन्दी नाट्य-श्री की अभिवृद्धि करते रहे।

इस काल के अधिकांश नाट्यकार भारतेन्दु जी के पथानुसरण की बात स्वयं स्वीकार करते हैं और भूमिका में श्रद्धा के साथ उन्हें स्मरण करते हैं। हरिऔध जी ने अपने 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' में लिखा है :—

"मम रचित इस प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में, जिसको मैंने भाषा कविचक्रचूड़ामणि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र गोलोक निवासी के संस्कृत से अनुवादित धनंजय-विजय-व्यायोग की छाया लेकर निर्मित किया है।[2] इसके अतिरिक्त इस काल में एक ऐसी प्रवृत्ति की क्षीण-धारा मिलती है, जो हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थान काल से अब तक चली जा रही थी। वह प्रवृत्ति है, नाटक में लोकोत्तर व्यक्ति को नायक बनाने की। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने नाटक 'रुक्मिणी-परिणय' की भूमिका में लिखते हैं:—"किन्तु हर्ष का स्थान है कि हमने एक लोकोत्तर व्यक्ति की गाथा-गुंफन में अपने समय को व्यय किया है, किसी

---

१. विष्कम्भक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि का प्रयोग बहुत ही कम नाटकों में मिलता है।

२. प्रद्युम्न विजय व्यायोग (भूमिका) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय सन् १८९३ ई०।

ऐसे पुरुष का रोमांचकर चरित्र नहीं लिखा है, जिसके नाम-श्रवण से ही आप कान पर हाथ रखें।"†

उपर्युक्त उद्धरण से प्राचीन हिन्दी नाट्यकारों की प्रवृत्ति-परम्परा का आभास भारतेन्दु-युग में भी मिलता है। एक ओर पं० बालकृष्ण भट्ट वेश्या का चरित्र दिखा रहे थे, दूसरी ओर पं० अयोध्यासिंह जी ऐसे चरित्रों को सुनना भी नहीं चाहते थे। हम देख आए हैं कि हिन्दी के प्रथम उत्थान के नाट्यकार लोकोत्तर व्यक्ति को ही नाटक में नायक बनाकर नाट्य रचना करते थे और इस कार्य को धर्म-कार्य समझते थे। यही प्रवृत्ति हमें पं० अयोध्यासिंहजी में मिलती है। नाटकों में कविता की रचना भी यत्र-तत्र हिन्दी के प्रथम उत्थान के सदृश मिलती है। अयोध्या सिंह ने अपने नाटक प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में एक स्थान पर लिखा है, :

"चमक्के कृपानं। कड़क्के कमानं।
तड़क्के तुफंगं। सड़क्के अभंगं॥*

इसी प्रकार की रचना हम गुरु गोविंद सिंह के "चंडी-चरित्र' में देख आए हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह सारांश निकला कि यद्यपि भारतेन्दु-युग में नाटक की नई प्रवृत्तियाँ बलवती हो रही थीं, तथापि प्रथम उत्थान काल की नाट्य प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में विद्यमान थीं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि नवीन विचारों के प्रवाह में पुराने विचारों का धीरे-धीरे तिरोधान हो रहा था।

---

† श्री रुक्मिणी परिणय नाटक : पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय। पृ० २.

* प्रद्युम्न विजय व्यायोग : अयोध्यासिंह उपाध्याय
(इन्द्र, प्रवीर और जयंत का वार्त्तालाप)

भारतेन्दु-युग के अनूदित नाटक

भारतेन्दु युग में मौलिक नाटकों के अतिरिक्त अनूदित नाटकों की भी रचना होती रही। हिन्दी भाषा में अन्य भाषाओं के अनुवाद रूप नाटक लिखने की प्रेरणा राजा लक्ष्मणसिंह में प्रथम वार फलवती हुई। संवत् १९१८ वि० में राजा साहब ने खड़ी बोली में 'शकुन्तला-नाटक' का प्रथम गद्यमय अनुवाद किया। किन्तु संवत् १९४९ वि० में भारतेन्दु जी की अनुवाद-पद्धति के अनुसार पुनः मूल के गद्य का गद्य में और पद्य भाग का पद्य भाग में अनुवाद हुआ। भारतेन्दु जी के उपरांत संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला नाटकों के अनुवाद का क्रम बड़े वेग से बढ़ चला। लाला सीताराम ने 'महावीर-चरित्र' 'उत्तर-रामचरित', मालती-माधव, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, नागानन्द का अनुवाद मूल संस्कृत से किया। अनूदित नाटकों के गद्यभाग में खड़ी बोली और पद्यभाग में ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई।

लाला सीताराम के अतिरिक्त संस्कृत नाटकों का अनेक विद्वानों ने अनुवाद किया। बिहार निवासी दबे नन्दलाल विश्वनाथ ने संवत् १९३९ वि० से सं० १९४३ के मध्य उत्तररामचरित और शकुन्तला का अनुवाद किया। पं० रामेश्वर भट्ट ने रत्नावली का और ज्वालाप्रसाद मिश्र ने वेणीसंहार का अनुवाद सं० १९५६ वि० में किया।

संस्कृत से अनूदित नाटकों में विभिन्न शैलियों का अनुसरण होता रहा। अनुवाद में नाट्यकारों का उद्देश्य हिन्दी नाट्य-साहित्य को सम्पन्न बनाना था।

इस काल में अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद भी बहुसंख्या में उपलब्ध है। सं० १९३६ वि० में तोताराम वर्मा ने जोज़ेफ ऐडी-

सन कृत 'केटो' नामक नाटक का अनुवाद 'केटो-वृत्तांत' नाम से किया। इस नाटक में अविकल अनुवाद मिलता है। पात्रों के नाम भी ज्यों के त्यों रख लिए गए हैं। दृश्य के स्थान पर गर्भांक का प्रयोग किया गया है। यह इस काल की विशेषता है। इसी नाटक का दूसरा अनुवाद बाबू तोताराम जी ने संस्कृत शैली पर प्रस्तावना आदि के सहित किया।

शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद इस काल में अन्य विदेशी नाटकों की अपेक्षा अधिक संख्या में हुआ। मर्चेन्ट आफ वेनिस का अनुवाद 'वेनिस नगर का व्यापारी' नाम से किया गया। गोपीनाथ पुरोहित ने 'ऐज यू लाइक इट' का अनुवाद "मन भावन" नाम से और रोमियो ऐंड जूलियट का अनुवाद 'प्रेम-लीला' नाम से किया। इनमें अंग्रेजी का पद्य भाग भी गद्य में ही अनूदित है। इनके अतिरिक्त सूर्यप्रसाद मिश्र ने अपने अनुवाद में अंग्रेजी कविता का अनुवाद हिन्दी कविता में ही किया है।

संवत् १९५० वि० में मथुराप्रसाद उपाध्याय ने 'साहसेन्द्र-साहस' नाम से 'मैकबेथ' का अनुवाद किया। यह अनुवाद सरस और सफल है।

बँगला नाटकों का अनुवाद-क्रम भी इस काल में चल रहा था। रामकृष्ण वर्मा ने 'पद्मावती',[१] 'वीर-नारी',[२] 'कृष्ण-कुमारी',[३] का अनुवाद किया। मुंशी उदित नारायण लाल ने

१. पद्मावती (बँगला नाटक) राज किशोर दे कृत।

२. वीर नारी (बँगला नाटक) द्वारका नाथ गांगूली कृत।

३. कृष्णकुमारी (बँगला नाटक) माइकेल मधुसूदन कृत।

'सती नाटक',[1] 'दीप-निर्वाण' और 'अश्रुमती' का अनुवाद किया। माइकेल मधुसूदन दत्त का प्रसिद्ध नाटक 'एकी की बोले सभ्यता' का अनुवाद पं० ब्रजनाथ ने 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' नाम से किया। केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद-सुम्बुल' नाम से "शरत् और सरोजिनी" का अनुवाद किया।

बँगला नाटकों के अनुवाद में एक विशेषता पाई जाती है। कुछ अनुवादकर्त्ता तो मूल नाटकों के भाव को तद्वत् हिन्दी में प्रकट करते हैं, किन्तु केशवराम भट्ट और ब्रजनाथ ने अनुवाद में अपनी कल्पना से भी सहायता ली है। इनकी रचना में मूल-भाव का और भी विकास मिलता है। कहा जाता है कि इनकी मौलिकता ने मूल नाटक को और भी विशिष्ट बना दिया है।

उपसंहार

हम रास प्रकरण में यह प्रमाणित कर चुके हैं कि तेरहवीं शताब्दी में बहुरूपियों के द्वारा गीति-नाट्य का प्रदर्शन हुआ करता था। हम यह भी उल्लेख कर आए हैं कि जायसी के समय इस नाट्यकला में वारवनिताएँ अति प्रवीण हुआ करती थीं। वाजिद अली शाह के समय में भी ये वारवनितायें परियों के बहुरूपी वेष में 'इन्द्र-सभा' का नृत्य-गीतिमय नाटक करती रहीं। इस प्रकार विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक हम इस गीतिनाट्य परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास पाते हैं। हमारे आलोच्यकाल के प्रारम्भ में इस 'इन्द्रसभा' नामक गीतिनाट्य ने नाटक-क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी। 'इन्द्र-सभा' नाटक का प्रभाव इतना व्यापक बना कि विविध रूपों में इसका प्रदर्शन होने लगा। कठ-पुतली का तमाशा दिखाने वाले इन्द्रसभा का खेल दिखाते

१. सती नाटक (बँगला नाटक) मनमोहन वसु।

फिरते। मेले-ठेले में 'पैसा तमाशा' के रूप में इन्द्रसभा का खेल होने लगा। इसी की प्रेरणा से पारसी थियेटर कम्पनियाँ खुल गईं, जो इन्द्रसभा को आदर्श मान कर नृत्य-गीत-मय नाटक खेलने लगीं। साहित्यकारों ने भी इस शैली पर नाटकों की रचना प्रारम्भ की। स्वतः भारतेन्दु जी ने 'इन्द्र-सभा' के जोड़ पर 'बन्दरसभा' नामक नाटक लिखा। इस प्रकार पद्यबद्ध नाटक की मौलिक धारा चिरकाल तक अक्षुण्णरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है।

पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ने नृत्यगीतमय इस नाटक-पद्धति को अपनाया और पौराणिक कथानक लेकर नाटक दिखाना प्रारम्भ किया। उनकी अर्थ-लिप्सा ने नाट्यकला को अपनी दासी बनाया और अर्थपिशाच के हाथों इस ललित कला की हत्या होने लगी। भारतेन्दु जी का सुसंस्कृत हृदय इस अत्याचार को सहन न कर सका। कालिदास की शकुन्तला को पारसी रंगमंच पर निकृष्ट वेश्या की तरह नृत्य करते हुए देखकर उनको अत्यन्त क्लेश हुआ और अभिनय के योग्य उत्तम नाटक लिखने की प्रेरणा उनके हृदय का मंथन करने लगी। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नाटकों का सृजन हुआ और हिन्दी, नाट्य-साहित्य की धारा नए पथ पर मुड़कर जनमन-रंजन के साथ जनजीवन का उन्नयन करने वाली सिद्ध हुई।

भारतेन्दु जी के एक-एक नाटक का हम विस्तृत विवेचन कर आए हैं। उस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सके हैं कि भारतेन्दु जी ने परम्परागत-भारतीय नाटय पद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्य-कला की नई धारा संयुक्त कर दी। परीक्षा के लिए उन्होंने अपने प्रारम्भिक नाटकों में दोनों शैलियों का

अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के अनुकूल जो पद्धति प्रतीत हुई, उसी को स्वीकार कर लिया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग पकड़ा—न तो अंग्रेजी नाटकों का अन्धानुकरण किया और न बँगला नाटकों की भाँति भारतीय शैली की नितान्त उपेक्षा ही की; साथ-ही-साथ प्राचीन नाट्यशास्त्र के गहन आवर्त्त में अपनी नाट्य-नौका भी न फँसने दी। तात्पर्य यह कि नाटक के गतिरोध करने वाले सभी बन्धनों से उन्होंने अपने को मुक्त रखा। नाटक की सामग्री भी उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों—शृंगार, शौर्य, करुणा आदि से ग्रहण की। इस विषय में उन्होंने अपनी दृष्टि इतनी व्यापक रखी कि जिससे संस्कृत, प्राकृत, बँगला, अंग्रेजी सभी प्रकार के नाटक-रस से रस खींचा जा सके।

मौलिक और अनूदित नाटक

भारतेन्दु के १८ नाटकों में १० मौलिक और ७ अनूदित हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रवास' नामक उनका एक और नाटक था जो अब अप्राप्य है। मौलिक नाटकों की तरह अनूदित नाटकों में भी उनकी उक्त नाट्यशैली का परिचय मिलता है। 'विद्यासुन्दर', 'मुद्राराक्षस,' 'धनंजय विजय,' 'कर्पूर मंजरी' आदि अनूदित नाटकों में भी पाठकों को मौलिक नाटकों-सा रस आता है। भारतेन्दु की यह अनुवाद-शैली इतनी रुचिकर प्रतीत हुई कि उनके परवर्ती नाट्यकार बँगला, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध नाटकों का धड़ाधड़ अनुवाद करने लगे। इस प्रकार हिन्दी-नाट्य-मन्दिर में विविध भाषाओं के नाटकों का वातायन बनाकर अभिनव विचार के स्वास्थ्यप्रद वायु-प्रवेश के लिए भारतेन्दु ने मार्ग खोल दिया।

नाटकों का वर्गीकरण

भारतेन्दु के नाटकों को 'वाद' के विचार से पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) आदर्शवादी (२) यथार्थवादी (३)

स्वच्छन्दतावादी (४) समाज-सुधारवादी (५) राष्ट्रवादी। भारतेन्दु के समसामयिक एवं परवर्ती नाटककारों ने इन पाँचों प्रकार की धाराओं को अधिक वेगवती बनाया। आगे चलकर आदर्शवादी नाटकों की दो धाराएँ हो गईं—पौराणिक और ऐतिहासिक। प्रारम्भ में पौराणिक धारा का वेग प्रबल रहा, किन्तु कालान्तर में ऐतिहासिक धारा अधिक वेगवती बन गई और पौराणिक धारा क्षीणप्राय हो गई। संवत् १९६० वि० तक चन्द्रशरण, लाला श्रीनिवासदास, विश्वेश्वर प्रसाद त्रिपाठी, शालिग्राम वैश्य, कार्तिक प्रसाद वर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बालकृष्ण भट्ट, जगन्नाथ शरण देवराज, अनूप कवि, तथा रामनाथ की पौराणिक रचनाएँ नाट्य-क्षेत्र में प्रमुख बनी रहीं।*

इस काल के प्रमुख ऐतिहासिक नाटक थे—श्रीनिवास दास का 'संयोगिता स्वयंवर', राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (१९५२ वि०), रामनरेश शर्मा का 'सिंहल विजय' (१९५३ वि०) और राधाकृष्ण का 'महाराणा प्रताप'(१९५५ वि०)। ऐतिहासिक नाटकों की शैली आगे चलकर प्रसाद जी के हाथों एक नये साँचे में ढली और इसका सबसे अधिक विकास हुआ।

स्वच्छन्दतावादी धारा में आदर्शवाद और यथार्थवाद

यद्यपि 'चन्द्रावली' आदर्शवादी भक्ति-काव्य है किन्तु स्वच्छन्द-प्रेमधारा-पिपासुओं को इसमें स्वच्छन्दतावादी नाटकों का बीज उपलब्ध हो गया। इसके उपरान्त ही हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक प्रेम की) धारा स्पष्ट होने लगी। वास्तव में सर्वप्रथम केशवराव के 'संजाद-सुम्बुल' में (१९३४ वि०) स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी दोनों धाराओं का संगम हुआ जिसमें यथार्थवाद का प्राधान्य रहा। भारतेन्दु के परवर्ती नाट्यकारों ने इस स्वच्छन्दतावादी धारा में ऐसे अनेक उल्लेखनीय नाटक प्रस्तुत

* विशेष परिचय परिशिष्ट ७ (क) में देखिए।

किए जिनमें यथार्थवाद की प्रधानता रही और आदर्शवाद का स्वर मन्द पड़ गया। इन नाटकों में 'दुखिनी बाला,' 'रणधीर प्रेममोहिनी,' 'तप्तासंवरण,' 'ललिता,' 'मदनमंजरी,' 'लवंगलता,' 'माधुरी,' 'मदनलेखा,' मयंकमंजरी,' 'लावण्यवती-सुदर्शन,' 'मालती वसंत' आदि का स्थान प्रमुख रहा।*

प्रहसन

इस युग के नाटकों में सबसे वेगवती और चित्ताकर्षक धारा थी प्रहसन की। कारण यह था कि प्रहसन लिखने के लिये नाट्यकार में जिस जिन्दादिली एवं सहजबोध की अपेक्षा होती है, उसकी भाषा में जिस सहज चटुल शैली अथवा झनझना देने वाले तीखे व्यंग्य की आवश्यकता पड़ती है, समाज की विषम समस्याओं को सहज ही देख लेने की जो अन्तर्दृष्टि अनिवार्य रूप से अभीप्सित हैं, प्रायः वे सभी तत्व इस काल के नाट्यकारों को स्वभावतः प्राप्त थे।

भारतेन्दु युग में राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, केशव चन्द्रसेन प्रभृति समाज-सुधारकों के प्रयास से जनता का ध्यान सहज रीति से समाज-सुधार की ओर आकृष्ट हो चुका था। प्रहसन अधिकांश में समाज के विकृत अंग का निदान करके उसके निवारण, परिष्कार एवं संस्कार का मार्ग बताने की ओर संकेत करता है। अतः प्रहसन-लेखकों को अनुकूल वातावरण मिलने से कार्य में सुयोग प्राप्त हुआ।

भारतेन्दुजी युग द्रष्टा के साथ-साथ युगस्रष्टा भी थे। उन्होंने कहीं मीठे व्यंग के द्वारा औषधि के रूप में और कहीं तीखे व्यंग की शल्य-चिकित्सा से समाज के विकृत अंगों का संस्कार किया। सामाजिक कुरीतियों के निवारण के लिये उन्होंने 'वैदिकी हिंसा-

---

* विशेष परिचय परिशिष्ट ७ (ख) में देखिए।

हिंसा न भवति,' 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'अन्धेर नगरी' नामक तीन प्रहसन लिखे। इस प्रकार नाट्यकारों को जन-भाषा में प्रहसन लिखने का मार्ग प्रदर्शित किया। परिणाम यह हुआ कि 'जय नारसिंह की,' 'कलियुगी जनेऊ,' 'कलियुगी विवाह', 'कलिकौतुक,' 'बूढ़े मुँह मुँहासे' आदि बहुत ही सफल प्रहसनों की रचना हो सकी।

राष्ट्रवादी विचारधारा—हिन्दी नाटकों में राष्ट्रीय भावना को सर्वप्रथम स्थान देने का श्रेय भारतेन्दु जी को है। भारतेन्दु जी अपने ऐतिहासिक, सामाजिक, पौराणिक, प्रहसन आदि सभी प्रकार के नाटकों में यथास्थान और यथाअवसर देश की राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करने वाले दृश्य उपस्थित करते रहे। "कहीं कहीं तो सामाजिक समस्यायें केवल साधन-मात्र थीं, और नाटक के कथानक तो बहुत कुछ बहाने मात्र थे, राष्ट्रीय भावना की उत्तेजना का उद्देश्य बहुत स्पष्ट और पुष्ट था, बाकी बातें उसके सामने दब गई थीं।" उदाहरण के लिए 'प्रेम-जोगनी' नाटक देखिए। इस नाटक में सूत्रधार कहता है, "क्या इस कमल-वन-रूप-भारत-भूमि को दुष्ट गजों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया। क्या जब नादिर, चंगेज खाँ ऐसे निर्दयों ने लाखों निर्दोष जीव मार डाले तब वह सोता था। क्या अब भारतखण्ड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गए"[1]।

भारतेन्दु जी के 'भारत-दुर्दशा' नाटक की शैली पर 'भारत सौभाग्य' 'भारत-ललना' 'भारत-दुर्दिन', 'वर्तमान दशा' और 'देश-दशा' आदि अनेक नाटक विरचित हुए। यद्यपि इन नाटकों में समस्यायें सामाजिक हैं किन्तु इनका मूल उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का प्रचार और आत्मगौरव का बोध था। इस काल में यवन

---

१. भारतेन्दु नाटकावली पृ० ६७० इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।'

शब्द विदेशी अंग्रेजों की ओर संकेत करता था। राष्ट्रीय भावना की यह प्रवृत्ति केवल हिन्दी में ही नहीं, प्रत्युत् बंगाली, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं में भी पाई जाती है। इस स्थान पर भारतेन्दु की नाट्यकला की तुलना अन्य भाषाओं के राष्ट्रीय नाट्यकारों के साथ करना अप्रासंगिक न होगा।

बँगला के राष्ट्रीय नाटकों में 'नील-दर्पण' नाटक का प्रमुख स्थान है। इस नाटक की रचना संवत् १९१७ वि० में बंगाल के प्रसिद्ध नाट्यकार 'दीन बन्धु मित्र' ने की। इस नाटक में भारतीय जनता के प्रति नील के व्यवसायी अंग्रेजों की क्रूरता दिखाकर राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है।

इस नाटक के अभिनय से समस्त देश में अंग्रेज नीलहों के प्रति विद्रोह की ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि ब्रिटिश सरकार ने अभिनय के संचालकों पर अभियोग चलाया और उन्हें कारावास का दण्ड दिया।

'नील दर्पण' नाटक को नाट्यकला की कसौटी पर कसकर इसकी परख की गई है।* एक समालोचक लिखते हैं कि नाट्यकार का उद्देश्य नाट्यकला द्वारा प्रेक्षकों पर प्रभाव डालना नहीं, प्रत्युत् सत्य घटना की क्रूरता दिखाकर दर्शकों के हृदय में नीलहों के प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न करना है। कुछ लोग कहते हैं कि "एक सत्य घटना को नग्न रूप में नाटक में रख दिया गया है। वास्तविक व्यक्तियों का चरित्र नाटक के पात्रों में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया[1]:—नदिया की एक कृषक-बालिका 'हरमणि' नाटक में क्षेत्रमणि; फैक्टरी के स्वामी अर्चिबाल्ड हिल्स नाटक में छोटा साहब; अमर नगर का मजिस्ट्रेट नाटक में मि० हरकेश; क्रूर कानून नाटक में नवीन माधव के रूप में।" भारतेन्दु जी के नाटक 'अँधेर

---

* परिशिष्ट ७ (ग) में देखिए।

1. दि इण्डियन स्टेज वाल्यूम २, पृष्ठ ६३

नगरी' में भी पात्रों को पहचाना जा सकता है, किन्तु भारतेन्दु जी में एक विशेषता है, जिसके कारण उनके नाटकों पर सरकार ने कोई आपत्ति नहीं उठाई। भारतेन्दु जी व्यक्तिगत तथा जातिगत वैमनस्य दिखाकर विद्वेष की भावना उद्दीप्त करना नहीं चाहते। उनके नाटक में सत्य घटना को भी कला के आवरण में सौन्दर्य से इतना मनोहारी बना दिया जाता है कि जिनके क्रूर क्रियाकलाप इसमें प्रदर्शित हैं, वे भी इसे देखकर रुष्ट नहीं होते। 'भारत-दुर्दशा' नाटक के पात्रों को हम पहचान जाते हैं, किन्तु सरकार के जिन खुशामदियों की ओर नाटक में संकेत है, वे भी इसका अभिनय देखकर नाट्यकार के कलाचातुर्य की प्रशंसा ही करते रहे।

'नील दर्पण' की तरह मराठी में 'कीचक वध' नामक नाटक अंग्रेजी राज के विरुद्ध प्रचार के लिए लिखा गया। सरकार ने इस नाटक का अभिनय भी वर्जित कर दिया। इन उदाहरणों के देने का उद्देश्य यह है कि भारतेन्दु जी की नाट्य-प्रतिभा का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सके।

भारतेन्दु जी के समकालीन देश के अन्य प्रतिनिधि नाट्यकार थे—बंगला में रामानन्द तर्करत्न, गुजराती में रणछोड़दास तथा मराठी में किर्लोस्कर। इन चारों नाट्यकारों में निम्नलिखित बातों में समानता पाई जाती है—१. देश की दासता से सबका हृदय दुखी था और सब ने देश-दुर्दशा और देशोद्धार की समस्या का विवेचन अपने नाटकों में किया है। २. पौराणिक नाटकों में भी देश और समाज की दुखद परिस्थिति दिखाकर उद्बोधन की प्रेरणा की गई है। ३. बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि कुरीतियों की हँसी उड़ाकर समाज-सुधार का संदेश दिया गया है। ४. नाट्यकार केवल पौराणिक नाटकों से सन्तुष्ट न होकर सामाजिक और ऐतिहासिक नाटकों की भी रचना करने लगे। ५. अंग्रेजी सभ्यता के अन्ध-भक्तों की हँसी उड़ाकर भारतीय सभ्यता की

विशेषता दिखाई जाने लगी। इस प्रकार स्वदेश, स्वराज्य, स्वधर्म के प्रति ममता उत्पन्न करके नाट्यकार इनकी उन्नति के लिए त्याग का आह्वान करते रहे।

नाट्यकार की इन मनोवृत्तियों का प्रमाण हम स्थान-स्थान पर देते आए हैं। यहां इतना और लिख देना चाहते हैं कि मराठी के प्रसिद्ध समालोचक विश्वनाथ पांडुरंग दांडेकर के निम्नलिखित उद्धरण से भी हमारे मत की पुष्टि होती है।

"याच वेलीं स्वदेश, स्वराज्य, स्वेतिहास, इत्यादि कल्पना समाजाच्या मनांत घोळू लागल्या, आणित्याचा म्हणून ऐतिहासिक नाटकें तयार होऊं लागलीं, सामाजिक व ऐतिहासिक नाटक ही सामान्यतः एकाच वेलीं म्हणजे महाराष्ट्रयांच्या स्वत्व जागृतीच्या लोक जागृतीच्या वेष्ठीं निर्माण झालीं।"[1]

भारतीय भाषाओं के नाट्यकारों में भारतेन्दु जी की मान्यता का एक और भी कारण है। भारतेन्दुकाल में प्रत्येक देशी भाषा के नाट्यकार सामाजिक नाटक लिख रहे थे। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक वितंडावाद के विरुद्ध जो घोर आन्दोलन चल रहा था, उसका प्रभाव नाट्यकारों पर पड़ना स्वाभाविक था। रामानन्द जी के 'कुलीन कुल सर्वस्व' और 'विधवा-विवाह' नाटक बंगाल की सामाजिक परिस्थिति में क्रान्ति उत्पन्न कर रहे थे। इन नाटकों का अभिनय अनेक बार अनेक रंगमंचों पर हुआ, किन्तु प्रत्येक अभिनय के समय विरोधी दल का प्रदर्शन भी होता रहा। बंगाल के समाचार-पत्रों, सभाओं और गोष्ठियों में इन नाटकों की कटु आलोचना होती रही। विरोधी प्रदर्शनों का परिणाम यह हुआ कि इन सहेतुक नाटकों के उद्देश्य को बड़ा धक्का पहुँचा। इसी प्रकार का विरोध महाराष्ट्र और गुजरात में भी

---

१. मराठी नाट्य-सृष्टि—खंड दूसरा : विश्वनाथ पांडुरंग दांडेकर, पृष्ठ ३ श्री सयाजी साहित्य माला पुष्प २६०।

हुआ। किन्तु भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों के हेतु को कला के आवरण से इस प्रकार आवृत कर दिया कि मधुर औषधि के समान स्वादिष्ट प्रतीत होते हुए भी वह गुणकारी सिद्ध हुआ। यही कारण है कि भारतेन्दु के नाटक विधवा-विवाह की उपयोगिता, बाल-विवाह की भयंकरता, हिंसा की नृशंसता और धार्मिक वितंडावाद की असारता का उल्लेख डंके की चोट कर जाते हैं, किन्तु किसी वर्ग या समुदाय से विरोध-स्वर सुनाई नहीं पड़ता। भारतेन्दु जी की सूक्ष्म तत्वदर्शिता का यह एक प्रमाण है।

इस महान् साहित्यिक की एक और विशेषता है जो इसे अन्य भाषाओं के नाट्यकारों से ऊँचा स्थान प्रदान करती है। बंगाल में राजा जोतीन्द्रनाथ-जैसे धनी-मानी-व्यक्ति बँगला नाट्यकारों को प्रोत्साहन देते एवं अभिनयशाला का सृजन तथा अभिनेताओं का निर्वाचन करते। नाट्यकार को केवल अभिनय के योग्य नाटक रचना होता। इसी प्रकार महाराष्ट्र में सागली के कलाप्रेमी महाराज नाट्यकारों की आर्थिक सहायता करते और रंगशाला का समस्त प्रबन्ध स्वतः करते, किर्लोस्कर महोदय को केवल नाटक-रचना का कार्य करना था। इसी प्रकार गुजरात के धनी-मानी श्रेष्ठि धन-द्वारा अभिनयशाला और अभिनय का प्रबन्ध करते। रणछोड़दास जी को केवल नाटकों का निर्माण करना पड़ता, किन्तु भारतेन्दु जी को स्वतः नाटक लिखना, अभिनयशाला का प्रबन्ध करना तथा अभिनेता बनना पड़ता। एक ही व्यक्ति नाट्यकार, अभिनय-प्रबन्धक और नट तीनों ही रूप में कार्य करता दिखाई पड़ता है और तीनों रूपों में पूर्ण सफल होता है। भारतेन्दु जी जैसे सूक्ष्मदर्शी नाट्यकार थे वैसे ही कुशल अभिनेता और प्रवीण रंगमंच-प्रबन्धक भी। इस कथन में अत्युक्ति न होगी कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य के अभिनव-मन्दिर का निर्माता, प्रतिमा-प्रतिष्ठापक और पुजारी एक ही व्यक्ति था और वह था

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में जब देश-भक्ति को राज-द्रोह, हिन्दी-प्रेम को अज्ञान और नाट्य-कला को ग्राम्य समझा जाता था, भारतेन्दु ने किस रहस्य के बल पर देश-दशा की ऐसी मार्मिक व्यंजना की, हिन्दी भाषा को इतना गौरवान्वित किया और नाट्यकला को संस्कृति का अंग बना डाला।

इसे सुलझाने के पूर्व इस स्वाभाविक नियम को समझ लेना चाहिए कि प्रतिकूल परिस्थितियों के अन्तर्गत अनुकूल वातावरण का सृजन व्यक्ति की महानता का द्योतक है। भारतेन्दु का व्यक्तित्व ऐसा ही महान् था। उन्होंने निर्भीकता से विरोधों का सामना किया। इस संघर्ष में उनके पास उपकरण थे—अकृत्रिम सौहार्द्र, सहज औदार्य और निश्छल सहजभाव। इन्हीं के बल पर वह साहित्यकारों के केन्द्र बने थे। देखा जाता है कि "जो व्यक्ति अपने सम्पूर्ण रस को निःशेष भाव से देता है उसके इर्दगिर्द ऐसे लोग आकृष्ट होते हैं जो अपनी सम्पूर्ण सत्ता को हँसते-हँसते लुटा देने में आनन्द पाते हैं।" भारतेन्दु का सहज औदार्य ऐसा अप्रतिम था कि उन्हें अपना सर्वस्व लुटाने में रस मिलता था। सूर्य के समान निरन्तर ज्योति बिखेरते रहने से दीप्यमान ग्रहमण्डली उनके चतुर्दिक अनायास उपस्थित हो जाती थी।

हजारीप्रसाद जी का मत है कि भारतेन्दु के सरल औदार्य और स्वाभाविक सारस्य ने उनके साहित्य को तो महान् बनाया ही, उनके सम्पर्क में आने वालों को भी शक्ति-सम्पन्न कर डाला। उनकी सफलता का यह प्रथम रहस्य था। दूसरा रहस्य यह था कि वह एक जीवन्त प्राणी के सदृश सभी वस्तुओं से जीवन का उपादान ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते थे। उनका दृष्टिकोण इतना व्यापक था और रस-ग्राहिका शक्ति इतनी प्रबल थी कि जहाँ भी दृष्टि पड़ी वहीं से जीवन का उपादान ग्रहण कर लिया। तीसरा रहस्य यह

था कि "भारतेन्दु जीवन-प्राण-धारा के मूर्त्त विग्रह थे। उनका समूचा काव्य उनकी मूर्त्तमान प्राणधारा का उच्छल वेग है।" इस उच्छल वेग के सम्मुख विविध अवरोधक शक्तियाँ तृण के समान टिक ही नहीं सकती थीं।

यहाँ तक तो हुई उनके व्यक्तिगत जीवन-साधना की बात, अब उनकी रचना-पद्धति पर भी विचार कर लेना चाहिए। भारतेन्दु जी ने राष्ट्र, धर्म, समाज और भाषा के हित के लिए कभी "क्रान्ति कारी हथौड़ों से काम नहीं लिया। उन्होंने मृदु-संशोधक-निपुण वैद्य की भाँति रोगी की नाजुक स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर उसकी रुचि के अनुसार उचित पथ्य की व्यवस्था की।" उनकी सफलता का यही मूल रहस्य था।

---

१. हिन्दी साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृ० ३६७

दसवां अध्याय

आधुनिक काल (संवत् १९६०—२०१० वि०

जयशंकर प्रसाद (संवत् १९४६—१९९४ वि०)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के दिवंगत होने के तीन वर्ष उपरान्त प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रसिद्ध घराने में हुआ। प्रसाद जी के बाल्यकाल में भारतेन्दु जी का यश-सौरभ देशव्यापी बन गया था। सरस्वती के इस उपासक के त्याग की कहानियां भारतेन्दु-मंडल द्वारा दूर-दूर तक प्रसारित हो रही थीं। ग्रियर्सन, एडविन ग्रीव्स, एफ० ई० को, सी० ई० बकलैंड आदि विद्वानों के कारण भारतेन्दु की कीर्ति विदेशों में भी फैल रही थी।※

सामान्यतः देशविदेश में किन्तु काशी में तो विशेषकर भारतेन्दुजी एवं उनके साथी साहित्यकारों के जीवन की कहानियाँ घर-घर में पहुँच चुकी थीं। भारतेन्दु-मंडल के उज्ज्वल नक्षत्र-परवर्त्ती साहित्यकारों के आदर्श बन गये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि बालक जयशंकर पर उन साहित्यिकों का प्रभाव पड़ता। प्रसादजी अधिक प्रभावित थे भारतेन्दुजी से। उन्होंने प्रारम्भ में भारतेन्दु जी के नाटकों को अपना आदर्श माना।

प्रसादजी के बाल्यकाल में भारतेन्दु-मंडल के उज्ज्वल नक्षत्र एक-एक करके अस्त हो चुके थे। भारतेन्दु-युग की ज़िंदादिली के साथ नाटक-रचना का जोश मिट चुका था। मौलिक नाटक कहीं

※ परिशिष्ट ७ (घ) में देखिए।

विरल दिखाई पड़ जाते, अन्यथा बँगला नाटकों के अनुवाद का साम्राज्य था। कारण यह था कि उत्तर-भारत में सर्वत्र इनकी धूम मची हुई थी। माइकेल मधुसूदनदत्त, गिरीशचन्द्र घोष, दीनबन्धु मित्र, द्विजेंद्रलालराय के नाटकों का अभिनय बड़े सजधज के साथ बंगाल में हो रहा था। माइकेल ने Blank Verse के समान अतुकान्त छन्दों का प्रयोग नाटकों में प्रारम्भ कर दिया था, जो रंगमंच पर सफलता की दृष्टि से अवांछनीय प्रतीत हुआ था, किन्तु कालान्तर में जनरुचि के अनुकूल बनता गया*। रवि बाबू के नाटकों की एक नवीन शैली बँगला में चल रही थी जिसमें प्रतीक नाटकों का एक नया रूप दिखाई पड़ रहा था। भारतेन्दु-मंडल के द्वारा नाटकों की जो धारा वेग से प्रवाहित हुई थी, वह अत्यन्त मन्द पड़ चुकी थी।

इस युग में विविध भाषाओं के नाटकों का अनुवाद करके हिन्दी-नाट्य-साहित्य में शक्ति का संचार किया जा रहा था। शेक्स्पीयर के नाटकों से हिन्दी नाटकों में भावुकता का संचार हो रहा था। अन्तर्द्वन्द्व और कथासेंस को रस-प्रतिपादन से अधिक महत्त्व मिल रहा था। द्विजेन्द्र लाल के नाटकों के द्वारा शेक्स्पीयर का प्रभाव हिन्दी पर गहरा पड़ रहा था। अतुकान्त-पद्य में विरचित द्विजेन्द्रलाल राय के नाट्यकाव्य एक नई शैली लेकर आये थे। भावोन्माद और करुणा को प्रमुख स्थान दिया जा रहा था। इस प्रकार प्रसादजी के सन्मुख एक ओर तो नवयुग-प्रवर्तक भारतेन्दु जी प्राचीनता के प्रतिनिधि के रूप में खड़े थे, और दूसरी ओर पश्चिमी नाटकों की अभिनयकला अपनी नवीन मोहिनी शक्ति का जादू डाल रही थी। ऐसे सन्धिकाल में प्रसादजी ने साहित्य-सृजन का कार्य प्रारम्भ किया। प्रसादजी ने समन्वयात्मक शैली का अनुगमन किया। उन्होंने भारतीय रस-विधान और

* परिशिष्ट ७ (च) में देखिए।

पाश्चात्य शील-वैचित्र्य के समन्वय का पथ अपनाया।

परीक्षण-काल

प्रसादजी ने साहित्य-सृजन के लिए जब प्रथम बार लेखनी उठाई तो महाभारत का कथानक लेकर भारतेन्दु की नाट्य-परम्परा के अनुसार नान्दी-सूत्रधार को 'सज्जन' नामक नाटक में स्थान दिया। इस नाटक में प्राचीन नाट्य-शैली का पूर्ण निर्वाह है। इसकी कथावस्तु महाभारत की वह चिर परिचित घटना है जिसके अनुसार गन्धर्व चित्रसेन दुर्योधन को उसके मित्रों सहित बन्दी बनाता है। दुर्योधन द्वारा निर्वासित पांडव उसी वन में निवास कर रहे थे। यह समाचार पाकर धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुन को चित्रसेन से युद्ध करने की आज्ञा देते हैं। चित्रसेन अपने मित्र अर्जुन को पहचानकर युद्ध बन्द कर देता है और दुर्योधन आदि बन्धन-मुक्त कर दिए जाते हैं। दुर्योधन के हृदय पर धर्मराज की उदार भावना का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह नतमस्तक हो जाता है।

इस नाटक में हरिश्चन्द्र-काल की नाट्यशैली अपनाई गई है। इसका प्रारम्भ नान्दी-पाठ से और पर्यवसान भरतवाक्य के साथ होता है। पद्यात्मक संवादों की अस्वाभाविक प्रणाली भी इसमें पाई जाती है। इससे पारसी-थियेटरों का प्रभाव भी झलकता है।

भारतेन्दु जी के सदृश प्रसादजी ने इस एकांकी रूपक में गद्य तो खड़ीबोली में रखा है किन्तु पद्यों में ब्रजभाषा का व्यवहार किया है। इससे प्रमाणित होता है कि प्रसादजी की प्रथम कृति हरिश्चन्द्र-परम्परा को अपने साथ लेकर चली।

प्रसादजी का दूसरा एकांकी रूपक है 'प्रायश्चित्त'। इसमें न नान्दी-पाठ है न सूत्रधार, न प्रस्तावना है न भरतवाक्य। संवाद-योजना में भी परिवर्तन पाया जाता है। यहीं से प्रसादजी के नाटकों में पद्यात्मक कथोपकथन का पूर्णतया तिरोभाव हो गया है। हाँ, प्रसादजी ने इस नाटक में दो नवीनताएँ परीक्षण के लिए अवश्य

जोड़ दी हैं,—(१) आकाशभाषित और (२) पात्रों की भाषा में सामाजिक स्थिति के अनुकूल परिवर्त्तन। यह नाटक प्रसादजी का द्वितीय ऐतिहासिक नाटक है। इसमें जयचन्द की मृत्यु-घटना को प्रचलित इतिहास से भिन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है। अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करता हुआ जयचन्द शाहबुद्दीन महम्मद ग़ोरी के आक्रमण के समय गंगा जी में डूबकर संसार से सदा के लिए मुँह छिपा लेता है।

'प्रायश्चित्त' से एक वर्ष पूर्व प्रसादजी ने 'कल्याणी-परिणय' नामक एकांकी नाटक की रचना की थी। यह नाटक नागरी-प्रचारिणी-सभा की पत्रिका में संवत् १९७० में प्रकाशित हुआ। प्रसादजी का सबसे प्रौढ़ नाटक 'चन्द्रगुप्त' इसी का विकसित रूप है। दोनों की तुलना करने पर कहीं-कहीं पदावली में भी पूर्णतया साम्य दिखाई पड़ता है। चाणक्य विदेशी आक्रमणकारी सिल्यूकस को पराजित कर भारत और यूनान में मैत्री स्थापित करने का संकल्प कर रहा है। चन्द्रगुप्त भी अपने व्यक्तित्व के द्वारा सैन्य-संचय करता है और उसे युद्ध में विजयश्री के साथ-साथ जीवन-सहचरी भी प्राप्त हो जाती है।

'कल्याणी-परिणय' का कथानक संक्षिप्त और सरल है। इसमें एक ही घटना आद्योपान्त ऋजुगति से चलती दिखाई पड़ती है। प्रारम्भ में ही चाणक्य के गुप्तचर सावधानी से कौटिल्य की नीति का पालन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। द्वितीय दृश्य में अहेरी चन्द्रगुप्त रमणी-सौन्दर्य से अभिभूत होते हुए भी सिल्यूकस के आक्रमण की सूचना पाकर युद्ध-कार्य में संलग्न हो जाता है। कार्नेलिया प्रथम बार चन्द्रगुप्त को देखते ही मुग्ध हो जाती है। ऐंटिगोनस के आक्रमण का समाचार पाते ही सिल्यूकस चन्द्रगुप्त से सन्धि कर लेता है और अपनी पुत्री का पाणिग्रहण चन्द्रगुप्त के साथ कर देता है। आगे चलकर यही कथानक

चन्द्रगुप्त नाटक का एक अंश बन जाता है। इस एकांकी नाटक का प्रारम्भ नान्दी-पाठ से और पर्यवसान भरतवाक्य के साथ होता है। इसमें भी 'सज्जन' के सदृश पद्यात्मक-संवाद-योजना मिलती है।

'सज्जन' (१९६८) कल्याणी परिणय (१९७० वि०) 'प्रायश्चित्त' (१९७१ वि०) के अतिरिक्त 'करुणालय' नामक एक गीति-नाट्य भी प्रसादजी ने माघ संवत् १९६९ वि० में लिखा। यह नाटक 'इन्दु' में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसमें प्रसादजी ने 'अमित्राक्षर अरिल्ल' छन्द का उपयोग किया है। इसका कथानक यह है—पितृभक्त शुनःशेप अपने माता-पिता की आज्ञा मानकर नरमेध-यज्ञ के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत होता है, किन्तु राज-कुमार रोहित पिता की आज्ञा अनुचित समझकर स्वतन्त्र मत की स्थापना करता है। इसका विवेचन गीति-नाट्य के प्रसंग में किया जायगा।

सम्पूर्ण नाटक पाँच दृश्यों में विभक्त है और पद्यात्मक कथोप-कथन गीति-नाट्य की शैली पर किया गया है। इसमें भी आकाश-भाषित को सुनकर अयोध्यापति हरिश्चन्द्र प्रतिज्ञानुसार अपने पुत्र रोहिताश्व को यज्ञ में बलि चढ़ाना चाहते हैं।

इस प्रकार यह नाटक भी प्राचीनता की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाया है, क्योंकि इसका नाटकीय तत्व कहानी-तत्व के सम्मुख फीका पड़ जाता है। नाटक के अन्त में नर-बलि की समस्या सुलझ जाने पर सभी पात्र परमात्मा की प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

'करुणालय' के प्रति एक प्रश्न उठाया जाता है कि इसे नाटक क्यों कहा जाय। इसे तो काव्य कहना चाहिए। प्रसादजी ने इसका उत्तर स्वयं अपने ग्रन्थ 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में दिया है। उनका मत है कि गीति-नाट्य हमारे देश

में अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। अभिनवगुप्त ने जिन 'राघव-विजय' और 'मारीच-वध' नामक राग-काव्यों का उल्लेख किया है, वे [१] 'ठक्क और ककुभ राग' में कदाचित् अभिनय के साथ वाद्य-ताल के अनुसार गाये जाते थे। ये प्राचीन राग-काव्य ही आजकल की भाषा में गीति-नाट्य कहे जाते हैं। इस तरह अति प्राचीन काल में ही नृत्य-अभिनय-संयुक्त गीति-नाट्य भारत में प्रचलित थे।

राज्यश्री

'राज्यश्री' के दो संस्करणों में भिन्नता पाई जाती है। प्रथम संस्करण परीक्षण-काल की नाटिका-शैली पर लिखा गया है, किन्तु द्वितीय संस्करण परवर्ती नाटकों से अधिक मिलता है। प्रथम संस्करण में नान्दी-पाठ और भरतवाक्य हैं; किन्तु दूसरे में इनका बहिष्कार। प्रथम संस्करण में अनेक त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं, जो दूसरे संस्करण में सुधार ली गई हैं। प्रथम संस्करण का दृश्य-विधान अनगढ़ विशृंखल प्रस्तर-राशि के समान प्रतीत होता है, जिनको कारीगर कौशल से सजा नहीं पाया है। इसके घटना-क्रम में न तो नाटकोचित प्रवाह है और न मार्मिक स्थलों को पकड़ने की सामर्थ्य। प्रसादजी ने दोनों संस्करणों का उल्लेख नवीन संस्करण के प्राक्कथन में किया है। वह लिखते हैं—'इस दृश्य-काव्य का पूर्वरूप 'इन्दु' में पहले निकला फिर 'चित्राधार' के संग्रह में वह पुनर्मुद्रित हुआ। एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ। उस समय यह अपूर्ण ही सा था, इसका वर्त्तमान रूप कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है।

---

१. 'प्रसाद' : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ९२ से ९३ तक।

उपर्युक्त उद्धरण में प्रसाद जी का यह कथन कि—"एक प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ" विशेष ध्यान देने योग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पूर्व विरचित 'कल्याणी-परिणय' और 'प्रायश्चित' को वह पूर्ण रूप से ऐतिहासिक रूपक कहना उचित नहीं समझते। इसका कारण यह है कि इन दोनों रूपकों में इतिहास की मर्यादा का उतना पालन नहीं किया गया जितना 'राज्यश्री' में। 'राज्यश्री' में प्रसाद की दृष्टि इसके नाटकत्व के साथ-साथ ऐतिहासिकता की ओर भी मुख्य रूप से रही है। इस नाटक में विशेष रूप से मालवा, स्थाणेश्वर, कन्नौज और मगध की राज-परिस्थितियों का दिग्दर्शन होता है। अतएव इन राज्यों की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

छठी शताब्दी के मध्य (सन् ५४७ ई०) में हूण-राजा मिहिरकुल का निधन हो गया। यद्यपि मिहिरकुल की मृत्यु के उपरान्त हूणों में कोई शक्तिशाली शासक नहीं था, तथापि उनकी शक्ति का सर्वथा ह्रास भी नहीं हुआ था। एक ओर हूण पराजित होने पर भी भारतीय शासकों से युद्ध को सदा प्रस्तुत रहा करते थे, दूसरी ओर हूणों को पराजित करने में गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण होती जाती थी। उनका साम्राज्य-केन्द्र इतना दुर्बल और शिथिल बन गया कि कई अधीनस्थ सामन्त क्रमशः स्वाधीन हो गए।

गुप्त-साम्राज्य के सामन्तों में हूण-हरिण-केशरी प्रभाकरवर्धन और सर्ववर्मन सर्वाधिक शक्तिशाली थे। प्रभाकरवर्धन ने स्थाणेश्वर को केन्द्र बनाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और मौखरी सर्ववर्मन ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) में अपनी राजधानी नियत की।

प्रभाकरवर्धन ने अपनी राज्य-शक्ति और राज-सीमा की इतनी वृद्धि की कि वह महाराजाधिराज और परम भट्टारक की उपाधि से विभूषित हो गया। इसी प्रकार कन्नौज-राज सर्ववर्मन ने उत्तर-

पश्चिम के हूणों और तत्कालीन मगध-राज दामोदर गुप्त को पराजित करके शक्ति-वृद्धि के साथ यश अर्जित किया। मगध हाथ से निकल जाने पर महासेन गुप्त (दामोदर गुप्त के पुत्र) ने मालवा में अपनी शक्ति संगठित की। इसी मालवा में उसका पुत्र देवगुप्त राजा बना, जिसने गौड-राज नरेन्द्र शशांक से मैत्री स्थापित की।

छठी शताब्दी के अन्त तक उत्तर-भारत में स्थाणेश्वर और कान्यकुब्ज दो राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली और दृढ़ बन गये। इन दोनों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध के द्वारा मैत्री भी स्थापित हो गई थी, अतएव इनकी धाक और भी जम गई। प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र थे—राज्यवर्धन और हर्षवर्धन और एक पुत्री थी राज्यश्री। राज्यश्री का विवाह कन्नौज-राज ग्रहवर्मन से हुआ था।

स्थाणेश्वर और कन्नौज की शक्ति का उत्कर्ष देखकर उत्तर-भारत के शक्तिहीन राज्य, मालवा और गौड़, ईर्ष्यालु बन गए थे। इन्हीं ईर्ष्यालु राजाओं के कुचक्रों की लीला इस नाटक में देखने को मिलती है।

प्रसाद जी के इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में उनके शेष ऐतिहासिक नाटकों की प्रायः समस्त विशेषताएं बीज रूप से विद्यमान हैं; उनके सभी ऐतिहासिक नाटकों के सदृश इसमें भी राजकीय उथल-पुथल और उत्क्रान्ति की कहानी है। षड्यन्त्र, विद्रोह, रक्तपात तथा संघर्ष इसमें भी विद्यमान है। राजनतिक और धार्मिक समस्याओं के ताने-बाने से यह नाटक-पट भी प्रस्तुत होता है। इसमें कहीं राजतन्त्र-सम्बन्धी समस्याएँ प्रमुख हो जाती हैं तो कहीं धार्मिक उलझनें हमारा पूरा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं।

प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में बौद्ध-धर्म विकसित अथवा पतनशील अवस्था में दिखाई पड़ता है। राज्यश्री में जहाँ एक ओर स्वानच्यांग शत्रु-मित्र सभी को धर्म और शान्ति वितरित करता है, वहाँ दूसरी ओर शान्तिभिक्षु (विकटघोष) धर्म और शान्ति

का इस प्रकार उपहास करता है—"मूर्ख, शान्ति को मैंने देखा है। कितने शवों में वह दिखाई पड़ी। शान्ति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख माँगने में। मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूँ। धर्म को मैंने खोजा जीर्ण पत्रों में। पण्डितों के कूट तर्क में उसे बिलखते पाया, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।"

इस प्रकार प्रसाद जी दो बौद्ध-भिक्षुओं में शान्ति और धर्म की उपादेयता के प्रति विवाद खड़ा करते हैं। शान्ति और धर्म को हेय समझने वाला शान्तिभिक्षु प्रारम्भ में इस प्रकार संशयात्मक स्थिति में पड़ा था—"मैं क्या चाहता हूँ? यह मैं अभी स्वयं नहीं समझ सका हूँ।"[1] तदुपरान्त वह पतन की ओर दृष्टि लगाए सूरमा से कहता है—"पतन की चरम सीमा तक चलें सूरमा। बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं।"[2] धर्म का निरादर करने के कारण उसके जीवन में एक समय वह स्थिति आ जाती है जब वह हमें पतन की सीमा तक पहुँचता हुआ दिखाई पड़ता है। तीसरे अंक में वह इतना क्रूर बन जाता है कि राज्यवर्द्धन का रक्त पीकर भी उसकी क्रूरता की राक्षसी अतृप्त बनी रहती है और वह धर्म-प्राण स्वान-च्यांग की हत्या का आयोजन करता हुआ कहता है—"ओह! मेरी प्रतिमा, मेरी क्रूरता की देवी नर-बलि चाहती है। तू बहुत स्वस्थ है विदेशी! मैंने राज-रक्त से पहले-पहल हाथ रँगा था। वह कितना लाल था। उसका मनोरंजन कितना ललित था। सूरमा! स्मरण है वह राज्यवर्धन की हत्या। बड़ी उत्साहवर्धक थी वह।" हम पहले कह आए हैं कि धार्मिक समस्याएँ प्रसादजी के सभी ऐतिहासिक नाटकों में राजतन्त्र से उलझती चलती हैं। 'राज्यश्री' का शान्तिभिक्षु, 'विशाख' का महपिंगल, 'स्कंदगुप्त' का प्रपंचबुद्धि कापालिक आदि पात्र पतित भिक्षुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और साथ-ही-साथ

१. राज्यश्री, प्रथम अंक, प्रथम दृश्य, पृष्ठ ११।

२. राज्यश्री, तृतीय अंक, पृष्ठ ५०।

ात्कालीन राजनीति में भी सक्रिय भाग लेते रहते हैं। 'राज्यश्री' में सर्वप्रथम इस पद्धति का बीजांकुर दिखाई पड़ने से भी इस नाटक का विशेष महत्त्व है।

नीलदेवी और राज्यश्री

नीलदेवी और राज्यश्री इतिहास-प्रसिद्ध महिलाएँ हैं। दोनों के जीवन में प्रायः साम्य पाया जता है। दोनों के पति षड्यन्त्र द्वारा मारे जाते हैं। दोनों विधवाएँ आपत्तिकाल में धैर्य से काम लेती हैं। दोनों में प्रशंसनीय वीरता पाई जाती है। किन्तु अन्तर केवल वीरता के आदर्शों में है। नीलदेवी की वीरता शत्रु-शिविर में निर्भय प्रविष्ट होने तथा युद्ध द्वारा देश-स्वातन्त्र्य की रक्षा करने में है, किंतु राज्यश्री का ओज आततायियों के मध्य अकेले जीवन-यात्रा करने और हत्यारों को प्राण-दान देने में प्रकट होता है। नीलदेवी और राज्यश्री[1] दोनों चितारूढ़ होती हैं किन्तु अन्तर यह है कि नीलदेवी जलकर भस्म हो जाती है और राज्यश्री हर्ष के अनुनय-विनय पर चिता से उतर आती है और लोक-सेवा करके काषाय ग्रहण करने के उद्देश्य से कालयापन करने लगती है।

निष्कर्ष यह है कि भारतेन्दु जी का लक्ष्य है देश-स्वातन्त्र्य किन्तु प्रसाद जी का आदर्श है भारतीय संस्कृति की महत्ता की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित करना। नीलदेवी के बलिदान से देश स्वतन्त्र होता है किन्तु राज्यश्री की हृदय की महानता से भारतीय संस्कृति विदेशों तक पहुँचती है। नीलदेवी को पति, पुत्र, भाई, सेनापति आदि के कार्य स्वयं करने पड़ते हैं, किन्तु राज्यश्री को अपने भ्राताओं की सहायता प्राप्त है। नीलदेवी में शौर्य और दृढ़ता है, राज्यश्री में करुणा और उदारता। भारतेन्दु-काल में भारत की पुकार थी—नारी को परदे से बाहर लाकर धर्म और

---

१. राज्यश्री, तृतीय अंक, सप्तम संस्करण, पृष्ठ ६१।

जाति की रक्षा के लिए विधर्मियों को शस्त्र द्वारा पराजित करना। किन्तु प्रसाद काल में गांधीवाद के प्रभाव से देश की माँग हुई—शस्त्र-युद्ध के स्थान पर अहिंसा का प्रचार करना। इसी कारण भारतेन्दु ने नीलदेवी को और प्रसाद ने राज्यश्री को अपने-अपने लक्ष्य के अनुसार नाटक-रूप में रखा।

विशाख (संवत् १९७८ वि०)

राज्यश्री और विशाख के रचना-काल में ६ वर्ष का अन्तर है। स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इस दीर्घ काल में प्रसाद जी ने नाटक-सृजन से विश्राम क्यों लिया। चार[1] वर्ष में पाँच नाटकों का रचयिता ६ वर्ष तक उपराम ग्रहण करे, इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य ही रहा होगा। विशाख नाटक का महत्व परखने के लिए इस कारण को जान लेना आवश्यक है, क्योंकि इस दीर्घ विश्राम के पश्चात् विशाख नाटक का कथानक किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही चुना गया होगा। देखना यह है कि वह उद्देश्य है क्या? आज तक इस पर किसी ने प्रकाश नहीं डाला है। अतः निश्चित रूप से हम इस विषय में कुछ नहीं कह सकते, किन्तु प्रसाद जी के अभिन्न-हृदय मित्रों के द्वारा प्राप्त उनकी पारिवारिक तथा आर्थिक परिस्थिति के कुछ विवरण, देश की तत्कालीन राज्य-क्रान्ति और विशाख के कथा-प्रसंगों का अवलम्ब लेकर हम किसी-न-किसी परिणाम पर पहुँचने का प्रयास करेंगे।

विशाख नाटक का प्रथम वाक्य, जिसे नायक स्वतः एकान्त में कह रहा है, यह है—"शैशव! जब से तेरा साथ छूटा तब से असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं ने हृदय को घोंसला

१. सन् १९११ से १९१५ के मध्य 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित' और 'राज्यश्री' पाँच नाटकों की रचना हुई।

बना डाला। इन विहंगमों का कलरव मन को शान्त होकर थोड़ी देर भी सोने नहीं देता। यौवन सुख के लिए आता है, यह एक भारी भ्रम है।"[1]

विशाख का यह 'स्वागत-भाषण' समाप्त होते ही नाटक की नायिका चन्द्रलेखा सामने आती है। इसकी पैतृक सम्पत्ति अपहृत की जा चुकी है। परिवार का भरण-पोषण करने के लिए सेम की फलियाँ तोड़ती हुई वह दरिद्रता की क्रूरता को इस प्रकार स्मरण करती है—

'सखी री, सुख किसको हैं कहते।
बीत रहा है जीवन सारा केवल दुख ही सहते।
करुणा, कान्त कल्पना है बस, दया न पड़ी दिखाई।
निर्दय जगत, कठोर हृदय है, और कहीं चल रहते।'[2]

इस गान और उपर्युक्त 'स्वागत-भाषण' को भली प्रकार समझने के लिए हमें राज्यश्री का यह अन्तिम गान सामने रखना चाहिए—

'करुणा कादम्बिनी बरसे।
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।
प्रेम-प्रचार रहे जगती-तल दया दान दरसे।
मिटे कलह शुभ शान्ति प्रकट हो अचर और चर से।-

जो करुणा-कादम्बिनी प्रसाद के हृदय को सरस बना सकती थी, वह वास्तविक रूप में कहीं न दिखाई पड़ी। वह तो कल्पना-जगत् की कान्त वस्तु ही सिद्ध हुई। उस कादम्बिनी का दर्शन जीवन में न होने से प्रसाद जी और कहीं चलकर रहना चाहते हैं। यह ध्वनि उनके तत्कालीन पारिवारिक जीवन की दुःखमय कहानी से भी निकलती है। प्रसाद जी को इन छः वर्षों में इस निदय जगत् में क्रूरता ही दिखाई पड़ी। राज्यश्री की रचना के

१. प्रसाद : विशाख नाटक, प्रथम अंक, प्रथम दृश्य।
२. जयशंकरप्रसाद : विशाख नाटक, प्रथम अंक, प्रथम दृश्य।

एक वर्ष बाद ही उन्हें यमराज की क्रूरता का सामना करना पड़ा; उनकी स्त्री का स्वर्गवास प्रसूति-गृह में नवजात शिशु के साथ ही हो गया। तदुपरान्त विषम आर्थिक परिस्थितियों की क्रूरता उन्हें सन्तप्त करती रही।

प्रसाद जी का जन्म एक समृद्ध परिवार में हुआ था। इनके पिता देवीप्रसाद का व्यापार-वैभव काशी, कलकत्ता आदि कई प्रमुख नगरों में फैला हुआ था। किन्तु प्रसाद जी की सात वर्ष की ही अवस्था में पिता जी का स्वर्गवास हो जाने से वह वैभव ह्रासोन्मुख बन गया। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कारण परिवार में भी फूट पड़ गई। न्यायालय में अभियोग पर अभियोग चलने लगे। चार वर्ष में लाखों रुपये व्यय हुए। अतः व्यवसाय बन्द हो गया और दुकानों पर ताले लग गये।[1]

इन आपत्तियों का सामना करते हुए प्रसाद जी के ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न जी भी इस संसार से चल बसे। अब प्रसाद जी के ऊपर समस्त परिवार के भरण-पोषण का भार आ पड़ा। हम पूर्व कह आए हैं कि उनकी पत्नी का भी स्वर्गवास हो चुका था। ऐसी विकराल परिस्थिति में यह स्वाभाविक था कि शैशव की सुखद स्मृतियाँ प्रसाद के यौवन में कसक पैदा करें।

आश्चर्य नहीं कि उन्हीं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रसाद ने विशाख और चन्द्रलेखा आदि पात्रों की सृष्टि की हो।

विशाख नाटक की रचना में उस समय के राजनीतिक आन्दोलन का भी हाथ हो सकता है, क्योंकि इसका संकेत हमें इस नाटक की भूमिका में इस प्रकार मिलता है—

"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्त-

१. डा० राजेन्द्र नारायण शर्मा के आधार पर। 'आज' का प्रसाद विशेषांक, १८ फरवरी सन् १९५१, पृष्ठ ५।

मान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है, और जिन पर वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।"

इस काल में महात्मा गांधी का सत्याग्रह आन्दोलन देशव्यापी बन रहा था। शासक-वर्ग भक्षक हो चला था। जनता में उत्तेजना फैल रही थी। स्वराज की धूम मच रही थी। देश की राज्यलक्ष्मी विधर्मी के पंजे में जा पड़ी थी, इसे जनता समझ गई थी। इस कारण असन्तोष फैल रहा था। प्रसाद ने इसी प्रकार की घटना लेकर विशाख नाटक की रचना की। नाग जाति की लक्ष्मी चन्द्र-लेखा के उपभोग के लिए कामुक किन्नर नरदेव आतुर है और जैसे-तैसे उसका अपहरण भी कर लेता है। फिर तो समस्त नाग-जाति विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देती है और अभीष्ट को प्राप्त कर लेती है। इस नाटक में महात्मा गांधी ही प्रेमानन्द रूप में इस सन्देश को सुना रहे हैं।[1]

निर्बल भी हो, सत्य पक्ष मत छोड़ना,
शुचिता से इस कुहक जाल को तोड़ना।

इस उपदेश से नरदेव का हृदय बदल जाता है और वह अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करता है। यह आशा का एक सन्देश था जिसे प्रसाद अवसाद के उस काल में दुखी भारतीय जनता को प्रेमानन्द के द्वारा समझा रहे थे।

इस नाटक की रचना का तीसरा कारण था—सारनाथ का ध्वंसावशेष। प्रसाद अपने कलाविद् सखा रायकृष्णदास के साथ प्रायः सारनाथ जाते और वहाँ बौद्ध भग्नावशेषों को देखकर विचार-मग्न हो जाते। उनका भावुक हृदय कल्पना के सहारे अतीत के उस युग में पहुँच जाता जिसमें चैत्यों और विहारों का सम्मान था, फिर कालान्तर में उनके प्रति जनता की श्रद्धा ऐसी

---

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख नाटक, प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य, पृष्ठ ३८।

विलीन हुई कि एक दिन उनका संहार होकर रहा। प्रसाद के मस्तिष्क में भी प्रत्येक मननशील व्यक्ति की तरह इन चैत्यों और विहारों की संहार-समस्या उठी होगी। रायकृष्णदास[1] का कहना है कि प्रसाद को सारनाथ के कई स्थल इतने प्रिय थे कि उन्हें देखते-देखते वह भाव-मग्न हो जाते। यही काल है जब प्रसाद विशाख नाटक की रचना में संलग्न हुए।

इस नाटक में प्रसाद ने काश्मीर-स्थित बौद्ध-विहारों के भस्मसात् होने का कारण दिया है। उनका मत है कि जब बौद्ध-भिक्षुओं का चरित्र पतित हो गया तो राजा और जनता की श्रद्धा उनमें न रही। अतः समस्त बौद्ध-विहार राज-कोपाग्नि में भस्म कर दिये गए। प्रमाण के लिए विशाख और राजा नरदेव का वार्तालाप देखिए—"कानीर-विहार का बौद्ध-महन्त जिसे राज्य की ओर से बहुत-सी सम्पत्ति मिली है प्रमादी हो गया है। दीन-दुखियों की कुछ नहीं सुनता। मोटे निठल्लों को एकत्र करके विहार में विहार कर रहा है। एक दरिद्र नाग की कन्या को अकारण पकड़कर अपने मठ में बन्द कर रखा है। उसका वृद्ध पिता दुःखी होकर द्वार-द्वार विलाप कर रहा है।"[2]

राजा नरदेव विहारों को भस्म करने की आज्ञा देता हुआ बौद्ध-महन्त से कहता है—

"किन्तु सत्यशील, तुम तो अधम कोट हो। तुम्हारे लिए यही दण्ड है कि तुम लोगों का अस्तित्व पृथ्वी पर से उठा दिया जाय, नहीं तो तुम लोग बड़ा अन्याय फैलाओगे। सेनापति, सब विहारों को राज्य-भर में जलवा दो।"[3]

---

१. नई धारा : प्रसाद के संस्मरण, वर्ष १।

२. विशाख नाटक : जयशंकर प्रसाद, प्रथम अंक, तृतीय दृश्य, पृष्ठ २६।

३. वही, प्रथम अंक, पंचम दृश्य, पृष्ठ ४०।

विशाख नाटक के द्वारा प्रसाद इस तथ्य को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि बौद्ध-विहारों के भस्म होने से तथागत की महत्ता को किसी प्रकार का धक्का न पहुँचा। बुद्ध तो पूर्ववत् भगवान् के रूप में उपास्य बने रहे। प्रसाद तथागत के उन गुणों को, जिनके द्वारा उन्हें भगवान् की उपाधि प्राप्त हुई थी, ढूँढ निकालते हैं। उनका सर्वश्रेष्ठ पात्र प्रेमानन्द भगवान् के लक्षण देते हुए कहता है—

'मान लूँ क्यों न उसे भगवान।
नर हो या किन्नर कोई हो निर्बल या बलवान,
किन्तु कोष करुणा का जिसका हो पूरा, दे दान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान।
विश्व-वेदना का जो सुख से करता है आह्वान,
तृण से त्रयस्त्रिंश तक जिसको सम सत्ता का भान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान।
मोह नहीं है किन्तु प्रेम का करता है सम्मान,
द्वेष नहीं किसी का, तब सब क्यों न करें गुणगान।
मान लूँ क्यों न उसे भगवान्।

यह चैत्य है। इसमें बुद्ध का शवभस्म है।.....ऐसा सुन्दर परिणाम संसार का है।'[1]

उपर्युक्त विचार प्रसाद के मस्तिष्क में अवश्य आते रहे होंगे। इन विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रसाद ने नाटक का कथानक ढूँढा होगा। उन्हें राज-तरंगिणी में नरदेव का ऐसा कथानक मिला जिसके द्वारा वह बौद्ध-विहार को केन्द्र बनाकर देश की तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान सरलता से कर सकते थे। हम आगे विचार करेंगे कि प्रसाद का उद्देश्य इसमें प्रेम-कथा को नाटकीय रूप देना नहीं प्रत्युत् देश की तत्कालीन समस्याओं को सुलझाना है। हम उस

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख, द्वितीय अंक, छठा दृश्य, पृष्ठ ६३।

समालोचक से सहमत नहीं जिसका कहना है कि ऐसी प्रेम-कथा किसी भी युग में सम्भव थी। सामान्य प्रेम-कथा को इसमें एक प्राचीन आवरण देने का प्रयास-मात्र है।

ऐसी प्रेम-कथाएँ, जिनका केन्द्र बौद्ध-विहार हो और जिनमें राजनैतिक क्रान्ति, धार्मिक आन्दोलन और सामाजिक क्रन्दन दिखाई पड़े, प्राचीन इतिहास में कठिनाई से प्राप्त होती हैं। प्रसाद यदि किसी 'सामान्य कल्पित कथानक' को लेकर इस प्रकार नाटक लिखते तो उसमें इतिहास की पावनता और अतीत की गम्भीरता कैसे आती ?

वाजपेयी जी का कहना है कि "इसमें एक स्त्री और उसके दो प्रेमियों की कथा है, जो प्रायः सभी प्रेमगाथाओं में रहा करती है।"[1]

सम्पूर्ण नाटक पढ़ने के उपरान्त 'एक स्त्री के दो प्रेमियों की कथा' कुछ महत्त्व नहीं रखती। आँखों के सामने एक ऐसे भारत का दृश्य नाचने लगता है, जिसमें बौद्ध भिक्षुओं का चरित्र पतनोन्मुख हो गया था और बौद्ध धर्म का बड़ी द्रुतगति से ह्रास हो रहा था। इतिहास के उस युग में अर्थात् आज से १८०० वर्ष पूर्व अशोक-काल का अति उन्नत बौद्ध-धर्म इतना अप्रिय हो गया था कि "भिक्षुओं को देखकर कोई वन्दना भी नहीं करता, भिक्षा की तो कौन कहे।"[2]

इस नाटक की प्रायः समस्त घटनाएँ चैत्य और विहार को केन्द्र बनाकर निर्मित हैं। कानीर विहार के समीप विशाख और चन्द्रलेखा का प्रथम मिलन होता है। बौद्ध-विहार का स्थविर चन्द्रलेखा को विहार में बन्द करता है। प्रेमानन्द वहीं से उसका उद्धार करता है। नरदेव का सखा महापिंगल चैत्य के पास ही बौद्ध-

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, प्रथम संस्करण, सं० २००७ वि०, पृष्ठ २४०।

२. विशाख नाटक : जयशंकर प्रसाद, द्वितीय अंक, पंचम दृश्य, पृष्ठ ६०।

भिक्षु को इस निमित्त भेजता है कि वह चन्द्रलेखा को राजा नरदेव से विवाह करने के लिए प्रेरित करे। इसी प्रकार समस्त कथा के केन्द्र बौद्ध-विहार, बौद्ध-धर्म और बौद्ध-भिक्षु हैं। यद्यपि बौद्ध-विहार भस्म हो जाते हैं किन्तु बुद्ध की प्यारी करुणा मूर्तिमती हो उठती है। जिस समय चन्द्रलेखा अत्याचारी नरदेव के बच्चे को निज प्राणों की परवाह न कर प्रचण्ड अग्नि से निकाल राजा के सामने रखती है उस समय प्रेमानन्द स्त्री-जाति की प्रशंसा करते हुए कहता है, "मूर्तिमती करुणे, तुम्हारा जीवन सफल हो। स्त्री जाति का सुन्दर उदाहरण तुमने दिखाया।"[1] नरदेव अन्त में चन्द्रलेखा से क्षमा-याचना करते हुए कहता है :—

"देवि, क्षमा हो। अधम के अपराध क्षमा हों।"[2]

ऐसी कितनी ही ऐतिहासिक प्रेम-कथाएँ हैं जिनमें कलुषित और अत्याचारी राजा का जीवन प्रायश्चित्त[3] की अग्नि में तप कर इस प्रकार शुद्ध और निर्मल हो गया है।

इस नाटक में प्रसाद की मौलिक देन है प्रेमानन्द का चरित्र। यही प्रेमानन्द इस नाटक को आद्योपान्त दार्शनिकता से ओत-प्रोत बनाता रहता है। उसी की महत्ता है कि नाटक के प्रारम्भ में विलुप्त करुणा फिर मूर्तिमती हो उठती है। जीवन की विषमताओं से व्याकुल प्रसाद करुणा को कल्पनालोक की वस्तु बता रहे थे, किन्तु प्रेमानन्द जैसे संन्यासियों के पावन चरित्र से अन्त में उनमें आशा का संचार हो उठता है, और करुणा इसी

---

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख नाटक, तृतीय अंक पंचम दृश्य, पृष्ठ ९१।

२. वही, तृतीय अंक, पृष्ठ ९१।

३. नरदेव—हाय-हाय—मैंने क्या किया, एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी।···इसीलिए प्रकृति के दास, मनुष्य को, आत्मसंयम, आत्मशासन की पहली आवश्यकता है। वही, तृतीय अंक, पृष्ठ ९०।

धरती पर मूर्तिमती हो जाती है।

इस नाटक में प्रसाद पर यत्र-तत्र तत्कालीन थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। क्या कथानक, क्या संवाद, क्या शैली, क्या चरित्र-चित्रण सबमें उसकी गन्ध मिलती है। ऐसे स्थलों पर प्रेमियों का प्रेमालाप नितांत हल्का और तुकांतमय है। उदाहरण के लिए चन्द्रलेखा और विशाख की बातें देखिए—

'अकेली छोड़कर जाने न दूँगी।
हृदय को देह से जाने न दूँगी,
बनाकर आँख की पुतली तुम्हें बस,
तुम्हारे साथ में खेला करूँगी॥'

इसी प्रकार महारानी[1] और महापिंगल का संवाद देखिए—

महारानी—क्या कहता है पिंगल ?

महापिंगल—जंगल में मंगल।

पर कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद थियेट्रिकल कम्पनी की नाटक-परिधि में दौड़ते-दौड़ते उससे बाहर जाने की चेष्टा कर रहे हैं। महारानी और नरदेव के संवाद में महारानी का एक गीत तो प्राचीन परम्परा की परिधि में है किन्तु दूसरा गीत प्रसाद जी के परवर्त्ती नाटकों की शैली से अधिक साम्य रखता दिखाई पड़ता है।[2] नाटक के सम्पूर्ण अंगों को मिलाकर

१. विशाख नाटक :
महारानी—दूर हो गया कहीं मन से,
क्या हुआ तन लगा रहे तन से।

२. मधुपान कर चुके मधुप, सुमन मुरझाये,
शीतल मलयानिल गया कौन सिंचवाये।
पत्ते नीरस हो गये सुखाकर डाली,
चलती उपवन में लूह कहाँ हरियाली।
तृतीय अंक, पृष्ठ ७१।

देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रसाद प्राचीन परिपाटी से बाहर भागकर नई शैली के सृजन के लिए छटपटा रहे हैं। वह प्राचीन और नई शैली के सन्धि-स्थल पर खड़े होकर अग्रिम पद बढ़ाने को व्याकुल हैं। उनका आगामी नाटक 'अजातशत्रु' इसका प्रमाण है। विशाख नाटक कथानक की गम्भीरता, चरित्र-चित्रण की सफलता, गीतों की नवीनता तथा संवादों की विदग्धता के दृष्टिकोण से प्रसाद के परवर्त्ती नाटकों की कोटि में नहीं पहुँचता, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हास्य की जैसी छटा इस नाटक में मिलती है प्रसाद के किसी अन्य नाटक में उपलब्ध नहीं। शैशव और यौवन की जितनी अनुभूतियाँ इस नाटक में प्राप्त हैं उतनी कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध हों। उनके शैशव की मधुर स्मृति, युवाकाल की कठोर विषमताएँ मूर्तिमती होकर खड़ी हो जाती हैं। ६ वर्षों का राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन अनुभव के रूप में इस नाटक में चित्रित हो जाता है। इसी कारण इस नाटक की महत्ता औरों की तुलना में किसी प्रकार कम नहीं।

इस नाटक में एक विशेषता और है जो अन्यत्र सम्भव नहीं। इसमें सभी बौद्ध-भिक्षु पतनशील हैं। सत्यशील कामुक स्थविर है। दूसरा भिक्षु महापिंगल द्वारा प्रलोभन पाकर चैत्य की आड़ से चन्द्रलेखा का सतीत्व राजा के हाथ बेचना चाहता है। तीसरा भिक्षु तरला का धन अपहृत करने के लिए 'इचिलु मिचिलु खिचिलु बयुजारे श्वयुनश्वे खिविटि खिचिटि फट्[1]' मन्त्र का जाप करता है और उसके समस्त आभूषण चुराकर भाग जाता है। इस नाटक में एक भी बौद्ध-भिक्षु ऐसा नहीं है जिसमें बौद्ध धर्म के सात्विक गुण विद्यमान हों।

दूसरी विशेषता है नारी-चरित्र की। इस नाटक के प्रायः समस्त

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख नाटक, तृतीय अंक, पृष्ठ ८०।

स्त्री-पात्रों का चरित्र प्रशंसनीय है। 'चन्द्रलेखा' तो मूर्तिमती करुणा है ही, 'इरावती' भी पतिपरायण नारी है। 'रमणी' निर्भीक कर्तव्य-परायण और भद्र महिला है। 'रानी' के स्वभाव में स्पष्टता, निर्भीकता और पतिपरायणता का पूर्ण मिश्रण है। वह अपने कामुक और दुराचारी पति नरदेव के हाथों विविध यन्त्रणा सहते हुए भी उसकी मंगल-कामना करती है।

केवल 'तरला'[1] की प्रकृति में क्षुद्रता है। वह स्वर्णाभूषण के प्रलोभन में सब-कुछ करने को तैयार है। किन्तु नाटक की मुख्य कथा-वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसका निर्माण ऐसी स्त्रियों की दुरवस्था प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।

अजातशत्रु (सं० १९७९ वि०)

वस्तुविन्यास की दृष्टि से अजातशत्रु नाटक प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों से नितान्त पृथक् है। प्रसाद ने पूर्ववर्ती नाटकों में प्रायः एक ही राज्य को कथानक का केन्द्र बनाया है। किन्तु इस नाटक में चार राज्यों (मगध, काशी, कौशल और कौशाम्बी) में घटनाएँ स्वतन्त्र रूप से घटती चलती हैं। मगध चारों राज्यों का मेरु है। मगध-राज बिम्बसार से कौशल, कौशाम्बी और काशी का वैवाहिक सम्बन्ध है। कौशलाधीश प्रसेनजित बिम्बसार के साले और कौशाम्बी-नरेश उदयन दामाद हैं। बिम्बसार की ज्येष्ठ-पुत्री पद्मावती से उदयन का विवाह हुआ है। प्रसेनजित ने बिम्बसार को अपनी भगिनी वासवी के विवाह के समय काशी का राज दहेज

१. अभी क्या कहते थे बैल के भाई ? हम लोगों ने तो कभी दूसरे की ओर हँसकर देखा कि प्रलय मचा, व्यभिचारिणी हुई, और तुम्हारे ऐसे साठ वर्ष के खपट्टों को प्रेम वाले दूध के दाँत जमे।
जयशंकर प्रसाद : विशाख नाटक, द्वितीय अंक, पृष्ठ ४७।

में दिया है। इस प्रकार चारों राज्य एक-दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि एक राज्य में घटित होने वाली घटना का प्रभाव अनिवार्य रीति से शेष पर पड़ता ही है।

इस नाटक में सर्वत्र क्रान्ति का विकट घोष सुनाई पड़ता है। वह क्रान्ति राजनैतिक क्षेत्र में राजाओं के विरुद्ध राजकुमारों की है, सामाजिक क्षेत्र में अभिजात के विरुद्ध निम्न वर्ग की है, धार्मिक क्षेत्र में रूढ़िवाद के विरुद्ध सुधारवाद की है, कौटुम्बिक क्षेत्र में पुरुषों के प्रति स्त्रियों की है। मगध-राज विम्बसार के विरुद्ध अजातशत्रु ने और कौशलराज प्रसेनजित के विरुद्ध विरुद्धक ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया है। दोनों अपने-अपने पिता को राज्यच्युत करके स्वयं राजा बनने के अभिलाषी हैं। सामाजिक क्षेत्र की क्रान्ति प्रसेनजित की रानी दासी-पुत्री महामाया तथा उसके पुत्र विरुद्धक के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है—

"रानी—दासी की पुत्री होकर भी मैं राजरानी बनी और हठ से मैंने इस पद को ग्रहण किया और तुम राजा के पुत्र होकर इतने निस्तेज और डरपोक····। पुरुषार्थ करो। इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें अधिकार नहीं।

विरुद्धक—बस माँ! अब कुछ न कहो। आज से प्रतिशोध लेना मेरा कर्त्तव्य और जीवन का लक्ष्य होगा। माँ, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर, इस कौशल के सिंहासन पर बैठकर तेरी वंदना करूँगा।"[1]

उस काल की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्ति का कारण दिखाने के लिए प्रसाद ने ब्राह्मणी-कन्या-मागधी को

१. अजातशत्रु : प्रथम अंक, आठवां दृश्य, पृष्ठ ५६-५७।

एक वेश्या[1] के रूप में दिखा दिया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस काल में किसी-किसी ब्राह्मण-कन्या का चरित्र पतित हो रहा था और दासी-पुत्रियाँ शक्ति-बल से राजरानी बन रही थीं। दासकुल में जन्म लेने के कारण प्राप्त अपमान के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था। यह सामाजिक क्रान्ति थी।

धार्मिक क्रान्ति तो मानो गौतम के रूप में मूर्तिमती हो उठी थी। गौतम का विरोध करने वाली शक्ति का नेता है देवदत्त। उसे मगध-राज अजातशत्रु से सहायता मिलती है। देवदत्त और अजातशत्रु के वार्तालाप से गौतम के नव विचारों का विरोध स्पष्ट झलकता है—

'देवदत्त—सम्राट, कल्याण हो, धर्म की वृद्धि हो। शासन सुखद हो।

अजातशत्रु—कोशल के दाँत जम रहे हैं। वह काशी की प्रजा में विद्रोह करना चाहता है। वहाँ के लोग राजस्व देना अस्वीकार करते हैं।

देवदत्त—पाखण्डी गौतम आजकल उसी ओर घूम रहा है, इसलिए कोई चिन्ता नहीं। गौतम की कोई चाल नहीं लगेगी। यदि मुनिव्रत धारण करके भी वह ऐसे साम्राज्य के षड्यन्त्रों में लिप्त हैं तो मैं भी हठवश उनका प्रतिद्वन्द्वी बनूँगा। परिषद् को आह्वान करो।

---

१. टिप्पणी—ब्राह्मण-कन्या को वेश्या के रूप में दिखाना....कवि की कठोर कल्पना है। इसके पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि कवि ब्राह्मण-धर्म को अधोगति के गर्त में डालकर उसका अधःपतन इसलिए दिखाता है कि बौद्ध-धर्म की महिमा विशेष रूप से उद्दीप्त की जा सके।

अजातशत्रु—जैसी आज्ञा।[1]

चौथी क्रान्ति है पुरुषों के विरुद्ध स्त्रियों की। स्त्रियाँ पति से अपमानित होने पर विद्रोह की भावना से प्रतिशोध लेना चाहती हैं। विवाहिता रानी शक्तिमती को महाराज प्रसेनजित ने दासी-पुत्री कहकर अपमानित किया था। वह पुरुष जाति से इस असह्य अपमान का प्रतिकार चाहती है। सेनापति कारायण और शक्तिमती की बातचीत से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

'शक्तिमती—तुम इतने कायर हो, यदि मैं पहले जानती।

कारायण—तब क्या करती? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनाती।

शक्तिमती—यदि पुरुष इन कामों को कर सकता है, तो स्त्रियाँ क्यों न करें? क्या उन्हें अन्तःकरण नहीं है? क्या स्त्रियाँ अपना कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं? क्या उनका जन्मसिद्ध कोई अधिकार नहीं?.....मुझे इस तरह पदच्युत करने का किसी को क्या अधिकार था?[2]'

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह ऐसा क्रान्ति-काल था, जिसमें सद्धर्मियों के विरुद्ध ढोंगी, पिता के विरुद्ध पुत्र, पति के विरुद्ध स्त्री, और स्त्री के विरुद्ध पति और अभिजात के विरुद्ध दास प्राणपण से उद्योग में संलग्न थे। इन सबका परिणाम हमें प्रारम्भ में यह दिखाई पड़ता है कि धर्मात्मा गौतम पर चंचा के साथ विलास और श्यामा की हत्या का लांछन लगाया जाता है; अजातशत्रु अपने पिता बिम्बसार और विमाता वासवी को बन्दी बनाता है; शक्तिमती अपने पति प्रसेनजित से प्रतिशोध लेती है; विरुद्धक अपनी प्रेयसी श्यामा की हत्या करता है; विरुद्धक प्रत्येक अभिजात को लूटने का काम करता है।

---

१. अजातशत्रु : दूसरा अंक, पहला दृश्य, पृ० ६३।

२. अजातशत्रु : तीसरा अंक, चौथा दृश्य, पृ० १२३, १२४।

ऐसे विकट समय में जब करुणा निराश्रित हो बिलख रही थी, क्रूरता, हिंसा, हत्या, विश्वासघात ताण्डव कर रहे थे, मानव दानव बनकर नैतिकता को तिलांजलि दे चुका था, देश को ऐसे तपस्वी की आवश्यकता थी जो करुणा को आश्रय देता और निर्दयता, हिंसा, प्रतिहिंसा और विश्वासघात के स्थान पर दया, क्षमा, उदारता और श्रद्धा को प्रतिष्ठित करता। गौतम बुद्ध ने अपने शुद्ध जीवन के उपदेशों से ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया कि समस्त देश में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। उन्होंने आदर्श नारी वासवी, मल्लिका और पद्मावती के चरित्र-बल, सहिष्णुता और औदार्य से वेश्या श्यामा, डाकू विरुद्धक, क्रूर अजातशत्रु, निष्ठुर छलना, रक्तप्यासी शक्तिमती के कलुषित जीवन को निर्मल बना दिया। सभी पापी पात्रों का कालुष्य और सन्ताप करुणा-मन्दाकिनी में बह गया। क्रान्ति का उपर्युक्त रूप विस्तार से दिखाने का अभिप्राय केवल यही नहीं है कि प्रसाद जी ने राज-क्रान्ति, धर्म-क्रान्ति, समाज-क्रान्ति और नारी-क्रान्ति का चित्रण अजातशत्रु में सफलता के साथ किया है, प्रत्युत इससे यह भी प्रमाणित करना अभीष्ट है कि प्रसाद एक जटिल कथानक को प्रथम बार ऐसे कौशल के साथ ग्रथित करने में समर्थ हुए हैं कि सम्पूर्ण कथानक पाठक और प्रेक्षक को रसधारा की ओर ही ले जाने वाला प्रतीत होता है। यद्यपि प्रथम अंक में घटनाएँ निरपेक्ष रूप से मगध, कोशल और कौशाम्बी में घटित होती हैं किन्तु द्वितीय अंक में सब मिलकर एक धारा बन जाती हैं और काशी के युद्ध में हम तीन राज्यों की कथा-धाराओं को एकत्र पा जाते हैं। इस स्थल पर प्रत्येक व्यक्ति युद्ध का परिणाम जानने को लालायित हो जाता है।

तीसरे अंक के प्रथम वाक्य से दुश्चरित्र व्यक्तियों में असफलता के कारण मतभेद प्रगट हो जाता है। यहाँ देवदत्त को

दुत्कारती हुई छलना कहती है—"धूर्त ! तेरी प्रवंचना से मैं इस दशा को प्राप्त हुई, पुत्र बन्दी होकर विदेश को चला गया और पति को मैंने स्वयं बन्दी बनाया।"...[1] यहाँ से नाटक की कथा-धारा अपना मार्ग मंगल की ओर बदलती है।

यहाँ पाखण्ड और दुराचार का दुष्परिणाम झलकने लगता है और तृतीय अंक के अन्त में प्रत्येक क्रान्ति का समाधान हो जाता है। राजकुमार अजातशत्रु और विरुद्धक अपने-अपने पिता से क्षमा-याचना करते हैं, और राजक्रान्ति का समाधान मल्लिका के इन शब्दों से हो जाता है—

"क्षमा से बढ़कर दण्ड नहीं है, और आपकी राजनीति इसी का अवलम्बन करे।"

गौतम धर्म-क्रान्ति का समाधान इन शब्दों से करते हैं—"हमें अपना कर्त्तव्य करना चाहिए, दूसरों के मलिन कर्मों को विचराने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है। शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म करना चाहिए। दूसरों की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। आनन्द, दूसरों का अपमान सोचने से भी अपना हृदय कलुषित होता है।"[2]

अमिताभ की धर्मक्रान्ति का नया स्वरूप मल्लिका के शब्दों में इस प्रकार है—

"तुम्हारे उपदेशों से हृदय निर्मल हो जाता है। तुमने कीट से लेकर इन्द्र तक की समता घोषित की, अपवित्रों को अपनाया; दुखियों को गले लगाया, अपनी दिव्य करुणा की वर्षा से विश्व को प्लावित किया अमिताभ, तुम्हारी जय हो।"[3]

---

१. अजातशत्रु, तीसरा अंक, प्रथम दृश्य।

२. अजातशत्रु, दूसरा अंक।

३. वही, दूसरा अंक, पाँचवाँ दृश्य, पृष्ठ ८३।

धर्म का सार, स्वर्ग की प्राप्ति को गौतम ने तीन वाक्यों में स्पष्ट कर दिया—"असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे।"

तीसरी क्रान्ति नारी की है जो पुरुष के अत्याचारों के कारण उठ खड़ी हुई थी। उसका बोध कारायण और शक्तिमती के निम्नलिखित वार्तालाप से इस प्रकार हो सकता है—

"देवि, तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण कठोरता का उदाहरण है पुरुष, और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है, जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं।....क्रूरता अनुकरणीय नहीं है, उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।"

इसी समस्या पर मल्लिका का सुझाव शक्तिमती को इस प्रकार है—"स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशव-वृत्तिवाले क्रूरकर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है, उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा। हमारा यह कर्तव्य है। व्यर्थ स्वतन्त्रता और समानता का अहंकार करके उस अपने अधिकार से हमको वंचित न होना चाहिए। चलो, आज अपने स्वामी से क्षमा माँगो....।"

प्रसाद के ये सुझाव मनोवैज्ञानिक हैं और उन सद्वृत्तियों के मूलाधार पर निर्मित हैं जिनकी छटा कभी मलीन नहीं होती। इस

१. अजातशत्रु : तीसरा अंक, सातवाँ दृश्य, पृष्ठ १३७।

२. वही, तीसरा अंक, पृष्ठ १३७।

दृष्टि से भी प्रसाद का 'अजातशत्रु' नाटक अमर है, क्योंकि इसमें एक ऐसी विचारधारा प्रवाहित होती है जो संतप्त मानव-जीवन को शान्ति प्रदान करती है।

हम कह चुके हैं कि प्रसाद ने इस नाटक का वस्तु-विन्यास इस कौशल से किया है कि कथानक का कोई भी अंग असम्बद्ध नहीं प्रतीत होता। कथानक के संघटन में जो नाटय-कला झलकने लगती है, वह चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व की ज्योति पाकर चमक उठती है। चरित्र के पतन और उत्थान की दृष्टि से अजातशत्रु और श्यामा की सृष्टि प्रसाद-साहित्य में अद्वितीय है। गौतम, मल्लिका, वासवी और पद्मावती में संस्कारगत इतने अधिक गुण विद्यमान हैं कि उनमें विकास का अवकाश ही नहीं। किन्तु अजातशत्रु और श्यामा के चरित्र में अवरोह और आरोह होता रहता है। अजातशत्रु में पतन और उत्थान की पाँच स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। सर्वप्रथम वह निर्दयकुमार के रूप में एक ऐसे उदारचेता अनुचर की चमड़ी उधेड़ता हुआ दिखाई पड़ता है जो मृगी की करुणार्द्र दृष्टि से द्रवित होकर उसके शावक को बन्धन-मुक्त कर देता है। इससे कुमार के क्रूर, कठोर और निर्दय होने का संकेत मिलता है।

दूसरी बार अजातशत्रु काशी के विद्रोह में हमारे सामने आता है। वह अपनी निरपराध विमाता वासवी पर इस प्रकार व्यंग करता हुआ दिखाई पड़ता है—"इसमें हमारी विमाता का व्यंग स्वर है, इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता।" क्रूर अजात को इस दर्प-भरी स्थिति तक पहुँचाने वाला है पाखण्डी देवदत्त। वह क्रूर कर्म में अजातशत्रु की सहायता करता है। इसलिए वह द्रुतगति से पतन की ओर दौड़ता हुआ दिखाई पड़ रहा है।

तीसरी स्थिति में हम उसको प्रतिहिंसा की चरम सीमा तक

जाते देखते हैं। प्रसेनजित को न पाकर अजातशत्रु मल्लिका देवी से पूछता है—"कहाँ गया ? मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना·····कोशल साम्राट् कहाँ गया ?"

मल्लिका जैसी देवी के दर्शन से क्रोधी और अहंकारी अजातशत्रु के चरित्र में परिवर्तन दिखाकर प्रसाद ने दोनों का चरित्र-चित्रण प्रशंसनीय ढंग पर किया है। किसी दिव्य-शक्ति के सम्मुख झुक जाना सुसंस्कार का लक्षण है। यद्यपि अजातशत्रु देवदत्त और छलना की कुमंत्रणा से पतनशील बन गया है, किन्तु संस्कार-गत सद्गुण का अंकुर उसके हृदय में अभी विनष्ट नहीं हुआ है। वह मल्लिका से कहता है, "देवी, आप कौन हैं। हृदय नम्र होकर आप-ही-आप प्रणाम करने को झुक रहा है।"

इसी स्थल से उसका चरित्र सुधारोन्मुख हो जाता है। वह युद्ध से विरत होकर जब छलना के पास लौटता है और छलना उसे युद्ध-विमुख होने के करण डाँटती-फटकारती है तो वह निरुत्साह भाव से कहता है, "माँ युद्ध में बड़ी भयानकता होती है, कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं।" विकास की ओर अजातशत्रु का यह दूसरा पग है।

जब अनिच्छा से अजातशत्रु युद्ध में सम्मिलित होता है और पराजित होकर बन्दी रूप में बाजिरा से मिलता है तो उसकी सुकुमार मनोवृत्ति को उत्तेजना मिलती है और वह कह उठता है—"सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है, आज विश्वास भी हो गया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया।"

विकासोन्मुख चौथी अवस्था उस स्थल पर दिखाई पड़ती है, जहाँ वासवी उसे बन्दीगृह से मुक्त कराके अंक में लिपटा लेती है। अजातशत्रु के मुख से सहसा निकल पड़ता है—"माँ ! इतनी

१. अजातशत्रु : दूसरा अंक, पृष्ठ ६४।

ठंडी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है।.....मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया है, माँ! क्या तुम क्षमा करोगी?" अन्तिम अवस्था नाटक के अन्त में उस स्थल पर दिखाई पड़ती है जहाँ अजातशत्रु अपने पिता के पैर पकड़कर इस प्रकार क्षमा-याचना करता है, "नहीं पिता, पुत्र का यही सिंहासन है। आपने सोने का झूठा सिंहासन देकर मुझे इस सत्य अधिकार से वंचित किया। अक्षम्य पुत्र को भी कौन क्षमा कर सकता है।"

इसी प्रकार दरिद्र-कन्या मागधी का राजमहिषी रूप, पुनः श्यामा* का वारविलासिनी रूप और अन्त में अम्बपाली का उपासिका रूप प्रसाद के नाट्य-कौशल का सूचक है।

चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त अन्तर्द्वन्द्व भी नाटक की सफलता का परिचायक होता है। इन नाटक में अन्तर्द्वन्द्व कई स्थानों पर मिलता है, किन्तु सबसे अधिक मनोहारी अन्तर्द्वन्द्व उस स्थल पर प्राप्त होता है जहाँ पदच्युत विम्बासार अपने पुत्रवान पुत्र को क्षमा माँगते देखता है—

'विम्बसार—कुणीक कौन? मेरा पत्र या मगध का सम्राट्... नहीं-नहीं, मगधराज अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करनी चाहिए। मेरे दुर्बल चरण आप छोड़ दो।"

उपर्युक्त शब्दों में विम्बसार के मानस-द्वन्द्व मचाने वाले वात्सल्य, अभिमान, व्यंग्य, व्याकुलता आदि विविध मनोभावों का संघर्ष स्पष्ट झलकता है। इतने मनोभावों का एक स्थल पर प्रसंग उपस्थित करना कुशल नाट्यकार का ही कार्य है।

---

*टिप्पणी—श्यामा का चरित्र नारीपात्रों के साथ उपसंहार में विस्तार से दिखाया गया है।

१. अजातशत्रु : तीसरा अंक, पृष्ठ ११५।

२. वही : तीसरा अंक, आठवाँ दृश्य, पृष्ठ १६३।

तात्पर्य यह है कि प्रसाद ने विविध घटनाओं को शृंखलाबद्ध करने का जो प्रथम प्रयास किया, उसमें उन्हें सफलता मिली। इसी कारण वह आगे चलकर समग्र उत्तरी भारत के विविध राज्यों की अनेक घटनाओं को एक सूत्र में ग्रथित कर स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नामक नाटक लिखने में सफल हुए। अजातशत्रु नाटक उनके इस नये प्रयोग की प्रथम कृति होने से विशेष महत्वपूर्ण है।

प्रसाद नाट्य-कला के जिस रूप की खोज में अब तक चिन्तन कर रहे थे वह अजातशत्रु में उन्हें प्राप्त हो गया, क्योंकि उनके परवर्ती नाटक इसी शैली पर विरचित हैं।

जनमेजय का नागयज्ञ (१९८३ वि०)

इस नाटक का कथानक महाभारत से लिया गया है। महाभारत में एक कथा है जिसमें जनमेजय के सर्पयाग के साथ-साथ तक्षशिला-विजय और नाग जाति के संहार का भी उल्लेख मिलता है। ब्रह्म हत्या के प्रायश्चित्त-स्वरूप राजा जनमेजय ने जो अश्वमेध यज्ञ किया, उसका भी विवरण उक्त ग्रन्थ में मिलता है।

इस काल में कतिपय ब्राह्मणों के षड्यन्त्र से नाग जाति ने पुनः विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, किन्तु जनमेजय ने ऐसा पराजत किया कि उन्हें विवश होकर सन्धि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि आर्य और नाग जाति (अनार्य) विद्वेष भूलकर परस्पर मित्रभाव से व्यवहार करने लगी। प्रश्न यह उठता है कि महाभारत की इस कथा में क्या विशेषता थी जिसके कारण इसे प्रसाद ने नाटक का कथानक बनाया। उन्होंने 'अपने पूर्व विरचित सभी नाटकों—प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख और अजातशत्रु—का इतिवृत्त इतिहास से ग्रहण किया है। किन्तु इस नाटक के कथानक के लिए महाभारत की उक्त घटना को मूलाधार बनाया। यह परिवर्तन क्यों ?

इस नाटक में एक ऐसी योजना विद्यमान है जिसका अभाव प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटकों में पाया जाता है। पूर्ववर्ती नाटकों में माण्डलिक आर्य राजाओं का पारस्परिक संघर्ष दिखाया गया है किन्तु इस नाटक के उपरान्त प्रसाद का ध्यान आर्यों और अनार्यों के युद्ध की ओर आकर्षित होता है। प्रमाण के लिए देखिए—'राज्यश्री' में कन्नौज, थानेश्वर, मालवा के माण्डलिक राजाओं का संघर्ष है; 'विशाख' में विशाख (ब्राह्मण) और आर्य राजा नरदेव का, 'अजातशत्रु' में कोशल, कौशाम्बी और मगधराज का। किन्तु 'जनमेजय' में आर्यों और नागों का, 'स्कन्दगुप्त' में आर्यों और हूणों का 'चन्द्रगुप्त' में आर्यों और ग्रीकों का 'ध्रुवस्वामिनी' में आर्यों और शकराज का युद्ध दिखाई पड़ता है।

इस नवीन योजना का कोई-न-कोई कारण अवश्य रहा होगा। आश्चर्य नहीं कि तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को देखकर प्रसाद जी को इस समस्या के सुलझाने का विचार मन में आया हो। इस नाटक की रचना के समय हमारे देश में आर्य अनार्य, हिन्दू मुसलमान, कलह की ज्वाला प्रचण्ड रूप धारण कर रही थी। यद्यपि उसे शान्त करने के लिए कितने नवयुवकों ने प्राणाहुतियाँ दीं किन्तु कलहाग्नि की लपटें उत्तोरत्तर बढ़ती ही जा रही थीं। इस विषम समस्या को देखकर सहृदय प्रसाद का कोमल हृदय विक्षुब्ध और विकम्पित हो उठता और वे नाट्य-रचना के द्वारा इस संघर्ष की समस्या को सुलझाने का प्रयास करते। इस सम्बन्ध में उनका पहला प्रयास 'जनमेजय का नागयज्ञ' में झलकता है। हम देखते हैं कि नाटक के प्रारम्भ और मध्य में आर्य और अनार्य जातियों का कलह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

कलह का कारण यह है कि नाटक के नायक जनमेजय के पिता परीक्षित की हत्या नागों ने की थी। अतः पितृ-वध को

स्मरण कर सम्राट् के हृदय में नाग जाति के विरुद्ध परम्परागत द्वेषाग्नि सुलगती रहती है। इस द्वेषाग्नि को शान्त करने के लिए उन्हें नाग जाति का विनाश अभीष्ट है। अतः नाग-विध्वंस के लिए कृतसंकल्प होकर वे कहते हैं—"अश्वमेध पीछे होगा, पहले नाग-यज्ञ करूँगा।"

आर्य-सम्राट् जनमेजय की तरह नागराज तक्षक के हृदय में आर्यजाति के प्रति प्रतिहिंसा की भावना उद्दीप्त होती रहती है। एक स्थान पर वह अपने मनोभावों को व्यक्त करते हुए कहता है—"प्रतिहिंसे! तू बलि चाहती है तो ले मैं दूँगा। छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी।" इस संकल्प की सिद्धि के लिए वह नागों को सुसंगठित कर आर्य जनपदों में हत्या और लूट के द्वारा आतंक फैलाता है। वह यज्ञ के घोड़े को बलपूर्वक पकड़वा लेता है और नाग जाति को आर्यों के विरुद्ध युद्ध के लिए आह्वान करता है।

आर्य और नाग जाति (अनार्य) के परम्परागत इस संघर्ष को निर्मूल करने के लिए प्रसाद ने उदारचेता आस्तीक, सरमा और मणिमाला आदि पात्रों की सृष्टि की। आस्तीक के पिता हैं आर्य-ऋषि और माता हैं नाग-कन्या। आस्तीक के जीवन का उद्देश्य है निर्मल बुद्धि द्वारा आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक मनोमालिन्य का उन्मूलन करना। वह एक स्थान पर कहता है—"किन्तु भाई, हम लोगों का कुछ कर्तव्य भी है। दो भयंकर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।" जनमेजय जब ऋषि-पुत्र आस्तीक के व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसे अपना रक्त देने को भी तैयार हो जाता है तो वह ऋषिकुमार आत्मसुख की कोई वस्तु नहीं चाहता अपितु कलहशील दो जातियों में शान्ति स्थापित करने के लिए कहता

है—"मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए। सम्राट्, शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिए, यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल है।"

आस्तीक के सदृश ही नागकुलोत्पन्न वासुकी और नागपत्नी सरमा में भी विश्व-मैत्री की भावना है। वे दोनों शत्रु का—अपकार से नहीं प्रत्युत उपकार के द्वारा—हृदय परिवर्तित करने में संलग्न हैं। सरमा कहती है—"धर्म का ढोंग करके एक निर्दोष आर्य-सम्राट् को अपने चंगुल में फँसाकर उसके पतित होने की व्यवस्था देना, जिसमें वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है?"

नाटक की नायिका है मणिमाला। वह जनमेजय के प्रतिपक्षी तक्षक की कन्या है। अपने शील-सौजन्यादि सद्गुणों के कारण आर्य-सम्राज्ञी का पद पाती है। इस प्रकार उसकी विश्व-मैत्री के बल से आर्य और अनार्य जातियों की कलहाग्नि इतनी शान्त हो जाती है कि आर्य जाति के नेता सम्राट् जनमेजय को बाध्य होकर यह कहना ही पड़ता है—"नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।" इस प्रकार न केवल राजनैतिक प्रत्युत् सांस्कृतिक दृष्टि से भी आर्य-अनार्य जाति का सम्मिलन उभय पक्ष के लिए कल्याणप्रद होता है। दोनों जातियों में राजनैतिक ऐक्य स्थापित हो जाता है और आर्य-संस्कृति तथा नाग-संस्कृति के समन्वय से भारतीय संस्कृति समृद्ध बन जाती है।

नाटक का उपर्युक्त कथानक सम्वत् १९८३ में होनेवाले भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगे की ओर संकेत करता है। इस काल में महात्मा गांधी दोनों जातियों में पुनः सौमनस्य स्थापित करने का आन्दोलन चला रहे थे।

प्रसाद जो महात्मा गांधी द्वारा संचालित आन्दोलन में यद्यपि सक्रिय भाग नहीं लेते थे किन्तु उनके सिद्धान्तों से सहमत होने

के कारण अपने सुसंस्कृत नाटकों में उनके विचारों को सन्निविष्ट करते जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी तत्कालीन समस्याओं को सुलझाने के लिए अतीत की शरण लेते हैं और उस काल की घटनाओं को अपने नाट्य-कौशल से ऐसा सँवार देते हैं जिससे हमारा अतीत हमारी श्रद्धा का पात्र बन जाता है। 'विशाख' नाटक में हम इसका उल्लेख पूर्व कर आए हैं।

कला-संविधान

कला-संविधान की दृष्टि से यह नाटक प्रौढ़ काल की रचना होने पर भी शिथिल प्रतीत होता है। इसका वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण परवर्ती नाटकों के समान नहीं हो पाया है। जाति-संघर्ष के निवारण तथा दार्शनिक चिन्तन में नाटककार इतना तन्मय हो गया है कि उसे कार्य-अवस्था, अर्थ-प्रकृति और पंच-सन्धियों के निर्वाह का ध्यान ही नहीं रह जाता। घटनाओं की विभिन्न शृंखलाओं के जोड़ने में व्यस्त होने से वे कथानक में आरोह-अवरोह लाने का अवकाश ही नहीं पा सके हैं।

इस नाटक में प्रसाद जी ने दृश्य के अन्तर्गत दृश्य की योजना की है जो कला की दृष्टि से अस्वाभाविक है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में मनसा मन्त्र पढ़कर रात्रि के तमिस्र-पटल पर खाण्डव वन प्रत्यक्ष दिखा देती है।[1] उसमें कृष्ण और अर्जुन वार्तालाप करते दिखाई पड़ते हैं; खाण्डव-दाह होता है और नाग-जाति आतंकवश भागती दिखाई पड़ती है। इस प्रकार एक दृश्य के अन्तर्गत दूसरा दृश्य संयुक्त कर दिया गया है। वस्तु-विन्यास की ऐसी योजना प्रसाद के अन्य किसी नाटक में नहीं दिखाई पड़ती। कहा नहीं जा सकता कि प्रसाद ने कला-संविधान में ऐसी भूल क्यों की।

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ : जयशंकर प्रसाद, सं० २००७ वि०, पृष्ठ १०१

सामाजिक स्थिति

इस नाटक के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद का ध्यान पतनशील बौद्ध-भिक्षुओं के साथ-ही-साथ अर्थ-लोलुप और देश-द्रोही ब्राह्मण पुरोहितों की ओर गया। उन्होंने देखा कि जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियों में आत्म-निग्रही उदात्त भावनापूर्ण महात्मा और इन्द्रिय-दास अर्थ-लोलुप दुरात्मा दोनों हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण-पुरोहितों में भी दो वर्ग हैं: एक वर्ग में शौनक सोमश्रवा और उत्तंक जैसे सदाचारी और निर्भीक ब्राह्मण विद्वान हैं तो दूसरे वर्ग में काश्यप जैसे प्रकृति-सिद्ध नीचे मनोवृत्ति वाले पुरोहित। प्रथम वर्ग को अपने आत्म-बल और ब्रह्म-बल का आधार है और दूसरे को अर्थ-लिप्सा और कुटिल नीति का। प्रसाद जी इस मत को स्थान-स्थान पर स्पष्ट करते चलते हैं। प्रमाण के लिए उत्तंक और काश्यप का उदाहरण लीजिए। जब तक्षक उत्तंक को एकाकी पाकर वध करने को उद्यत होता है तो वह (उत्तंक) निर्भीकतापूर्वक ललकारता है—

"यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय सत्य होगा तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि वह ब्रह्म-तेज पर हाथ चला सके। पाखण्डी तेरा पतन समीप है।"

उत्तंक की यह कोरी धमकी नहीं थी। प्रतिज्ञा पर अटल रहने वाला यह ब्राह्मण नाग-यज्ञ के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाता है कि 'पाखण्डियों का पतन समीप' था।

इसी प्रकार शौनक उदार और सहिष्णु पुरोहित है। उसका मत है कि "सहनशील होना ही तो तपोधन और उत्तम ब्राह्मण का लक्षण है।"

ठीक इनके विपरीत चरित्र है काश्यप का। वह ऐसा अर्थ-लोलुप है कि किसी अन्य ब्राह्मण को जनमेजय से सहायता पाते

देखकर ईर्ष्या करने लगता है। महाराज जनमेजय ने जब उत्तंक को मणिकुण्डल प्रदान किया तो वह ईर्ष्या से जल-भुन गया और अनार्यों (नाग) से गुप्त अभिसन्धि करके मणिकुण्डल अपहरण करने का प्रयास करने लगा।

शत्रु-पक्ष में सम्मिलित होने से जब वह पुरोहित-पद से च्युत होता है तो नागों के साथ मिलकर जनमेजय की स्त्री वपुष्टमा के अपहरण का षड्यन्त्र करते हुए मानवता के स्तर से भी कहीं नीचे उतर आता है। उसके हृदय में ब्राह्मणोचित सात्विक भाव इतना विलुप्त हो जाता है कि घोर-से-घोर पापाचरण से भी उसे कभी आत्मग्लानि नहीं होती। एक ब्राह्मण वर्ग के पतन से देश का ह्रास होता है। देश और राज्य को घोर आपदा का सामना करना पड़ता है। देश में क्रान्ति मच जाती है। कतिपय ब्राह्मण-पुरोहितों के जघन्य कृत्यों से उद्विग्न होकर जनमेजय सम्पूर्ण ब्राह्मण वर्ग को अग्निकुण्ड में भस्म कर देना चाहता है। किन्तु अनेक अनुनय-विनय करने पर देश-निर्वासित करते हुए कहता है—"जाओ तुम लोग मेरा देश छोड़कर चले जाओ। आज से कोई क्षत्रिय अश्वमेध यज्ञ नहीं करेगा। तुम सरीखे पुरोहितों की अब इस देश में आवश्यकता नहीं। जाओ, तुम सब निर्वासित हो।'

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि समस्त ब्राह्मणों के निर्वासित होने पर देश और समाज की कैसी दुर्गती होती! यदि ऐसे संकटकाल में महात्मा व्यास आविर्भूत न हुए होते तो समाज विशृंखल हो गया होता। प्रसाद इस विकराल स्थिति को बचाने के लिए एक ऐसे तपोपुंज महात्मा को रंगमंच पर लाते हैं जो ब्राह्मण-मंडली और जनमेजय में पुनः सौमनस्य स्थापित करते हैं और जिनकी प्रेरणा से नाटक के अधिकांश पात्र कल्याण-मार्ग के पथिक बनते हैं।

---

१ जनमेजय का नाग-यज्ञ, पृ० १०१

इसी व्यास के ब्राह्मण-धर्म का विकास हम प्रसाद के परवर्ती नाटक स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में पाते हैं।

दार्शनिकता

इस नाटक में प्रसाद बार-बार किसी अदृष्ट शक्ति की ओर संकेत करते चलते हैं। साधारण पात्रों को कौन कहे, ब्राह्मण के नेता शौनक और महात्मा वेदव्यास भी मनुष्य को अदृष्ट शक्ति का दास मानते हैं[1]। सुना जाता है कि अदृष्ट शक्ति में प्रसाद की अटल आस्था थी।

१, क. शौनक—अदृष्ट की लिपि ही सब कुछ कराती है। जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ४३।

ख. शौनक—मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है? पृ० ४४।

ग. जनमेजय—'सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।' पृ० ४४ जनमेजय।

घ. जनमेजय—(स्वगत) 'मनुष्य क्या है। प्रकृति का अनुचर और नियति का दास' या उसकी क्रीड़ा का उपकरण—पृ० ४७।

च. जनमेजय—किन्तु, मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। पृ० ५६।

छ. वेदव्यास—दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति का क्रीड़ा-कन्दुक है। अन्य नियति कर्त्तव्य मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है। पृ० ७३।

ज. वेदव्यास—नियति, केवल नियति। जनमेजय और कुछ नहीं। पृ० ७५।

झ. वेदव्यास—अदृष्ट शक्ति ने तुम्हारे लिए भी एक बड़ा भारी कार्य कर छोड़ा है, पृ० ७८।

प्रसाद इस नाटक में जिस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं उसका निरूपण भरत वाक्य में इस प्रकार किया गया है—

पूर्णानुभव कराता है जो 'अहमिति' से निज सत्ता का।[1]
'तू मैं ही हूँ" इस चेतन का प्रणव मध्य गुंजार किया।'

उपर्युक्त समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रसाद जी जीवन की समस्याओं को यहाँ एक नए दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ करते हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद इसी कारण नाटक में प्रविष्ट कराया गया है कि जीवन की वास्तविकता से मानव मुख न मोड़ ले। कृष्ण सर्वव्यापिनी चैतन्य शक्ति का ज्ञान कराते हुए कहते हैं, 'उस चेतन के अस्तित्व की सत्ता कहीं नहीं जाती। वही एक अद्वैत है। यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी"[2]। कठिनाइयों का सामना करने के लिए कर्मशील बनने का उपदेश देते हुए कहते हैं, 'विश्वमात्र को एक रूप में देखने से यह सब सरल हो जाता है। तुम इसे धर्म और भगवान् का कार्य समझकर करो, तुम मुक्त हो।—दुर्वृत्त प्राणियों का हटाया जाना ही अच्छे विचारों की रक्षा है[3]।' इसी सिद्धांत को कार्यरूप में परिणित करने के लिए

ट. वेदव्यास—अखंडनीय कर्मलिपि। तेरा क्या उद्देश्य है, कुछ समझ में नहीं आता। पृ ७८।

ठ. उत्तंक—नियति का क्रीड़ा-कन्दुक नीचा-ऊँचा होता हुआ अपने स्थान पर पहुँच ही जायगा। पृ० ८२।

ड. व्यास—देखा नियति का चक्र। यह ब्रह्मचर्य आप ही अपना कार्य करता रहता है। पृ० १०८।

१. वही पृ० १०६।
२. वही पृ० १२–१३
३. वही पृ० १४, १५।

सम्भवतः चन्द्रगुप्त नाटक में चाणक्य की सृष्टि हुई। दुर्वृत्त नन्द का विध्वंस करना मानव-कल्याण के लिए आवश्यक था। इसका विस्तृत विवेचन हम चंद्रगुप्त नाटक में करेंगे। इस स्थल पर हम प्रसाद जी के दार्शनिक विचारों में एक विशेष परिवर्त्तन देखते हैं। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' लिखने के पूर्व वह बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्तों पर बल दिया करते थे। सर्वशक्तिमान् विभु में इतनी गहन आस्था कदाचित् ही कहीं परिलक्षित हो। किन्तु इस नाटक में वह लोक-सेवा को भगवान् का कार्य समझ कर करने को आह्वान करते हैं।

इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य रहा होगा। प्रसाद जी देश और समाज की तत्कालीन दुर्दशा देखकर व्यथित हो जाते थे। उन्होंने राजनीति में प्रत्यक्ष भाग न लेकर साहित्य-सृजन के द्वारा देश-सेवा का मार्ग पकड़ा था। उनकी यह धारणा थी कि देशोद्धार के लिए जनता का नैतिकस्तर ऊंचा करना अनिवार्य है। सम्भवतः इस कारण भी उन्होंने बौद्धकालीन इतिहास को कथानक के रूप में ग्रहण किया।

बौद्ध-धर्म के द्वारा नैतिक उत्थान से ही उन्हें सन्तुष्टि नहीं हुई। बौद्ध-धर्म की नास्तिकता के स्थान पर आस्तिकता का समावेश करना उन्होंने जन-मंगल के लिए परमावश्यक समझा। इस नाटक में प्रसाद जी यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि आस्तिकता-रहित-नैतिकता जीवन को पूर्ण नहीं बना सकती। हाँ, आस्तिकता का मूलाधार नैतिकता अवश्य है।

प्रसाद जी की आस्तिकता केवल पूजन-अर्चन तथा मानसिक आराधना तक ही सीमित नहीं है, वह ईश्वर की सेवा में तन-मन-धन अर्पण करने को आह्वान करती है। उनके विचार से आस्तिकता का शुद्ध प्रस्फुटन कर्तव्य-परायणता में होता है। वह कर्त्तव्य को उतना ही असीम मानते हैं, जितना अनन्त सर्वशक्तिमान् ईश्वर

को। मानव-कर्त्तव्य की रेखा पारिवारिक जीवन को स्पर्श करती हुई देश-सेवा और विश्व-सेवा में विलीन हो जाती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रसाद जी की कर्त्तव्य-परायणता राष्ट्रीयता में परिणत हो जाती है। प्रसाद जीकी राष्ट्रीयता में संकीर्णता को स्थान नहीं। उनकी राष्ट्रीयता महात्मा गांधी की राष्ट्रीयता के सदृश विशाल है, जिसका मूलाधार आस्तिकता और बाह्य रूप देश-सेवा है।

प्रसाद जी ने इस नाटक में जीवन की एक गम्भीर समस्या आवागमन पर भी विचार किया है। नेपथ्य में संगीत होता है :—

'जीने का अधिकार तुझे क्या, क्यों इसमें सुख पाता है।
मानव, तू ने कुछ सोचा है, क्यों आता, क्यों जाता है।"

इसका उत्तर भी उसी गीत के अन्त में इस प्रकार मिलता है—

'तू स्वामी है, तू केवल है, स्वच्छ सदा तू निर्मल है।
जो कुछ आवे, करता चल तू, कहीं न आता जाता है।'

इस प्रकार स्वच्छ और निर्मल बनकर सांसारिक कार्य करते-करते मनुष्य विभु की शक्ति को पहचानने में समर्थ बन जाता है। उस परम विभु की शक्ति पहचान लेने पर कृष्ण द्वारा कथित वाक्य 'वही एक अद्वैत है'[1] बोधगम्य हो जाता है।

प्रसाद जी को इस नाटक में आर्य-जाति की विजय और विश्वात्मा के जय-जयकार का सामंजस्य करना अभीष्ट है। यदि एक स्थान पर जनमेजय की दिग्दिगन्तर विजयनी सेना जयघोष करती है—

'जय आर्य भूमि की, आर्य जाति की जय हो।
अरिगण को भय हो, विजयी जनमेजय हो'[2]

तो दूसरे स्थान पर विश्व-नियन्ता के गुणगान का सन्देश इस प्रकार सुनाई पड़ता है—

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ; जयशंकर प्रसाद सं० २००७ वि० पृ० १३
२. वही पृ० ६८

'जय हो उसकी, जिसने अपना विश्व रूप विस्तार किया।[1]
आकर्षण का प्रेम नाम से सब में सरल प्रचार किया।'

कामना संवत् १९८४ वि०

'अजातशत्रु' के उपरान्त प्रसाद जी का ध्यान उन-दार्शनिक विचारों को मूर्त रूप देने की ओर गया जो उनके मन में उथल-पुथल मचा रहे थे। अतः उन्होंने मनोवृत्तियों को पात्र बनाकर इस नाटक की रचना की। इस नाटक के पुरुष पात्र हैं—सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, शान्ति, दम्भ, दुर्वृत्त आदि, और स्त्री पात्र कामना, लीला, लालसा, करुणा, महत्वाकांक्षा इत्यादि। यह नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय की शैली पर रचा गया है जिसका एकरूप 'देवमाया-प्रपंच' व 'पाखंड-विडम्बन' में देख आए हैं। पाखंड-विडम्बन में केवल एक अंक है और प्रबोध चन्द्रोदय के आधार पर है। कामना प्रसाद जी का सर्वथा मौलिक नाटक है। इसमें उनकी कल्पना को कथावस्तु के निर्माण में पूर्ण स्वतन्त्रता मिली है, क्योंकि उनके अन्य नाटकों की भाँति इसमें इतिहास का बन्धन नहीं।

देखना यह है कि इस नाटक-रचना की प्रेरणा प्रसाद को कहाँ से मिली होगी। इस नाटक का रचना-काल है संवत् १९८०-८१ वि०। यह समय भारत में महात्मा जी के उपदेशों द्वारा नव-जागरण का युग था, जिसमें रुई का ओटना, चर्खा कातना, कृषि-कार्य में हाथ बढ़ाना आवश्यक कार्यक्रम माना जाता था। त्याग और तपस्या, संयम और परिश्रम का महत्व प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता था। धनी-मानी व्यक्ति कामिनी, कांचन और कादम्बरी से विरत हो राष्ट्र-निर्माण के कर्मठ सेनानी बन रहे थे। सबके हृदय में यही कामना काम कर रही थी कि हम स्वतंत्र और सुखी हों और विदेशी बन्धन से सर्वथा मुक्त हो प्रकृत जीवन यापन करें।

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ-जयशंकर प्रसाद, पंचम संस्करण पृ० १०९

इस नव-जागरण का प्रभाव कवि, कहानीकार और नाट्य-कार पर पड़ना स्वाभाविक था। कामना नाटक से प्रतीत होता है कि महात्मा जी आधुनिक सभ्यता के जिस कृत्रिम जीवन से मानव-जाति को सावधान कर रहे थे, वह प्रसाद जी को भी अप्रिय प्रतीत हो रहा था। उन्होंने इस नाटक को मानव-जाति के उस जीवन से प्रारम्भ किया है जिसमें लोगों को प्रकृति से प्रेम था। समुद्र के किनारे फूलों के द्वीप में 'हरे-भरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों से ढुलकते मचलते हुए झरने, फूलों से लदे हुए वृक्षों की पंक्ति, भोली गउओं और उनके प्यारे बच्चों के झुण्ड, धवल धूम और तारों से जगमगाती रात' को छोड़कर अन्यत्र जाने की उन्हें इच्छा भी न होती थी। उस द्वीप के लोग 'यथालाभ संतुष्ट' रहते थे, कोई किसी का मत्सर नहीं करता था। प्रकृति से मिली हुई इस जाति में 'महत्व और आकांक्षा का, अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं था।' यह जाति कपास ओटती, चर्खा चलाती और कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न से परिवार का पालन और अतिथि का सत्कार करती। समस्त जाति परिवार के सदृश सप्रेम निवास करती हुई उपासना मन्दिर में पूजा करती। इस मन्दिर की व्यवस्थापिका थी 'कामना'।

कालान्तर में विलास नामक एक परदेशी विदेश से आता है और द्वीप निवासियों को स्वर्ण के प्रकाश में मानिक-मदिरा दिखा-कर विलासी जीवन की प्रेरणा देता है। व्यय की प्रचुरता से अभाव का अनुभव होता है, जिसकी पूर्ति के लिए हिंसा आव-श्यक समझी जाती है। वन लक्ष्मी इसका विरोध करते हुए कहती हैं—'आग, लोहे और रक्त की वर्षा की प्रस्तावना न करो।' इसी प्रकार वृद्ध विवेक भी बीच-बीच में विलास के प्रस्तावों का विरोध करता रहता है, किन्तु वन लक्ष्मी और विवेक की बातें कोई नहीं सुनता। उन्हें पागल समझा जाता है। मद्यपान, जीवहिंसा और

व्यभिचार का सर्वत्र प्रचार हो जाता है। शान्ति देवी की हत्या की जाती है। करुणा व्याकुल हो वन में शरण लेती और जंगली फलों पर निर्वाह करती है। वह आधुनिक सभ्यता का विवेचन करते हुए कहती है—"जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य है। मैं दूर से उन धनियों के परिवार का दृश्य देखती हूँ। वे धन की आवश्यकता से इतने दरिद्र हो गए हैं कि उसके बिना उनके बच्चे उन्हें प्यारे नहीं लगते।···मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटी में पड़ रहती हूँ।" सब सुख स्वर्ण के अधीन हो गए। हृदय का सुख सो गया। स्त्रियाँ वैवाहिक जीवन को घृणा की दृष्टि से देखती हैं। सर्वत्र क्रूर, दम्भ, दुर्वृत्त अपने मत का प्रचार करते हैं। विवेक नगर रूपी अपराधों के घोंसले से भाग जाता है। भागने से पूर्व जनता को चेतावनी देता जाता है कि 'लौट चलो उस नैसर्गिक जीवन की ओर; क्यों कृत्रिम के पीछे दौड़ लगा रहे हो।'

फूलों के उस सुखी द्वीप में सर्वत्र अभाव अशान्ति और दुख-ही-दुख है। उस द्वीप पर शासन करने वाली रानी कामना का हृदय चंचल है। चांदनी के समुद्र में उसका मन मछली के सदृश तैरता है, किन्तु उसकी प्यास नहीं बुझती। सन्तोष के पूछने पर कामना कहती है, 'मेरे दुखों को पूछकर और दुखी न बनाओ।' जहाँ की रानी इतनी खिन्नमना है वहाँ की प्रजा की क्या दशा होगी। सेनापति विलास अपने एक सैनिक की स्त्री को बलात् पकड़कर ले जाता है। विलास की स्त्री लालसा एक सैनिक के साथ यह कहती हुई चल पड़ती है, 'तुम्हारे सदृश पुरुष के साथ चलने में किस सुन्दरी को शंका होगी,' विलास अपनी स्त्री की दुर्वासना का समाचार सुनकर क्रुद्ध होता है और उसका वध करने को उत्सुक होता हुआ कहता है,—'ओह, अविश्वासिनी स्त्री,

तूने मेरे पद की मर्यादा, वीरता का गौरव और ज्ञान की गरिमा सब डुबा दी। जी चाहता है इस अतृप्त हृदय में छुरा डालकर नचा दूँ।'

शान्ति देव की मृत्यु के उपरान्त कई दुर्वृत्त मद्यप करुणा का पीछा करते हैं। वह अबला धर्म बचाने के लिए भागती जाती है, किन्तु मद्यप कब मानने वाले। विवेक उसको बचाता है और भूकम्प के कारण मद्यपों का नगर विनष्ट हो जाता है। नाटक के अन्त में कामना अपने दुखी राज्य से व्याकुल हो जाती है और अपने पिता विवेक की गोद में आश्रय लेती है। जनता विवेक का यह उपदेश ध्यान से सुनती है, 'मनुष्यता की रक्षा के लिए पाशवी-वृत्तियों का दमन करने के लिए राज्य की अवतारणा हो गई, परन्तु उसकी आड़ में दुर्दमनीय नवीन अपराधों की सृष्टि हुई। इसका उद्देश्य तब सफल होगा, जब वह अपना दायित्व कम करेगी, जनता को, व्यक्ति को आत्मसंयम आत्मशासन सिखाकर विश्राम लेगी?'

नाटक समाप्त होते-होते विलास और लालसा के अत्याचारों से पीड़ित जनता उन्हें अपने देश से निकाल देती है और वे एक नौका पर आरूढ़ होते हैं। जनता मदिरा के पात्र तोड़ डालती है और स्वर्ण की राशि फेंक-फेंककर नाव पाट देती है। लालसा क्रन्दन करती है कि 'सोने से नाव डूबी अब नहीं बस।'

इस प्रकार फूलों के द्वीप से विलास की नई सभ्यता भाग जाती है और द्वीपवासी विवेक के कथनानुसार कृत्रिमता से नैसर्गिकता की ओर मुड़ जाते हैं।

विचारणीय बात यह है कि जिस प्रकार 'कामना' नाटक में प्रसादजी ने आधुनिक विलासमयी सभ्यता के प्रति विवेक का विद्रोह दिखाया है, उसी प्रकार रवि बाबू ने भी इसी वर्ष 'रक्त'

१. प्रवासी में यह नाटक सन् १९२४ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ

करबी' नाटक में उस विषाक्त सभ्यता और शासन-प्रणाली के दोषों का दर्शन कराया है। प्रसाद का नाटक फूलों के द्वीप में प्रारम्भ होता है और रवीन्द्रनाथ का उस यक्षपुरी में जिसका राजा स्वर्ण संग्रह में अत्यन्त व्यस्त है। राज्य-प्रबन्ध का उसे अवकाश नहीं मिलता। प्रजा दासता में पड़ी है। दासता से मुक्त कराने के लिए नाटक की नायिका नंदिनी अपने प्रियतम रंजन से प्रतिज्ञा करती है। नंदिनी एक प्रकार का लाल आभूषण अपनी बाहों, छाती और गले में पहनती है। किशोर एक दास-पुत्र है जो नित्य फूल एकत्रित करता है, जिन्हें नंदिनी राजा के दरबार में ले जाती है और उसे प्रजा-रक्षा के लिए चेतावनी देती रहती है। राजा उसका प्रेम-भिखारी बनता है, किन्तु नंदिनी अस्वीकार करती है। राजा युक्ति पूर्वक रंजन का वध करवा देता है, किन्तु अन्त में पश्चात्ताप करता है और नंदिनी से क्षमा माँगकर वर्तमान शासन-प्रणाली को परिवर्तित करता है।

इस नाटक का उद्देश्य बताते हुए एक समालोचक का कहना है:—

"The rather severe satire in the play on the tyranny of a materialistic order of society, with all its ugliness and inhumanity is relieved by an exquisitely delicate sensibility and imaginative beauty. If the author has lashed materialism and worldly greed, it is with a silken whip.[1]

सबसे महत्त्व की बात तो यह है कि भारत के दो प्रमुख नाट्यकारों ने एक ही समय में एक ही लक्ष्य से एक ही विषय को अपनी-अपनी भाषा में अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी

१. दि बंगाली ड्रामा : पी. गुहा थाकुर्टा, पृ०, २११ २१२।

रुचि के अनुसार प्रतीकात्मक रूप दिया है। अन्तर उनमें केवल इतना ही है कि प्रसाद ने पात्रों को मनोवृत्तियों जैसे—लीला, वासना, करुणा आदि नाम दिया है, किन्तु रवीन्द्रनाथ ने नन्दिनी, किशोर, रंजन आदि प्रचलित नामों से उनका उल्लेख किया है। प्रसाद का नाटक इस प्रकार नामकरण के कारण तुरन्त ही प्रतीकात्मक प्रतीत होता है, किन्तु रवीन्द्रनाथ के नाटक को ध्यानपूर्वक मनन करने पर दूसरा अर्थ प्रतीयमान होता है। रवीन्द्रनाथ की रचना व्यंग होने के कारण काव्य-मर्मज्ञों को उच्चकोटि की प्रतीत होती है तो प्रसाद की रचना स्फुट होने के कारण सामाजिक के हृदय में सद्यः स्थान बना लेती है। दोनों के पात्र प्रतिदिन के परिचित प्राणी जान पड़ते हैं।

प्रसाद ने इसके पूर्व इतिहास की भित्ति पर व्यक्ति का चरित्र-चित्रण किया था किन्तु इस नाटक में प्रतीकात्मक पात्रों की चरित्र-भित्ति पर मानव जाति की सभ्यता और संस्कृति के विकास और ह्रास का इतिहास अंकित किया है। अन्य नाटक चरित्र-प्रधान हैं किन्तु 'कामना' संस्कृति-प्रधान है। अन्य नाटकों में इतिहास का बन्धन था किन्तु इसमें प्रसाद की कल्पना को उड़ान का पूर्ण अवकाश था। इसी कारण इसकी कल्पना में प्रसाद का हृदय मुक्त रूप से मुखरित हो उठा है तथा सभ्यता और संस्कृति का निखरा रूप प्रस्फुटित हो उठा है। इसके गानों में, इसके कथोपकथन में, प्रसाद का संयत मन रम गया है। भरत-वाक्य में मानों उन्होंने अपना हृदय उँडेल कर रख दिया है:—

खेल लो नाथ विश्व का खेल।
.....
कहाँ रही प्यारी मानवता, बढ़ी फूट की बेल॥
रुदन, दुःख तमनिशा, निराशा,

इन द्वन्दों का मिटे तमाशा।
स्मित आनन्द उषा औ' आशा एक रहें कर मेल॥

इसके विषय में बाबू गुलाबराय का मत है कि 'कामना में विचार-गम्भीरता है। सफल चरित्र-चित्रण है। भाषा में माधुर्य और कल्पना में कोमलता है। 'कामना का स्थान प्रसाद साहित्य में और भी ऊँचा होना चाहिए।'[1]

हमारा मत है कि इसमें संगीत है, विचार-गम्भीरता है, भाषा में माधुर्य है, किन्तु सफल चरित्र-चित्रण नहीं है। प्रतीक नाटकों में मानवी चरित्र का चित्रण पूर्ण सफलता से कैसे दिखलाया जा सकता है! जहाँ अन्तःकरण की प्रवृत्तियां पात्र के रूप में अभिनय करें वहाँ क्रियात्मक रूप में मानव-चरित्र का चित्रण किस प्रकार सम्भव है! दर्शक का ध्यान बार-बार मनोवृत्तियों की ओर जाता है और उसे ऐसा भासमान होता है कि यह कथोपकथन स्वाभाविक नर-नारी का नहीं प्रत्युत् मनोवृत्तियों का है। ऐसी भावना रस परिपाक में बाधक होती है। हाँ, विशेष सिद्धान्तों के प्रतिपादन का यह उत्तम साधन अवश्य है। किन्तु इसमें दोष यह आ जाता है कि पात्रों का क्रियाकलाप और वार्त्तालाप स्वाभाविक न होकर उपदेश-प्रधान बन जाता है। उदाहरण स्वरूप कामना में विवेक और विलास का वार्त्तालाप देखिए—'खेल था और खेल ही रहेगा। रोकर खेलो चाहे हँसकर। इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि, सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है, होने लगता है विषमता का विषमय द्वन्द्व। तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा। हँसने का काम भूल गए। पशुता का आतंक हो गया[2]·····

१. बाबू गुलाबराय : प्रसादजी की कला पृ० १८१।
२. जयशंकर प्रसाद : कामना नाटक अंक ३, दृश्य ८।

उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है कि कोई उपदेशक मंच पर बैठकर उपदेश दे रहा हो। इन लम्बे उपदेशों से नाटक के रस परिपाक में बाधा उपस्थित होती है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् इन प्रतीक नाटकों को उत्तम नाटक न मानकर केवल नाटकीय साहित्य कहते हैं। रवि बाबू के प्रतीक नाटकों के सम्बन्ध में मि० एडवर्ड थाम्पसन का कहना है कि "a tiresome insistance on the tremendous significance of the trivial"

इसी प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय भी रवीन्द्रनाथ के प्रतीक नाटकों की समालोचना करते हुए उसमें नाना प्रकार की अस्पष्टता का दोष दिखाया करते थे। द्विजेन्द्रलाल राय के निम्नलिखित लेखों से उक्त मत की पुष्टि होती है-

"Expressionism in literature",[1] "The enjoyment of literature",[2] "Ethics in literature"[3].

कामना में जिस प्रतीकात्मक शैली का सूत्रपात हुआ है, वह आगे चलकर आँसू (काव्य), प्रतिध्वनि (कहानी) और एक घूंट (नाटक) में विकसित हुई है और वही कामायनी में पूर्ण प्रस्फुटित हो उठी है।

स्कन्दगुप्त : सं० १९८५ वि०

नाटक की प्रेरणा

प्रसाद जी ने 'जनमेजय के नागयज्ञ' के उपरान्त ऐतिहासिकता की दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' की रचना की। दोनों नाटकों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 'स्कन्दगुप्त' का बीज 'जनमेजय के

---

१. Prabasi, Kartik 1312.

२. Bang Darshan Magh 1313 B.. S.

३. Sahitya, Jeoti 1326.

नागयज्ञ' में ही विद्यमान है। प्रसाद 'नागयज्ञ' का अन्त व्यास जी के इस अन्तिम वाक्य से करते हैं, 'सामगान की मीड़ें लहरा उठें'[1] हम स्कन्दगुप्त नाटक में व्यास की इस अभिलाषा को पूर्ण होते पाते हैं। 'स्कन्दगुप्त' के तीसरे अंक में हूणों को पराजित करने पर भीमवर्मा कहता है—"लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रमाणित होता है कि व्यास-वाणी को सत्य होने का एक अवसर भारत देश में आया। इस अवसर के लाने में प्रकृति के वे नियम सहायक हैं जिनकी ओर स्वतः व्यास जी ने संकेत किया है, "किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ-ही-साथ धर्म का भी क्रम-विकास है।"

इसी प्राकृतिक नियम के आधार पर प्रसाद जी के नाटकों में दार्शनिक विचारधारा सदा अग्रसर होती रही है। प्रसाद को व्यास की भविष्यवाणी को चरितार्थ करने का अवसर गुप्तकाल में मिल गया। और इस काल के इतिहास के सम्यक् आलोडन से स्कन्दगुप्त-जैसा पात्र उनके हाथ लगा। गुप्त-वंश में भागवत धर्म उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच चला था। अतः प्रसाद ने व्यास की कामना-पूर्ति के लिए स्कन्दगुप्त को इसका प्रतीक बनाया।

नाटकत्व का विवेचन

स्कन्दगुप्त में प्रसाद के अन्य नाटकों से कई विशेषताएँ मिलती हैं। स्कन्दगुप्त नाटक के वस्तु-विन्यास में प्रसाद की प्रतिभा सजीव हो उठी है और उनकी नाट्यकला ने अपना अपूर्व कौशल दिखाया है। इस नाटक में भारतीय और यूरोपीय दोनों नाट्य-कलाओं का सहज समन्वय है। पाश्चात्य नाट्यकार कथावस्तु में

१. जनमेजय का नागयज्ञ, जयशंकरप्रसाद : पृ० १०८।

२. स्कन्दगुप्त, जयशंकरप्रसाद : पृ० १०५।

वैचित्र्य को प्रधान स्थान देते हैं। प्रसाद के इस नाटक में भी कथा-वैचित्र्य का पूर्ण विधान है। कथा-प्रवाह चलते-चलते एक ऐसा आवर्त्त उत्पन्न कर देता है कि विश्वासघात के कारण स्वयं नायक स्कन्दगुप्त भी सहसा उसमें ग्रस्त हो जाता है। वह भट्टार्क के विश्वास में पड़ कुभा की लहरों में बह जाता है। सामाजिक को ऐसा प्रतीत होता है कि अँग्रेजी नाटकों की तरह स्कन्दगुप्त का भी पर्यवसान शोकान्त ही होगा। यदि नाटक यहीं समाप्त हो जाता तो अँग्रेजी नाट्यशैली की भाँति यह एक हृदयद्रावी शोकान्त नाटक बन गया होता, किन्तु उस दशा में भारतीय पद्धति का निर्वाह न हो पाता। इसी कारण प्रसाद जी ने दो और अंकों की योजना करके इसे करुण सुखान्त ('ट्रैजिक-कमेडी') का रूप दे दिया है। प्रथम तीन अंकों में क्रिया-कलाप जिस वेग से गतिमान होता रहता है वह चौथे और पाँचवें अंक में धीरे-धीरे शिथिल हो जाता है। यदि अन्त तक उसी रूप में इसका निर्वाह हो गया होता तो इस नाटक की हृदयग्राहिता और भी बढ़ जाती।

भारतीय लक्षण-ग्रन्थों की कसौटी पर भी यह नाटक खरा उतरता है। इस नाटक में कार्यावस्था, अर्थ-प्रकृति तथा सन्धियों का निर्वाह एवं रस का परिपाक सम्यक् रीति से हुआ है। नाटक में प्रत्येक अंक का आरम्भ आकर्षक और मनोहारी तो है ही, प्रत्येक अंक की परिसमाप्ति भी ऐसे प्रभावशाली स्थलों पर होती है जो लक्ष्य की ओर बढ़ने में स्वाभाविक विश्राम-गृह का काम करते हैं। प्रत्येक अंक के अन्त में पाठक को ऐसी शान्ति मिलती है मानो वह जीवन-यात्रा के एक ऐसे पड़ाव पर पहुँच जाता है, जहाँ किसी-न-किसी दिव्य रूप का दर्शन उसे मिल जाता है। स्कन्दगुप्त के दो अंक प्रारम्भ और प्रयत्न नामक कार्यावस्था तथा अँग्रेजी शैली के प्रारम्भ और विकास को सूचित करते हैं। तीसरे अंक की परिसमाप्ति तक लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार, प्राप्त्यावस्था

स्थापित हो जानी चाहिए किन्तु इस नाटक में प्राप्त्यावस्था स्पष्ट न करके प्रसाद ने पाश्चात्य शैली की चरम सीमा (Climax) ही का निर्वाह किया है। इस स्थल पर स्कन्दगुप्त कष्ट, विरोध और अनिष्ट की पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। इसी प्रकार चौथे अंक में फल-प्राप्ति को सुदृढ़ निश्चय की ओर प्रेरित हो जाना चाहिए, किन्तु इस अंक के अन्त तक एकाकी स्कन्दगुप्त को निस्सहाय रूप में ही दिखाया गया है। उसकी समस्त शक्तियाँ विशृङ्खल पड़ी हैं, प्रबल विरोधी संघ-दल विदेशी हूणों से अभि-सन्धि द्वारा गुप्त-साम्राज्य की जड़ हिला देने को सन्नद्ध है। यद्यपि विजया और अनन्त देवी में परस्पर मनोमालिन्य की सृष्टि से कलह के कारण विरोधी दल की शक्ति को क्षीण होने का संकेत मिलता है, और इस प्रकार नियताप्ति का प्रच्छन्न प्रतिपादन किया गया है, किन्तु पाश्चात्य शैली की निगति भारतीय नियताप्ति की अपेक्षा अधिक स्पष्ट झलक उठती है।

नाटक के पंचम अंक में विरोधी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। समस्त विरोधी वर्ग क्षमा-याचना करता है और भारत का अन्तर्विद्रोह एवं बाह्य-विद्रोह शान्त हो जाता है। बन्दी खिंगिल मुक्त कर दिया जाता है और वह सिन्धुनद के इस ओर न आने की प्रतिज्ञा करता है। गुप्त-साम्राज्य सुरक्षित हो जाता है। त्याग-वीर स्कन्द युद्ध में ही पुरगुप्त को रक्त का तिलक देकर सम्राट् घोषित करता है। इस प्रकार 'फल-प्राप्ति' की स्थिति प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है।

तत्पार्य यह है कि वस्तु-विन्यास की दृष्टि से प्रसाद के इस नाटक में यूरोपीय और भारतीय नाट्यकलाओं का सहज सम-न्वय है।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त स्कन्दगुप्त की सर्वप्रियता का एक और कारण है। इस नाटक में हमें मनुष्य की पूर्णता पर पहुँचने

का एक मार्ग दिखाया गया है, जिसे हम भागवत धर्म कहते हैं। यह शाश्वत प्रश्न है कि सम्पूर्ण मनुष्यता है क्या ? प्रसाद एक पात्र से कहलाते हैं, 'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही सम्पूर्ण मनुष्यता है।' वह काल्पनिक देवत्व-प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। एक पात्र कहता है 'इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास हो सकता है।' गौतम और कृष्ण ईश्वर के अवतार मान लिये गए हैं। उन्हें मानव-रूप में सोचना कठिन हो गया है किन्तु स्कन्दगुप्त को उस पूर्ण मानव की स्थिति तक हम उसके कर्मों द्वारा पहुँचते हुए देखते हैं। पूर्ण मनुष्य है कौन ? 'जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है।'[1]

नाटक के आरम्भ का एक कर्म-भीरु उदासीन युवक—स्कन्दगुप्त—देवत्व की इस भूमि पर किस प्रकार पहुँच जाता है, यह विचारणीय विषय है।

नाटक के प्रारम्भ में हम स्कन्दगुप्त को एक उदासीन व्यक्ति के रूप में पाते हैं। 'उसे अधिकार-सुख मादक और सार-हीन' प्रतीत होता है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या यह उदासीनता उपनिषद् काल की मैत्रेयी की उदासीनता है, 'येनाहमनामृतंस्यात् तेनाहं किं कुर्याम्'। स्कन्दगुप्त के ही वाक्यों से इसका उत्तर मिल जाता है कि मैत्रेयी की तरह उसकी विरक्ति नहीं। स्कन्दगुप्त कहता है, 'इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए। हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति केवल मेरे अस्तित्व से। मालूम होता है कि सबकी, विश्व-भर की, शान्तिरजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता।'

---

१. स्कन्दगुप्त पृष्ठ १४२

इस प्रकार स्कन्दगुप्त प्रारम्भ में एक साधारण सुन्दर युवक के रूप में दिखाई पड़ता है, जिसको अपने हृदय में अशान्ति, परिवार में अशान्ति और राज्य में अशान्ति देखकर विराग-सा हो रहा है। यह ठीक वही स्थिति है जो अर्जुन की युद्ध-क्षेत्र में हुई थी। अर्जुन के सदृश स्कन्दगुप्त भी पर्णदत्त से कहता है, 'अधिकार का उपयोग किसलिए?' पर्णदत्त उत्तर देता है, 'त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए।'

पर्णदत्त के प्रोत्साहन का स्कन्दगुप्त पर प्रभाव पड़ा। उसने निस्वार्थ भावना से युद्ध-क्षेत्र में भाग लिया। उसने अत्याचारी हूणों से देश की रक्षा की, नारी का सतीत्व बचाया और आर्त्त व्यक्तियों की रक्षा की। उसकी सदाशयता से विपक्षी भट्टार्क, पुरगुप्त, अनन्तदेवी और खिंगिल अपने-अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप कर उसके भक्त बन गए। क्षात्र-धर्म की इससे बढ़कर विजय दूसरी क्या हो सकती है।

इसमें दूसरा क्षत्रिय-प्रवर वीर पर्णदत्त है। इस महाबलाधिकृत को कर्त्तव्य-पालन करते हुए नियति ऐसा थपेड़ा लगाती है कि इसे सूखी रोटियाँ द्वार-द्वार भिक्षा के रूप में माँगनी पड़ती हैं किन्तु वह अधीर नहीं होता। कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि पर टहलता हुआ कहता है, 'नहीं पर्ण, रोना मत, एक बूंद भी आँसू आँखों में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था।'[1]·····

सच्चे हृदय से कर्त्तव्य-कर्म करते चलना और ईश्वर को न भूलना यही तो वर्णाश्रम धर्म है। इस धर्म में कभी-कभी आपद्धर्म

१. स्कन्दगुप्त : पंचम अंक, पृष्ठ १४७।

भी आ जाता है। क्षत्रिय का धर्म भिक्षा माँगना नहीं है, किन्तु वह भिक्षा माँगता है दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए। वह कहता है कि 'मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रहना भगवान्।'[1]

पर्णदत्त ने अभिलाषा प्रकट की थी कि 'गरुड़ध्वज की छाया में आर्य-साम्राज्य की रक्षा करते-करते प्राण विसजन करूं।' उसकी यह इच्छा पूर्ण हुई और खिंगिल से युवराज स्कन्दगुप्त की रक्षा करते-करते वह वीर युद्ध-क्षेत्र में दिवंगत हुआ। इससे बढ़कर एक आदर्श क्षत्रिय का चरित्र क्या होगा?

इस नाटक में युद्ध के लिए प्रोत्साहन देने वाला एक बौद्ध-भिक्षु प्रपंचबुद्धि है जो सद्धर्म-रक्षा के नाम पर लोगों को हिंसा के लिए प्रेरित करता है। कर्म की आवश्यकता बताते हुए कहता है, 'तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र समर्पण करके जीने से क्या लाभ। तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो, परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म। मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना, दोनों स्थलों में एकसा है, केवल देश और काल का भेद है। यही न।'

प्रपंचबुद्धि के लिए कर्म की कसौटी परिणाम है। वह कहता है—'हम कर्म की जांच परिणाम से करते हैं।' इस प्रकार स्वार्थ-सिद्धि के लिए हत्या और युद्ध में शत्रु संहार को एक समझकर प्रपंच बुद्धि अन्तर्विद्रोह का केन्द्र बनता है और हूणों से मिलकर देश पर बाहरी आक्रमणकारियों को निमन्त्रित करता है। प्रपंच-बुद्धि के पथ के अनुगामी हैं-पुरगुप्त भटार्क, अनन्तदेवी, सर्वनाग विजया और खिंगि। पर्णदत्त के मार्ग पर चलने वाले हैं—स्कन्द, बन्धुवर्मा, चक्रपालित, पृथ्वीसेन, देवकी, देवसेना, कमला

१. वही, पृष्ठ १४७।

और रामा। इस प्रकार नाटक की कथा जीवन के दो भिन्न-भिन्न कर्म सिद्धान्तों से आद्योपान्त संचालित होती है। पर्णदत्त और उसके सहयोगी गीता-विहित 'मामनुस्मर युध्य च' की धारणा लेकर युद्ध में संलग्न हैं और प्रपंचबुद्धि और उसके अनुयायी परिणाम को ही लक्ष्य बनाकर नाना प्रकार के मनमाना कर्म करते हैं। प्रथम वर्ग उदारता, पवित्रता और ईश्वर में विश्वास करता चलता है तो दूसरा संकीर्णता, कालुष्य और षड्यन्त्र के बल पर सबको प्रतारणा देता चलता है। प्रथम पक्ष को पर्णदत्त जैसे वीर, देवकी जैसी सती पत्नी और पुत्रवत्सला माता का बलिदान करना पड़ता है, तो दूसरे पक्ष को अन्त में पराजय स्वीकार करनी पड़ती है। द्वितीय पक्ष के सभी व्यक्तियों को पश्चात्ताप करना पड़ता है, क्षमा माँगनी होती है। इस प्रकार परिणाम की कसौटी पर परखने से भी त्यागमय बुद्धि से किये गए कर्म की महत्ता प्रमाणित हो जाती है और वर्णाश्रम धर्म के प्रति आस्था जागृत हो जाती है। परम भागवत धर्म का पालन करके इसकी महत्ता स्थापित करने वाले स्कन्दगुप्त तभी तो 'परम भागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमार गुप्तस्य पुत्रः, तत्पादानुध्यातो परम भागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्तः[1]' नाम से प्रसिद्ध हुए।

अन्य नाटकों से इस नाटक की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें गुप्तकालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक महत्व के साथ-साथ समसामयिकता की गहरी छाप झलकती है। नाटक-रचना-काल में भारत स्वातन्त्र्य-युद्ध के विरोधियों को प्रबल बनाने वाले धार्मिक कलह और संकीर्ण भावों की ओर जैसा संकेत इस नाटक में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र नहीं। पृथ्वीसेन, पर्णदत्त, बन्धुवर्मा जैसे रत्नों के बलिदान के कारण ही किसी काल में देश का गौरव

1. Bihar Stone Pillar Inscription of Skandgupta Corpus Inscriptionum Indicarum. Vol. III Plate 12, P. 50.

बढ़ता है। देश-रक्षा का सबसे आकर्षक स्वर इस नाटक में सुनाई पड़ता है। भारत का गौरव-गान धातुसेन जिन शब्दों में करता है वे इसकी महत्ता के प्रमाण हैं।

इस नाटक में नारी पात्रों का विशेष महत्त्व है। इसमें पुरुषों की पथ-प्रदर्शिका प्रायः नारी ही हैं। रामा शर्वनाग को, कमला भटार्क को सत्पथ दिखाती है। देवसेना स्कन्दगुप्त को क्षणिक दुर्बलता से ऊपर उठाती है। मानव की कोमल कल्पनाओं तथा सत्प्रवृत्तियों की साक्षात् मूर्ति देवसेना नारी जाति को गौरवान्वित करने वाली है। नाट्य-साहित्य में नारी की इतनी उच्च कल्पना प्रसाद जी की सबसे बड़ी देन है।

विशेषताएँ

स्कन्दगुप्त में प्रसाद ने पहले-पहल इस तथ्य को अपनाया है कि ऐतिहासिक नाटकों में राजनैतिक घटनाओं के साथ-साथ पारिवारिक घटनाएँ भी जीवन पर प्रभाव डालती चलती हैं। इसके पूर्व विरचित नाटकों में कथानक का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा है। अजातशत्रु और जनमेजय के नागयज्ञ में राजनीतिक कार्यों का प्रसार उतना विस्तृत नहीं है जितना स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में। स्कन्दगुप्त नाटक में समस्त उत्तर-भारत स्कन्दगुप्त की ओर आशा-भरी दृष्टि से देख रहा है। उसका कार्य-क्षेत्र कुभा-तट से लेकर सुदूर पूर्व तक बन जाता है। इतने विस्तृत प्रदेश में कार्य करते हुए उसे देवसेना और विजया का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार बाह्य कोलाहल के साथ आन्तरिक द्वन्द्व का भी उसे सामना करना पड़ता है। यह प्रेम की धारा अन्तःसलिला सरस्वती के समान कभी प्रकट और कभी गुप्त रूप से निरन्तर बहती रहती है। इस प्रकार आजीवन कौमारव्रत पालन करने वाले इस आदर्श-वीर देवदत्त में वीरता और प्रेम, राज्य-प्राप्ति और त्याग, दोनों का साथ-साथ मिलन अत्यधिक आकर्षक बन जाता है।

चन्द्रगुप्त : संवत् १९८८ वि०

प्रसाद जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रकट होता है। इसमें उनकी ऐतिहासिक शोध-शक्ति जितनी प्रस्फुटित हुई है, उतनी ही उनकी काव्य-प्रतिभा भी प्रखर हो उठी है।

'चन्द्रगुप्त' का रचना-काल संवत् १९८८ वि० है। इससे पूर्व इस कथानक को लेकर इनकी 'कल्याणी परिणय' नाटिका का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका में संवत् १९६९ वि० में हुआ था। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि इसी प्रसंग पर पुनः नाटक लिखने की प्रेरणा प्रसाद को क्यों हुई। इसके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह है कि उक्त नाटिका को उन्होंने देशकाल के अनुसार अब अपर्याप्त समझा हो अथवा दूसरा यह कि १९ वर्ष की इस दीर्घ अवधि में अन्य नाटकों की रचना के उपरान्त, इस नाटक की रचना में संशोधन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। प्रसाद की 'राज्यश्री' के सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि उन्होंने दूसरी आवृत्ति में इसका आमूल परिवर्तन कर दिया था। जिस प्रकार प्रथम विरचित 'राज्यश्री' से वर्तमान 'राज्यश्री' नितान्त भिन्न है, उसी प्रकार 'कल्याणी-परिणय' से 'चन्द्रगुप्त' सर्वथा पृथक् है। 'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद की सबसे बड़ी देन है चाणक्य। 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य न 'कल्याणी-परिणय' का चाणक्य है न 'मुद्राराक्षस' का। चन्द्रगुप्त का चाणक्य न 'पुरुविक्रम'[1] का चाणक्य है न द्विजेन्द्रलाल के 'चन्द्रगुप्त' का।

यह चाणक्य वस्तुतः वह ब्राह्मण है, जिसकी भविष्यवाणी

---

१. 'पुरुविक्रम' बँगला का प्रसिद्ध नाटक है। इसकी रचना संवत् १९३२ विक्रम में हुई। नाट्यकार ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर हैं। इस नाटक का अभिनय ग्रेट नेशनल थिएटर में ३ अक्टूबर सन् १८७५ ई० में हुआ।

व्यास जी ने 'जनमेजय के नागयज्ञ' में इस रूप में की थी—'महात्मा ब्राह्मणों की विशुद्ध ज्ञानधारा से यह पृथ्वी अनन्त काल तक सिंचित होगी, लोगों को परमात्मा की उपलब्धि होगी, लोक में कल्याण और शान्ति का प्रचार होगा।[1]'

उपर्युक्त उद्धरण में व्यासजी ने तीन बातों की ओर संकेत किया है : (१) लोगों को परमात्मा की उपलब्धि (२) ब्राह्मण के द्वारा लोक में कल्याण और (३) लोक में शान्ति। हम देखते हैं कि प्रसाद का चाणक्य अत्याचारी नन्द तथा विदेशी यूनानियों के अत्याचार और आक्रमण से राष्ट्र का उद्धार करके लोक में शान्ति की स्थापना करता है। यह है उसका बुद्धि-वैभव। लोक-मंगल की कामना वह अपने त्याग और तप के बल से इस प्रकार करता है, [आँख खोलता हुआ] 'कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता! तुम्हारा आलोक जगत् का मंगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ।.....आज मुझे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य-सागर निस्तरंग है और ज्ञान-ज्योति निर्मल है।'[2]

अब तक प्रसाद बौद्ध के विहार-जीवन से पर्याप्त परिचित हो गये थे।[3] उन्होंने यह भी देख लिया था कि संयमी और कठोर ब्राह्मणों में धर्म-व्यवस्था के प्रति जो आस्था है वह अत्याचार के निवारण और लोक के कल्याण के निमित्त ही है। उसके बिना वास्तव में मानव को सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। ब्राह्मणों का जो ह्रास उनके चारों ओर दिखाई देता था और उसके कारण राष्ट्र का जो अमंगल हुआ अथवा हो रहा था, उसका निदर्शन उन्होंने

१. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० १०८।

२. चन्द्रगुप्त नाटक, जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २०८।

३. कहा जाता है कि सारनाथ की मूलगन्ध कुटीर में प्रसाद जी उद्घाटन के समय गये थे।

नागयज्ञ में कर दिया था। अब उनके हृदय में फिर उस ब्राह्मणत्व की भावना जगी जिसके द्वारा उन्हें लोक में कल्याण और शान्ति का प्रचार सम्भव दिखाई पड़ा। आश्चर्य नहीं चाणक्य उसी ब्राह्मणत्व का प्रतीक हो।

चन्द्रगुप्त की प्रेरणा का जो भी कारण रहा हो, यह तो स्पष्ट ही है कि चाणक्य के ब्राह्मणत्व को जो रूप प्रसाद ने दिया वह न तो विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में उपलब्ध होता है न रायबाबू के चन्द्रगुप्त में पाया जाता है। यह तो 'प्रसाद' की वह अनुपम सूझ है जिसकी सफलता पर सहृदय स्वतः मुग्ध हो उठता है।

'प्रसाद' और द्विजेन्द्रलालराय

हम पूर्व लिख आये हैं, कि 'प्रसाद' का चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्त से पृथक् होने पर अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि करता है किन्तु द्विजेन्द्रलाल राय का चाणक्य चन्द्रगुप्त से विलग होने पर पागल जैसा इस प्रकार प्रलाप करता है—

"चाणक्य—बुद्धि, बुद्धि सुनते-सुनते बहिरा हो गया हूँ·····

कात्यायन—तुम क्या पागल हो गये हो चाणक्य ?

(चाणक्य—कुछ देर रहकर) कैसा सुन्दर प्रातःकाल है। पृथ्वी विवाह के लिए तैयार हुई कन्या की तरह ऐसी सजी हुई है।··· और केवल मैं ही द्वार पर भिक्षु के समान खड़ा हुआ उसे देख रहा हूँ।

कात्यायन—चाणक्य ! चाणक्य !

चाणक्य—संसार में अमृत समुद्र का ज्वार आ रहा है और मैं पंगु के समान तापित तृषित हृदय से किनारे पर खड़ा हुआ छटपटा रहा हूँ, तपोवन की भूमि में शूकर के समान तलैया की कींच में लोट रहा हूँ।"[1]

---

१. चन्द्रगुप्त नाटक, तृतीय अंक, पृ० १४३।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से चाणक्य के चरित्र-चित्रण में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। प्रसाद का चाणक्य प्रातःकाल उठकर ब्राह्मणत्व की उपलब्धि कर रहा है। वह राजसुख के साथ ही अपनी परम प्रेयसी सुवासिनी को भी त्याग कर सन्तुष्ट है, किन्तु द्विजेन्द्रलाल का चाणक्य राजसुख से वंचित होने के कारण इतना विकल और व्याकुल है कि अपने को 'तलैया की कीच में लोटने वाला शूकर' समझने लगता है। प्रसाद ने चाणक्य को देवत्व तक प्राप्त करा दिया है, जैसा उनका सिद्धान्त है कि 'मनुष्य निष्काम कर्म करने से देवत्व प्राप्त करता है।' प्रसाद के चाणक्य ने जो कुछ किया राष्ट्रहित की प्रेरणा से प्रेरित होकर निष्काम बुद्धि से। इसी प्रकार कर्म करने से वह ब्राह्मणत्व अर्थात् देवत्व की प्राप्ति करता है।

'प्रसाद' और 'राय' दोनों के चाणक्य अपमान के कारण नन्द से रुष्ट हैं किन्तु प्रसाद का चाणक्य व्यक्तिगत द्वेष को राष्ट्रहित में विलीन कर देता है। वह नन्द की हत्या करने वाले नगरवासियों को रोककर नन्द से कहता है, 'हम ब्राह्मण हैं, तुम्हारे लिए भिक्षा माँग कर तुम्हें जीवन दान दे सकते हैं। .....''नागरिक वृन्द, आप लोग आज्ञा दें, नन्द को जाने की आज्ञा दें।'' इसके विरुद्ध राय का चाणक्य चन्द्रकेतु के रोकने पर भी कात्यायन को नन्दवध के लिए प्रेरित करता है। इतना ही नहीं उसकी निष्ठुरता उस समय सीमा को पहुँच जाती है जब मृतक नन्द के रक्त से रंग कर चोटी बाँधता है। शत्रु के मृतक होने पर साधारण व्यक्ति भी प्रतिहिंसा की भावना त्याग देता है, चाणक्य जैसे ब्राह्मण का यह कृत्य क्या प्रशंसनीय हो सकता है?

प्रसाद ने सम्पूर्ण नाटक के मध्य एक स्थल पर चाणक्य में दुर्बलता दिखलाई है, जहाँ वह वासना के वश हो जाता है।

१. चन्द्रगुप्त नाटक, पृ० १४६।

चाणक्य सुवासिनी की ओर इस दृष्टि से देखता है कि सुवासिनी को कहना पड़ता है, "यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो, फिर अपने को नहीं ? देखो दर्पण लेकर, तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौनसा नवीन चित्र है।"[1]

ब्राह्मण चाणक्य इस क्षणिक दुर्बलता से मुक्त हो पुनः अपने राष्ट्रहित के कार्य में संलग्न हो जाता है। यह दुर्बलता यदि नाटक में न दिखाई गई होती तो हम उसे मनुष्य कैसे कह पाते ! वह तो अलौकिक शक्ति का अवतार ही समझा जाता। निश्चय ही सुवासिनी के इस प्रसंग में हम चाणक्य के हृदय का साक्षात्कार करते हैं और यह प्रत्यक्ष देख लेते हैं कि इसमें कितनी कोमलता है, क्योंकि प्रसाद ने इस कथन के द्वारा स्पष्ट करा दिया है, "वह क्रूर है केवल वर्तमान के लिए, भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं।"

प्रसाद की दृष्टि से ब्राह्मण का आदर्श है, "मेघ के समान मुक्त, वर्षा-सा जीवन दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना।" प्रसाद का चाणक्य सम्पूर्ण नाटक में इस आदर्श का पालन करता हुआ माया-स्तूपों को ठुकराता चलता है।

इसके प्रतिकूल 'राय' का चाणक्य षड्यन्त्रों में तल्लीन और ईर्ष्याद्वेष से जर्जरित क्रूर कर्मा ही रह जाता है। अन्त में अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप अवश्य करता है, किन्तु ब्राह्मणत्व की उपलब्धि नहीं कर पाता।

इसी प्रकार 'प्रसाद' का चन्द्रगुप्त 'राय' के चन्द्रगुप्त से कहीं अधिक स्वावलम्बी, धीर और पराक्रमी है। रुष्ट होकर चाणक्य

---

१. जयशंकरप्रसाद, चन्द्रगुप्त, चतुर्थ अंक, पृ० १६१।

के चले जाने पर वह व्याकुल नहीं होता। सिंहरण भी जब चाणक्य को ढूँढने चला जाता है तो चन्द्रगुप्त कहता है—"पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर सहचर सिंहरण गया, तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ा, और रहेगा।"[1]

इसके विरुद्ध 'राय' का चन्द्रगुप्त मानो चाणक्य के आधार पर ही टिका है। रुष्ट होकर उससे विलग होने से शत्रुओं द्वारा घिरने पर कहता है, "मैं युद्ध नहीं करूँगा। मैं स्वयं अपने से बदला लूँगा। मैं आत्महत्या करूँगा।"[2]

प्रसाद और राय दोनों ने सिल्यूकस की पुत्री से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। प्रसाद ने उसका नाम कार्नेलिया और राय ने हेलेन रखा है। प्रसाद की कार्नेलिया में राय की हेलेन से कई विशेषताएँ हैं—कार्नेलिया भारत की दार्शनिकता के साथ-साथ चन्द्रगुप्त के रूप-गुण पर भी मुग्ध है; उसकी प्रेम परीक्षा के लिए सुवासिनी भेजी जाती है। कार्नेलिया और सुवासिनी का वार्तालाप इसका प्रमाण है कि वह चन्द्रगुप्त से विवाह करने को लालायित है। इसके विरुद्ध राय की हेलेन में यूनान और भारत को सम्मिलित करने की भावना इतनी प्रबल है कि वह चन्द्रगुप्त के साथ अपने विवाह को विश्वमंगल के लिए अपना बलिदान समझती है। सिल्यूकस उसके इस कार्य से इतना रुष्ट है कि वह विवाहोत्सव में सम्मिलित नहीं होता। इसके विपरीत प्रसाद का सिल्यूकस कहता है, "तब आओ बेटी·····आओ चन्द्रगुप्त।"

राय बाबू ने छाया और हेलेन के वार्तालाप[3] द्वारा बहुपत्नीत्व

---

१. चन्द्रगुप्त, प्रसाद, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १७१।

२. चन्द्रगुप्त, द्विजेन्द्रलाल राय, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १०४।

३. 'आओ बहन, हम दोनों नदियाँ एक ही सागर में जाकर लीन हों।·····काहे का दुख है बहन। एक ही आकाश में क्या सूर्य

के भद्दे रूप को प्रदर्शित किया है। कदाचित् इसी कुप्रथा को बचाने के लिए प्रसाद ने मालविका का मूक बलिदान करा दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि द्विजेन्द्रलाल राय का 'चन्द्रगुप्त' कुछ नवीन विचारों को लेकर अवतरित हुआ था तथापि 'प्रसाद' को उससे सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने उसको कुछ और ही आदर्श दे दिया। 'प्रसाद' ने ऐतिहासिकता की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय-वंशी प्रमाणित किया। राय महोदय ने इतिहास के अनुसन्धान की चिन्ता न करके उसके अनुरूप अपना नाटक बना दिया। 'राय' ने अपने नाटक के द्वारा विश्व-प्रेम का प्रदर्शन किया है तो 'प्रसाद' ने राष्ट्र-प्रेम और विश्वप्रेम का सच्चा सामंजस्य किया है। दोनों का अपना-अपना दृष्टिकोण है।

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त की तुलना

हम पूर्व कह आए हैं कि प्रसाद के ये दो नाटक उनकी नाट्य-कृतियों में विशेष महत्त्व रखते हैं। अब इन दोनों की तुलना करके यह देख लेना चाहिए कि इनमें श्रेष्ठतर कौन है।

शास्त्रीय दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' से अधिक सफल इसलिए भी है कि चन्द्रगुप्त के चार अंकों में दृश्य-संख्या उत्तरोत्तर इस प्रकार बढ़ती गई है कि चतुर्थ अंक में सोलह दृश्य बन जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिएँ। यदि यह नाटक पाँच अंकों में समाप्त किया गया होता और पाँचवाँ अंक सिल्यूकस अभियान की नई घटना से प्रारम्भ किया गया होता तो उपर्युक्त दोष दूर हो जाता। कहा जाता है कि प्रसाद जी के मन में इसे पाँच अंकों द्वारा समाप्त करने का विचार उठा

और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते हैं?' चन्द्रगुप्त—द्विजेन्द्रलाल राय, पंचम अंक, पृष्ठ १३३।

था, किन्तु कई कारणवश वह ऐसा कर न सके।

'चन्द्रगुप्त' में दूसरा दोष यह है कि इसकी नायिका की समस्या अन्त तक जटिल बनी रहती है। कार्नेलिया प्रथम अंक में एक बार रंगमंच पर दर्शन देकर चली जाती है और पुनः चतुर्थ अंक के सातवें दृश्य में सामाजिकों के सम्मुख आती है। इस प्रकार नायिका नाटक में जितने प्रमुख स्थान की अधिकारिणी होती है, उतना उसे प्राप्त नहीं होता। इसके प्रतिकूल स्कन्दगुप्त में देवसेना आद्योपान्त समय-समय पर अपने अलौकिक गुणों तथा अद्वितीय आकर्षण के सहित सामाजिकों के सम्मुख आती रहती है।

कथानक की दृष्टि से भी स्कन्दगुप्त चन्द्रगुप्त की अपेक्षा अधिक सफल है। स्कन्दगुप्त की घटनाओं में चन्द्रगुप्त से आरोहावरोह कहीं अधिक विद्यमान है। चन्द्रगुप्त की वस्तु-योजना शिथिल है और उसमें काल-संकलन का अभाव खटकता है। पच्चीस वर्षों की दीर्घ अवधि की घटनाओं को संकलित करती हुई चन्द्रगुप्त की वस्तुयोजना काल-संकलन की दृष्टि से अधिक सफल नहीं प्रतीत होती। इस कारण भी स्कन्दगुप्त की सन्धियोजना चन्द्रगुप्त की अपेक्षा अधिक रम्य हो गई है।

ध्रुवस्वामिनी [संवत् १९९० वि०]

यह नाटिका प्रसाद जी की अन्तिम कृति है। इसकी रचना में पूर्ववर्ती नाटकों की पद्धति परिवर्तित प्रतीत होती है। इस नाटिका में इतिहास-प्रसिद्ध गुप्तवंश की वह घटना कथावस्तु बनाई गई है, जिसमें स्त्री का पुनर्विवाह कराया गया है। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—महाराज समुद्रगुप्त के दो पुत्र हुए—रामगुप्त और चन्द्रगुप्त। चन्द्रगुप्त के शौर्य पर प्रसन्न होकर महाराज समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त को युवराज पद प्रदान करना चाहत हैं, किन्तु चन्द्रगुप्त अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त के लिए यह वैभव त्याग देता है। इसी प्रकार उस काल की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी के वाग्दत्ता

होने पर भी उसका परिणय रामगुप्त के साथ स्वीकार करता है। रामगुप्त ऐसा विलासी, कायर और कुलकलंकी निकलता है कि आक्रमणकारी शकों से युद्ध न करके हिजड़ों, कुबड़ों और सुन्दरियों के मध्य जीवन व्यतीत करने लगता है और उनसे सन्धि करने के लिए अपनी धर्मपत्नी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के हाथों में समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाता है। चन्द्रगुप्त कलंक-सागर में गुप्तकुल-यश को निमग्न होते देख स्त्री वेश में ध्रुवस्वामिनी के साथ शकराज के पास जाता है और उसका वध करके लौटता है। ध्रुवस्वामिनी की ओजस्विता से प्रभावित होकर सामन्तवर्ग रामगुप्त का विरोध करते हैं। परिणाम यह होता है कि एक सामन्त रामगुप्त का वध कर देता है और पुरोहितों की शास्त्र-विहित सम्मति से विधवा ध्रुवस्वामिनी का पुनर्विवाह चन्द्रगुप्त के साथ होता है। चन्द्रगुप्त सम्राट् और ध्रुवस्वामिनी महादेवी बनती है।

उपर्युक्त कथानक से दो बातें स्पष्ट होती हैं, (१) इसका वस्तु-संविधान पूर्ववर्ती तीन नाटकों से भिन्न एक ही कथासूत्र में ग्रथित है। (२) इसका उद्देश्य स्त्री के पुनर्विवाह की समस्या पर प्रकाश डालना है।

भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्ववर्ती तीन नाटकों से भिन्न है। इसकी भाषा परिमार्जित होते हुए भी बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। उपर्युक्त गुणों के कारण यह नाटिका 'प्रसाद' के अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक अभिनेय मानी जाती है।

प्रश्न उठता है कि प्रसाद जी ने इस नाटक की रचना नये प्रयोग की शैली पर क्यों की? चन्द्रगुप्त तक वस्तु विन्यास में कई कथासूत्रों का ताना-बाना होता था, किन्तु इसमें एक ही कथा क्यों रह गई? पूर्ववर्ती नाटकों की काव्यमयी भाषा के स्थान पर इसके कथोपकथन की भाषा सरल और स्वाभाविक बोलचाल की

भाषा के समीप क्यों आ गई ? 'प्रसाद' ने अपनी निजी शैली त्याग कर नवीन शैली का क्यों प्रारम्भ किया ?

प्रसाद जी के मित्रगण[1] इसका कारण यह बताते हैं कि प्रसाद जी नाटक की नवीन प्रवृत्तियों से अपरचित नहीं थे। विविध समालोचकों तथा उनके मित्रों ने जब उन पर यह दोषारोपण किया कि आप नाटक-रचना में आदर्शवादिता का समर्थन इस सीमा तक करते हैं कि आज की वास्तविक समस्याओं की यथार्थवादिता से सर्वथा निरपेक्ष हो जाते हैं, तब प्रसाद जी ने इस पर विचार किया और उन्होंने विवाह-समस्या को लेकर इस ऐतिहासिक नाटक की रचना की।

इस नाटक की रचना का एक और भी कारण हो सकता है। प्रसाद जी ने 'अजातशत्रु' में नारी के जन्मसिद्ध अधिकार के प्रश्न को केवल यह कहकर सुलझाने की चेष्टा की थी[2] कि स्त्रियों का कर्तव्य क्रूरकर्मा पुरुषों के हृदय को कोमल तथा करुणापूर्ण बनाना है। किन्तु इस युग में यह कल्पना प्रसादजी की आदर्शवादिता को ही प्रमाणित कर रही थी। वस्तुतः समाज में विधवा नारी नितान्त उपेक्षित हो रही थी। मोक्ष और विधवा-विवाह की जटिल समस्या खड़ी हो गई थी। सम्भव है कि अजातशत्रु नाटक की आदर्शवादिता में वास्तविक समस्या का समाधान न देख परिस्थिति-विशेष में विधवा-विवाह को इतिहास-सम्मत तथा शास्त्रविहित सिद्ध करने के लिए इस नाटक की रचना की गई हो। नारी की उपेक्षा का भीषण दृश्य इस नाटक में देखिए। शकराज के पास जाने की आज्ञा पाकर जब रामगुप्त की धर्मपत्नी ध्रुवस्वामिनी पति के पैरों का पकड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहती है, "मेरी रक्षा करो। मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो..." तब विलासी और कायर राम-

१. आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २४६।

२. अजातशत्रु, पृष्ठ १२७।

गुप्त कहता है, "तुम मेरी रानी! नहीं, नहीं। जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो?"[1] किस सती का रक्त ऐसे विलासी पति की उपर्युक्त वाणी सुनकर न खौल उठेगा? सब ओर से निस्सहाय होने पर नारी का आत्मविश्वास ही उसकी रक्षा करता है। ध्रुवस्वामिनी कृपाण निकाल कर आत्म-हत्या करना चाहती है तो निर्लज्ज रामगुप्त कृपाण देखकर कहता है,—"किन्तु तुम्हारे मर जाने पर उस वर्वर शकराज के पास किसको भेजा जायगा?"[2] यह कहता हुआ भयभीत रामगुप्त भाग जाता है। इस समय चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या से बचाता है। तदुपरान्त शकराज के अपमान से उसकी रक्षा करता है। ध्रुवस्वामिनी विवाह से पूर्व चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता थी। वह अब रामगुप्त से पृथक् होकर धर्म-रक्षक से विवाह करना चाहती है। रामगुप्त जब उसे महादेवी कहकर सम्बोधित करता है उस समय दोनों का वार्त्तालाप नारी की तेजस्विता और विलासी पुरुष की निर्लज्जता का सूचक है—

'रामगुप्त—तो तुम महादेवी नहीं हो न?

ध्रुवस्वामिनी—नहीं मनुष्य की दी हुई उपाधि मैं लौटा देती हूँ।

रामगुप्त—और मेरी सहधर्मिणी?

ध्रुवस्वामिनी—धर्म ही इसका निर्णय करेगा।

....

रामगुप्त—ध्रुवस्वामिनी, निर्लज्जता की भी एक सीमा होती है।

ध्रुवस्वामिनी—मेरी निर्लज्जता का दायित्व एक कापुरुष

---

१. ध्रुवस्वामिनी, जयशंकरप्रसाद, पृष्ठ २७।

२. वही, पृष्ठ २७।

पर है।'[1]

धर्म का निर्णय करने के लिए निर्भय और सत्यनिष्ठ पुरोहित बुलाया जाता है। वह इस विवाह की समस्या को इस प्रकार सुलझाता है।

'पुरोहित—विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। धर्म का उद्देश्य इस तरह पद्दलित नहीं किया जा सकता।....यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से क्लीव है। ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।'.....

शिखर स्वामी—निर्भीक पुरोहित, तुम क्लीव शब्द का प्रयोग कर रहे हो।

पुरोहित—(हँसकर) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किसलिए कहा था? जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं, वह क्लीव नहीं तो और क्या? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।'[2]

क्लीव रामगुप्त ज्यों ही धोखे से चन्द्रगुप्त का वध करने चलता है, त्योंही एक सामन्त कुमार उस पर प्रहार करता है और रामगुप्त गिर पड़ता है। राजाधिराज चन्द्रगुप्त और महादेवी ध्रुवस्वामिनी की जय-जयकार होती है।

इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त और नायिका ध्रुवस्वामिनी हैं। नायक को राज्य और स्त्री दोनों की प्राप्ति होती है। विलासी और क्लीव प्रतिनायक रामगुप्त सामन्त-कुमार द्वारा परलोकवासी बनता है।

---

१. जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ५०।

२. जयशंकर प्रसाद, ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ६३।

प्रसाद और कन्हैयालाल मुन्शी

श्री कन्हैयालाल मुन्शी का ध्रुवस्वामिनी नाटक 'प्रसाद' की ध्रुवस्वामिनी के १६ वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ। दोनों नाटककारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से नाटक का संविधान किया है। प्रसाद ने मोक्ष और पुनर्विवाह की समस्या को लेकर यह नाटक लिखा है, किन्तु मुन्शी ने इस समस्या का महत्व न देकर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रधानता दी है। प्रमाण यह है कि 'प्रसाद' ध्रुवस्वामिनी को चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के पास भेजते हैं, किन्तु मुन्शी का चन्द्रगुप्त कतिपय सदारों के साथ लड़ने जाता है तो उनकी ध्रुवस्वामिनी अन्तःपुर में बैठी है और उसके अन्तःकरण में आशा-निराशा, जीवनमरण का द्वन्द्व मच जाता है। वह सोचती है—'गये, सब गये। वापस आये, जब तक···तब तक कैसे प्रतीक्षा कर सकूंगी? इन सबमें एक ही नरवीर, एक ही पुरुष है। उसका क्या होगा? क्य होता होगा?'[1]

'प्रसाद' ने मोक्ष (तसाक) के लिए विद्वान् धर्मशास्त्री ब्राह्मणों की व्यवस्था दिलाई है किन्तु मुन्शी ने पुनर्विवाह को प्रथा का रूप दे दिया है और इसके लिए याज्ञवल्क्य का वचन पर्याप्त समझा है। शास्त्र का प्रमाण उन्हें अपेक्षित ही नहीं है।

'प्रसाद' ने इस नाटक में राजमाता दत्तदेवी और सम्राट् समुद्रगुप्त को पात्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है, किन्तु मुन्शी न समुद्रगुप्त का विरोध दिखाया और सब को हराने वाले चन्द्रगुप्त की वीरता प्रदर्शित की है।

प्रसाद ने चन्द्रगुप्त के चरित्र में जितनी सदाशयता और महानता दिखाई है उतना मुन्शी के चन्द्रगुप्त में नहीं मिलती।

---

१. ध्रुवस्वामिनी देवी : कन्हैयालाल मुन्शी—किताब महल इलाहाबाद, पृष्ठ ५१।

'प्रसाद' के रामगुप्त का वध-कर्त्ता एक सामन्त-कुमार है किन्तु 'मुन्शी' के रामगुप्त की हत्या स्वयं चन्द्रगुप्त करता है। 'प्रसाद' की दृष्टि समस्या नाटक की ओर है, किन्तु मुंशी को इतिहास की रक्षा अभीष्ट है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इतिहास की एक ही घटना को दो नाट्यकारों ने दो प्रकार से कथानक का रूप दिया है। यदि हम निर्णय करना चाहें कि दोनों में कौन इतिहास की मर्यादा अधिक मानता है तो हमें ध्रुवस्वामिनी की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है। इतिहास में रामगुप्त का उल्लेख न तो किसी अभिलेख अथवा मुद्रा में प्राप्त है और न गुप्त सम्राटों की वंशावली में उसका नाम मिलता है। किन्तु रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की वार्ता देवीचन्द्रगुप्त नामक नाटिका, बाण-लिखित हर्षचरित्र, भोज के शृङ्गार प्रकाश, अमोघवर्ष के पत्रलेख में तथा मुनमतुल तवारीख में उपलब्ध है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि सम्भवतः रामगुप्त को अति अयोग्य और कापुरुष समझकर इतिहास में कहीं भी स्थान देना उचित न समझा गया हो।

अभिलेखों, मुद्राओं तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उपलब्ध सामग्री के आधार पर रामगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का जो उल्लेख मिलता है, उसके अनुसार घटना इस प्रकार है—

अपनी कायरता और अकर्मण्यता के कारण शक-सेना से पराभूत रामगुप्त सन्धि के लिए लालायित हो उठा। अपनी राजमहिषी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास पत्नी रूप में जाने को बाध्य करने लगा। चन्द्रगुप्त ने इसका विरोध किया और ध्रुवस्वामिनी के वेश में स्वतः शकराज के पास उपस्थित हुआ। शकराज का वध करके लौटने पर वह स्वभावतः राजमहिषी और प्रजा के सम्मान का अधिकारी हुआ। इस अवसर से लाभ उठाकर

चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त का वध करके सिंहासन पर अधिकार जमाया और ध्रुवस्वामिनी को राजमहिषी के रूप में ग्रहण किया।

उक्त घटना में 'प्रसाद' ने अपने कथानक के लिए परिवर्तन आवश्यक समझा किन्तु मुन्शी ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया।

अब प्रश्न यह है कि 'प्रसाद' ने इस परम्परागत घटना में परिवर्तन और परिवर्धन क्यों किया ? क्या इस परिवर्त्तन से उनके नाटक में कोई विशेषता आती है ? यदि नाटक की दृष्टि से कोई सौष्ठव आ जाता है तो 'प्रसाद' को इसका श्रेय मिलना चाहिए या नहीं।

इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व हमें उन स्थलों को पकड़ना चाहिए जहाँ परिवर्त्तन विद्यमान है। परिवर्त्तन मुख्यतः दो स्थलों पर झलकता है—एक तो शकराज के शिविर में चन्द्रगुप्त और ध्रुव-स्वामिनी दोनों का साथ जाना, दूसरे रामगुप्त की हत्या किसी सामन्त द्वारा कराना।

देखना यह है कि ध्रुवस्वामिनी को शकराज के शिविर में ले जाना कहाँ तक नारी-मर्यादा का पालन करना है। जब चन्द्रगुप्त स्वयं ध्रुवस्वामिनी का वेश बनाकर जा रहा है तो ध्रुवस्वामिनी को साथ ले जाना क्यों आवश्यक था। 'प्रसाद' ने ऐसी कल्पना क्यों की।

हमारा मत है कि 'प्रसाद' ने ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में ओजस्विता लाने के लिए यह योजना बनाई। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्रुवस्वामिनी शकराज के शिविर में युद्ध के लिए लैस होकर जाने को उद्यत है किन्तु क्रीत-दासी के रूप में जाना उसे किसी प्रकार भी वांछनीय नहीं। योद्धा के रूप में अपने प्राण-रक्षक के साथ रणक्षेत्र में आहत अथवा मृतक होना उसे अभीष्ट है किन्तु स्वतः राजप्रासाद में सुरक्षित बैठना और चन्द्रगुप्त को ध्रुव-स्वामिनी बनाकर भेजना उसकी रुचि के विरुद्ध है। इस स्थल पर

हम देखते हैं कि यदि चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी है तो ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त। युद्धोपरान्त जब चन्द्रगुप्त चन्द्रगुप्त बनता है तो ध्रुवस्वामिनी ध्रुवस्वामिनी। इस परिवर्तन से ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में ओजस्विता निखर आती है और नाटक में रमणीयता आ जाती है। सामाजिक जब युवा चन्द्रगुप्त को युवती ध्रुवस्वामिनी के रूप में देखता है तो उसे एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है।

'प्रसाद' ने दूसरा परिवर्तन रामगुप्त के वध के सम्बन्ध में किया है। 'प्रसाद' चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का राज्याभिषेक ज्येष्ठ भ्राता के रक्त से नहीं कराना चाहते। 'प्रसाद' का उद्देश्य है भारत के स्वर्णिम अतीत की ज्योति को उद्दीप्त रूप में रखना। भातृ-हत्या के द्वारा राज्य-प्राप्ति चन्द्रगुप्त की यश-चन्द्रिका को धूमिल कर देती है। अतएव विक्रम के आदित्य को कलंक की घटा से आच्छादित कर देना उन्हें अभीष्ट नहीं। हम ऊपर विवेचन कर आए हैं कि भातृ-हत्या की यह घटना इतिहास सम्मत भी नहीं है, केवल जन-श्रुतियों के आधार पर प्रचलित और काव्य तथा नाटक के बल पर जीवित है। अतएव इसको परिवर्तन करके 'प्रसाद' ने नाटक को अधिक रमणीय बना दिया है।

'प्रसाद' के नाटकों में कथावस्तु

प्रसाद जी ने अपने नाटकों की कथावस्तु के लिए वैदिककाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के इतिहास को आलोड़ित किया है। 'करुणालय' में वैदिक-काल का, 'सज्जन' में महाभारत-काल का, 'जनमेजय के नागयज्ञ' में उपनिषद्-काल का, 'अजातशत्रु' में बुद्ध-काल का, 'विशाख' में बौद्धों के पतन-काल का, 'चन्द्रगुप्त' में यूनानियों के आक्रमण-काल का, 'स्कन्दगुप्त' में हूणविद्रोह-काल का, 'राज्यश्री' में हर्षकाल का तथा 'प्रायश्चित्त' में जयचन्द-काल का ऐतिहासिक प्रसंग लेकर कथावस्तु निर्मित की गई है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटकों में भारत का दीर्घकालीन इतिहास समा-

विष्ट है। कोषोत्सव-स्मारक-ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि इन्द्र की ऐतिहासिकता प्रमाणित करके वहएक नाटक लिख रहे थे जो असामायिक मृत्यु के कारण पूर्ण न हो पाया।

प्रारम्भ काल की रचनाएँ 'करुणालय', 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' इतनी छोटी और साधारण कोटि की हैं कि इनका महत्त्व 'प्रसाद' की नाट्यकला के केवल विकास-क्रम को समझने के लिए है, अन्यथा आलोचना की दृष्टि से इनकी उपयोगिता बहुत कम है। प्रसाद जी के शेष नाटक महाभारत काल से महाराज हर्ष तक की महान् घटनाओं को समेटे चलते हैं। इस काल के महापुरुष व्यास, गौतम, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्द और हर्ष हमारे इतिहास और हमारी संस्कृति के निर्माता हैं। उनकी कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत का अतीत अपनी गरिमा के साथ साहित्य के रूप में हमारे सामने आ जाता है। इन ऐतिहासिक नाटकों में दो प्रमुख सूत्र आदि से अन्त तक परस्पर मिलते-जुलते और कहीं-कहीं उलझते चलते हैं। उनमें से एक तत्कालीन राजनीतिक इतिवृत्तों को आवद्ध करता चलता है और दूसरा सांस्कृतिक विचारों को उसमें ग्रथित करता रहता है। इस प्रकार 'प्रसाद' के नाटक दो प्रमुख घटना-सूत्रों का ताना-बाना करते चलते हैं।

प्रारम्भिक नाटकों में राजतन्त्र का एक ही प्रवाह बहता दिखाई पड़ता है। अतः इनका कथानक सरल है। उदाहरण के लिए 'विशाख'[1] को ले लीजिए। विशाख की चन्द्रलेखा पर प्रथम बौद्ध-महन्त आसक्त है, फिर राजा नरदेव। राजा नरदेव बौद्ध-महन्त

१. विशाख को प्रसाद का प्रथम नाटक मानना चाहिए क्योंकि नाटकीय कला-सम्बन्धी उनकी स्वतन्त्र विशेषता तो पहले-पहल इसी विशाख द्वारा हिन्दी संसार में प्रगट हुई। विशाख नाटक : द्वितीय संस्करण से : प्रकाशक का वक्तव्य, पंचम संस्करण, संवत् २००४ वि०।

से छीनकर चन्द्रलेखा पर बलात्कार करने को प्रस्तुत होता है, किन्तु जनता के विद्रोह और प्रेमानन्द की उदारता से उसकी रक्षा हो जाती है। सम्पूर्ण कथा का प्रवाह इस प्रकार एक ओर ही ऋजुपथ बनाता चला जाता है।

'राज्यश्री' में दो कथासूत्र हैं—एक कथासूत्र में राज्यश्री, हर्ष, गृहवर्मा और देवगुप्त बँधे हैं, दूसरे में शान्तिदेव, सुरमा और चीनी यात्री सुंगच्यांग। आगे चलकर दोनों कथाप्रवाह एक में मिल जाते हैं।

'अजात शत्रु' में कथानक जटिल हो गया है। प्रथम अंक में मगध, कोशल कौशाम्बी तीन स्थानों पर पृथक्-पृथक् घटना-प्रवाह चलते हैं। दूसरे अंक में काशी भी सम्मिलित हो जाता है। ये घटनाएँ कभी पृथक्-पृथक् रूप से और कभी दो-दो तीन-तीन एक साथ उलझती चलती हैं।

'स्कन्दगुप्त' में एक सूत्र युवराज और उसके सहायकों को आबद्ध करता चलता है; दूसरा प्रपंच-बुद्धि, पुरगुप्त, अनन्तदेवी और भटार्क को; तीसरा मातृगुप्त और मालिनी को; चौथा देवसेना और विजया को; पाँचवां धातुसेन और प्रख्यात कीर्ति को; छठा सूत्र सर्वनाग और रामा को लेकर आगे बढ़ता है। सभी सूत्र एक-दूसरे से उलझते-सुलझते इस प्रकार चलते हैं कि अन्त में सब बटकर एक बन जाते हैं।

स्कन्दगुप्त के उपरान्त 'चन्द्रगुप्त' की रचना है। इसमें सात कथा-सूत्र इस प्रकार हैं: (१) चन्द्रगुप्त और कल्याणी (२) चन्द्र-गुप्त और कार्नेलिया (३) चन्द्रगुप्त और मालविका (४) राक्षस और सुवासिनी (५) सिंहरण और अलका (६) शकटार और नन्द (७) पर्वतेश्वर और कल्याणी।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि प्रसाद जी के वस्तु-विन्यासमें उत्तरोत्तर जटिलता आती गई है। कुशल कलाकार

'प्रसाद' ने विभिन्न इतिवृत्तों को इस प्रकार सम्बद्ध किया है कि कतिपय नाटकों में शास्त्रीय विवेचन से इनकी कार्य-अवस्थाएँ, अर्थप्रकृतियाँ, सन्धियाँ यहाँ तक कि सन्ध्यंग भी ठीक-ठीक बैठते चलते हैं।

वस्तु-विन्यास में भारतीय और यूरोपीय नाट्यकला

पाश्चात्य नाट्यकार कथानक में संघर्ष तथा क्रियाशीलता को मुख्य स्थान देते हैं। हम देख आए हैं कि प्रसाद जी के स्कन्दगुप्त नाटक में इन गुणों का समावेश कितने कौशल के साथ हुआ है। 'प्रसाद' के सभी मुख्य नाटकों में यूरोपीय ढंग का संघर्ष तथा अन्तर्द्वन्द्व देखने में आता है। घटनाएँ पूर्वनिर्दिष्ट पथ पर नहीं चलतीं, प्रत्युत् परिस्थिति और प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक मार्ग बनाती चलती हैं। उनमें आरोहावरोह होता है। अतः धारा कभी वेगवती हो जाती है और कभी मन्थर गति वाली। घटनाओं में कहीं युद्ध का कोलाहल है तो कहीं शान्ति; कहीं संकीर्णता, क्रोध, ईर्ष्या और हत्या है तो कहीं औदार्य, क्षमा, प्रेम और सेवा।

इस प्रकार भारतीय पद्धति के अनुसार लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उद्योग का, और पाश्चात्य शैली के अनुसार विरोध की चरम सीमा, निगति और समाप्ति का अवलम्बन लेकर 'वस्तु' की सृष्टि की गई है।

विभिन्न नाटकों की विवेचना और उपर्युक्त कथासूत्रों के संक्षिप्त विवरण से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि प्रसाद जी ने ऐतिहासिक पुरुष-पात्रों के साथ-साथ काल्पनिक स्त्री-पात्रों का सृजन करके नाटक को सरस बना दिया है। प्रायः समस्त राजतंत्र-संचालकों तथा प्रसिद्ध दार्शनिक नेताओं की सृष्टि तो ऐतिहासिक व्यक्तियों के आधार पर होती है, किन्तु नारी पात्रों की रंगीन कल्पना प्रसाद की मौलिक सृष्टि है। इनका नामकरण दो सिद्धांतों पर किया गया है—कुछ स्त्री-पात्र तो गुणानुसार पुकारे जाते हैं,

जैसे कल्याणी, विजया, श्यामा इत्यादि। कुछ का उल्लेख पुराण और इतिहास के संकेत पर किया गया है,—जैसे स्कन्दगुप्त की प्रेयसी का नाम देवसेना[1] रखा गया है, जो स्पष्ट ही स्कन्द देवता के संकेत पर हुआ है। ऐसे ही अम्बपाली का उल्लेख बौद्ध-ग्रंथों में उपलब्ध होता है। नामकरण में प्रसाद जी का लक्ष्य चाहे जो भी रहा हो, किन्तु इनकी कृतियों से स्पष्ट झलकता है कि विशिष्ट स्त्री पात्रों के द्वारा वह प्रेम का स्वरूप दिखाना चाहते थे। लक्ष्य यह है कि अन्तर्विद्रोह तथा बाह्याक्रमण से देश-रक्षा के कार्य में संलग्न एवं राजतन्त्र-चक्र के निरन्तर परिचालक वीर युवक 'घने प्रेम तरुतले' बैठकर इन रमणियों के साथ स्फूर्ति और नवीन शक्ति का अर्जन करें, और प्रेक्षक गण वीर के साथ ही शृङ्गार का भी रसास्वादन कर सकें। इस प्रकार 'प्रसाद' के प्रमुख नाटकों की कथा-त्रिवेणी में वीर, शृङ्गार और शान्त रस का प्रवाह पाया जाता है। इनमें शान्त की सरस्वती का साक्षात्कार अन्तःकरण में ही होता है।

चरित्र-चित्रण

प्रसाद जी के सम्पूर्ण पुरुष-पात्रों को हम तीन मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं— देवता, दानव और मानव। 'प्रसाद' के प्रत्येक नाटक में एक-न-एक ऐसे महात्मा, साधू, ब्राह्मण या बौद्ध भिक्षु अवश्य मिलेंगे जो उस समय के तत्त्व-चिन्तन के प्रतीक हैं। 'विशाख' में प्रेमानन्द, 'जनमेजयके नागयज्ञ' में वेदव्यास, 'राज्यश्री' में सुयेनच्यांग, 'अजातशत्रु' में भगवान् बुद्ध, 'चन्द्रगुप्त' में दांड्यायन देवता और महात्मा-कोटि में आ जाते हैं। इन महात्माओं का चरित्र पूर्ण विकसित है और ये सिद्धरूप में हमारे सामने आते

१. प्रजापति ब्रह्मा की कन्या थी। इसका विवाह देव-सेनापति स्कन्द के साथ हुआ था। कुछ लोगों का मत है स्कन्द देवासुर संग्राम में देव-सेना का स्वामी था।

हैं। इनका प्रथम दर्शन ही दर्शकों को मुग्ध कर देता है। ये महात्मा रंगमंच पर पूर्ण सुसंस्कृत और परिपक्व होकर आते हैं। अतएव इनके चरित्र में विकास के लिए स्थान ही नहीं रहता। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में ऐसे पूर्ण दानव-पात्र हैं, जो प्रारम्भ से ही दानवता की चरम सीमा तक पहुँचे हैं और अन्त तक वैसे ही बने रहते हैं। जैसे—काश्यप, देवदत्त विजया, शान्ति-भिक्षु आदि।

दानव वर्ग में कतिपय ऐसे पात्र रहते हैं जो पतनोन्मुख हैं और सदा पतन की ओर ही बढ़ते चले जाते हैं। इनके जीवन-विकास का भी कोई प्रश्न नहीं है। ये किसी प्रकार अपना अर्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इस वर्ग के पात्र संस्कृत तथा असंस्कृत सुधार के अनुकूल तथा प्रतिकूल कैसी ही परिस्थिति में क्यों न रख दिए जायँ अपने सुधार का कभी प्रयास करते ही नहीं। वे परिस्थिति को भी अपनी उद्दाम वासना-जन्य-प्रवृत्ति के अनुकूल बनाते चलते हैं।

तीसरा वर्ग इन दोनों के मध्य का है जिसमें अजातशत्रु, पुरगुप्त, भटार्क, जनमेजय, नरदेव आदि की गणना की जा सकती है। इनके अन्तःकरण में देव और दानव प्रवृत्तियों का सदा संघर्ष रहता है। देवत्व और दानवत्व के इसी संघर्ष में इन्हें अपना-अपना विकास करना होता है। इस प्रकार इनमें कभी देव प्रवृत्ति की विजय होती है तो कभी दानव की। किन्तु अनुकूल परिस्थितियों के आ जाने पर इनका उद्धार हो जाता है और इनके हृदय से दानवता का लोप हो जाता है। इन पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रगट करने में 'प्रसाद' की कला प्रसादत्व को प्राप्त होती है।

उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त शेष पात्र या तो देवप्राय प्रतीत होते हैं अथवा दानवप्राय, किन्तु वे हैं मानव ही। वासवी, मल्लिका, चाणक्य, प्रख्यात कीर्ति, सुयेनच्वांग, देवसेना, मालविका आदि की गणना इसी वर्ग में की जानी चाहिए। इसी प्रकार

विरुद्धक, मागन्धी (श्यामा), अनन्त देवी, सुरमा, शर्वनाग आदि ऐसे पात्र हैं जिन्हें विश्वासघात या नरहत्या करने में आरम्भ में संकोच होता ही नहीं। किन्तु अनुकूल परिस्थिति पाने पर इन सभी पात्रों का क्रमशः संस्कार होने लगता है और ये पुनः मानवकोटि में आ जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक में जीवन-विकास की आशा बनाकर चले जाते हैं। वेश्या मागन्धी को अम्बपाली के रूप में भगवान् तथागत की उपासना करते देख दर्शकों को आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि प्रसाद जी ने श्यामा में संस्कारजन्य गुणों का सर्वथा अभाव प्रारम्भ में कहीं नहीं दिखाया है। श्यामा और विरुद्धक के वार्तालाप से दूसरे दृश्य के दूसरे अंक में यह बात इस प्रकार स्पष्ट कर दी गई है—

विरुद्धक—विश्वास करने वाले के साथ डाकू भी ऐसा नहीं करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है।·····तुम रमणी हो और वह भी वार-विलासिनी, मेरा विश्वास है कि ऐसी रमणियां डाकुओं से भी भयानक हैं।

श्यामा—क्या मेरी प्रणय-भिक्षा असफल होगी? जीवन की कृत्रिमता में दिन-रात प्रेम का वनिज करते-करते क्या प्राकृतिक स्नेह का स्रोत एक बार ही सूख जाता है। क्या वार-विलासिनी प्रेम करना नहीं जानती। क्या कठोर और क्रूर कर्म करते-करते तुम्हारे हृदय में चेतनालोक की गुदगुदी और कोमल स्पन्दन नाम को भी अवशिष्ट नहीं है। क्या तुम्हारा हृदय केवल मांस-पिंड है। उसमें रक्त का संचार नहीं। नहीं, नहीं, ऐसा नहीं प्रियतम···।"[1]

दर्शक, श्यामा को इसके पूर्व रानी मागन्धी के रूप में उदयन के साथ वार्तालाप करते हुए देख चुके हैं। वह गौतम को अच्छी आँखों नहीं देखती। वह उदयन के हृदय को हाला से तृप्त करने'

१. अजातशत्रु : दूसरा अंक दूसरा दृश्य, पृष्ठ ७२ से ७३ तक।

का अनुरोध करती है। उदयन को देवी पद्मावती के विरुद्ध भड़काने के लिए वीणा में सर्प का बच्चा दिखाने का षड्यन्त्र रचती है। कहने का तात्पर्य यह है कि कौशाम्बी-राजभवन में रहने वाली रानी मागन्धी का वार-विलासिनी-श्यामा-रूप और वेश्या श्यामा का तथागत की उपासिका आम्रपाली का दिव्य स्वरूप दर्शकों को अस्वाभाविक न प्रतीत हो, इसके लिए 'प्रसाद' ने उस नारी में संस्कारजन्य भावों की ओर स्थान-स्थान पर संकेत कर दिया है।[1] जब वह एक दीन कन्या थी और बैलों को चारा देते-देते उसके हाथ नहीं थकते थे, तभी उसने जीवन के प्रथम वेग में भगवान् तथागत को पाने का प्रयास किया था। उसकी यह धारणा उसके संस्कारजन्य सद्गुण को स्पष्ट करने को यथेष्ट है। पैतृक दीनता को वह इस सत्कार्य की असफलता का कारण समझती है। अतः राजभवन में उदयन की प्रेयसी बनती है। वहाँ अपने को दीन कन्या समझ मगध-कुमारी पद्मावती से विद्वेष करने लगती है, वहाँ से भी भागकर वेश्या बनजाती है। जीवन की विविध विषमताओं में पतन का कारण वह स्वतः बताती है,—"परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग करना, काल्पनिक सुख-लिप्सा में पड़ना और स्त्री-सुलभ-स्निग्धता सरलता की मात्रा को कम करना ही स्त्री के पतन का कारण है।"

वार-विलासिनी श्यामा को जब हम पश्चात्ताप की ज्वाला

---

१. क. मागन्धी कौशाम्बी के महल में आग लगाकर जल मरी, अब तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठी इसी चरण को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं, राजरानी होकर और क्या मिलना था, केवल सापत्न्य ज्वाला की पीड़ा।—अजातशत्रु, दूसरा अंक पृष्ठ ७१, ७२।

में तपकर गौतम की उपासिका आम्रपाली के रूप में देखते हैं, तो उसकी संस्कारजन्य प्रवृत्ति और गौतम की उदार प्रकृति के कारण हमें उसके जीवन की विषमता नितान्त स्वाभाविक प्रतीत होती है और यह विश्वास हो जाता है कि एक वार-विलासिनी का जीवन भी 'अग्नि से तपे हुए हेम की तरह' शुद्ध हो सकता है।

विजया का चरित्र—जन्मजात संस्कार के कारण भिन्न परिस्थितियों में किसी का कैसा अपकर्ष और उत्कर्ष होता है इसे हम कृषक-कन्यामागन्धी में देख चुके हैं। अब एक समृद्ध बालिका विजया का चरित्र लीजिए। यह बालिका जन्म से समृद्धिशालिनी और संस्कार से विलासिनी है। विलास-तृप्ति के लिए कभी स्कन्दगुप्त की ओर झुकती है और कभी भटार्क की ओर। स्कन्दगुप्त की प्राप्ति में देवसेना को बाधक समझकर उसका वध करने को श्मशान पर ले जाती है। स्कन्दगुप्त से हटकर वह चक्रपालित के 'प्रशस्त वक्ष और उदार मुखमण्डल' से रीझ जाती है, किन्तु उसे भी अप्राप्य समझ भटार्क का वरण करती है। भटार्क के साथ रहती हुई पुरगुप्त के भोग-विलास में सहायक होती है। पतन के पथ पर निरन्तर बढ़ती हुई विलासिनी नारी एक बार शर्वनाग के प्रभाव से अपने चरित्र में उस समय कुछ सुधार करती दिखाई पड़ती है, जब देशवासियों को जगाने के कार्य में वह मातृगुप्त की सहायता करती है; किन्तु संस्कार-जन्य-कालुष्य में यह क्षणिक उज्ज्वलता अचिरात्पूर्व ही विलीन हो जाती है। अब वह पुनः वणिक मनोवृत्ति से प्रेरित हो सुन्दर राजकुमार स्कन्दगुप्त को धन द्वारा क्रय करना चाहती है। तब स्कन्द गुप्त कहता है "विजया ! पिशाची ! हट जा। नहीं जानती। मैंने आजीवन कौमार व्रत की प्रतिज्ञा की है।" इस एक वाक्य से विजया का यथार्थ चरित्र-चित्रण हो जाता है।

अन्त में निराश होकर वह अपने विलास-वासनामय अतृप्त-

जीवन को आत्म-हत्या द्वारा समाप्त कर देती है। विजया के अन्तःकरण में तमोगुण इतना शक्तिशाली है कि किसी सात्विक गुण को किसी परिस्थिति में कभी उद्‌बुद्ध नहीं होने देता। इसी कारण विजया अन्त तक सुधार नहीं कर पाती। इसके प्रतिकूल मागन्धी में संस्कार-जन्य सद्भावनाएँ अनुकूल परिस्थिति में परिपुष्ट होकर आसुरी वृत्तियों का सामना करती हैं, और उन्हें पराजित करके वार-विलासिनी श्यामा को भगवान् तथागत का कृपा-पात्र बना देती हैं। और अन्त में मागन्धी को तथागत से यह आशीर्वाद प्राप्त होता है—

"मागन्धी, तुम्हें शान्ति मिलेगी। जब तक तुम्हारा हृदय उस विशृंखला में था, तभी तक यह विडम्बना थी।"[1]

इस स्थल पर इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि वेश्याओं के प्रति 'प्रसाद' ने एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है। अब तक साहित्य में वार-विलासिनी प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाती थी। नाटकों में भी इसका उपयोग किसी-न-किसी पात्र के विलास या संघर्ष को व्यक्त करने के लिए होता था। 'प्रसाद' ने पहले पहल इसके चरित्रोत्कर्ष को देखा है और उसका उपयोग भी नाटक में शील-निर्माण के रूप में किया है।

इन दोनों नारियों के चरित्र-चित्रण से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि 'प्रसाद' चरित्र-चित्रण में उस नवीन मत को अपनाते हैं जो नाटकीय पात्रों के चरित्र में आरोह और अवरोह के सिद्धान्त का प्रतिपादक है।

गार्हस्थ्य जीवन—साध्वी परिणीता के दो वर्ग होते हैं—सधवा और विधवा। पति-परायणा सधवा निज गृहस्थी से सन्तुष्ट मन, वाणी और कर्म से पति की सेवा में संलग्न हैं, उन्हें संसार से सरोकार नहीं। उनके लिए उनका घर ही स्वर्ग है। इस स्वर्ग

१. अजातशत्रु, तीसरा अंक पृ० १३७।

में यदि पति देवता अकारण रुष्ट भी होते हैं तो उनके कटु आदेशों को सादर शिरोधार्य कर उन्हें सन्तुष्ट करने की चेष्टा ही की जाती है। भगवान् गौतम में श्रद्धा रखने वाली पद्मावती को मारने के लिए उद्यत होकर उदयन कहता है—

उदयन—दुराचारिणी! तेरी छलना का दाव मुझ पर नहीं चला, अब तेरा अन्त है, सावधान।···प्रार्थना कर ले।

पद्मावती—मेरे नाथ! इस जन्म के सर्वस्व, और परजन्म के स्वर्ग! तुम्हीं मेरी गति हो और तुम्हीं मेरे ध्येय हो, जब तुम्हीं समक्ष हो तो प्रार्थना किस की करूँ[1]!"

उदयन पद्मावती का वध करने के लिए खड्ग उठाना चाहता है पर हाथ ही नहीं उठता। तब पद्मावती उदयन से निवेदन करती है—

"मेरे स्वामी। मेरा अपराध क्षमा हो, नसें चढ़ गई होंगी।"

ये भारतीय नारियां एकमात्र पति के मंगल में ही अपना मंगल समझती हैं। उनकी मनोभिलाषा वपुष्टमा के मुख से स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वपुष्टमा उत्तंक से आशीर्वाद मांगती है—'आर्य, आशीर्वाद दीजिए कि पति देवता के कार्य में मैं सहकारिणी रहूँ, और मरण में भी पश्चात्पद न होऊँ।"[2]

इस वर्ग की परिणीता नारियां पति के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त कष्ट को भी अपनी करुणा, उदारता और क्षमा के बल पर सहन कर लेती हैं। वासवी को सपत्नीज अजातशत्रु तथा छलना-द्वारा अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, किन्तु अपनी प्रशंसनीय सहिष्णुता के बल पर वह सभी प्रकार के अत्याचारों को ऐसे धैर्य से सहती रहती है कि अत्याचारियों के अत्याचार का अन्त हो जाता है किन्तु उसका धैर्य अनन्त ही बना रहता है। वासवी की उदारता

१. अजातशत्रु : जयशंकर पृ० ५६—६०।

२. जनमेजय का नागयज्ञ, तीसरा अंक, दूसरा दृश्य पृ० ८२।

से पराभूत छलना और पराजित अजात जब विम्बसार से क्षमा-याचना करने आते हैं, उस समय वासवी मानवी से देवी बन जाती है—

"*छलना*—नाथ ! मुझे निश्चय हुआ कि वह मेरी उद्दंडता थी। वह मेरी कूटचातुरी थी, दम्भ का प्रकोप था !···अब मैं भोग चुकी अब उबारिये।

बिम्बसार—छलना, दंड देना मेरी सामर्थ्य के बाहर था। अब देखूँ कि क्षमा करना भी मेरी सामर्थ्य में है कि नहीं।

वासवी—(प्रवेश करके) आर्यपुत्र ! अब मैंने इसको दंड दे दिया है, यह मातृत्वपद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दंड कम नहीं है, अब आप को क्षमा करना ही होगा।"

बिम्बसार—वासवी ! तुम मानवी हो कि देवी !"

परिणीता वर्ग की साध्वी विधवा नारी वैधव्य की पीड़ा धैर्य-पूर्वक सहन करती हुई अपनी करुणा की धारा से तप्त हृदयों को शान्ति पहुँचाने के लिए ही जीवित रहती है। इस वर्ग में राज्यश्री और मल्लिका की गणना की जा सकती है। चितारूढ़ राज्यश्री देश-सेवा के लिए जीवित रहकर वैधव्य-वेदना सहती है। इस स्थान पर चरित्र-चित्रण-कला में प्रसाद भारतेन्दु जी से एक पग आगे दिखाई पड़ते हैं। इस वैधव्यवेदना की नित्य की ज्वाला में चिता की ज्वाला से अधिक दाहकता है। दिवाकरगुप्त राज्यश्री से कहता है, 'देवी, यह धर्म नहीं, आत्महत्या है। सती होना जल मरने से ही नहीं हो सकता।·····उस करुणानिधान की स्नेहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दुखों में भगवान् के समीप होता है देवी[1] !'

लोकसेवा करते-करते राज्यश्री इतनी निर्मल और उदारहृदया

---

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री, पृ० ६२।

हो जाती है कि वह अपने भाई के हत्यारे को भी इस प्रकार क्षमा-प्रदान करती है, 'आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई। आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय, इसे प्राणदान दो भाई।'[1]

इसी प्रकार मल्लिका भी जगमंगल की कामना से प्रेरित होकर वैधव्य-वेदना सहन करती है। विधवा मल्लिका में उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता आदि गुण चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। जब वह अपने पति-घातक विरुद्धक को युद्धभूमि से उठा लाती है तो वह इसका कुछ और ही आशय समझता है। वह विवाह का प्रस्ताव करता है। तब मल्लिका कहती है, "राजकुमार! तुम्हारा कलंकी जीवन भी बचाना मैंने अपना धर्म समझा और यह मेरी विश्वमैत्री की परीक्षा थी। जब इसमें मैं उत्तीर्ण हो गई तब मुझे अपने पर विश्वास हुआ। विरुद्धक, तुम्हारा रक्त-कलुषित हाथ मैं छू भी नहीं सकती।"[2]

मल्लिका में उदारता, क्षमा, करुणा आदि सद्गुणों के अतिरिक्त विश्वमैत्री की भावना चरम-कोटि तक पहुँची हुई है। उसका हृदय स्वर्ग है, इसे श्यामा-जैसी नारी भी स्वीकार करती है। मल्लिका के विषय में वह स्वतः कहती है, "जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं, वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है। मागन्धी, धिक्कार है तुझे।

'स्वर्ग है नहीं दूसरा और।
सज्जन हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर'।[3]

मल्लिका को विभिन्न पात्रों ने विभिन्न उपाधि दी है। अजातशत्रु उसके कृत्यों को देव-कर्तव्य[4] कहता है। श्यामा उसे 'सम्पूर्ण

१. वही, पृ० ७४।
२. जयशंकरप्रसाद : अजातशत्रु पृ० ११६।
३. वही, तीसरा अंक, तीसरा दृश्य पृ० १२१—१२२।
४. वही, दूसरा अंक पृ० ६५।

मनुष्यता'[1] कहती है। प्रसेनजित 'पतित-पावनी'[2] कहता है। तथ्य तो यह है कि उस पतित-पावनी के सम्पर्क में जो भी आया वह पावन बन गया। यह विधवा नारी इसी कारण चिता पर नहीं जलती कि 'असंख्य दुखी जीवों को उसकी सेवा की आवश्यकता है।' उसको पर-दुख-निवारण में ही आनन्द मिलता है। विश्व-भर उसको अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ता है। असंख्य आहें उसके उद्योग से अट्टहास में परिणत हो जाती हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में एक वर्ग उन नारियों का है जो पति-कामना से पार्वती के सदृश तपस्या में तल्लीन दिखाई पड़ती हैं। उन तपस्विनियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक विभाग में वे नारियाँ हैं, जिनका तप इसी जन्म में सफल होता है। जैसे—अलका, कार्नेलिया और सुवासिनी। दूसरे वर्ग में वे नारियाँ हैं जो मनोनीत पतिदेव के संकट-निवारण तथा आराधन में अपने प्राण समर्पण करती हैं, जैसे—मालविका और कल्याणी। तीसरी कोटि में एक ऐसी नारी है जिसकी तपस्या सफल होते-होते असफल हो जाती है। असफल होने पर भी वह निराश नहीं होती और कहती है, 'इस जीवन के देवता, उस जीवन के प्राप्य।' वह है देवसेना। देवसेना का चरित्र 'प्रसाद' के नाटकों में वह उज्ज्वल रत्न है जिसकी प्रभा कभी मन्द नहीं पड़ेगी। तपस्या के द्वारा प्राप्त प्रणय की सफलता को भी आराध्य के हित के लिए त्याग देने वाली नारी के विषय में क्या कहा जाय। जगमंगल-कारी कार्यों को त्यागकर एकान्त में गार्हस्थ्य सुख की कामना करने वाला स्कन्द देवसेना की ही प्रेरणा से साम्राज्य के उद्धार का संकल्प करता है। अतः बर्बर हूणों से भारतीय जनता की रक्षा करने वाले स्कन्द को भीष्म के सदृश

१. वही, तीसरा अंक पृ० १२१।

२. वही, तीसरा अंक पृ० १२८।

दृढ़ बनाने का श्रेय उस अबला को है, जिसने अपने तप के फल को भी आराध्यदेव के चरणों में अर्पण कर दिया। आचार्य चन्द्रबली पाण्डे का यह कथन यहाँ सत्य प्रतीत होता है कि "प्रसाद के नाटकों में कथासूत्र प्रायः स्त्री के हाथ में रहता है क्योंकि शैव 'प्रसाद' की दृष्टि में वस्तुतः वह 'शक्ति' है।"

पुरुष-पात्रों का विस्तृत चरित्र-चित्रण हम अलग-अलग नाटकों में कर आये हैं, अतएव यहाँ उनके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं। प्रमुख स्त्री-पात्रों के विषय में उपसंहार-रूप में इतना इसलिए निवेदन कर दिया गया कि वास्तव में 'प्रसाद' ने नारी-जीवन को व्यापक दृष्टि से देखा है और स्त्री-चरित्र-निर्माण में 'त्रिया चरित्र' को ही प्रधानता न देकर उसके शील-निर्देशन का प्रयत्न किया है, जिसको स्पष्ट कर देना आवश्यक था।

कथोपकथन

नाटक के मूल-तत्त्वों तथा विविध उपकरणों में कथोपकथन का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। तथ्य तो यह है कि रंगमंच-निर्देशों को यदि नाटक से निकाल दिया जाय तो कथोपकथन के अतिरिक्त अवशिष्ट रहता ही कुछ नहीं। कारण यह है कि नाट्यकार को अभीष्ट-सिद्धि तक पहुँचाने का एकमात्र वाहन संवाद ही तो है। पात्रों के चरित्र-विकास, कथावस्तु के विन्यास और विभिन्न रसों की निष्पत्ति का उत्तम-से-उत्तम साधन संवाद-योजना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

सफल नाटककार का कथोपकथन उस वायुयान के सदृश युगपत् त्रिविध कार्य करता है जो कभी जल पर संतरण, कभी स्थल पर संचरण और कभी आकाश में विचरण करता हुआ दृष्टिगत होता है। जिस कथोपकथन में जितनी अधिक चरित्र-चित्रण की क्षमता, व्यापार-प्रसार की योग्यता और रस-परिपाक

के लिए भावोद्बोधन की तीव्रता होगी वह उतना ही उत्तम माना जायगा। संवाद की उपादेयता पर नाटक की अधिकांश सफलता अवलम्बित है।

संवाद की भाषा—संवाद-योजना को सफल बनाने के विविध उपाय पश्चिमी और पूर्वी आचार्यों ने बताये हैं। अरिस्टाटल ने संवाद-योजना पर विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि संवाद की भाषा असाधारण होते हुए भी स्पष्ट, सुगम होते हुए भी असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण होनी चाहिए। सामान्यतः असाधारण भाषा में स्पष्टता और सरलता नहीं होती और सुगम-सुबोध भाषा में व्यंग्य-चमत्कार नहीं होता। किन्तु नाटकीय संवाद की यही विशेषता है कि उसमें इन दो विरोधी तत्त्वों का समुचित सामंजस्य पाया जाता है। सामान्य जन-समुदाय में प्रचलित भाषा को कलाकार अपनी प्रतिभा के विमान पर बिठाकर कला के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर देता है।

'प्रसाद' की संवाद-योजना क्रमशः कला के उच्च शिखर की ओर उन्मुख होती गई है। 'विशाख' में विनोदी महापिंगल की भाषा एक सामान्य-जन की नित्य-प्रति की बोलचाल की भाषा है, उसमें मुहावरों की भरमार है, जो उपन्यास के सर्वथा उपयुक्त है, किन्तु नाटक के लिए उपयोगी नहीं। कारण यह है कि वह चरित्र-चित्रण में असमर्थ, कथा को गतिशील बनाने में अक्षम और मुख्य रस के परिपाक में बाधक होती है। 'प्रसाद' ने इस प्रकार की सामान्य भाषा का प्रयोग भविष्य के किसी नाटक में नहीं किया। 'स्कन्दगुप्त' का मुद्गल भी विनोदशील है किन्तु उसकी भाषा कलापूर्ण है। उसमें व्यंग का चमत्कार है।[1]

---

१. इस बार की आज्ञा तो पालन करता हूँ, परन्तु, यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, कभी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। (स्कन्दगुप्त पृ० ३७) परन्तु यदि हम ईश्वर होते

पूर्वी आचार्यों ने संवाद-योजना में यह नियम बनाया है कि विद्वान्, ब्राह्मण, राजा तथा उच्च-वर्ग के व्यक्ति संस्कृत तथा अन्य जन प्राकृत-अपभ्रंश में वार्त्तालाप करें। हिन्दी नाट्यकारों में विश्वनाथसिंह तथा हरिश्चन्द्र ने इसी शैली पर व्यक्ति की योग्यता, देशकाल व परिस्थिति की विभिन्नता के अनुसार भाषा-विपर्यय को आवश्यक माना। विश्वनाथसिंह ने बंगाली, मराठी, द्राविड़ आदि अनेक लोक-भाषाओं का समावेश इसी सिद्धान्त पर किया। भारतेन्दु ने विविध बोलियों को ही ग्रहण किया है, अन्य देशी भाषाओं को नहीं। उन्होंने 'हरिश्चन्द्र नाटक' में चाण्डाल के मुख से ठेठ बनारसी बोली का प्रयोग कराया है।[1] 'प्रसाद' ने उपर्युक्त दोनों शैलियों में से एक का भी अनुसरण नहीं किया। उन्होंने अपनी एक नई शैली निकाली। उनके सभी पात्र खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी भाषा में परिवर्तन विषय की गहनता के कारण होता है, प्रान्त की विभिन्नता के कारण नहीं। एक ही पात्र नरदेव न्यायासन पर बैठकर न्याय करते समय व्यवहारोपयोगी सरल भाषा का प्रयोग करता है किन्तु प्रव्रज्याग्रहण के उपरान्त गहन दार्शनिक भाषा बोलता है।[2]

तो इन मनुष्यों की कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं, इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है। मैं तो घबरा जाता, भला वे तो कुछ सुनते हैं! (वही पृ० ३८)

१. "करे हरिजनवा, मोहर की थैली ले आवा है न?" "तो से का काम पूछै से।"

२. एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी। गर्व के उद्वेग में मैंने सोचा था कि इस नदी में अपने बाहुबल से संतरण कर जाऊँ, पर मैं स्वयं बह गया। सत्य है, परमात्मा की सुन्दर शान्त सृष्टि को व्यक्तिगत मानापमान, द्वेष और अहिंसा से किसी अधिकारी को भी आलोड़ित करने का अधिकार नहीं है।

'प्रसाद' ने प्रायः सभी नाटकों में कुछ अंशों तक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि वह पूर्णतया इसका निर्वाह कर सके होते तो एक महान् दोष से सर्वथा मुक्त हो जाते। कई समालोचक कहते हैं कि 'प्रसाद' के सभी पात्रों की भाषा में प्रायः एकवाक्यता एवं एकात्मकता है, विविधता नहीं। कई समालोचकों का तो मत है कि उनके सभी पात्र—कवि से लेकर द्वौवारिक तक—प्रायः कवित्व-मय भाषा बोलते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से उक्त दोनों बातें दोष के अन्तर्गत ही हैं। हमारा मत है कि 'प्रसाद' प्रायः इन दोनों से मुक्त है।

प्रमाण के लिए एक अशिक्षित उद्दण्ड भिक्षु और सुश्रवा नाग के संवाद में 'प्रसाद' की भाषा-योजना देखिए—

भिक्षु—"अरे मूर्ख, भूमि किसकी हुई? यदि तेरे बाप-दादों की थी तो मेरे भी लकड़दादा, नकड़दादा या किसी खपड़दादा की रही होगी।"[1]

इस भाषा से ही भिक्षु की योग्यता का ज्ञान हो जाता है। दूसरे भिक्षु की भाषा देखिए—

"अमिताभ, यह कैसा जनपद है—जहाँ भिक्षुओं को देखकर कोई वन्दना भी नहीं करता, भिक्षा की तो कौन कहे।"[2]

वही भिक्षु धर्म के उत्थान-पतन पर विचार करता हुआ नागरिक से कहता है—

"धर्म भी क्या अधर्म हो जाता है? प्रणय क्या पाप में परिवर्तित होता है? भगवान्, यह तुम्हारे धर्म-राज्य की कैसी व्यवस्था है। क्या धर्म में भी प्रतिघात होता है? उसका भी पतन और उत्थान है?"[3]

इसी प्रकार कृषककन्या चन्द्रलेखा जब अपने वृद्ध पिता सुश्रवा

---

१. विशाख—जयशंकर प्रसाद—प्रथम अंक, पृष्ठ १६
२. वही ,, ,, ६०
३. वही ,, ,, ६०

को युवा भिक्षुओं के द्वारा बन्दी-रूप में देखती है तो भीरुतावश दो दो, तीन-तीन शब्दों के वाक्य इस प्रकार बोलती है—

"जाने दो। क्षमा करो। मुझे मार लो। मेरे बूढ़े पिता को छोड़ दो।" इत्यादि।[1]

किन्तु वही चन्द्रलेखा बन्दिनी-रूप में इस प्रकार चिन्तन कर रही है—"प्रेम का विकास और विपत्ति-परिहास साथ-ही-साथ दोनों उबल पड़े; हृदय में विपत्ति की दारुण ज्वाला जल रही थी, उसी में प्रणय सुधाकर ने शीतलता की वर्षा की, मरुभूमि लहलहा उठी।"[2] इन उद्धरणों में कहाँ हैं उपर्युक्त दोष!

संवाद, व्यापार और भाषण—'राज्यश्री' और 'ध्रुवस्वामिनी' में 'प्रसाद' की धारणा सम्भवतः इनकी अभिनेयता की ओर सदा बनी रही। प्रमाण यह है कि इन दोनों नाटकों की संवाद-योजना में शब्दों का चयन, भाषा का प्रवाह, भाषण का लाघव, जनता की योग्यता और नाटक के व्यापार पर आश्रित है। इसके प्रतिकूल 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में क्लिष्ट शब्द, दीर्घ वाक्यावली, बृहद्-भाषण कहीं-कहीं इस रूप में आ जाते हैं कि उनमें आमूल परिवर्तन बिना अभिनय सफल हो ही नहीं सकता।

नाटक में संवाद और व्यापार का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कहीं व्यापार संवाद के लिए नियोजित होता है और कहीं संवाद व्यापार-प्रसार के लिए प्रयुक्त। दोनों साथ-साथ मिलकर कभी रस-निष्पत्ति की ओर कभी चरित्र-चित्रण की ओर दर्शकों को ले जाते हैं। इसी कारण संवाद का महत्त्व है।

हम पूर्व कह आए हैं कि संवाद के द्वारा युगपत् त्रिविध प्रयोजन की सिद्धि होती है। जिस संवादमें वार्त्तालाप करने वालों को उत्तर पाने की उत्कंठा बनी रहती है; वही संवाद रोचक होकर

१. विशाख—जयशंकर प्रसाद—प्रथम अंक, पृष्ठ २०
२. वही " " " ३६

त्रिविध प्रयोजन की पूर्ति करता है जिस संवाद में लम्बे भाषण होते हैं और व्यापार का अभाव रहता है, वह अप्रिय और असफल होता है। संवाद में जहाँ एक ओर वाणी विचार की प्रेरणा से मस्तिष्क को पुष्ट करती है, वहाँ दूसरी ओर हाव-भाव तथा मुख-मुद्राओं की सहायता से हृद्गत कोमल भावों को उद्बुद्ध करती है। विचार की प्रौढ़ता से चरित्र-विकास का अभिनव स्वरूप सामने आता है सो भावों की उद्बुद्धता से रसास्वादन होता है।

कथोपकथन में शास्त्र-चर्चा एवं लम्बी वक्तृता—धर्म-ग्रन्थों में कथोपकथन द्वारा तत्त्व-निरूपण एवं आत्मचिन्तन की परम्परा अति प्राचीन है। हिन्दी के प्राचीन नाटकों में भी यह शैली प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। विश्वनाथसिंह के नाटक में इसका हम विस्तारपूर्वक विवेचन कर आए हैं। 'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटकों में तत्त्व-निरूपण और आत्म-चिन्तन की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, किन्तु निरूपण-शैली प्राचीन पद्धतियों से सर्वथा भिन्न है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' के तीसरे अंक के प्रथम दृश्य में, वेदव्यास और जनमेजय का कथोपकथन, प्रारम्भ में धार्मिक ग्रन्थों के तत्त्व-निरूपण की शैली की छाया प्रतीत होता है, किन्तु आगे घटनाओं का क्रम इस कौशल से सजाया जाता है कि धर्म-ग्रन्थ की संवाद-शैली विलुप्त हो जाती है और नाटकीय शैली प्रकट हो जाती है। जहाँ जनमेजय विविध प्रश्न करते हैं और व्यास उनका उत्तर देते हैं वहाँ प्रश्न एक-एक पंक्ति के हैं जिनका उत्तर रोचक ढंग से दिया जाता है। प्रश्न ये हैं—(१) भगवान् बादरायण के रहते हुए भीषण काण्ड क्योंकर हुआ? (२) मनुष्य का कोई दोष नहीं, वह निष्पाप है। (३) तो प्रभु, मैं यज्ञ न करूँ! इनके उत्तर में व्यासजी तत्त्व-निरूपण करते हैं। जनमेजय उन दार्शनिक तत्त्वों को श्रवणकर प्रस्थान करता है। तुरन्त ही शीला, सोमश्रवा, आस्तीक तथा मणिमाला का प्रवेश होता है।

प्रकृति के उस एकान्त प्रांगण आश्रम में आस्तिक एक लम्बी वक्तृता देता है—"बुला लो, बुला लो, उस वसन्त को, उस जंगली वसन्त को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूल में मकरन्द सींचता है। उसे अपने हृदय में बुला लो। जो पतझड़ करके नई कोंपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रान्त जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल के सदृश सस्नेह, सकरुण आवाहन करता है, जिसमें विश्व-भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उतपन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है। उस वसन्त को, उस गई हुई निधि को, लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले। विश्व-मात्र एक कुसुमस्तवक सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग गूँज उठे, विश्व-भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय।" तदुपरान्त समाधि से उठकर व्यास नवागन्तुकों से वार्तालाप प्रारम्भ करते हैं। इस वार्तालाप में तत्त्वचिंतन की अपेक्षा कर्तव्य पालन पर बल दिया जाता है। शीला और मणिमाला को सबका कल्याण करने के लिए शुद्ध-बुद्धि की शरण में जाने का उपदेश मिलता है। इस प्रकार संवाद के अन्तर्गत प्रकृति-वर्णन, उसके द्वारा तत्त्व-निरूपण की व्यवस्था और इस व्यवस्था के आधार पर उस कर्तव्य-कर्म की प्रेरणा की गई है, जिस नाटक के कार्य से सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार संवाद में प्राकृतिक वर्णन, तत्त्वनिरूपण, कर्तव्य-पालन, तीनों का एकीकरण एक स्थान पर उपलब्ध होता है। 'प्रसाद' से पूर्व ऐसी संवाद-योजना कदाचित् कहीं मिले।

इसी प्रकार 'अजात शत्रु' के दूसरे अंक, छठे दृश्य में भूतपूर्व सम्राट् बिम्बसार और सम्राज्ञी मल्लिका का वार्तालाप दार्शनिक

मीमांसा से प्रारम्भ होता है। जिस समय पूर्ण शान्तिमय वातावरण में बवंडर का प्रसंग छिड़ता है, बवंडर के सदृश 'छलना' का प्रवेश होता है और नाटक की स्थिर कथा गतिवती बनने लगती है। ऐसी दशा में दार्शनिक मीमांसा और नाटकीय मुख्य कथा का संगम मनोहारी बन गया है। ज्यों ही दार्शनिक मीमांसा के कारण कथा-प्रवाह में शिथिलता दृष्टिगत होने लगती है, 'प्रसाद' ऐसे वेग के साथ एक नया प्रसंग उपस्थित कर देते हैं, कि दर्शक शैथिल्य की नीरसता से सद्यः निकलकर चमत्कृत हो उठता है। एक क्षण पूर्व दूरागत नीरसता विस्मृति के आवरण में विलीन हो जाती है ।

'प्रसाद' सभी प्रकार के कथन को अलंकृत करने के पक्ष में हैं, चाहे वह यथार्थवाद और स्वाभाविकता से पूर्ण बद्ध भले ही न हों। यही कारण है कि उनकी संवाद-योजना में जितना कवित्व है, उतना वाग्वैदग्ध्य नहीं; जितनी गम्भीरता है, उतनी तरलता नहीं, जितना चमत्कार है, उतनी स्वाभाविकता नहीं; जितनी भावात्मकता है, उतनी सम्भाषण-पटुता और क्षिप्रता नहीं। संवाद में वह उक्ति-वैचित्र्य को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना अलंकारों को।

इनके प्रायः सभी पात्र एक-दूसरे की सम्पूर्ण वक्तृता को धैर्य-सहित अन्त तक सुनने का प्रयास करते हैं। उनमें प्रश्नों का उत्तर देने और प्रश्न करने की व्यग्रता प्रायः होती ही नहीं। कुछ सीमा तक यह धैर्य प्रशंसनीय हो सकता है किन्तु जहां लम्बे-लम्बे भाषणों का तांता लग जाता है, वहाँ दर्शक और पाठक का धैर्य, पात्रों का धैर्य देखकर भागने का प्रयास करता है। 'अजातशत्रु' में कारायण और शक्तिमती का विवाद इसका प्रमाण है। एक स्थान पर तो कारायण न्यूनाधिक दस मिनट तक निरन्तर वक्तृता झाड़ता ही जाता है, शक्तिमती को बोलने का अवसर ही नहीं देता। ऐसे

स्थल नाटकों में दोष उत्पन्न कर देते हैं। जिस प्रकार शास्त्र-वर्णन आत्मचिन्तन, तथा दार्शनिक-विवेचन व्यापाररहित होने के कारण कहीं-कहीं सर्वथा अनुपयुक्त बन जाते हैं, उसी प्रकार दीर्घ भाषण उत्तर-प्रत्युत्तर की क्षिप्रता के अभाववश, रस के अवरोधक हो जाते हैं।

कहा जाता है कि 'प्रसाद' ने संवाद-सम्बन्धी उपर्युक्त त्रुटियों को स्वीकार किया और अपने अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' को इस दोष से सवथा मुक्त रखा। अतः कथोपकथन की स्वाभाविकता के कारण यह नाटक अभिनय के सर्वथा उपयुक्त बन गया।

स्वगतोक्ति—'प्रसाद' के नाटकों में स्वगतोक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। स्वगतोक्ति की व्यवस्था प्राचीन नाटकों में प्रायः मिलती है, किन्तु आधुनिक नाटकों में इसको अनावश्यक ही नहीं, दोष समझा जाता है। यह दोष भी कथोपकथन के अन्तर्गत ही मानना चाहिए, क्योंकि स्वगतोक्ति को सुनकर कोई-न-कोई पात्र रंगमंच पर आ जाता है और संवाद प्रारम्भ हो जाता है। अतः स्वगतोक्ति स्वतः में पूर्ण नहीं वह तो किसी व्यक्ति की अवस्था की सूचक होती है, अथवा किसी भावी घटना की भूमिका-मात्र, या किसी पात्र का चरित्र प्रगट करने के लिए होती है। जो स्वगतोक्तियाँ सूचना-मात्र के लिए प्रयुक्त होती हैं वे अनिवार्य रूप से नीरस और नाट्यकला के प्रतिकूल मानी जाती हैं। जब नाटककार किसी ज्ञातव्य-विषय की क्रमानुसार सूचना संवाद द्वारा देता है तो उसकी प्रक्रिया स्वाभाविक होने के कारण सामाजिक को रस की ओर ले जाती है, किन्तु जब वही घटना स्वगतोक्ति के रूप में सहसा प्रगट करने की चेष्टा की जाती है तब नाटककार वर्णनात्मक शैली का अनुसरण करने से नाट्यकला से दूर हटता-हटता उपन्यास-कला के समीप जा पहुँचता है।

'प्रसाद' के स्वगत-भाषण पात्र की अवस्था को प्रकट करते हुए भावी घटना की भूमिका भी प्रस्तुत करते हैं। 'विशाख' नाटक में नायक सर्वप्रथम एक शिलाखण्ड पर बैठा यौवन में प्राप्त असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओं के थपेड़े खाता हुआ अपने हृद्गतभावों को स्वगतोक्ति के रूप में प्रकट करता है। इतने में चन्द्रलेखा आ जाती है। इस प्रकार सामाजिक को स्वगतोक्ति और चन्द्रलेखा के आगमन के सहारे विशाख के गुरुकुल-जीवन के साथ-साथ भावी घटना की भूमिका का भी परिचय सद्यः प्राप्त होता है। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में उत्तंक गुरुकुल के उपवन में अग्निशाला की परिचर्या के विषय में स्वगत-भाषण करता है, इतने में कमिनी आ जाती है। दोनों का वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता है।[1] यहाँ स्वगत-भाषण उत्तंक की अतीत और वर्तमान अवस्था को प्रकट करता है। स्कन्दगुप्त नाटक में कमला की कुटी में स्कन्दगुप्त अपनी दुर्दशा पर विचार करता हुआ ईश्वर को स्मरण करता है। इसी समय शर्वनाग आ जाता है। वह भी स्वगत-भाषण करके प्रस्थान करता है और स्कन्दगुप्त पुनः पतनोन्मुख-आर्य साम्राज्य के अपकर्ष के कारणों पर विचार करता हुआ स्वगत-भाषण करता है। इस प्रकार तीन-तीन स्वगत-भाषण एक स्थल पर दिखाई पड़ते हैं। उद्देश्य केवल आर्य-साम्राज्य की दुर्दशा का श्रोता को ज्ञान कराना है।

स्वगतोक्ति का तीसरा रूप उन स्थलों पर पाया जाता है जहाँ कोई पात्र रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्रों के सम्मुख खड़ा होकर हृद्गत भावों को स्वगत-रूप में और व्यवहारोपयोगी बातों को प्रकट रूप में अभिव्यक्त करता है चन्द्रगुप्त नाटक में मालविका[2]

---

१. जनमेजय का नागयज्ञ—पहला अंक, दूसरा दृश्य, पृ० १८।

२. मालविका—(स्वगत) क्या? असत्य बोलना होगा। चन्द्रगुप्त के लिए सब कुछ करूँगी (प्रगट) अच्छा।

और चाणक्य के वार्तालाप से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ स्वगतोक्ति मालविका के हृदय में द्वन्द्व मचाने वाले चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम को प्रकट करती हैं। इसका उद्देश्य है मालविका के चरित्र की एक झाँकी सामाजिक को दिखाना।

स्वगतोक्ति का यह तृतीय रूप किसी प्रकार भी नाटक के लिए उपयोगी नहीं। यह कैसे सम्भव है कि रंगमंच पर एक पात्र का वक्तव्य श्रोता तो सुन लें किन्तु पार्श्ववर्त्ती पात्र उसे न सुनें, क्योंकि भरत मुनि का शाप है। संस्कृत नाटकों की यह जनान्तिक शैली आज नितान्त असंगत मानी जाती है। सफल आधुनिक नाटककार इसका उपयोग करना अनुचित समझता है।

स्वगतोक्ति के शेष दो प्रकार भी अभिनय की दृष्टि से अनुपयोगी हैं। अतीत घटना की सूचना और निकट-भविष्य की सम्भावना के उद्देश्य से जिन स्वगतोक्तियों का प्रयोग होता है वे प्राचीन नाटकों के प्रवेशक और विष्कम्भक का काम करती हैं।

नाटक का विधान यह है कि पात्र अपना तथा अपने चरित्र का परिचय अपने व्यापारों से करायें न कि केवल वाणी से। दर्शक नाट्यशाला में श्रवण का उपयोग उतना ही करना चाहता है जितना अनिवार्य हो। जिस विषय का ज्ञान चक्षु द्वारा सम्भव है उसको श्रवण द्वारा सूचना-मात्र के रूप में पाकर वह सन्तुष्ट नहीं होता। अतः जो स्वगतोक्तियाँ प्रवेशक और विष्कम्भक का कार्य करती हैं वे भी सराहनीय नहीं। 'प्रसाद' ने जहाँ सूचना के लिए स्वगतोक्ति के स्थान पर संवाद की योजना की है वह स्थल अत्यन्त रम्य बन गया है। कौशाम्बी-राजपरिवार की प्राहस्थ्य-परिस्थिति जीवक वैद्य और वसन्तक विदूषक के वार्तालाप द्वारा अनुक्रम से पाठकों के सम्मुख आती है जो अभिनय की दृष्टि से बड़ी मनोरम प्रतीत होती है।

पात्रों का जो चरित्र-विकास उनके स्वाभाविक कार्य और

पारस्परिक संवाद द्वारा क्रमशः अभिव्यक्त होना चाहिए, वही जब नाट्यकार स्वगतोक्ति के द्वारा पूर्वापर की संगति न रखते हुए कारण-कार्य की शैली के बिना ही सद्यः अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करने लगता है तो वह सफल नहीं होता, क्योंकि इस कृत्रिम परिपाक के कारण दर्शकों को रसानुभूति नहीं हो पाती।

यद्यपि सिद्धान्त-रूप से प्रसाद स्वगत-भाषणों को अस्वाभाविक मानकर उन पर व्यंग्य[1] करते हैं, किन्तु अन्य साधनों के अभाव में कहीं-कहीं अन्ततोगत्वा इसी की शरण में जाते हैं। यह तो निर्विवाद है कि स्वगत-भाषण का प्रयोग कलाकार की विवशता का सूचक है। जब उसकी कलात्मकता पराजित होकर हाथ टेक देती है तो स्वगत-भाषण उसे अपनी शरण में रखने को हाथ बढ़ाता है। अतः जो नाटककार स्वगतोक्ति की शरण-भूमि पर ही उतर आता है वह कलालोक से दूर हो जाता है। उसका प्रमाण यह है कि स्वगतोक्तियों के रूप में लम्बे भाषण वास्तविक जगत में स्वाभाविक रूप से कहीं नहीं सुने जाते। विक्षुब्ध और व्यग्र व्यक्ति भले चिन्ताकुल दशा में निःश्वास लेते, आहें भरते दृष्टिगोचर होता हो। ऐसे विक्षिप्त व्यक्ति की वाणी से अकस्मात् दो-चार शब्द भी फूट पड़ते हैं, किन्तु लम्बे भाषण की सामर्थ्य उसमें नहीं हुआ करती। हाँ, भावोद्वेलित व्यक्ति एकान्त-गीत गाता हुआ प्रायः देखा जाता है। 'प्रसाद' के एकान्त-गीत स्वगत-रूप में समयोपयोगी और स्वाभाविक हैं।

नृत्य-गीत

प्रसाद जी ने अपने प्रथम नाटक 'सज्जन' में भारतेन्दु जी की

---

१. "जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, दर्शक-समाज वा रंगमंच सुन लेता है, पर पास का खड़ा पात्र नहीं सुन सकता, उसको भरत बाबा की शपथ है।"

विशाख प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य, पृष्ठ २२

शैली के अनुसार गीतों की रचना की। इसके उपरान्त वह किसी अभिनव नाट्य-कला का अनुसन्धान करने में दत्तचित्त हुए। उस समय हिन्दी में एक ओर तो भारतेन्दु-शैली पर प्रचुर गीत-साहित्य प्रस्तुत हो रहा था, दूसरी ओर पारसी रंगमंच के अटपटे गानों की धूम मची थी। 'प्रसाद' के चिन्तनशील मन को ये दोनों पद्धतियाँ सन्तुष्ट न कर सकीं। उनकी व्यापक दृष्टि से बंगाल का नूतन नाट्य-साहित्य भी अदृश्य कैसे रहता। बंगीय रंगमंच पर गिरीशचन्द्र घोष, रवीन्द्रनाथ प्रभृति नाट्यकारों के नवीन गीति-नाट्य सफलतापूर्वक अभिनीत हो रहे थे। रवीन्द्रनाथ के 'वाल्मीकि-प्रतिभा', 'काल मृगया', 'मायार खेला' नामक गीति-नाट्य एक नये रूप में अपनी छटा दिखा रहे थे। उनका 'चित्रा' (सं० १९४६ वि०) नामक गीति-नाट्य चतुर्दिक् ख्याति प्राप्त कर रहा था।

अनेक साहित्यिकों के सदृश 'प्रसाद' को भी आधुनिक हिन्दी-साहित्य में गीति-नाट्य का अभाव खटक रहा था। लोचनप्रसाद पांडेय ने बंगला के नूतन गीतों की शैली पर संवत् १९६७ वि० में कई चतुर्दशपदियों की रचना की थी। हिन्दी के साहित्यकारों में इस नवीन काव्य पर विविध टीका-टिप्पणियाँ हो रही थीं। 'प्रसाद' ने 'इन्दु' पत्रिका में चतुर्दशपदियों का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था।

इन्हीं दिनों शारदीय अवकाश में बंगला के प्रसिद्ध नाटककार और अभिनेता गिरीशचन्द्र घोष, जिन्होंने अतुकान्त छन्द में बीसियों गीति-नाट्य लिखे हैं, काशी आये हुए थे। 'प्रसाद' गीति-नाट्य-कला की खोज में उनसे भी मिले। उनसे बंगला के गीति-नाट्यों के छन्द-विधान के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की। गिरीश बाबू का उत्तर गोल-मोल-सा था—"मैं किसी विशेष छन्द का प्रयोग नहीं करता, जब जो चरण जैसा-जैसा जुटता है वैसा-वैसा लिख देता हूँ।"

इस उत्तर से 'प्रसाद' को शान्ति कहाँ मिलने वाली थी। वह गीतों के नव-विधान के अनुसन्धान में पुनः तल्लीन हुए और 'करुणालय' नामक गीति-नाट्य में २१ मात्रा के अड़िल्ल छन्द का प्रयोग प्रारम्भ किया।

करुणालय

'करुणालय' के गीतों से भी वह सन्तुष्ट न हुए। 'करुणालय' की रचना के उपरान्त दो वर्ष के अन्तर्गत 'राज्यश्री' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। 'प्रसाद' को स्वतः यह नाटक इतना अप्रिय प्रतीत हुआ कि इसके द्वितीय संस्करण में उन्होंने गीतों में आमूल परिवर्तन कर दिया। इससे स्वतः सिद्ध है कि प्रथम संस्करण के गीत 'प्रसाद' की अभिरुचि के अनुकूल न बन सके।

विशाख

'राज्यश्री' के छः वर्ष उपरान्त 'विशाख' की रचना हुई। इस नाटक में २५ कविताएँ हैं किन्तु अन्त में केवल १५ गीतों की स्वरलिपि विद्यमान है। इससे यह प्रमाणित होता है कि 'प्रसाद' रंगमंच पर गेय-रूप में इन्हीं का उपयोग करना चाहते थे। इन १५ गीतों में निम्नलिखित केवल दो ही गीत 'प्रसाद' की वास्तविक गीति-काव्य-शैली के परिचायक हैं—(१) आज मधु पी ले यौवन वसन्त खिला।[1] (२) नदी नीर से भरी।[2]

शेष गीतों की शैली प्राचीन ढंग की है। केवल इन्हीं दोनों गीतों में लाक्षणिक प्रयोग की नवीनता है।

उपर्युक्त दोनों गीत नाटक की पात्रगत विशेषताओं से संयुक्त

१. विशाख—जयशंकर प्रसाद—पंचम संस्करण; संवत् २००४ वि०, पृष्ठ २६।

२. विशाख—जयशंकर प्रसाद—पंचम संस्करण, संवत् २००४ वि०, पृष्ठ ६६।

होने के कारण ससंदर्भ हैं और स्वतन्त्र रूप से गाने योग्य हैं। इनमें 'प्रसाद' के छायावाद का आभास मिलता है। 'विशाख' के शेष १३ गीत पद्यात्मक हैं, इनमें गेयत्व है किन्तु काव्यत्व नहीं। अतः इन्हें गीति-काव्य[1] नहीं कह सकते।

अजातशत्रु

'अजातशत्रु' के बारह गीतों में दो पुरुषों द्वारा गाए जाते हैं। एक गान समवेत स्वर में भिक्षुगण गाते हैं और दूसरा नेपथ्य से गाया जाता है। शेष दस गीतों में सात मागन्धी गाती है, एक पद्मावती, एक बाजरा और एक नर्तकियाँ। बारह गीतों में मागन्धी के सात गीत इस बात के प्रमाण हैं कि 'प्रसाद' के मस्तिष्क में किसी एक पात्र को संगीत के लिए निर्द्धारित करने की योजना अवश्य रही होगी। मागन्धी (श्यामा) के गीतों में एक प्रकार का तारतम्य भी विद्यमान है। उसके गीत उसके जीवन के पतनोत्थान के परिचायक हैं। केवल गीतों के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह जीवन की किस स्थिति में गायन कर रही है। प्रमाण के लिए मागन्धी का प्रथम गीत देखिए—

"अली ने क्यों भला अवहेला की।
चम्पक कली खिली सौरभ से उषा मनोहर वेला की।
विरह दिवस, मन बहलाने को मलयज से फिर खेला की।"

इस गीत के समय खिली चम्पक-कली के सदृश मागन्धी, गौतम से की गई अवहेलना को स्मरण कर रही है। वह मलयज के रूप में महाराज उदयन के साथ मनोविनोद के निमित्त ही क्रीड़ा कर रही है। ऐसी काल्पनिक सुख-लिप्सा में व्यस्त रहने वाली मागन्धी, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में व्यर्थ महत्त्व का ढोंग रचने के कारण मन को संयत न कर सकी। अन्त में

---

१. गीति-काव्य के सम्बन्ध में अन्त में विचार किया जायगा।

भगवान् बुद्ध की शरणागत होने के लिए अपने पूर्व-जीवन पर पश्चात्ताप करने लगी। ठोकरें खाते-खाते उसके मन का गर्व विलीन हो गया। उसका अन्तिम गीत उसके विगत-जीवन के समग्र इतिहास का इस प्रकार सूचक है—[1]

"पलट गए दिन सनेह वाले, नहीं नशा, अब रही न गर्मी।
न नींद सुख की, न रंग-रलियाँ, न सेज उजला बिछाय सोई॥
बनी न कुछ इस चपल चित्त की, अखर गया झूठ गर्व जो था।
असीम चिन्ता चिता रही है, विटप कँटीले लगाय रोई॥
क्षणिक वेदना अनन्त सुख बन, समझ लिया शून्य में बसेरा।
पवन पकड़ कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई॥"

उदयन से क्रीड़ा करने वाली मागन्धी की यह स्थिति सहसा नहीं हो गई। इसके पूर्व उसके संस्कृत मन की दशा एक गीत में प्रकट हो चुकी है। तपस्या की अग्नि में उसका मन शुद्ध हो चुका है। जब मागन्धी आम्र-कानन में भगवान् बुद्ध के आगमन की प्रतीक्षा करते दिखाई पड़ती है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका निराश्रित हृदय भगवान् बुद्ध के अतिरिक्त और किसी सांसारिक व्यक्ति के आश्रय में जाने को लालायित नहीं। वारवधू सा जीवन व्यतीत करने वाली एक नारकीय नारी के हृदय में इतना महान् परिवर्तन सत्संगति के बिना सहसा नहीं हो सकता। मागन्धी इसके पूर्व मल्लिका के संसर्ग में आने पर करुणामय सज्जन-हृदय को स्वर्ग मान चुकी थी। 'प्रसाद' ने उसकी इस मनःस्थिति को इस गीत में प्रकट कर दिया है—

"स्वर्ग है नहीं दूसरा और।[2]

---

१. अजातशत्रु—जयशंकर प्रसाद, १३वाँ संस्करण, सं० २००८ वि०, पृष्ठ १३६।

२. अजातशत्रु—जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १२२।

सज्जन-हृदय परम करुणामय यही एक है ठौर ।।"

इससे यह प्रमाणित होता है कि 'अजातशत्रु' में गीतों की योजना गायन के चरित्र-विकास के आधार पर निर्मित है।

जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक में केवल ६ गीत हैं, जिनमें दो स्वातन्त्र्य-युद्ध का आह्वान करते हैं और दो नेपथ्यगीत के रूप में हैं। शेष दो सुरमा और सखियों के हैं। इन गीतों में मनसा और सैनिकों का ओज-पूर्ण गीत राष्ट्रीय भावना का उद्बोधक है। गीतिकाव्य की दृष्टि से इस नाटक का कोई भी गीत उच्च कोटि का नहीं। इस नाटक में गीतों की अपेक्षा गद्य में काव्यत्व अधिक है।

कामना

'कामना' के गीत कोमलता में अद्वितीय हैं। जिस नाटक में सुकुमार मनोवृत्तियाँ ही पात्र बन जायँ, उसमें गीतों की सुकुमारता के विषय में क्या कहा जाय। इस नाटक के एक गीत में ऐसी विशेषता है जो 'प्रसाद' के किसी अन्य नाटक में उपलब्ध नहीं। इसमें वह गीत[1] ऐसा है जिसकी एक पंक्ति कामना गाती है और दूसरी एक सखी और तीसरी दूसरी सखी। 'प्रसाद' के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में इस प्रकार कई गायकों द्वारा आंशिक रूप में गाया जाने वाला यही एक गान है। पारसी रंगमंचों पर यह शैली किसी समय अत्यन्त प्रचलित थी। अन्तर यह है कि पारसी रंग-मंचीय गीतों की हृदयहीन भावुकता और कलारहित मादकता के स्थान पर इसमें हृदय की महानता और कला की सुकुमारता पाई जाती है।

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त

'स्कन्दगुप्त' में तेरह गीत हैं जिनमें ६ की गायक देवसेना है

---

१. कामना—जयशंकर प्रसाद—अंक ३, दृश्य २, पृष्ठ ७४।

और एक गीत उसकी सखी उसी के प्रति गा रही है। एक गीत विजया का है और दो हैं नर्त्तकियों के। पुरुष पात्रों में केवल एक पात्र है कवि मातृगुप्त, जो गीत सुनाता है। एक गीत नेपथ्य से सुनाई पड़ता है।

'चन्द्रगुप्त' में भी तेरह गीत हैं। इनमें से भी ग्यारह गीत स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। एक नेपथ्य से सुनाई पड़ता है और एक गीत राक्षस गाता है। स्त्रियों के ११ गीतों में ३ सुवासिनी, ३ अलका, ३ मालविका, १ कल्याणी और १ कार्नेलिया गाती है। भाव की दृष्टि से दो राष्ट्रीय गान हैं और एक अतीत स्मृति का। शेष आठ शृङ्गार, प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी हैं।

राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी

'राज्यश्री' में सात गीत हैं जिनमें चार की गायक सुरमा है, एक की राज्यश्री। एक नेपथ्यगान है और अन्तिम गान भरतवाक्य सदृश समवेत-स्वर में गाया जाता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में चार गीत हैं—दो का गान मन्दाकिनी करती है, एक कोमा गाती है और एक गान नर्त्तकियों द्वारा होता है।

उपर्युक्त तालिका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' ने प्रायः प्रत्येक नाटक में नृत्य-गीत को स्थान दिया है। यद्यपि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कोई नर्त्तकी रंगमंच पर नृत्य नहीं दिखलाती तथापि 'प्रसाद' ने कई बार संकेत अवश्य किया है कि सुवासिनी व्यावसायिक अभिनेत्री[1] है वह नंदकी रंगशाला में अभिनेत्री[2] का व्यवसाय करती है। अतः 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी नर्त्तकी की

---

१. (क) सुवासिनी अभिनेत्री हो गई—सम्भवतः पेट की ज्वाला से—चन्द्रगुप्त नाटक, प्रथम अंक, पृष्ठ १७।

२. (ख) वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ। चन्द्रगुप्त नाटक, प्रथम अंक, पृष्ठ १८।

योजना स्वीकार करनी ही होगी। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' अपने नाटकों के वस्तु-विन्यास में नृत्य-गीत को महत्त्व देते हैं। अब विचारणीय यह है कि नृत्य के संकेत और गीत के निर्माण में उनकी निश्चित योजना क्या है।

नृत्य

प्रसाद के नाटकों में दो प्रकार की नर्त्तकियाँ हैं—राजा के विलास-भवन में मनोरंजन करने वाली रमणियाँ और राजकुमारी की सखियाँ। विलास-भवन की नर्त्तकियाँ नृत्य-गीत द्वारा आगामी घटना के अनुकूल वातावरण का निर्माण एवं नृत्य का आदेश देने वाले व्यक्ति का चरित्र-चित्रण करती हैं। नर्त्तकियाँ अथवा सखियाँ वर्तमान वातावरण को मादक और उत्तेजक बनाकर मुख्य पात्र के हृदय में उत्पन्न प्रेमांकुर को शक्ति देती हैं। तात्पर्य यह है[1] कि नृत्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं प्रत्युत् चरित्र-विकास और वातावरण-निर्माण भी है।

नर्त्तकियों के गीत

अन्य गीतों के सदृश नर्त्तकियों के गीतों का कला-पक्ष भी काल-क्रमानुसार विकसित होता गया है। 'विशाख' और 'स्कन्द-गुप्त' की नर्त्तकियों के गीत एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं कि वे एक नाट्यकार की रचना प्रतीत होते ही नहीं। 'विशाख' का नर्त्तकियों का गीत स्वच्छन्द छन्द में प्रेम की कसक को इस प्रकार प्रकट

---

१. 'अजातशत्रु' नाटक में जब मागन्धी को उदयन विस्मृत कर रहा था और मागन्धी उनका हाथ पकड़कर वार्त्तालाप करने जा रही थी, नर्त्तकियाँ रंगमंच पर इस प्रकार गाती आती हैं—

'प्यारे, निर्मोही होकर मत हमको भूलना रे।' अजातशत्रु, प्रथम अंक, पृष्ठ ४३।

करता है[1]—

'हिये में चुभ गई,
हाँ ऐसी मधुर मुसकान।
लूट लिया मन, ऐसा चलाया नैन का तीर-कमान।'

इस गान से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' छन्द की प्राचीन परिपाटी त्यागकर एक नवीन शैली के अन्वेषण में संलग्न हैं। 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' में उन्हें नर्तकियों के योग्य गीत का स्वरूप प्राप्त-सा हो गया है। इन गीतों में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य में चमत्कार है। लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता है। प्रमाण के लिए भटार्क के शिविर में नर्त्तकी का गीत देखिए। इस दृश्य का आशय है भटार्क को उसकी भूलें बताकर सत्पथ पर लाना। यह गीत भटार्क के सुप्त-चेतना-सागर को जागृत करने के निमित्त निर्मित किया गया है[2]—

"भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी
भूलकर भी जब स्मरण होता कभी।
मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।"

नेपथ्य-गीत

नर्त्तकियों के अतिरिक्त 'प्रसाद' ने नेपथ्य-गीत को भी नाटकों में स्थान दिया है। देखना यह है कि नाट्यकार नेपथ्य-गान की योजना क्यों बनाता है? नाटक में इसकी क्या उपयोगिता है? यदि गान की ही आवश्यकता है तो 'प्रसाद' रंगमंच पर उपस्थित किसी पात्र को ही गायक क्यों न बना देते?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व हमें यह देख लेना चाहिए कि

---

१. विशाख—जयशंकर प्रसाद, अंक २, पृष्ठ ४५।

२. स्कन्दगुप्त—जयशंकर प्रसाद, अंक ४, पृष्ठ १२०।

नेपथ्य-गान की आवश्यकता नाटक में कहाँ प्रतीत होती है। जब रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के द्वारा किसी विशेष तथ्य का उद्-घाटन सम्भव नहीं होता, तब नेपथ्य का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। 'प्रसाद' को भी इस आपद्धर्म का सहारा कहीं-कहीं लेना पड़ा है। यहाँ उनके कतिपय नेपथ्य-गीतों का अवलम्ब ले-कर हम उनके आपद्धर्म के निर्वाह पर विचार करेंगे।

शत्रुओं से घिरी हुई राज्यश्री जीवन का अन्त करने जा रही है। उस निरवलम्ब अबला को इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं सूझता। उसके रक्षक दिवाकरमित्र को सहसा रंगमंच पर न लाकर 'प्रसाद' उसके दूरागत गीत को नेपथ्य-गान[1] के रूप में उपस्थित करते हैं। इससे चार प्रयोजन सिद्ध होते हैं—(१) नेपथ्य-गान से राज्यश्री को आश्वासन मिल जाता है, (२) दस्युदल किसी अनिष्ट की आशंका से अपने कलुषित कर्म से विरत होने का प्रयास प्रारम्भ कर देता है, (३) नाट्यकार इस दोष से बच जाता है कि पूर्व-सूचना बिना सहसा एक व्यक्ति रंगमंच पर आ जाता है, (४) दिवाकर मित्र को रंगमंच पर पहुँचाने का समय मिल जाता है।

इसी प्रकार कुटीर में लेटे एकाकी विम्बसार को जीवन मीमांसा का एक रहस्य समझाना कवि को अभीष्ट है। इस रहस्य का उद्-घाटन कौन कैसे करे? सम्राट् के अन्तःकरण में साम्राज्य-त्याग—'किसी विनम्र लता के कोमल किशलयों के झुरमुट में अधखिला फूल होकर पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस

---

१. अब भी चेत ले तू नीच!
दुःख परितापित धरा को स्नेह-जल से सींच॥
× × ×
स्नान कर करुणा-सरोवर, धुले तेरा कीच॥
राज्यश्री, अंक ३, दृश्य २।

थाले में चू पड़ने'—की अभिलाषा उत्पन्न करने का अन्य क्या साधन था ? इसी कारण एकाकी सम्राट् के उद्बोधन के लिए नेपथ्य-गान की आवश्यकता पड़ी ?[1]

'प्रसाद' के नेपथ्यगान[2] की एक और उपयोगिता है। रंग-मंच पर केवल एक ही पात्र उपस्थित हो और वह भी विचारमग्न होकर मौन धारण कर ले तो दर्शक क्या करें। 'प्रसाद' ने ऐसे आपत्काल में नेपथ्यगान का सहारा लिया है। सुवासिनी के प्रस्थान के उपरान्त एकाकी राक्षस अचेतन-सा पड़ा है। उसमें चेतना का संचार करने के पूर्व रूप-ज्वाला की शक्ति, रागमयी हाला की तीव्रता का परिचय नेपथ्यगान के द्वारा कराया गया है। यह गान राक्षस भी गा सकता था किन्तु यदि वह गान में संलग्न हो जाता तो मौन चिन्तन द्वारा हृदय में जिस दृढ़ संकल्प की प्रेरणा उसे हुई है वह सम्भव न थी। अतः इस नेपथ्यगान के द्वारा राक्षस को चिन्तन का अवकाश मिलता है; उसके भावानुरूप वातावरण की सृष्टि होती है। दर्शकों को रूप-मादकता का ज्ञान होता है। इस प्रकार नेपथ्यगान तीन कार्य एक साथ सिद्ध करता है।

---

१. चल बसन्त बाला अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त,
आतीं मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त।
× × ×
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्माहत होकर कुसुमाकर के कुन्तों से।
अजातशत्रु, अंक ३, दृश्य ६

२. कैसी कड़ी रूप की ज्वाला !
पड़ता है पतंग-सा इस में मन होकर मतवाला।
सन्ध्या गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला !
चन्द्रगुप्त, अंक ४, दृश्य २

'प्रसाद' ने अपने नाटकों में गीतिकाव्य का उपयोग दो रूपों में किया है—गेय और पाठ्य। कतिपय पात्र गीति-काव्य को गान-रूप में नहीं पाठ्य-रूप में उपस्थित करते हैं। गौतम और प्रेमानन्द गाते नहीं हैं। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त कभी गाता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। वह गीति-काव्यों का सस्वर उच्चारण करता है, उन्हें राग-रागिनियों में बाँधता नहीं। इसके प्रतिकूल देवसेना जब भी भावावेश में होती है, गायक बन जाती है।

स्वरलिपि-रहित गीत

'प्रसाद' जिन गीतों को रंगमंच पर वाद्य-यन्त्रों की सहायता से संगीत रूप में उपस्थित करना चाहते हैं, उनकी स्वरलिपि नाटक के अन्त में संयुक्त कर देते हैं। वे तो गीतिकाव्य कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। किन्तु जो काव्य स्वरलिपि-रहित हैं क्या उन्हें भी गीतिकाव्य कहा जा सकता है? इसका निर्णय करने के पूर्व हमें गीतिकाव्य के लक्षण पर प्रकाश डालना चाहिए।

गीति-काव्य का लक्षण

(१) जिस छन्दबद्ध रचना में भावातिरेक की धारा इस रूप में प्रवाहित हो कि उसमें स्वर-लहरियाँ स्वभावतः तरंगित हो उठें। (२) जिसमें कवि या पात्र की रागात्मकता उसके व्यक्तित्व के साथ मिलकर आत्म-निवेदन के रूप में प्रगट हो। (३) जिसका आकार इतना ही बड़ा हो कि कवि की रागात्मकता का प्रवाह शिथिल न पड़ सके। (४) जिसमें घटना तथा वर्णन को निम्नतम किन्तु भावना को उच्चतम स्थान प्राप्त हो। जिस काव्य में एक तथ्य या भाव के साथ-साथ एक ही निवेदन, एक ही रस, एक ही परिपाटी हो वह गीतिकाव्य है। गीतिकाव्य में संगीतात्मकता अथवा प्रवाहमयी कोमलकान्त-पदावली की ध्वन्यात्मकता, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रगट होती है) संश्लिष्टता और

भाव-प्रवणता का होना आवश्यक है। इसमें कवि बाह्य वर्णन की अपेक्षा स्वानुभूति को अधिक महत्त्व देता है।

महादेवी वर्मा के शब्दों में इसे इस प्रकार प्रगट कर सकते हैं कि "साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।" इससे यह सिद्ध हुआ कि गीतिकाव्य का ध्वन्यात्मकता में गेय होना आवश्यक है न कि संगीतशास्त्र के अनुसार राग-रागिनी-बद्ध होना।

अंग्रेजी के गीतिकाव्य

बंगला और हिन्दी-गीतिकाव्य अंग्रेजी के जिस (Lyric Poetry) लीरिक[1] पोइट्री से प्रभावित हैं उसके लक्षण में काव्य की गेयता अनिवार्य नहीं। जो छन्द-बद्ध रचना बाह्य प्रकृति अथवा घटना से अधिक कवि की स्वानुभूति पर अवलम्बित हो वह अगेय होने पर भी गीतिकाव्य है। तथ्य तो यह है कि सभी काव्य संगीतात्मक हैं।[2]

गीतों का भावपक्ष

'प्रसाद' के गीतिकाव्यों की विशेषता पर विविध दृष्टिकोणों से

---

1. Lyric Poetry—Lyric poetry which is actually sung or not is generally composed in stanzas and as distinguished from epic and dramatic poetry is expressive of the poet's feeling rather than of outward incident or events, and may take a special form as ode, sonnet, hymn, roundal or any of numerous verse schemes.
2. All Poetry is musical (Walter Pater).

विचार किया जा सकता है। संगीतज्ञ के लिए इनमें रागों की विविधता है तो काव्य-शास्त्री के लिए अनुपम काव्यत्व। कल्पना-प्रेमी के लिए इनमें उदात्त कल्पना है तो कला-प्रेमी के लिए कला की सुकुमारता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि छायावाद की प्रायः सम्पूर्ण विशेषताएँ 'प्रसाद' के गीतों में विद्यमान हैं। इन गीति-काव्यों में विरहिणी का अतृप्त प्रेम, प्रेमोन्मत्त नारी का मत्त-प्रलाप, असफल व्यक्ति के हृदयोद्गार, श्रद्धालु का दृढ़ विश्वास, संन्यासी का अचल वैराग्य, प्रेम-पिपासु का अनुनय-विनय, नारी का आत्म-समर्पण, मातृभूमि का ममत्व, देश-प्रेमी की सत्यनिष्ठा, पराजित के अश्रु, अतीत-स्मृति की टीस और कसक, भावना का आरोह-अवरोह, अध्यात्म का चिन्तन आदि लौकिक-पारलौकिक अनेक भावों और विचारों का एक स्थल पर सम्मिलन दिखाई पड़ता है।

गीतों का कलापक्ष

हम पूर्व कह आये हैं कि जब कोई पात्र व्यापार अथवा वार्त्तालाप द्वारा अपने भावोच्छ्वास को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है तो वह गीतों का आश्रय ढूँढता है। जब सभी पात्र एक ही विचार-धारा में निमज्जित होते हैं तो समवेत-स्वर में गीत फूट पड़ता है। अतः 'प्रसाद' को जहाँ एक जन-समूह की भावना का आरोह और अवरोह दिखाना अभीष्ट होता है, वहाँ उनकी भाषा वैयक्तिक गान की भाषा से भिन्न होती है।

'प्रसाद' के दो सामूहिक[1] गीत हिन्दी-साहित्य की अमर-

---

१. (क) हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला, स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।" चन्द्रगुप्त, अंक, ४, दृश्य ६ (दूसरा गीत अगले पृष्ठ पर)

निधि बन गए हैं। प्रथम गान तो 'वन्दे मातरम्' गायन के समान ही राष्ट्रीय-जीवन-प्रदायक बन गया है। इस गीत में संयुक्ताक्षरों, अनुस्वारों, ढ़, ण, ज, ज्ञ आदि व्यंजनों के कारण प्रयाण-गीत का सौष्ठव चमक उठा है। इसका छन्द भी शब्दों की ध्वनि के अनुरूप है। उनका यह गीत "स्वर और लय पर नृत्य करता है और छन्द वीरभावों के साथ अकड़कर चलता है।" इसमें जातीय गर्व और शालीनता है, ओज और कोमलता है। 'प्रसाद' के राष्ट्रीय गीत के समीप संकीर्णता फटकने नहीं पाती। कार्नेलिया को भारतवर्ष की प्राकृतिक सुन्दरता तो प्रिय है ही, इससे अधिक प्रिय है यहाँ का अध्यात्मवाद। उसे इस देश का वैयक्तिक जीवन इतना करुणार्द्र और विश्वव्यापी प्रतीत होता है कि व्यष्टि और समष्टि में भेद दिखाई ही नहीं पड़ता। इस गम्भीर आशय को 'प्रसाद' लाक्षणिक प्रयोग द्वारा इस प्रकार प्रकट करते हैं—

'बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणाजल,
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।'

सादृश्य-सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा बरसाती 'आँखों' का अर्थ हृदय का करुणार्द्र होना एवं 'अनन्त को किनारा' मिलना का भाव सीम और असीम का मिलन स्पष्ट करना 'प्रसाद' को अभीष्ट है। 'प्रसाद' के राष्ट्रीय गीत देशानुराग उत्पन्न करते हुए 'जगत् की अपूर्णताओं, कठोरताओं एवं कर्कशताओं को मंगलमय भगवान् की मंगल-विधायिनी शक्तियों के सहारे स्निग्ध और सुडौल बनाने की कामना प्रकट करते हैं।'[२] 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' यह गीत इस बात का प्रमाण है।

(ख) पैरों के नीचे जलधर हो, बिजली से उनका खेल चले
संकीर्ण कगारों के नीचे, शत-शत झरने बे-मेल चलें।
ध्रुवस्वामिनी, पृ० ३३।

२. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय—पृष्ठ १२०।

'प्रसाद' के नाटकों में सबसे अधिक संख्या सौन्दर्य-प्रेम-सम्बन्धी गीतों की है। उनके सौन्दय-वर्णन में स्थूलता के स्थान पर वायवी दिव्यता है। उनकी दृष्टि सुन्दर वस्तुओं के बाह्य रूप की झाँकी देखती हुई अन्तरात्मा में प्रविष्ट होती है। वहीं उसे विश्रान्ति मिलती है। वह सौन्दर्य के अन्तस्तल में निवास करने वाली रहस्यमयता को प्रत्यक्ष कराना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें लाक्षणिक प्रयोग और सांकेतिक अभिव्यक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। इस शैली का उनका प्रसिद्ध गीत है—

'तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों?
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?'

यहाँ उपादान लक्षणा के द्वारा लाज भरे सौन्दर्य का वर्णन है, आधार के स्थान पर आधेय कथित है।

'प्रसाद' ने प्रेमी के जीवन को विविध दृष्टिकोणों से देखा है। प्रेमी हृदय का कोना-कोना वह झाँक आए हैं। उन्होंने नाटकों में दर्जनों गीत प्रेमी की आशा-निराशा, मिलन-विरह, सुख-दुख, उल्लास-कसक आदि को प्रकट करने के लिए लिखे हैं। इन गीतों में मादकता के साथ शान्ति है, ज्वाला के साथ शीतलता है। उपमाएँ और रूपक नितान्त नवीन हैं। उनका 'प्रेम-तरु' तापित और दग्ध को छाया प्रदान करता है। कामायनी की श्रद्धा यहाँ सरिता है

---

१. घने प्रेम तरु तले,
बैठ छाँह लो भव आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले!
मिलो स्नेह से गले।
घने प्रेम तरु तले। स्कन्दगुप्त, अंक २, पृष्ठ ५४

और विश्वास प्रेम-तरु की छाया है। इस गीत के द्वारा देवसेना अपनी सखी विजया को प्रेम-रहस्य समझा रही है। यह गीत संदर्भ-सहित होने पर नाटक का वातावरण निर्मित करता है और स्वतन्त्र रूप से प्रेम की व्याख्या भी करता है। 'प्रसाद' के गीतों की यह विशेषता है।

'प्रसाद' ने प्रेमी जीवन के सुख का वह चित्र खींचा है जिसे देखकर 'स्वर्ग की कल्पित अप्सराएँ और इस लोक के अनन्त-पुण्य के भागी जीव भी आश्चर्य-चकित हों।' किन्तु उस विलक्षण सुख की प्राप्ति के लिए जिस तपस्या की आवश्यकता है उसमें 'तीखे तिरस्कार से लांछित होने पर भी अनुनय सहिष्णु बना रहता है। दुर्बल दीनता निष्ठुरता के चरणों से ठुकराए जाने पर भी मौन रहती है और उसकी यही कामना रहती है कि ठुकराने वाली निष्ठुरता किसी प्रकार सुखी रहे।'

इसमें तिरस्कार, अनुनय, दीनता, निष्ठुरता आदि मनोभावों का मानवीकरण किया गया है। अमूर्त की तुलना मूर्त से करते हुए विविध अलंकारों का विधान करना 'प्रसाद' की कला का मुख्य अंग है। वह बाह्य प्रकृति पर मानवी भावों का आरोप करते हैं और आन्तरिक भावों का मानवीकरण लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा करते हैं। कहीं-कहीं वह द्विरुक्त लाक्षणिक प्रयोग द्वारा गीतों को अत्यन्त दुरूह बना देते हैं। जब पाठक या दर्शक को गीतों का अर्थ समझने के लिए दोहरे लाक्षणिक प्रयोगों का आवरण बेधकर तथ्य तक दृष्टि ले जानी पड़ती है तो वह कभी-कभी निराश हो जाता है और कह उठता है कि 'प्रसाद' के गीत प्रसाद-गुण रहित हैं।

---

१. अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहे ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से जिसमें तुम भी सुख पाओ।

सौन्दर्य-बोध

गीतों की दुरूहता का एक कारण और है। 'प्रसाद' ने सौन्दर्य-बोध की नवीन व्याख्या की है। उनके गीत सौन्दर्यानुभूति के तारतम्य की ओर निर्देश करते हैं। जैसे एक ही चित्र[1] शिक्षा और सामर्थ्य के अनुसार दर्शकों को आनन्द की भिन्न-भिन्न स्थिति तक पहुँचाता है, उसी प्रकार एक ही सुन्दर पदार्थ दर्शकों को दृष्टि-सामर्थ्य के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न स्तर तक पहुँचाता है। दृष्टि-सामर्थ्य से अभिप्राय है—(१) चर्म-चक्षुओं की सामर्थ्य (२) बुद्धि-दृष्टि की सामर्थ्य (३) आत्म-दृष्टि की सामर्थ्य।

इन दृष्टियों के अनुसार सौन्दर्य-बोध के तीन रूप हुए। प्रथम रूप कामुक एवं संयमहीन व्यक्तियों के गीतों में पाया जाता है। विलासियों को रूप में कड़ी ज्वाला दिखाई पड़ती है।[2] उन्हें पवित्र सुनहली उषा मद्य पिलाती है।[3] उनकी श्वासों में चिन-

---

१. जो व्यक्ति विचारशील हैं वे चित्र में रंगों की छटा को देखकर ही मुग्ध नहीं होते, वे मुख्य के साथ गौण का, बीच के साथ चारों ओर का और आगे के साथ पीछे के सामंजस्य का पता लगाते हैं। रंग तो आँखों को आकर्षित करता है, परन्तु सामंजस्य की सुषमा को देखने के लिए मन की आवश्यकता होती है। उसको गम्भीर रूप से देखना पड़ता है, इसलिए उसका आनन्द भी गम्भीरतर होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

२. कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।
पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला

चन्द्रगुप्त नाटक, चतुर्थ अंक, दृश्य २

३. उषा सुनहला मद्य पिलाती—श्यामा—अजातशत्रु, अंक २, ४

गारी उड़ती है।[1] उनकी पलकों से मादकता लाली के डोरे फँसते हैं।[2] भोगासक्त और विलास-प्रमत्त पात्र अपनी तुच्छ प्रवृत्ति की क्षुधा-तृप्ति को ही सौन्दर्य-बोध की इतिश्री समझ बैठता है। इससे अधिक समझने की उसमें सामर्थ्य नहीं। ऐसे पात्रों के गीत अति सामान्य होने के कारण अपेक्षाकृत स्पष्ट हैं।

दूसरे वर्ग के गायक हैं संयमी साधक। 'प्रसाद' ने कतिपय ऐसे तपस्वी पात्रों की रचना की है जो 'सौन्दर्य के अन्तःपुर में निवास करने वाली जगत् की आलोकवसना सती लक्ष्मी का दर्शन' करने में समर्थ हुए हैं। इस अन्तःपुर के चतुर्दिक् दूर-दूर तक उन लोलुपों का प्रवेश वर्जित है जोनशे के उन्माद को सौन्दर्य-सुख मानकर मस्त रहना चाहते हैं। कृष्ण-सौन्दय देखने की शक्ति दिव्य चक्षु में हुआ करती है। चक्षु को दिव्य बनाने के लिए साधन-सम्पन्न बनना पड़ता है। जिन पात्रों के चर्म-चक्षुओं की सहायता कल्याणी बुद्धि करती है, उन्हें सौन्दर्य-लक्ष्मी का दर्शन निरन्तर सुलभ हो जाता है। ऐसे साधकों के कण्ठ से अनुभूति की तन्मयता के क्षणों में जो संगीत फूट पड़ता है, वह सुधारस की वर्षा करता है। इस प्रकार के गायक हैं:—कल्याणी, मालविका, देवसेना इत्यादि। प्रमाण के लिए दो-एक गीत देखिए। कल्याणी चन्द्रगुप्त की स्मृति में गाती है कि हे कुमुद-बन्धु (चन्द्र), अपने अमृत-कणों से वसुधा को स्नात करा दो, जिससे अन्धकार दूर हो जाय और सर्वत्र आलोक छा जाय।

---

१. चिनगारी श्वासों में उड़ती—श्यामा—अजातशत्रु, अंक २, ८

२. विकल हैं इन्द्रियाँ, हाँ देखते इस रूप के सपने—

श्यामा—अजातशत्रु, अंक २, ८

३. मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।

विजया—स्कन्दगुप्त, अंक ५

आँसुओं के कण उस अमृत-कर को प्राप्त कर मोती बन जायँ। वेदना-बोझिल हृदय-रूपी समुद्र में आनन्द की लहरियाँ उठने लगें। हँसी रूपी हंसमाला की मधुर ध्वनि के बहाने वसन्त की पूर्णिमा का आगमन हो जाय।[1]

संयमी की प्रेम-साधना-पद्धति निराली है। नारी अपने प्रियतम के सौन्दर्य में अनुराग देवता का सौन्दर्य देखती है, उसका हृद्गत राग उस प्रियतम को पूर्णतया समर्पित है जिसका मनोराग विश्व-मंगल में सन्निहित है। जो अनुराग देवता विश्व-व्यापी है वही उसके हृदय को प्रियतम के हृदय से मिलाने में समर्थ है। उसी की आराधना से प्रणयी और प्रणयिनी के हृदय एक बनते हैं। उसकी सबसे बड़ी आराधना तन्मयता की स्थिति-प्राप्ति है। तन्मयता की यह स्थिति उपनिषद्विहित तन्मयता के सदृश ही है किन्तु इसका साधन उससे कुछ भिन्न है। इसमें ओंकार के स्थान पर प्रियतम के सौन्दर्य को मन-रूपी शर का आधार बनना पड़ता

---

१. सुधा सीकर से नहला दो।
× × ×
अंधकार उजला हो जाये,
हँसी हंसमाला मँडराये,
मधु राका आगमन कलरवों के मिस—
कहला दो!

२. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

'प्रसाद' ने उपनिषद के प्रणव को अनुराग में बदल दिया है। जिस प्रकार ब्रह्म और प्रणव एक होते हुए भी पृथक हैं उसी प्रकार समष्टि-गत और व्यष्टिगत अनुराग वास्तव में एक हैं। भेद केवल प्रमाद के कारण है।

है। प्रियतम की निरन्तर स्मृति ही शर-सन्धान का अभ्यास है। इस अभ्यास के द्वारा अनुरागी मन अनुराग देव में एकाकार बन जाता है। उस स्थिति में हृद्गत राग मानव-प्रेम के प्रतीक अनुराग देव के साथ तादात्म्य धारण कर लेता है और चित्त पूर्ण शान्त हो जाता है। फिर, विश्व-मंगलकामना में प्रणयी-प्रणयिनी की समस्त कामनाएँ विलीन हो जाती हैं। कल्याणी, मालविका, देवसेना की यही सौन्दर्यानुभूति है। इसमें चेतनसागर आनन्द की हिलोरें लेने लगता है, प्राण पुलकित हो उठते हैं। अनुराग देव इस अनन्तनिधि संसार-सागर का नाविक बन जाता है। वह अनंग होते हुए भी जगत् की विपत्तियों से साधक की रक्षा करता है।[1] उस देवता की प्रसन्नता की सूचक है प्रियतम की अनुकूलता और प्रियतम की प्रसन्नता उस देवता की अनुकूलता का बोध कराती है। प्रियतम एवं अनुराग देव की प्रसन्नता से सौन्दर्य शिव बन जाता है और शिव सुन्दर। इनका भेद मिट जाने से साधक की प्रगति शाश्वत सत्य की ओर स्वभावतः होने लगती है। साधक ज्यों-ज्यों सत्योन्मुख होता है त्यों-त्यों प्रणयी-प्रणयिनी और प्रणय के भेद-भाव का उसी प्रकार निराकरण होने लगता है जिस प्रकार ब्रह्मवादियों की साधना के क्षेत्र में साधक, साध्य और सिद्धि का। विरागी ब्रह्मवादी की ब्रह्ममयता अनुरागी की तन्मयता है। उपनिषद् जिस तत् का अर्थ ब्रह्म बत लाता है कवि उसका तात्पर्य अनुराग देव समझता है। और 'शर वत्तन्मयो भवेत्' का अर्थ मन का अनुराग देवमय होना मानता है।

---

१. चेतन सागर उर्मिल होता, यह कैसी कम्पनमय तान।
यों अधीरता से न भीख लो, अभी हुए हैं पुलकित प्रान।
इस अनन्तता निधि के नाविक, हे मेरे अनंग अनुराग!

—चन्द्रगुप्त नाटक

भक्त भगवान् की शोभा को अपने हृद्-प्रदेश और राम-कृष्ण की मूर्ति में देखता हुआ समस्त विश्व में व्यापक मानता है। प्रणयिनी हृद्गत राग को अपने प्रियतम के सौन्दर्य के साथ विश्व में व्यापक मानती है। भक्त भगवान् की सेवा के लिए जीता है; प्रणयी और प्रणयिनी विश्वमंगल के लिए जीवित रहते हैं। दोनों के सुख-दुख अपने नहीं, विश्व के हैं। वहाँ स्वार्थ की गन्ध नहीं, पूर्ण आत्मोत्सर्ग है।

'प्रसाद' की यह प्रणय-साधना भक्त कवियों से भिन्न है। सगुणोपासक कवियों ने धार्मिक भाव से सीताराम एवं राधा-कृष्ण के प्रेम को प्रमुखता दी। 'प्रसाद' ने धार्मिकता का आश्रय न लेकर आधुनिक मनोविज्ञान को ग्रहण किया और ब्रह्म-माया, राधा-कृष्ण एवं सीताराम के स्थान पर देश-कल्याण में सतत निरत स्कन्द-गुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, देवसेना, कल्याणी, मालविका ध्रुवस्वामिनी के सौन्दर्य का आधार लिया। धार्मिक देवताओं में अलौकिक सौन्दर्य और अप्रतिम शक्ति के कारण तार्किक व्यक्ति पूर्ण विश्वास नहीं प्राप्त करता, किन्तु 'प्रसाद' के पात्रों में ऐतिहासिकता होने के कारण संशय के लिए स्थान नहीं रहता। इस पद्धति में ब्रह्मवाद और भक्तिवाद के स्थान पर मानवतावाद की स्थापना है।

तीसरी कोटि में उन अध्यात्मवादियों के गीत आते हैं जिन्होंने विश्वव्यापक प्रेम को अध्यात्म-दृष्टि से देखा है। गौतम को गोधूली के समय अरुण पटल में करुणा स्नेहांचल फहराती दिखाई पड़ती है। उसी का हास-विलास स्निग्ध उषा में, मधुर बालक के मुखचन्द्र पर, ओस के कणों में दिखाई पड़ता है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में उसी का सौन्दर्य व्याप्त हो रहा है। उन्हें सौन्दर्य के शिव-रूप में चिरन्तन सत्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार सौन्दर्य शिव और सत्य से मिलकर परिपूर्ण बन जाता है।

सन्देश

ऐसे गीतों की संख्या अत्यल्प है, क्योंकि पूर्ण मानव को ही सम्पूर्ण सत्य की अनुभूति हो सकती है और पूर्ण मानव शताब्दियों में कभी-कभी अवतरित हुए हैं। 'प्रसाद' जिन गीतों के द्वारा मानव-प्रेम-साधना का सन्देश देते हैं वे दूसरी कोटि में ही आते हैं। सात्विक जीवन बिताते हुए रागात्मिकावृत्ति से आत्मोत्सर्ग की स्थापना इनका उद्देश्य है। कल्याणी बुद्धि की सहायता से सौन्दर्य-बोध होने पर सुन्दर-असुन्दर का, मुख्य-गौण का भेद-भाव विलीन हो जाता है। धैर्य, क्षमा, शान्ति के बल से प्रेम का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण होने लगता है और साधना सफल होने पर पार्वती[1] के समान सती कल्याणी के मुख से निकल पड़ता है—

लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने बस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय सागर को—
बहला दो।

मंडन-शिल्प

'प्रसाद' के गीतों का मंडन-शिल्प प्राचीन गीति-काव्यों से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन गीतों में "जिन विभावों की योजना केवल उद्दीपन के रूप में होती थी और जिन अनुभावों का वर्णन केवल मानवीय मनोरागों की अपेक्षा में ही होता था, वे विभाव 'प्रसाद' के गीतों में आलम्बन के रूप में योजित हुए हैं।" काव्य के इस मंडन-शिल्प में लाक्षणिक प्रयोग अनिवार्य बन जाते हैं।

---

१. छद्म-वेशी महादेव ने तपस्विनी उमा से शंकर की निन्दा की तो उमा ने कहा था 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितम्' उनके प्रति मेरा हृदय एकमात्र भावों के रस में अवस्थित है, हृदय की ऐसी स्थिति में सुन्दर-असुन्दर का भेद कहाँ।

इस कारण 'प्रसाद' के गीतों में लाक्षणिक, द्विस्त लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता मिलती है।

'प्रसाद' ने गीतों में स्थान-स्थान पर एक दार्शनिक कवि की भाँति पात्र से सम्बन्धित जड़ प्रकृति को आलम्बन बनाकर उसमें हावों और अनुभावों की योजना की है। ऐसी स्थिति में लक्षणा शक्ति का प्रयोग विवश होकर करना ही पड़ता है।

'प्रसाद' के गीत विषय-प्रधान नहीं विषयी-प्रधान हैं। अतः कवि की नई कल्पना, नवीन उद्भावना, चिन्तन की नवीन वैज्ञानिक पद्धति और सान्द्र अनुभूति के कारण भी ये गीत दुरूह और अस्पष्ट प्रतीत होते हैं।

'प्रसाद' के गीतों में दुरूहता केवल शैली की नवीनता के ही कारण नहीं है, विचारों की सूक्ष्मता भी उनमें ऐसी है कि सहसा बुद्धि जिन्हें पकड़ नहीं पाती। कवि-अनुभूतिकाल में ऐसे लोक में पहुँच जाती हैं, जहाँ सम्पूर्ण कलाएँ मौन धारण कर लेती हैं। केवल सहृदय ही अपने निर्मल मन-मुकुर में उनकी प्रतिच्छवि निहार सकता है और कोई साधन उस छटा को देखने का नहीं रह जाता। इसी कारण रवि बाबू कहते हैं—"आर कौनों पथ नाई। एई आनन्देर प्रकाश वाक्येरनाई जेइ ब्याख्या कोरितो पारी।"

कवि 'प्रसाद' अनुभूति की तन्मयता के क्षणों में कवि से चित्रकार और गायक भी बन जाते हैं। उस काल में ये तीनों कलाएँ पृथक् नहीं रह पातीं। सब मिलकर एकाकार हो जाती हैं। शब्द तूलिका बन जाते हैं और तूलिका में स्वर-लहरियाँ उठती हैं। जहाँ रंग गाने लगता है। "यही कला का अन्तिम स्वरूप है जहाँ सौन्दर्य अंगों में नहीं सशरीर आ विराजता है। मधुरिमा उसका गुण नहीं कलेवर बन जाती है। 'प्रसाद' की कला का भी यही रूप उनके गीतों में मिलता है। पाठक भूल जाता है—वह कविता पढ़ रहा है या चित्र देख रहा है अथवा संगीत

के सम पर ही खड़ा है। कवि पाठक को एक ही उड़ान में अपने लोक में ले जाता है जहाँ कलाएँ मूक होकर एक-दूसरे का आलिंगन करती हैं। 'प्रसाद' की यह जीत है। इसी जीत में उनकी महानता है।"[1]

नृत्यगीत की आवश्यकता

यद्यपि 'प्रसाद' इस तथ्य से परिचित थे कि आधुनिक अंग्रेजी नाटकों से गीतों का सर्वथा बहिष्कार हो चुका है तथापि उन्होंने अपने अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' (समस्या नाटक) में भी गीत को स्थान दिया है। 'प्रसाद' ने पश्चिमी नाट्यकला को अपने नाटकों में निस्संकोच भाव से ग्रहण किया है, किन्तु भारतीय विशेषताओं की उन्होंने कभी अवहेलना नहीं की। हमारे नाट्याचार्य भरत मुनि ने नाटकों में गीत और नृत्य को प्रमुख स्थान देने का आदेश किया। अभिनव गुप्त भी कहते हैं कि इनकी उपयोगिता है, क्योंकि नाटकों में नृत्य-गीत अहृदय व्यक्ति में भी सहृदयता उत्पन्न कर देते हैं। उनका कथन है—[2]

"अपने सुखादि भावनाओं में लीन व्यक्ति अपने से भिन्न व्यक्ति में विद्यमान अनुभूति का अनुभव नहीं कर सकता। इस प्रकार की बाधा को दूर करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में साधारण रूप से विद्यमान और प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द देने में समर्थ

---

१. 'प्रसाद' जी की कला—गुलाबराय—पृष्ठ ११०।

२. निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तद्रूप प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैः आतोद्यगानविचित्र मण्डपविदग्ध गणिकादिभिः उपरञ्जनं समाश्रितं, येन अहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीकियते।"

अभिनव भारती—गायकवाड़ संस्करण १, पृष्ठ २८२-२८३।

शब्दादि विषय-स्वरूप—वाद्य-गान, आकर्षक रंगमंच, प्रवीण गणिकादि के द्वारा—मनोरंजन किया जाता है, जिससे हृदयहीन व्यक्ति भी सहृदय के समान निर्मलता प्राप्त करके सहृदय बन जाता है।" ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रसाद' को नृत्य-गीत के सम्बन्ध में इन आचार्यों का आदेश मान्य था।

कतिपय साहित्यिकों ने 'प्रसाद' के गीतों को अभारतीय घोषित किया। ऐसे आलोचकों में सबसे ऊँचा स्वर प्रसिद्ध नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र का है। उनका कथन है कि 'प्रसाद' के गीतिकाव्यों में प्रणय की जगह छिछले रोमांस की बाढ़ आ गई है, वे भास और कालिदास की परम्परा में न होकर शेक्सपियर की परम्परा में ढल चुके हैं।

मिश्रजी से इस विषय पर घंटों वार्तालाप करने के उपरान्त उनके निम्नलिखित आधार ज्ञात हुए :—

(१) प्रेम की अभिव्यंजना में जो भाव-भंगिमा, हाव और मुद्राएँ स्वाभाविक रीति से पाई जाती हैं, उनका गीतों में सर्वथा अभाव है।

(२) गीतों में प्रेम की प्राकृतिक विकृति के स्थान पर पात्रों की मानसिक विकृति मिलती है।

(३) इनमें जीवन का पर्यवेक्षण काल्पनिक ढंग से किया गया है।

(४) गुप्त काल के प्रतिनिधि-कवि कालिदास की जीवन-मान्यताएँ इन गीतों से सर्वथा भिन्न हैं।

(५) गीतों में उन्मादग्रस्त व्यक्तियों का प्रलाप है। प्रेमी और प्रेमिका किसी स्थिति-विशेष में किस प्रकार के गीत गाते हैं उनका कहीं पता ही नहीं।

---

१. वत्सराज—लक्ष्मीनारायण मिश्र, संवत् २००६ वि०, पृष्ठ ११।

(६) यदि सम्पूर्ण गीतों को नाटक से निकाल दें तो भी नाटक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(७) गीतों की भाषा के घटाटोप में पाठक के मन को आवृत्त करने की चेष्टा की गई है, इनमें रस-स्थिति तक पहुँचाने का प्रयास नहीं पाया जाता।

मिश्रजी के ये आरोप ऐसे हैं जिनका उत्तर स्वतन्त्र लेख के रूप में ही दिया जा सकता है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि इस धारणा के मूल में तीन बीज हैं—

(१)' प्रसाद' ने सौन्दर्य-बोध की जो पद्धति अपनाई, वह साहित्य में परम्परा-समर्थित न होने के कारण सहज बोधगम्य न हो सकी।

(२) गीतों का मण्डन-शिल्प सर्वथा नवीन होने के कारण अपरिचित प्रतीत हुआ।

(३) जिस मानवतावाद के सिद्धान्त को भारतीय रूप देने का प्रयास 'प्रसाद' ने किया, वह हिन्दी साहित्य में सर्वथा नया था।

प्रसंगवश यहाँ इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि इन्हीं नवीनताओं के कारण रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रबल विरोध बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय ने किया था। कहा जाता है कि उन्होंने रवी बाबू की खिल्ली उड़ाने के लिए नाटक लिखा और कलकत्ता में उसका अभिनय कराया, किन्तु अन्त में राय बाबू को इसका पश्चात्ताप हुआ।

हमारा विश्वास है कि 'प्रसाद' की नाट्यकला का ज्यों-ज्यों परीक्षण होगा त्यों-त्यों उनके गीतों का अर्थ स्पष्ट होता जायगा और ज्यों-ज्यों उनके गीतों का रहस्य खुलता जायगा उन्हें अभारतीय कहने का स्वर मन्द पड़ता जायगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

व्यवसायी रंगमंचीय नाटक

पारसी थियेट्रिकल कम्पनी को रंगमंचीय नाटक से पुकारा जाता है। इस कम्पनी की उत्पत्ति की कहानी 'इन्द्र सभा' के साथ जोड़ी जाती है। कहा जाता है कि वाजिदअलीशाह के प्रोत्साहन से अमानत कवि ने यह नृत्य-संगीतमय गीति-काव्य प्रस्तुत किया और रंगमंच पर स्वतः वाजिदअलीशाह ने इन्द्र का अभिनय किया। इस नाटक को इतनी ख्याति हुई कि विभिन्न देशी और विदेशी[1] भाषाओं में इसका रूपान्तर हुआ। इसका संगीत सुनने और अभिनय देखने को जनता इतनी लालायित रहती थी कि मेले-ठेले में इसका तमाशा 'पैसा तमाशा' के नाम से दिखाया जाने लगा। इसी व्यवसाय को देखकर कतिपय उत्साही पारसी सज्जनों ने एक थियेट्रिकल कम्पनी खोलने का संकल्प किया। उन्होंने सर्वप्रथम सोहराब और रुस्तम की कहानी को नाटक का रूप देकर अति साधारण रंगमंच पर अभिनय दिखाना प्रारम्भ किया। पेस्टनजी फ्रेमजी ने सम्वत् १९२७ वि० के आसपास 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' नाम से एक कम्पनी खोली और उसमें खुरशेद जी बल्लीवाला, कौवाज जी खटाऊ, सोहराब जी और जहाँगीर जी आदि अभिनेता अभिनय करने लगे।

प्रारम्भ में जो नाटक इस कम्पनी में खेले जाते थे उनका

---

१. जर्मन भाषा में सन् १८९२ ई० में इसका अनुवाद लिपज़िग नगर में छपा। A History of Urdu Literature—Ram Babu Saxena P. 353.

निर्माण 'इन्द्र-सभा' के आदर्श पर किया जाता था। सम्वत् १९३९ में 'इन्साफ ए महमूद शाह' नामक नाटक अति प्रसिद्ध समझा जाता था। इस कम्पनी ने सात वर्षों में निम्नलिखित नाटकों का अभिनय कराया—'नतीजए अस्मत', 'खुदा दोस्त', 'चाँद बीबी', 'तोहफए दिलकुशा', 'बुलबुले बीमार', 'तुहफए दिलपजीर', 'शीरीं-फरहाद', 'अलीबाबा', 'लैलामजनू', 'गुलबकावली', 'हवाई मजलिस', 'हातिमताई', 'गुल सनोबर', 'बदरे मुनीर', 'तमाशए अला-उद्दीन', 'नक्शये सुलेमान', 'अक्सीरी आजम', 'इशरत सभा', 'हुस्नअफरोज', 'खुदादाद' इत्यादि।

सम्वत् १९३४ वि० में दिल्ली में 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी' खुली। इस कम्पनी का सबसे प्रसिद्ध अभिनेता बल्लीवाला था। हास्यरस का इतना बड़ा अभिनेता उस काल में दूसरा नहीं था। इस कम्पनी के अन्य अभिनेता थे—रुस्तम जी, मिस खुरशेद, मिस मेहताब और अंग्रेज महिला मिस मैरी फेन्टन। बनारस-निवासी विनायकप्रसाद 'तालिब' इस कम्पनी के नाट्यकार थे। इन्होंने निम्नलिखित नाटकों की रचना की—'विक्रम विलास', 'दिलेरदिलशेर', 'निगाहे गफलत', 'गोपीचन्द' और 'हरिश्चन्द'।

इस कम्पनी की सफलता देखकर कावसजी खटाऊ ने 'अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' प्रारम्भ की। इसके प्रसिद्ध अभिनेता थे—मंशेर शाह, गुलजार खाँ, माधोराम, मास्टर मोहन, मास्टर मंशेर जी, मिस जोहरा, मिस गौहर। इस कम्पनी के प्रसिद्ध खेल हैं—'हेमलेट', 'गुलनार फिरोज', 'चन्द्रावली', 'दिल फरोश', 'भूल-भुलैया', 'बकावली', 'चलता पुरजा'।

इस कम्पनी ने जब पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' को अपना नाट्यकार नियुक्त किया तो नाटक की भाषा और कथावस्तु में सुधार होने लगा। 'बेताब' जी ने 'शेक्सपियर' नामक एक पत्रिका प्रकाशित की और निम्नलिखित नाटक लिखे—'क़त्ले-

नजीर', 'जहरी साँप', 'फरेबे मुहब्बत', 'महाभारत', 'रामायण', 'गोरख धंधा', 'पत्नी प्रताप', 'कृष्ण सुदामा'।

थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों में हिन्दी को स्थान देने का श्रेय बेताब जी को है। उन्होंने हिन्दी गानों का समावेश इस कौशल से किया कि कम्पनी के संचालक तथा प्रेक्षक उनके माधुर्य पर आकर्षित हो उठे और उन्होंने हिन्दी गानों को नाटक में स्थान देना स्वीकार किया। उर्दू साहित्य के इतिहासकार इस बात को मानते हैं कि हिन्दी गीतों में उर्दू गीतों से अधिक माधुर्य है। बेताब के गीतों के विषय में लिखते हैं :

"He uses his Hindi with conscious command and the effect is instantaneous for in songs or lyrics Hindi is infinitely superior to Urdu.[1]"

'बेताब' ने थियेट्रिकल कम्पनी के लिए 'कत्ले नजीर' नाटक एक सत्य घटना के आधार पर लिखा। उस काल में दिल्ली की एक वेश्या 'नजीर' का वध हो गया था। उसी का कथानक लेकर 'बेताब' ने इस नाटक की रचना की थी।

थियेट्रिकल कम्पनियों के लिए नाटक लिखने वालों में 'आगा-हश्र' अति प्रसिद्ध नाट्यकार हुए। इनमें नाटक-रचना की प्रतिभा थी और सम्भवतः इन्होंने 'मारलो' के नाटकों को पढ़ा भी था। इन्होंने निम्नलिखित नाटकों की रचना की—'शहीदए नाज', 'मुरीदए शक', 'मीठी छुरी', 'ख्वाबे हस्ती', 'ठंडी आग', 'असीरे हिर्स', 'तसवीरए वफा', 'नाराए तौहीद', 'सफेद खून', 'खूबसूरत बला', 'खुदपरस्त', 'सिलवर किंग', 'शमाए जवानी', 'तुर्की हूर', 'हिन्दुस्तान', 'कदीम व जदीद', 'आँख का नशा'। हिन्दी के नाटक—'सूरदास', 'गंगावतरण', 'बन देवी', 'सीता बनवास', 'माधो मुरली', 'श्रवण कुमार'।

1. A History of Urdu Literature by Ram Babu Saxena, Page, 356.

इतिहास-लेखकों ने आगाहश्र को 'हिन्दुस्तानी मॉरलो' की उपाधि दी है। मारलो के पात्रों के सदृश आगा हश्र के पात्रों में करुणा, प्रेम आदि मनोभावों के वेग को सीमा तक पहुँचा दिया गया है। रोमांचकारी घटनाओं के आधार पर इनके नाटक निर्मित होते हैं। एक इतिहासकार लिखते हैं—

"His defects are precisely those of Marlowe. intensity rather than delicacy, deep colours and strong contrasts more than fine shades are the rule. This tells on refined or sensitive nerves particularly when the most horrible crimes are allowed by the author to be represented on the stage.[1]"

इस उद्धरण से आगाहश्र के दोषों के साथ-साथ तत्कालीन नाटक के कथानक पर भी प्रकाश पड़ता है। नाटकों में अधिक-से-अधिक सनसनी पहुँचाने वाले कथानक प्रयुक्त होते थे। आगाहश्र के अतिरिक्त राधेश्याम कथावाचक ने भी कई नाटकों की रचना की, जिसमें 'वीर अभिमन्यु', 'परिवर्तन', 'मशरिकी हूर', 'कृष्णावतार', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्रवणकुमार', 'ईश्वर-भक्ति', 'द्रौपदी-स्वयंबर', 'परम भक्त प्रह्लाद' प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना सं० १९७१ और सं० १९८६ के मध्य की गई। ये नाटक पृथक्-पृथक् कम्पनियों द्वारा अभिनीत हुए। पं० राधेश्याम के नाटकों में अश्लीलता को कहीं भी स्थान नहीं मिलता। इनके कथानक प्रायः पौराणिक हैं। इनके नाटकों में गीतों की संख्या अधिक है।

थियेट्रिकल कम्पनी के नाटकों की कोई निश्चित नाट्य-शैली नहीं थी। प्रारम्भ में शेक्सपियर के नाटकों का अनुकरण करके

1. A History of urdu Literature by Ram Babu Saxena, Page, 358.

ऐसे प्रेमोपाख्यान चुने गये जो भारतीय वातावरण के अनुकूल हों। भारतीय वातावरण का अनुमान कम्पनी वाले उन लोगों की बाजारू रुचि से लगाते थे, जो प्रायः नाटक देखने जाया करते थे। वे लोग अधिक संख्या में समाज के निम्न स्तर से सम्बन्ध रखते थे, अतएव उनकी रुचि भी असंस्कृत होती थी। अश्लीलता पर वाह-वाह करने वाले इन प्रेक्षकों को सन्तुष्ट करने की मनोवृत्ति ने नाट्य-कला को उन्नत न होने दिया।

उस काल की जनरुचि नाटकों में कथानक-वैचित्र्य को मुख्य स्थान देती थी। उस समय नाटक का उद्देश्य रसास्वादन की स्थिति तक पहुँचना नहीं प्रत्युत् निकृष्ट ड्रामा की तरह कथा-वैचित्र्य देखकर कौतूहल के वशीभूत होना माना जाता था। जो नाटक जितना अधिक रोमांचकारी तथा सनसनीदार कथानक लेकर उपस्थित किया जाता, वह उतना ही अधिक प्रशंसनीय माना जाता।

इनकी दूसरी विलक्षणता थी गीतों की। इनमें गज़ल-ठुमरी के रूप में कुरुचिपूर्ण गाने गाये जाते थे। कहा जाता है कि भारतेन्दु ने जब शकुन्तला की सखियों के मुख से—

"गोरी धीरे चलो कमर लचक न जाय
लचक न जाय गोरी मुरक न जाय,
गोरी धीरे चलो कमर लचक न जाय।"···

गाना सुना तो वह असन्तुष्ट होकर अभिनयशाला से बाहर आ गए। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद ने जब रंगमंच पर सम्राट् अशोक को कुत्सित गान गाते देखा तो वह राय कृष्णदास के साथ अभिनयशाला से बाहर आ गए। इन नाटकों में चरित्र-चित्रण को कोई स्थान नहीं था। जब कथानक अव्यवस्थित हो तो चरित्र-चित्रण के लिए क्षेत्र ही कहाँ।

जब संस्कृत रुचि वाले विद्वानों ने ऐसे नाटकों की समालोचना

की, तो कम्पनी वालों का ध्यान इनके सुधार की ओर गया। संवत् १९७० वि० के उपरान्त थियेट्रिकल नाटक सुधारोन्मुख होने लगे। 'बेताब' ने कथावस्तु और भाषा दोनों का परिमार्जन किया। उर्दू के स्थान पर सरल हिन्दी एवं अश्लील गज़लों के स्थान पर हिन्दी गीतों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। कथावस्तु के लिए पौराणिक कथाएँ ग्रहण की गईं, किन्तु कौतूहल-प्रिय जनता को प्रसन्न करने के लिए रोमांचकारी दृश्य भी संयुक्त किये गए। विस्मयोत्पादक घटनाएँ इस काल के नाटकों में विशेष-रूप से पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए राधेश्याम का 'भक्त प्रह्लाद' नाटक लीजिए—हिरण्यकशिपु के सिर का ताज गायब होकर प्रह्लाद के सिर पर आ जाता है, हिरण्यकशिपु की तलवार टूट जाती है और उसका टूटा भाग वैकुण्ठ में भगवान् विष्णु के हाथों में दिखाई देता है।

दूसरे स्थल पर अनायास आवाज का होना, अग्नि की लपट निकलना और काम का भीष्म के सामने आना आदि घटनाएँ विस्मय उत्पन्न करने के लिए जोड़ी गईं।

तृतीय उत्थान में एक और परिवर्तन हुआ। आगाहश्र ने नाटकों में दो स्वतन्त्र कथानकों की योजना की, जिनमें एक तो गम्भीर होता और दूसरा हास्यमय। इस पद्धति का इतना प्रचार हुआ कि नाटकों में एक प्रहसन रखना आवश्यक बन गया। 'महात्मा विदुर' जैसे गम्भीर नाटक में भी कलियुगी साधु का प्रहसन जोड़ना पड़ा।

आगाहश्र के उपरान्त राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की धूम मची। कथावाचक की दृष्टि सदा उन दर्शकों की ओर रही जो साहित्यिक नाटकों को समझने में प्रायः असमर्थ रहे। अल्प-शिक्षितों और अशिक्षितों में कथावाचक के नाटक लोकप्रिय बने। गाँवों में विवाह आदि अवसरों पर इनका अभिनय अब भी होता

है। इन्होंने नवीन नाटक 'महर्षि वाल्मीकि' : १९८६ वि०, 'सती पार्वती' : २००१ वि० में लिखा। कथावाचक की भाषा आगाहश्र और 'बेताब' की अपेक्षा साहित्यिक हिन्दी के अधिक निकट थी। नाटकों के कथानक चरित्र-गठन और मनोरंजन दोनों का ध्यान रखकर प्रस्तुत किए जाते थे। ये सभी आख्यान प्रायः महाभारत अथवा पुराणों से लिये जाते थे। वर्तमान समाज के दैनिक जीवन से प्रायः उनका सम्बन्ध नहीं रहता था।

आधुनिक व्यवसायी नाटक

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का व्यवसाय सवाक् चित्रपट से मन्द पड़ने लगा। आजकल बम्बई में एक नई कम्पनी खुली है, जिसमें भारत-विभाजन के समय की स्थिति के नाटक खेले जाते हैं। हमारा अभिप्राय 'पृथ्वी थियेटर' से है। इस कम्पनी ने १. दीवार, २. गद्दार, ३. पठान, ४. आहुति नामक नाटक प्रस्तुत किए। इनमें देश की वर्तमान अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है। इनकी भाषा परिमार्जित है, कथानक यथार्थोन्मुख होते हुए भी अश्लीलता से दूर हैं। 'आहुति' नामक नाटक का कथानक देखिए। पश्चिमी पंजाब से एक हिन्दू बालिका जानकी माता-पिता से पृथक् हो जाने पर एक मुसलमान के घर में कुछ दिन रहकर भारत आ जाती है। उसके माता-पिता उसका विवाह एक हिन्दू से करना चाहते हैं, किन्तु कोई प्रतिष्ठित पंजाबी हिन्दू भी विवाह करने को प्रस्तुत नहीं। जानकी नामक बालिका को जब वस्तुस्थिति ज्ञात होती है तो वह पहाड़ी से कूदकर आत्म-हत्या कर लेती है। उसका पिता अपनी पुत्री को गोदी में उठाकर दिखाता है और कहता है—"यह है समाज के अग्निकुण्ड में आहुति।"

नाटक की भाषा

नाटक की भाषा जन-साधारण की बोलचाल की भाषा होते हुए भी परिष्कृत है।...उदाहरण के लिए देखिए—

"मेहता—हरि ओम्, भगवान् न करे।

रामकृष्ण—(झुंझलाकर) भगवान्! कहाँ है भगवान्! हजारों प्रह्लाद घरों में बन्द करके जीतेजी जला दिए गये, मगर उसने एक के लिए भी नृसिंह अवतार न लिया, एक भी प्रह्लाद न बचाया। हज़ारों द्रोपदियों की लाज लुट गई, उन्हें भरे बाजारों में नग्न किया गया मगर उसने एक की लाज न रखी, एक के लिए भी साड़ी न लाया। मगर लाता कौन, कोई भगवान् होता तो लाता न। भगवान् तो है ही नहीं। अगर है तो कल्पित।[1]"

एक और विशेषता इस नाटक की यह है कि इसमें आद्योपान्त एक भी गाना नहीं। सम्पूर्ण नाटक गद्य में अंग्रेज़ी पद्धति के अनुसार लिखा गया है। पृथ्वीराज के अभिनय की स्वाभाविकता के कारण उपर्युक्त नाटकों की ख्याति सारे देश में फैल गई है।

अव्यवसायी रंगमंच

व्यवसायी रंगमंच के द्वारा कला की हत्या होते देख भारतेन्दु ने अपने मित्रों के सहयोग से कई नाटक खेले थे। उनके प्रोत्साहन से देश में स्थान-स्थान पर शिक्षालयों में रंगमंच तैयार होने लगे थे। नगरों और गाँवों में कला-प्रेमी विद्वान् नाटकों का निर्माण और उनका अभिनय करने लगे थे। ऐसे नाटकों में 'जानकी मंगल' का उल्लेख भारतेन्दु ने अपनी नाटक

---

१. लालचन्द्र बिस्मिल : आहुति, पृथ्वी थियेटर्स प्रकाशन, बम्बई प्रथम संस्करण सन् १९५० ई०, दूसरा एक्ट, पृष्ठ ६५।

नामक पुस्तक में किया है। भारतेन्दु जी के मित्र पं० प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर के विद्वानों द्वारा अभिनीत नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत दुर्दशा' और 'गोरक्षा' का उल्लेख किया है।

काशी में 'नागरी नाट्यकला प्रवर्तन मण्डली' की स्थापना हुई। इस मण्डली के संस्थापक भारतेन्दु जी के परिवार के उत्साही युवक बाबू बृजचन्द जी थे। आगे चलकर यह मण्डली दो भागों में बँट गई और उनका नाम 'भारतेन्दु नाटक मण्डली' तथा 'काशी नागरी नाटक मण्डली' पड़ गया। ये मण्डलियाँ देश के सुसंस्कृत समाज को साहित्यिक नाटकों का रसास्वादन कराती रहती हैं। इन्होंने 'महाराणा प्रताप', 'अत्याचार', 'सम्राट् अशोक', 'महाभारत', 'वीर बालक अभिमन्यु', 'भीष्म पितामह', 'बिल्वमंगल', 'सूरदास', 'कलियुग', 'संसार स्वप्न', 'पाप का परिणाम' आदि नाटकों का अभिनय किया।

योग्य साहित्यिकों ने कानपुर और काशी के अतिरिक्त प्रयाग में भी एक नाटक-मण्डली स्थापित की, जिसका नाम 'श्री रामलीला नाटक मण्डली' रखा गया। प्रसिद्ध साहित्यिक पं० माधव शुक्ल ने 'सीय स्वयंवर' नामक नाटक इसके लिए लिखा। इस नाटक में नाट्यकार ने ब्रिटिश सरकार की राजनीति का उल्लेख[1] किया जिससे मालवीय जी रुष्ट हो गए थे।

इस मण्डली का रूपान्तर संवत् १९६५ वि० में हुआ। नवीन नाटक मण्डली का नाम 'हिन्दी नाट्य समिति' रखा गया। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन और 'प्रेमघन' जी के पुत्र आदि प्रसिद्ध साहित्यिक इसका संचालन करते रहे। पं० माधव शुक्ल विरचित

१. ब्रिटिश कूट राजनीति के समान कठोर इस शिव-धनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस-से-मस भी न कर सके, यह अत्यन्त दुःख का विषय है, हाय! (सीय स्वयंवर नाटक से)

'महाभारत' के अभिनय से इस नाट्य समिति की ख्याति फैल गई।

दिल्ली के प्रसिद्ध कलाप्रेमी लाला श्रीराम के परिवार ने देश के सुसंस्कृत समाज के सहयोग से एक नाटक-मण्डली स्थापित की है। यह मण्डली प्रतिवर्ष साहित्यिक नाटक खेलती है, जिसमें दिल्ली के अति उच्च परिवार की स्त्रियाँ भी अभिनय करती हैं। गत वर्ष इस मण्डली ने रामलीला के अवसर पर राम का सम्पूर्ण चरित्र नृत्य तथा संगीत द्वारा प्रदर्शित किया था।

इस नाटक मण्डली का उद्देश्य है—भारतीय संस्कृति को नृत्य-संगीतमय नाटकों के माध्यम से विदेश के सुपठित समाज के सम्मुख रखना। नई दिल्ली के कला-प्रेमी और कलाविद् वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, भास, भवभूति आदि की रचनाओं के आधार पर भाव-नाट्य का आयोजन करते हैं। इनका प्रदर्शन विदेश के राजदूत भी देखने आते हैं। इस दृष्टि से यह मंडली भारतीय संस्कृति एवं कला की उन्नति के साथ प्रचार-कार्य भी कर रही है।

प्रयाग आदि स्थानों में भी इसी प्रकार कला-संस्कृति के केन्द्र खुलते जा रहे हैं, जहाँ विद्वद् समाज में संगीत-नाट्य, भाव-नाट्य आदि विविध नाट्य-शैलियों का प्रयोग किया जा रहा है। भारत सरकार ने नई दिल्ली में एक कलाकेन्द्र की स्थापना की है। आशा है इसके द्वारा हिन्दी नाटकों का विकास होगा। महादेवी वर्मा नैनीताल के समीप एक नवीन कला-केन्द्र की स्थापना करने जा रही हैं। इस केन्द्र में नाट्य कला का विकास अवश्यम्भावी है।

बारहवाँ अध्याय

आधुनिक काल के अन्य नाट्यकार

[संवत् १९६० वि०—२०१० वि०]

आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार 'प्रसाद' के नाटकों का विवेचन हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। नाट्यकला के विकास के लिए इस काल के अन्य नाट्यकारों की कृतियों को भी समझ लेना आवश्यक है। इस काल के नाटकों का वर्गीकरण निम्न-लिखित रूप से किया जा सकता है : १. नृत्त नाट्य (Ballet), २. नृत्य नाट्य, ३. भावनाट्य, ४. गीतिनाट्य (Lyric Drama), ५. ऐतिहासिक नाटक, ६. सामाजिक नाटक, ७. पौराणिक या धार्मिक नाटक, ८. एकांकी ९. स्वोक्ति (स्वगत) नाटक, १०. रेडियो रूपक।

गीतिनाट्य

हम गीति-नाट्यों पर सर्वप्रथम विचार करेंगे, क्योंकि यह हमारी नितान्त मौलिक शैली न्यूनाधिक आठ सौ वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। रास के प्रकरण में हम इसकी उत्पत्ति पर विस्तारपूर्वक विचार कर आए हैं।

'प्रसाद' ने 'करुणालय' में गीति-नाट्य की जो शैली प्रचलित की, उसका विकास इस काल के अन्य गीति-नाट्यों में दिखाई पड़ता है। गीति-नाट्य में बाहरी क्रियाशीलता और संघर्ष के स्थान पर मानसिक भावों का एक-दूसरे के साथ संघर्ष दिखाया जाता है। नाटक में भौतिक युद्ध आन्तरिक संघर्ष को उद्दीप्त करने के लिए रखा जाता है। दूसरा अन्तर यह है कि गीति-नाट्य का

सम्पूर्ण कथानक गेय होता है और उसका अभिनय संगीतमय होता है। गेय पदों का उपयोग नृत्त नाटक (Ballet) में भी होता है, किन्तु गीति-नाट्य नृत्त नाट्य, भाव नाट्य से पृथक् होता है। नृत्त नाट्य में पात्रों की वेशभूषा, रंगमंच की सजावट और प्रकाश के पटु प्रबन्ध पर ही बल दिया जाता है, किन्तु गीति-नाट्य में कविता का प्रभाव अन्य प्रभावों से विशेष महत्त्वपूर्ण होता है।

'करुणालय' का कथानक यह है—आकाशवाणी सुनकर राजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित को यज्ञ में बलि देना चाहते हैं, किन्तु रोहित इस प्रस्ताव का विरोध करता है। वह सोचता है—

'अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि-रश्मि की
सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,
नभ प्रभात का दृश्य सुखद है सामने,
उसे बदलता नील तमिस्रा रात्रि से
जिसमें तारों का भी कुछ न प्रकाश है
कैसा दुख दायक है.....'

देश-विदेश भ्रमण करता हुआ रोहित उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ अजीगर्त और तारिणी क्षुधा से व्याकुल हैं। रोहित सौ गायें अजीगर्त और तारिणी को देकर उनके पुत्र शुनःशेप को बलिदान के लिए उनसे ले लेता है। शुनःशेप बलिदान होने को प्रस्तुत होता है, उसी समय विश्वामित्र आ जाते हैं। यह भेद खुल जाता है कि शुनःशेप विश्वामित्र का पुत्र है, अजीगर्त और तारिणी का नहीं। इसके उपरान्त बलिदान बन्द हो जाता है और शुनःशेप की रक्षा हो जाती है। इस गीति-नाट्य में स्थल-स्थल पर भाव-नाओं का संघर्ष दिखाई पड़ता है। राजा हरिश्चन्द्र के मनोभावों में उस समय कितना संघर्ष है जब वह अपने पुत्र से बलिदान के लिए कहते हैं। उसी प्रकार क्षुधा से पीड़ित अजीगर्त अपने पुत्र

शुनःशेप को बलिदान के लिए बेचते समय कहता है—

'जीवन की आकुल आशा जब त्रस्त हो
एक-एक दाने का आश्रय खोजती।
वह बीभत्स पिशाच खा लिया चाहता
जब अपना ही मांस।'.....

इस स्थल पर एक ओर क्षुधा के कारण परिवार के प्रत्येक सदस्य की मृत्यु का प्रश्न, दूसरी ओर निज पुत्र का बलिदान। इस स्थल पर नाट्यकार ने माता-पिता को ऐसी परिस्थिति में रख दिया है जहाँ मन की विविध भावनाओं का घोर संघर्ष हो सके।

'प्रसाद' ने गीति-नाट्य की एक शैली निर्मित की। मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', 'प्रेमी' का 'स्वर्ण विहान' और उदयशंकर भट्ट के गीति-नाट्य इसी शैली पर विरचित हुए।

गुप्त जी ने 'अनघ' को दृश्यों में न विभाजित कर रवीन्द्रनाथ टेगोर के 'अचलायतन' की शैली पर स्थानों के नामानुसार निर्दिष्ट किया है। दृश्यों के नाम हैं—अरण्य, चौपाल, उद्यान, वटच्छाया, मघ का घर, चबूतरा, ग्राम भोजक का घर, मधुवन, मुखिया और चौपाल, उद्यान का एक भाग, एकान्त, मेंड़, दग्ध गृह, कारागार, मगध राजधानी और न्याय-सभा।

'अनघ' की रचना गीति-नाट्य की शैली पर की गई है और इसमें मानसिक संघर्ष गहराई तक पहुँच जाता है। उदाहरण के लिए एकान्त में बैठे हुए मघ को जब हम संसार की विषम समस्याओं से चिन्तित कुछ सोचते हुए पाते हैं तो वह जनसाधारण की भाषा में कर्म-विपाक के गहन सिद्धान्त को सुचारु-रूप से इस प्रकार प्रकट करता है—

'पर क्या यह झूठी रटना है,
ईति भीति दैवी घटना है।

उसका वैसा ही कटना है,
जिसका जैसा बोना है।
विषम विश्व का कोना है।'[1]

मघ विचार में मग्न था कि चोरों ने उसे घेर लिया, किन्तु वह ऐसे कौशल से निकल भागा कि चोरों की लाठियाँ आपस में ही टकराती रह गईं। अवसर पाते ही मघ चोरों की गर्दन पकड़-पकड़कर उन्हें नीचे गिरा देता है।

ये घटनाएँ इतनी शीघ्रता से घटती हैं कि नाटक में क्रियाशीलता को प्रमुख स्थान मिल जाता है। एक ही दृश्य में उपर्युक्त दो घटनाओं का वर्णन है—एक मघ के मानसिक संघर्ष को सूचित करती है और दूसरी चोरों के साथ युद्ध को। सम्पूर्ण घटना को मिलाकर देखने से युद्ध का वर्णन और संघर्ष दोनों मिलकर मनोरम हो जाते हैं।

इसी प्रकार जहाँ संवाद-योजना का अवसर आता है, वहाँ भी मन की भावनाओं के संघर्ष और बाह्य संघर्ष का सामंजस्य दिखाई पड़ता है। भोजक[1] और भार्या तथा शोभन[2] और मघ के साथियों का वार्तालाप इसका प्रमाण है। इस संवाद में दोनों के हृद्गत भाव और मानसिक संघर्ष स्फुट हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकार क्रियाशीलता और चरित्र-चित्रण के साथ मानसिक संघर्ष भी प्रकट करना चाहता है। हम इस आलोचना से सहमत नहीं हैं कि 'अनघ' में गीतितत्व और नाट्यतत्व दोनों की परिक्षीणता है। हम ऊपर सिद्ध कर आए हैं कि ये दोनों तत्व इसमें विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों की

अनघ : मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ ७ पंचम आवृत्ति, २००५ वि०।

१. अनघ, पृष्ठ ६५, ७१।

२. अनघ, पृष्ठ ४१, ५०।

परस्पर समविधानता भी पाई जाती है।

सियारामशरण जी ने 'उन्मुक्त' नामक एक गीति-नाट्य लिखा है। इस नाटक में भी मैथिलीशरण जी के 'अनघ' नाटक के समान स्थान से दृश्य की सूचना मिलती है; जैसे—शयन-कक्ष, शुश्रूषालय, संचालन-शिविर इत्यादि। इसमें रंगमंच के संकेत भी 'अनघ' के सदृश मिलते हैं। यह नाटक भी गीति-नाट्य की दृष्टि से सफल नाटक कहा जा सकता है।

'प्रेमी' का गीति-नाट्य 'स्वर्ण विहान' है जिसमें अहिंसा के द्वारा हिंसा पर विजय दिखाई गई है। इसमें प्रेम की महत्ता दिखाते हुए नाट्यकार कहता है—

"जाने कब, किस ओर बैठकर, प्रेम छोड़ता अपने बाण
जाने कब, कैसे छिद जाती किसी अपरिचित की मुस्कान।
जाने कब किसकी वीणा की गूँज मधुरतम मादक गान
अन्तर के पर्दे छू छू कर पागल कर देता है प्राण।"

इस नाटक में मानसिक संघर्ष के कई सुन्दर स्थल हैं और नाट्यकार ने उन स्थलों की गम्भीरता को समझा है। इस प्रकार इसकी गणना उत्तम गीति-नाट्यों में की जा सकती है।

उदयशंकर भट्ट आज के सबसे सफल गीति-नाट्यकार माने जा सकते हैं। उन्हें अपनी कृतियों के प्रयोग के साधन भी उपलब्ध हैं। रेडियो-स्टेशन से उनके गीति-नाट्य प्रसारित किए जाते हैं। 'कालिदास', 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' चार गीति-नाट्यों में उनकी काव्य-कला और नाट्य-कला दोनों झलकती हैं। 'विश्वामित्र' में तो 'करुणालय' का अडिल्ल छन्द ही प्रयुक्त हुआ है।

मत्स्यगंधा

प्रथम दृश्य में यौवन के मद से उन्मत्त मत्स्यगंधा के सामने आकर अनंग इस प्रकार अपना परिचय देता है।

"यौवन में तृप्तिहीन तृष्णा, प्ररोहलोम।
सैकड़ों वसन्त हास!
शत शत उद्गार, शत शत हाहाकार!"

अनंग अपना परिचय देकर मत्स्यगंधा को वरदान देना चाहता है, किन्तु मत्स्यगंधा उसे अस्वीकार कर देती है।

दूसरे दृश्य में पाराशर ऋषि मत्स्यगंधा की नाव पर नदी पार करना चाहते हैं। पाराशर के उद्दीप्त काम और मत्स्यगंधा की उन्मत्त यौवन-अभिलाषा का मिलन होता है। यह स्थिति गीति-नाट्य के बहुत ही उपयुक्त है। नाट्यकार ने उक्त स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

एक आवाज़—नाथ यह कन्यकात्व
दूसरी आवाज़—वह भी कलंकहीन,
पहली आवाज़—नाथ, वह इष्ट मुझे।
दूसरी आवाज़—एवमस्तु एवमस्तु
पहली आवाज़—एवमस्तु प्रियतम।

यही मत्स्यगंधा जब सत्यवती के रूप में विधवा हो जाती है और अपने अतीत का पर्यवेक्षण करती है तो उसका हृदय विक्षुब्ध हो जाता है, और वह अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार करती है—

"घूमता शरीर यन्त्र, घूमते नगर धाम,
घूमता है नील नभ, जगत अलात सा।"

इसी समय अनंग की यह कटूक्ति सुनाई पड़ती है—

"पियो कंठ तक पियो ओठ तक डाल-डाल,
यौवन महान है, अलभ्य है जगत में।"

इस गीति-नाट्य में मानसिक द्वन्द्व चरम उत्कर्ष तक पहुँचता दिखाई देता है।

भट्ट जी का दूसरा नाटक 'विश्वामित्र' है। इस पौराणिक

कथा को प्रतीक नाटक के रूप में दिखाया गया है। इस नाटक में पुरुष और नारी का संघर्ष है। विश्वामित्र अहंकार के और मेनका कोमलता के प्रतीक हैं। इन दोनों का संघर्ष नर-नारी का संघष है, जो आदिकाल से चला आ रहा है।

नारी क्या है, इसका ज्ञान कराने के लिए मेनका के मुँह से कहलाया गया है—

'नारी प्राणविहीन चेतना से रहित,
एक भावना पुंज पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव-सौख्य की,
सुखहीना है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की,
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।

विश्वामित्र अथवा अहंकार को बारह वर्ष के उपरान्त अपनी भूल ज्ञात होती है और वह सोचता है—

"नारी को निज सुख का साधन मानकर,
उसे बनाया हमने पथ का पुष्प है।
हम सब सुख से रहें समान विभाग से,
जीवन का सुख भोगें.....।"

उदयशंकर भट्ट पौराणिक कथाओं द्वारा आधुनिक नारी-समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। इस नाटक में उक्त समस्या को सुलझाया गया है और गीति-नाट्यों के नियमों का भली भाँति पालन भी हुआ है।

राधा

'राधा' एक भाव-नाट्य है। सम्पूर्ण नाटक मधुर गीतों में विरचित है। राधा को हम यमुना के किनारे मूक, अर्द्ध-चेतना-सी, केवल स्वप्न की मूर्ति-सी, अर्द्ध-जाग्रत, यमुना के जल में पैर

डाले, लहरों पर हाथ थपथपाते अपस्मार की दशा में पाते हैं। वह गा रही है[1]—

"हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?
मैं तिमिर में खोजती हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?"

इतने में सखी विशाखा आ जाती है। कृष्ण-प्रेम के सम्बन्ध में इन दोनों में वार्तालाप होता है। राधा कह रही है[2]—

"क्या हुआ मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गए वे क्या कहूँ री।
वज्र-कीलित से हुए उत्कीर्ण से मेरे हृदय में।
क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है।।"

विशाखा भी कृष्ण-प्रेम में विभोर है। वह अपनी स्थिति तथा जग-स्थिति का वर्णन इस प्रकार करती है[3]—

"क्या कहूँ किससे सखी, मैं भूल सारे नियम बन्धन,
छोड़ जग आचार 'लज्जा' घूमती ले हृदय विह्वल
रात दिन, संध्या सवेरे, दुपहरी इस कुंज वन में।
गूंजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह छवि
नेत्र में सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।"

राधा से विशाखा कहती है कि कृष्ण की छवि निरखने और ध्वनि सुनने को 'मैं ही नहीं यह जगत् सारा हुआ पागल।'

इस नाटक में राधा को विवाहिता नारी के रूप में दिखाया गया है। राधा ने बचपन से ही अविवाहिता रहने का संकल्प

१. विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य : उदयशंकर, पृष्ठ ६८।
२. " " " : पृष्ठ १०२, १०३।
३. " " " पृष्ठ १०५।

किया था, किन्तु उसका विवाह कर दिया गया है। उस दाम्पत्य-जीवन से उसे सुख-प्राप्ति नहीं होती। वह अपनी स्थिति इस प्रकार बता रही है[1]—

"दम्पती के धर्म का पालन न मैं कर पा रही हूँ,
नाव पर बैठा दिया है अपरिचित मल्लाह की री।"

राधिका जब कृष्ण से अपने हृदय की प्रेम-वेदना प्रकट करती है तो कृष्ण पृथ्वी पर अवतार लेने का उद्देश्य बताते हुए कहते हैं—

"और वास्तव धर्म की संस्थापना का सुनिश्चय ले,
तथा नैतिक प्रेम का ही रूप जग को दिखाने को
यहाँ आया हूँ महाव्रत यही मेरा सत्य राधे!"

कृष्ण इतना कहकर देश की राजनीति और धर्म-नीति के संस्कार में तल्लीन हो जाते हैं और राधा पर्णकुटीर में कृष्ण को 'अनिर्वचनीय भाव' और जग का 'ब्रह्म रूप' मानकर साधना करती है। कृष्ण उसे कितना समझाते हैं, किन्तु वह अपने संकल्प में दृढ़ है। जब राधा कृष्ण-विरह में मूर्च्छित हो जाती है तो कृष्ण दर्शन देते हैं। तब राधिका प्रसन्न होकर नृत्य-गान करने लगती है। कृष्ण भी प्रसन्न होकर गाने लगते हैं—

"राधिके! मेरे हृदय की श्वास भाषा कल्पना तुम
कृष्ण राधामय हुआ, आज राधा कृष्णमय सब"

अन्त में कृष्ण और राधा का रूप अन्धकार में एक हो जाता है।

इन गीति-नाट्यों का आशय विस्तार से लिखने का यह उद्देश्य है कि इस प्रकार की नाट्य-परम्परा स्पष्ट की जा सके। ये सम्पूर्ण नाटक नृत्य और गीति के आधार पर विरचित हैं। रास शैली की जो परम्परा 'चन्द्रावली' और 'करुणालय' से होती हुई आधुनिक काल में पहुँची है, वही आज विशेषताओं को समेटे हुए इस

१. विश्वामित्र और दो भाव-नाट्य : पृष्ठ १०८।

नाटक में परिलक्षित होती है। 'राधा' नाटक में राधिका को विवाहिता दिखाया गया है। वर-निर्वाचन में राधिका का कोई अधिकार न होने तथा बाल्यकाल से अविवाहित रहने के संकल्प के कारण उसका दाम्पत्य-जीवन सुखमय नहीं बनता। वह बाल्यसखा कृष्ण के प्रेम में विभोर रहती है और अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेती है। यह कथानक रास-नाटकों में नहीं मिलता। शेष सम्पूर्ण बातें रास-लीला-शैली में ही प्रदर्शित की गई हैं। रासलीला के कथानक में जो परिवर्तन किया गया है वह आज की विवाह-समस्या की ओर संकेत कर रहा है।

सांस्कृतिक नाटक

हम पूर्व विवेचन कर आए हैं कि भारतेन्दु ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना की ओर भी संकेत किया है। 'नील देवी' में एक हिन्दू विधवा सती की प्रचलित प्रथा की उपेक्षा करती हुई, नर्तकी का वेष बनाकर शत्रु-शिविर में प्रविष्ट होती है और युक्तिपूर्वक शत्रु-संहार के द्वारा अनेक हिन्दू नारियों के सतीत्व की रक्षा करती है। हिन्दी नाटकों में सांस्कृतिक चेतना की यह भावना इतनी क्रान्तिकारिणी प्रतीत हुई कि बाबू श्यामसुन्दरदास जैसे समालोचकों को भी कुछ अद्भुत और अभिनव ज्ञात हुई।

भारतेन्दु को मुसलिम काल की संस्कृति कुछ ऐसे परिवर्तन के साथ जीवन के सभी क्षेत्रों में पग बढ़ाते मिली थी, जिसमें भारतीय संस्कृति के सच्चे रहस्य को समझने-समझाने की प्रवृत्ति दबती जा रही थी। हम पूर्व देख आए हैं कि राधाकृष्ण के रास को रसिया कन्हैया वाजिदअली शाह ने किस प्रकार विलासमय 'इन्दर-सभा' में परिवर्तन करने की चेष्टा की थी और इसका प्रभाव भारतेन्दु-काल के नाटकों पर क्या पड़ा था।

भारतेन्दु को 'इन्दर सभा' में परम्परागत भारतीय संस्कृति का विकृत रूप देखकर ऐसी वितृष्णा हुई कि उन्होंने इसका उत्तर सभ्य समाज के सम्मुख 'चन्द्रावली' के रूप में और साधारण जनता के सामने 'बन्दर सभा' के रूप में रखना नितान्त आवश्यक समझा।

भारतेन्दु के दिवंगत होने पर उस युग के नाट्यकार भारतीय संस्कृति की रक्षा का ध्यान रखते हुए नाटक लिखते रहे। वे नाट्यकार भारतीय संस्कृति के प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले बाल-विवाह, वेश्या-वृत्ति, मद्य पान, बहुविवाह आदि कुप्रथाओं को बाहर निकालने का सतत प्रयास करते रहे। इस कारण उस काल के नाटकों में कहीं-कहीं राष्ट्रीय पुकार का स्वर मन्द पड़ जाता है और भारतीय संस्कृति की महत्ता तथा विजातियों के सम्पर्क से प्राप्त दोषों के निवारण का स्वर प्रभविष्णु हो उठता है।

भारतेन्दु युग की समाप्ति होते-होते रूस जापान से पराजित हो गया और कर्जन की कूटनीति के कारण उद्बुद्ध भारत में स्वदेशी आन्दोलन छिड़ गया। इस आन्दोलन में आगे चलकर हिन्दू-मुसलमान सभी सम्मिलित हो गए और भारत-माता की उपासना के लिए एक-दूसरे के साथ मिलकर आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगे। मुसलमान और ईसाई भी अपने निराकार देव की वन्दना के साथ-साथ 'सुहासिनी सुमधुर भाषिणी, सुखदां वरदां' से भारत-माता की उस मूर्ति की ओर आकृष्ट हुए, जिसका चरण सागर धोता है और जिसका उन्नत मस्तक (हिमालय) आकाश छूता है। विक्रम की बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आ पहुँचा था। भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच रही थी। प्रतिभाशाली नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय ने जनता की इस नई मनोवृत्ति को समझकर ऐतिहासिक नाटक लिखने आरम्भ कर दिए थे।

राय बाबू के नाटकों में सांस्कृतिक विचारों का परिष्कृत रूप स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ा। उन्होंने मध्यकाल का इतिहास लेकर भारतीय संस्कृति का विवेचन किया। उनके नाटकों में मुसलिमकालीन प्रवृत्तियों का भी चित्रण अति मनोरम रूप में हुआ। इस काल की विशेषता थी—द्वेष और देशानुराग का संघर्ष। पारस्परिक कलह से द्वेषवश हिन्दू, मुसलिम शासक के सहायक बनते थे किन्तु अपनी आँखों अपनी जन्म-भूमि का उत्पीड़न देख भी नहीं सकते थे। वे चाहते थे कि किसी प्रकार इसका कल्याण हो। इसीसे एक ओर जहाँ वीर प्रताप से शत्रुता करके छोटे भाई सगरसिंह द्वेष के कारण मुसलमानों का साथ देते हैं, वहीं दूसरी ओर अपनी कन्या सत्यवती को देशोद्धार और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए वन-वन भटकते देख गद्‌गद हो उठते हैं और अपने कृत्यों के प्रायश्चित्त स्वरूप मृत्यु-दण्ड के लिए भी प्रस्तुत हो शाहज़ादा जहाँगीर से कहते हैं—"दुनिया में दो बादशाहतें हैं, उनमें से एक का नाम खुदगरजी और दूसरी का नाम जान निसारी है। एक की पैदाइश दोज़ख से और दूसरी की बहिश्त से। एक का मालिक शैतान है और दूसरी का मालिक परमेश्वर या खुदा। मैं अब तक खुदगरजी के मुल्क में रहता था, पर उस दिन मैंने जान निसारी का मुल्क देखा। उस मुल्क के मालिक बुद्ध, ईसा और गौरांग हैं, उस मुल्क का कानून मुहब्बत, भक्ति और रहम है।"[1]

मुसलमान धर्म स्वीकार करने पर एक हिन्दू की मनोवृत्ति महावत खाँ और गजसिंह के वार्तालाप से प्रकट होती है—

"महावत—मुझे इसलिए फख्र हो रहा है कि मुसलमान होने पर भी मैं इसी राजपूत कौम का हूँ और इन्हीं अमरसिंह का

१. मेवाड़-पतन—द्विजेन्द्रलाल राय, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई, संवत १९७३ वि०, पृष्ठ ७६।

भाई हूँ।·····अपने मुल्क के लिए ऐसी जान-निसारी, ऐसी बेखौफी और ऐसी हिम्मत का काम राजपूत ही कर सकते हैं और मैं भी उन्हीं राजपूतों में हूँ।"[1]

राय बाबू के नाटक मूल अथवा अनुवाद रूप से प्रायः प्रत्येक भारतीय साहित्यकार पर प्रभाव डाल रहे थे। हिन्दी भाषा के नाट्यकार श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' इस प्रभाव से सबसे अधिक प्रभावित हुए।

'प्रेमी' ने अपने नाटकों में दो भिन्न प्रतीत होती हुई हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों को संयुक्त करने की चेष्टा की। उन्होंने भी 'राय' महोदय के सदृश प्रायः मध्य काल की ऐतिहासिक घटनाओं को अपने नाटकों का कथानक बनाया।

इस काल में 'रक्षा बन्धन', 'शिवा साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग' तथा 'आहुति' नामक सांस्कृतिक नाटक 'प्रेमी' द्वारा रचे गए। इन नाटकों में हमें उनका एक दृष्टिकोण यह दिखाई पड़ता है कि राष्ट्रीय एकता सांस्कृतिक एकता के बिना सम्भव नहीं; और सांस्कृतिक एकता तब तक दृढ़ नहीं बन सकती जब तक हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति का रहस्य उदार दृष्टि से समझने की चेष्टा नहीं करते। 'प्रेमी' इन ऐतिहासिक नाटकों द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मुस्लिम काल में कई बार सांस्कृतिक एकता के प्रयास हुए किन्तु हर बार कट्टरता सफलता की बाधक बनती रही।

'रक्षा बन्धन' में यह दिखाया गया है कि स्वर्गीय महाराणा सांगा की पत्नी कर्मवती मुगलों के अन्याय और वैर-भाव को विस्मृत कर हुमायूँ के साथ भ्रातृ-भगिनी का सम्बन्ध स्थापित करती है। उदार हुमायूँ बादशाह बहादुरशाह के आक्रमण से बहन

१. मेवाड़ पतन—द्विजेन्द्रलाल राय, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, संवत् १९७३ वि०, पृष्ठ ९२।

कर्मवती की रक्षा के लिए विविध विपत्तियों की ज्वाला में कूदकर चित्तौड़ प्रस्थान करना चाहता है। उस समय उसका सेनापति तातारखाँ उसे वर्जित करते हुए कहता है—[1]

"तातारखाँ—एक काफिर कौम को मुसलमानों के खिलाफ मदद दे रहे हैं, क्या यही खुदा की हिदायत है।

हुमायूँ—तुम भूलते हो। तुम सब एक ही परवरदिगार की औलाद हो। हिन्दुओं के अवतारों ने और तुम्हारे पैगम्बरों ने एक ही रास्ता दिखाया है। 'कुरान शरीफ' में साफ लिखा है कि 'हमने हर गिरोह के लिए एक खास रास्ता मुकर्रर कर दिया है, जिस पर वह अमल करता है। इसलिए उस पर झगड़ा न करो।'.....नेकी की राह तो उसकी राह है, जो खुदा पर, सारी खुदादाद किताबों पर और सारे पैगम्बरों पर ईमान लाता है।.....यह बात हिन्दुओं की मजहबी किताबें कहती हैं। फिर मजहब दोनों की दोस्ती के बीच में दीवार कैसे बन सकता है?

तातारखाँ—वे हमारे पैगम्बर को नहीं मानते।

हुमायूँ—और तुम उनके पैगम्बर को मानते हो?.....खुदा की साफ हिदायत होते हुए भी तुम हिन्दुओं के धर्म और अवतारों की इज्जत न करते हुए उनसे लड़ते हो। राजपूत इस वक्त सचाई पर हैं और बहादुरशाह गुमराह हैं। सच्चे मुसलमान का काम सचाई का साथ देना है, फिर चाहे उसे मुसलमान के खिलाफ ही क्यों न लड़ना पड़े।"[2]

इस प्रकार सेनापतियों का विरोध होते हुए भी हुमायूँ चित्तौड़ को प्रस्थान करता है, किन्तु उसके पहुँचने के पूर्व ही

---

१. रक्षाबन्धन—श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी', हिन्दी भवन, इलाहाबाद, १८वाँ संस्करण, पृष्ठ ५३।

२. रक्षाबन्धन—हरिकृष्ण 'प्रेमी', पृष्ठ ५३।

कर्मवती जौहर की ज्वाला में भस्म हो चुकी होती है। चित्तौड़ पहुँचने पर चिता की राख देखकर उसे मार्मिक वेदना होती है। इस राजपूत नारी की प्रशंसा करते हुए हुमायूँ कहता है[1] —"यह खाक इन्सानियत की आँखों का अंजन है।···महाराणा! बहन कर्मवती की चिता की यह आग मजहबी तअस्सुब की जलन पैदा न करे।·····सारे ही मुसलमान बुरे हैं, यह न समझना। इन्सान और शैतान सब जगह होते हैं।·····मैं तो हिन्दुओं के कदमों में बैठकर मुहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।"

विक्रम—हिन्दू और मुसलमान, ये दोनों ही नाम धोखा है, हमें अलग करने वाली दीवारें हैं। हम सब हिन्दुस्तानी हैं।

हुमायूँ—हिन्दुस्तानी ही नहीं इन्सान हैं। हमें अब दुनिया की हर किस्म की तंगदिली के खिलाफ जिहाद करना चाहिए। हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है। बहन कर्मवती ने इस दरिया के दो बड़े हिस्सों, हिन्दू और मुसलमानों को जिस मुहब्बत के धागे में बाँध दिया है, वह कभी न टूटे, मैं खुदा से यही चाहता हूँ।"

हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति के सम्मिलन का जो प्रयास मुस्लिम-काल में किसी-न-किसी रूप में शताब्दियों से चला आ रहा था, वह शाहजहाँ-काल में दारा के रूप में मूर्त्तिमान हो उठा था, किन्तु औरंगज़ेब के क्रूर हाथों ने उसका विनाश कर दिया। 'स्वप्न' में दारा की मृत्यु के समय भारतीयता की प्रतीक जहाँनारा कहती है—

"आज एक महान् स्वप्न भंग हो गया।·····क्या भारत की भावी पीढ़ियाँ इस महान बलिदान को भूल जायँगी·····हिन्दुस्तान, क्या तू इस आवाज को सुनेगा? सुनकर कुछ करेगा?"

---

१. रक्षाबन्धन—हरिकृष्ण 'प्रेमी', पृष्ठ १२५–१२६।

इसी प्रकार 'शिवा साधना' में हमें समर्थ गुरु रामदास का यह उपदेश मिलता है कि स्वतन्त्रता के युद्ध में भारतीय संस्कृति के सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयास होना चाहिए।

'प्रतिशोध' में छत्रसाल की वीरता और प्राणनाथ के विचारों का आभास मिलता है। प्राणनाथ कहते हैं—

"स्वार्थी मत बनो भैया! तुम्हें अन्तःचक्षु प्राप्त हुए हैं। बाहरी प्रकाश पर निर्भर होना छोड़ो।"

'आहुति' नामक नाटक में बादशाह अलाउद्दीन नलहारगढ़ के समीप एक ग्रामीण युवती पर मुग्ध होकर मीर माहिम से कहता है—

"उस धानी साड़ी वाली लड़की को देखते हो, बोलो, तुम मेरा काम करोगे उस लड़की से·····

मीर माहिम—मीर माहिम ऐसी बात सुनना पाप समझता है, जहाँपनाह! एक बहादुर सिपाही किसी औरत की इज्जत और शान के खिलाफ कोई बात नहीं सुन सकता।"

अलाउद्दीन की जघन्य मनोवृत्ति को तिरस्कृत करता हुआ मीर माहिम हिन्दू बालिकाओं के धर्म की रक्षा करता है, किन्तु इसके परिणामस्वरूप उसे बादशाह की कृपा खोनी पड़ती है। अनाश्रित अरण्यवासी मीर माहिम को हम्मीर अपनी छत्रछाया में स्थान देता है, जिसका अर्थ होता है अलाउद्दीन के आक्रमण की धमकी। मीर माहिम हम्मीर से निवेदन करता है—

"महाराज, इस नाचीज के लिए इतनी बरबादी और तबाही क्यों न्योतते हैं? मुझे जाने दीजिए।

हम्मीर—मीर साहब, रणथम्भोर में जब तक एक भी राजपूत जीवित है; वह आपका अंग-रक्षक बनकर रहेगा।

मीर माहिम—यह है इन्सानियत का सच्चा नमूना। दिल चाहता है अपनी हस्ती को मिटाकर आपके कदमों के नीचे बिछा दूँ।

अपने आपको जलाकर आपकी आँखों का सुरमा बना दूँ।"

अलाउद्दीन के आक्रमण के समय राजपूतों के साथ-साथ मीर माहिम दुश्चरित्र अलाउद्दीन का सामना करता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए महात्मा जी सतत प्रयत्नशील थे, उसी सांस्कृतिक ऐक्य को साहित्य का विषय बनाकर नाट्यकार रचना कर रहे थे।

'प्रेमी' का संस्कृति-प्रधान नवीन नाटक है 'उद्धार' [सम्वत् २००६ वि०]। इस नाटक में हम्मीर का विवाह कमला नामक विधवा के साथ दिखाया गया है। हम्मीर स्वयं भी दरिद्र किसान का दौहित्र है। इसकी माता सुधीरा एक दरिद्र-कृषक-कन्या है।

हम्मीर ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के भेदभाव को मिटाकर देश को समृद्ध बनाना चाहता है। उसका मत है कि नीच जाति वाले उच्च वर्ग की अपेक्षा मनुष्यता के अधिक निकट हैं, क्योंकि 'विधवाओं के प्रति उच्च जातिवालों की भाँति निर्दय नहीं'। इस नाटक में देश को जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊँचा माना गया है और राजा यदि भूल करे तो जनता जनार्दन को अधिकार प्राप्त है कि वह राजा को दंड दे। देश-प्रेम को पति प्रेम से ऊँचा धर्म माना गया है और प्रान्तीयता की दीवारों को गिराकर राष्ट्रीयता की स्थापना पर बल दिया गया है। इसमें मुस्लिम शक्ति को विदेशी घोषित किया गया है।

इस काल में 'प्रेमी' के अतिरिक्त सांस्कृतिक चेतना-प्रधान नाटकों के मुख्य रचियता हैं—चन्द्रगुप्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, उग्र, सेठ गोविन्ददास, सियाराम शरण गुप्त।

हम पूर्व कह आए हैं कि प्रेमी जी ने राष्ट्रीयता के लिए हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के अभिन्न अंगों को मानवता के नाम पर एक में संयुक्त करने की चेष्टा की। इसके लिए उन्होंने

मुस्लिम काल की घटनाओं को कथानक का रूप दिया। अन्य नाट्यकारों ने भारतीय इतिहास के अन्य युगों से भी सामग्री ली और भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित करने में उसका उपयोग किया। चन्द्रगुप्त ने कम्बोज के युवराज यशोवर्मा की जीवन-घटना ली। युवराज यशोवर्मा पशुबल के द्वारा एक विशेष संस्कृति के प्रचार में संलग्न हैं। उस समय आशा द्वीप निवासियों को इस बात का अहंकार है कि उनकी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। इस कारण वे लोग संसार की अन्य संस्कृतियों के स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर अपने ही विचारों में निमग्न रहते हैं। इस आशा-द्वीप की राजकुमारी रेवा है। रेवा अपने द्वीप की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में कहती है[1]—

"हमारे इस अत्यन्त छोटे आशा द्वीप के समान सम्पन्न, सुसंस्कृत, सभ्य और सुखी द्वीप इस धरती पर दूसरा नहीं है। इसकी तुलना स्वर्ग ही से की जा सकती है, पृथ्वी पर के किसी अन्य उपद्वीप, द्वीप या महाद्वीप से नहीं।"

ठीक इसके विपरीत चोलराज और इन्दिरा भारत के बाहरी देशों से सम्बन्ध जोड़कर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार और सुधार करना चाहते हैं। इस नाटक में एक तीसरा मत है जो अपनी संस्कृति का प्रचार और प्रसार शस्त्र-बल से करना चाहता है। यशोवर्मा कहता है[2]—"आचार्य पुंडरीक शस्त्र-विजय के विरुद्ध हैं। वह शस्त्र-विजय की अपेक्षा हृदय की विजय को अधिक महत्त्व देते हैं। यह सांस्कृतिक विजय विश्व-भर का कल्याण करेगी, यही तो उनका सन्देश है।' इस प्रकार तीन संस्कृतियों का संघर्ष नाटक में दिखाया गया है। 'रेवा' एक

१. रेवा—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, खन्ना पब्लिशर्स, लाहौर सन् १९३८ ई० पृष्ठ ३।

२. रेवा—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार पृष्ठ १३-१४।

दुःखान्त नाटक है, जिसमें बालिका रेवा अपना बलिदान स्व-संस्कृति की रक्षा-हित करती है।

इसी प्रकार 'अशोक' नाटक में शीला का आत्म-बलिदान दिखाकर राजा का हृदय-परिवर्तन स्नेह और सेवा के बल पर किया गया है।

सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' नाटक में भी हृदय-परिवर्तन के लिए स्नेह और सौजन्य को ही आवश्यक माना गया है। इस नाटक में हर्ष, राज्यश्री और सुएनच्यांग सेवा-मार्ग को ही सर्व-श्रेष्ठ समझते हैं। हर्ष और भण्डि का संवाद इसको स्पष्ट कर देता है कि वास्तविक विजय हृदय-परिवर्तन में है न कि शस्त्र द्वारा देश-विजय में।

'उग्र' का 'ईसा' भी इसी कोटि में आता है। ईसा की प्रसिद्ध कहानी में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके नाटक लिखा गया है। इस नाटक में ईसा पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव दिखाया गया है। ईसा जिस संस्कृति का प्रतिपादन करते हैं उसका मूल-मन्त्र यह है—

"पशुबल को यदि पशुबल दबाएगा तो वह महा पशुबल हो जायगा, जिससे किसी को भी सुख न मिल सकेगा। अत्याचार के प्रतिकार के लिए धैर्य, आत्म-दमन और अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।"

इस युग का एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक नाटक है 'पुण्य पर्व'। सियारामशरण जी ने इस नाटक में सत् और असत् के प्रतीक रूप में सुतसोम बोधिसत्व और ब्रह्मदत्त नरखादक को रखा है। इन दोनों का संघर्ष ही इस नाटक का प्राण है। इस नाटक को यदि प्रतीक नाटक मान लिया जाय तो इसमें वह संघर्ष समझना चाहिए जो मानव के अन्तःकरण में देवता और राक्षस के मध्य होता रहता है।

विक्रमद्विसहस्राब्द उपरान्त लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा आदि ने कई सांस्कृतिक नाटकों की रचना की है। इनमें 'गरुड़ध्वज' 'नारद की वीणा' 'दशाश्वमेध' 'वत्स राज' 'वितस्ता की लहरें' 'शक-विजय' 'हंसमयूर' प्रसिद्ध हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध जैन-गुरु कालकाचार्य की जीवन-घटना को लेकर कई नाटक लिखे गए जिनमें तीन प्रमुख नाट्यकारों की रचनायें प्रसिद्ध हैं—पं० उदयशंकर भट्ट का 'शक-विजय' (वि० २००६) वृन्दावनलाल वर्मा का 'हंस-मयूर' और पं० लक्ष्मी-नारायण मिश्र का 'गरुड़ध्वज' (संवत् २००५ वि०)। तीनों नाट्यकारों ने इतिहास-ग्रन्थों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में इस जैन-गुरु का चरित्र-चित्रण किया है।[1]

'गरुड़ध्वज' में विदिशा के शुंग सेनापति विक्रममित्र नायक के रूप में प्रदर्शित किये गए हैं, किन्तु नाटक का नायक सर्व-शक्ति सम्पन्न होते हुए भी अपनी महत्ता से अधिक अपने राष्ट्रध्वज (गरुड़ध्वज) को गौरव देता है। इसी कारण मिश्र जी ने नाटक का नाम विक्रममित्र न रखकर प्रसिद्ध राष्ट्रध्वज के अनुरूप गरुड़ध्वज रखा। यह वही राष्ट्रध्वज है जिसकी मान-रक्षा के लिए गुप्त-राज्य के बड़े-बड़े सम्राट्, सेनापति और योद्धा अपना प्राण समर्पण करते रहे हैं। भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग लाने वाला यह गरुड़ध्वज केवल राष्ट्र-पताका ही नहीं, प्रत्युत् राष्ट्र-प्रतीक के रूप में हमारे गौरव का द्योतक बन गया है। जिस पराक्रमी विक्रममित्र को नायक बनाकर नाटक लिखा गया है, वह नित्य ब्रह्म-मुहूर्त में उठकर पूजा, यज्ञ और अनुष्ठान के बाद गरुड़ध्वज को अपनी आँखों से लगाता है।

नाट्यकार ने विक्रममित्र को द्वितीय देवव्रत भीष्म के सदृश

१. तीनों नाटकों की विशेषताएँ अलग अलग स्थानों पर नाट्यकार की अन्य रचनाओं के साथ दिखाई गई हैं।

चित्रित किया है। इसका कारण यह दिखाया है कि गरुड़ध्वज की छाया में जिस ध , समाज और राजनीति का निर्माण हुआ था वह उन्हीं के वंशज के गृह-कलह के कारण नष्ट न हो जाय। इस बाल ब्रह्मचारी योद्धा ने सारे जीवन में यह जाना ही नहीं कि रमणी का आकर्षण क्या वस्तु है। इसने नारी जाति की रक्षा के लिए देशी और विदेशी अत्याचारियों से युद्ध किया, अशरण को शरण दी। इसके लिए नारी जाति अभिवन्द्य है, चाहे वह भारतीय हो अथवा विदेशी। यवन-कन्या कौमुदी को भगाने वाला अन्तिम शुंग शासक कुमार देवभूति को विक्रममित्र बन्दी बनाता है, यवन बालिका के अपहरणकर्ता देवभूति को आश्रय देने वाला काशिराज भी विक्रममित्र के कोप का भाजन बनता है। इसी प्रकार काशिराज की कन्या वासन्ती को उसकी अनिच्छा से विवाह करने का अभिलाषी यवन मनेन्द्र भी दण्ड से नहीं बचता।

विक्रममित्र अपने चरित्र-बल और निःस्वार्थ सेवा से जनता की श्रद्धा का भाजन बन जाता है। इसके राज्य में अनुशासन भंग करने का साहस भी किसी व्यक्ति को नहीं। एक दिन एक सैनिक भूलवश विक्रममित्र को महाराज कहकर अनुशासन भंग करता है, उस दिन वह भयभीत हो कांपता हुआ कहता है—[1]

'मैंने सेनापति की जगह महाराज जो कह दिया—यह अपराध अक्षम्य है। कदाचित् सेनापति विक्रममित्र के राज्य-विधानमें इससे बड़ा कोई भी दूसरा अपराध नहीं है।'

इस प्रकार विक्रममित्र अपने चरित्र-बल से राज्य में सुव्यवस्था और न्याय के प्रति निष्ठा उत्पन्न करता है। इसकी न्याय प्रियता, सदाचार और पराक्रम से यवन विदेशी भी भारत को अपना देश समझने लगे हैं। यवन हलोदर कहता है—[2]

---

१. गरुड़ध्वज : लक्ष्मी नारायण मिश्र सन् १९४८ ई० पृ० ६।

२. गरुड़ध्वज : लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ ७७, ८९।

"जिस धरती के अन्न-जल से पले व्यक्ति, उसी धरती के धर्म में, जब तक अपने को ढाल नहीं लेता, तब तक तो वह अत्याचारी है। उसे अधिकार नहीं है उस धरती पर रहने का। हमारे पूर्वज इस देश में आने के साथ ही इस देश के धर्म में ढल गए। जुपिटर और मिनर्वा को तो वे यवन-देश में ही छोड़ आए। यहाँ तो श्री विष्णु, महेश्वर, लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती के भक्त हो गए। ऐसा नहीं करने पर तो वे इस देश में विश्वास के पात्र कभी होते ही नहीं।"···कदाचित् मुसलिम लीग को लक्ष्य करके यह लिखा गया।

'वत्सराज' संवत् २००६ वि० की रचना है। इस नाटक की प्रेरणा के सम्बन्ध में मिश्र जी लिखते हैं—"वत्सराज के जिस चरित्र ने भास और कालिदास ऐसे महाकवियों को मोहित किया, उसके आधार पर यह नाटक लिखने का साहस केवल इस विश्वास से सम्भव हुआ कि भारतीय जनतन्त्र के इस पुण्य अवसर पर भारतीय साहित्य और कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति का निरूपण आज के लेखक का सबसे पहला धर्म है।"[1]

वत्सराज उदयन इस नाटक का नायक है। उदयन के सम्बन्ध में भास, वररुचि, गुणाढ्य, श्री हर्ष, अनंगहर्ष[2], क्षेमचन्द्र, सोमदेव और 'प्रसाद' आदि कई महानुभावों की रचनाएं मिलती हैं, किन्तु मिश्र जी ने भास के कथानक को अपने नाटक के लिए अधिक उपयुक्त समझा है। इस नाटक का कथानक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' और 'स्वप्न वासवदत्ता' के आधार पर कल्पना के योग से निर्मित हुआ है। मिश्र जी ने इस नाटक को 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' के मध्य से प्रारम्भ किया है। प्रथम अंक में 'प्रतिज्ञा

---

१. वत्सराज—लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी भवन, जालन्धर, इलाहाबाद सं० २००६ वि० भूमिका।

२. अनंग हर्ष ने तापसवत्सराज नामक ग्रन्थ लिखा है।

यौगन्धरायण' का सम्पूर्ण कथानक आ जाता है। पद्मावती-विवाह के उस पूरे प्रसंग को वासवदत्ता के मुख से कहला दिया गया है, जिसे भास 'स्वप्न वासवदत्ता' के ६ अंकों में प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार उदयन की जिस कथा को भास ने 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' के पांच और स्वप्न वासवदत्ता' के ६ अंकों में प्रदर्शित किया है, उसे मिश्र जी ने 'वत्सराज' के दो अंकों में प्रस्तुत कर दिया है। मिश्र जी ने एक नई घटना—सिद्धार्थ का युवावस्था में गृहत्याग और उनके इस कर्म का तत्कालीन समाज पर प्रभाव इसमें दिखाया है। तीसरा अंक मिश्र जी की कल्पना के आधार पर निर्मित है। इस अंक में देश का सांस्कृतिक रूप उनकी मौलिकता के कारण सबसे अधिक चमक उठा है। इस अंक के प्रारम्भ में वासवदत्ता का पुत्र कुमार तथागत के उस श्रमण-धर्म में दीक्षित हो जाता है जिसे महाराज उदयन देश के पौरुष और कर्म को हानि पहुँचाने वाला समझते हैं। उदयन युद्ध के 'वीर धर्म और गीता-उपनिषद् के कर्म योग का' मानने वाला है। उसकी अनुमति बिना उसके पुत्र को श्रमण धर्म की दीक्षा देने वाले गौतम कौशाम्बी में आ रहे हैं और प्रजा उनके स्वागत का बृहद् आयोजन कर रही है। इस प्रकार राजा और प्रजा के धार्मिक विचारों में असामंजस्य होने के कारण एक जटिल समस्या खड़ी होने की सम्भावना है, किन्तु दूरदर्शी उदयन इसे सुलझाने के लिए यह आदेश करता है—"मेरे सैनिक, पौरजन कोई ऐसा कार्य न करें जिससे तथागत तथा श्रमणों का अपकार हो। भरत भूमि के निवासी कर्म से विमुख होकर श्रुति और स्मृति का विधान मिटाकर श्रमण-धर्म से जो योग-क्षेम चाहते हैं, उसमें बाधा मैं न दूँगा।"

प्रजा के धार्मिक विश्वासों में हस्तक्षेप न करते हुए भी वह

इसके भावी दुष्परिणाम की आशंका स्पष्ट प्रगट कर देता है। रानी वासवदत्ता को भी संघारामों का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। वह स्पष्ट रूप से कह देती है, "कि संघारामों के कुमार-कुमारी छिपकर प्रेम करेंगे। वहां भी शिशु···केहां···केहां करेंगे उनका पिता कौन है यही कोई नहीं जानेगा। ऐसी दशा में इस देश की नाव डूब जायगी।" उदयन गौतम के प्रति श्रद्धा रखते हैं किन्तु उनके धर्म को कायरों का धर्म कहते हैं।

उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण भी तथागत के धर्म को देश के लिए अमंगलकारी समझकर इस पाखण्ड को फूँक देना चाहता है। उसका मत है कि जो मृत्यु से डरकर भागा वह मृत्युंजयी कैसे हो सकता है। मिश्र जी के इस नाटक में 'प्रसाद' का विलासी और लम्पट उदयन नहीं, प्रत्युत् एक तेजस्वी, प्रजापालक और कर्मयोगी वीर उदयन परिलक्षित होता है। जिसे हम भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुसार धीरोदात्त नायक भी कह सकते हैं। 'प्रसाद' ने 'अजातशत्र' में बौद्ध-दर्शन और अहिंसा-धर्म की गरिमा की ओर अधिक ध्यान दिया है, किन्तु लक्ष्मीनारायण मिश्र ने श्रमण को भी कर्मयोग में दीक्षित किया है। मिश्र जी ने 'प्रसाद' के नाटकों की आत्म-हत्या प्रवृत्ति का खण्डन किया है और उदयन के मुख से कहला दिया है[1] कि 'कर्म-योग में विश्वास करने वाला अपने कर्म के फल से भाग निकलने के लिए कभी आत्मघात नहीं करेगा।' इस प्रकार इस नाटक में उदयन के सम्बन्ध की घटनाओं का मनोवैज्ञानिक मानवीय और बौद्धिक रूप उपस्थित करते हुए तप और भोग का समन्वय दिखाया गया है जो हमारी संस्कृति का मेरुदंड है।

---

१. वत्सराज : लक्ष्मीनारायण मिश्र, हिन्दी भवन, जालन्धर, सम्वत् २००६ विक्रमी पृष्ठ ११६।

नारद की वीणा संवत् २००३ वि०

मिश्र जी ने प्रागैतिहासिक काल की एक घटना के आधार पर नारद की वीणा नामक नाटक की रचना की है। 'देवी भागवत' में नर और प्रह्लाद के युद्ध का जो वर्णन है उसके माध्यम से धर्म और आपद्धर्म की विवेचना इस नाटक में की गई है। इसका कथानक हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त प्रारम्भ होता है। अपने पिता की मृत्यु का कारण प्रह्लाद क्यों और कैसे हुआ इसका बौद्धिक उत्तर देने का प्रयास इस नाटक में मिलता है। आर्यों के भारत आगमन से यहाँ के मूल निवासियों के सम्मुख जो विकट समस्या खड़ी हुई उसके सुझाव में शैवों और वैष्णवों में मतभेद हुआ। शैवागम, मूढाग्रह के कारण विकट परिस्थिति में भी धर्म में परिवर्तन नहीं चाहता, किन्तु वैष्णव-धर्म उदार और समन्वयवादी होने से आततायी से भी समझौता करता है। हिरण्यकशिपु शैव और प्रह्लाद वैष्णव था। जातीय हित के लिए एक शैव का वध अनिवार्य बन गया। अतः सिंह की खाल के आवरण में छिपकर मानव ने हिरण्यकशिपु का वध किया। इस षड्यंत्र में प्रह्लाद का हाथ था यह नाट्यकार की नवीन स्थापना है। नितान्त नवीन होने से यह धारणा सहसा ग्राह्य नहीं बनती।

आर्य जाति इस देश में आने पर भी कच्चा मांस खाती थी, यायावर के रूप में स्थान-स्थान पर घूमती रहती; आर्य किशोर किशोरियों के साथ स्वछन्द विहार करते। इसके प्रतिकूल यहाँ के मूल निवासी आश्रमों में रहते, अध्यात्म विद्या की खोज करने के लिए संयम मय जीवन बिताते और परिणय में कन्यादान को महत्व देते।

कालान्तर में आर्यों ने अपनी सन्तान को इन आश्रमों में शिक्षा के लिए भेजना प्रारम्भ किया। गुरुवर्ग अनार्य था किन्तु उन्होंने अपने सहज औदार्य से आर्य-संतान की उचित शिक्षा-दीक्षा की

व्यवस्था की। संस्कृत, सोमश्रवा, सुमित्र आर्यकुमार थे, चन्द्रभागा आर्य-कन्या थी। आश्रम में ही सुमित्र और चन्द्रभागा में प्रेम हो गया। अनार्य महर्षि नर, आचार्य नारायण और वैष्णव भक्त नारद और प्रह्लाद के सहयोग से सुमित्र और चन्द्रभागा का विवाह अनार्य पद्धति पर होता है। इस परिणय में अनार्य-विधि-कन्यादान का सर्वप्रथम प्रयोग होता है। आर्य कच्चा मांस खाना छोड़ देते हैं। आर्यों की यज्ञ-व्यवस्था अनार्य आश्रम में स्वीकृत होती है।

ऋषियों के हाथ में अस्त्र-शस्त्र देख प्रह्लाद हिंसा का विरोध करते हैं। नर और प्रह्लाद में युद्ध होता है। नर प्रह्लाद को हरा देता है। किन्तु नारायण अनासक्त भाव से यह सब देखता है। नारायण-जैसे आचार्य की बुद्धि एवं आश्रम का इतना प्रभाव पड़ता है कि आर्य भी अपने शव का गाड़ना छोड़कर उन्हें भस्म करने लगते हैं। वे भारत के उपनिषदों की मूलभूत ब्रह्म भावना को स्वीकार कर लेते हैं।

नर और प्रह्लाद के युद्ध में प्रह्लाद एक ऐसे नवीन आग्नेयास्त्र का प्रयोग करते हैं कि सभी वीर चकित रह जाते हैं। किन्तु उनकी मुखमुद्रा युद्धकाल में क्रोधावेश के कारण नितान्त परिवर्तित हो जाती है। उनके नेत्रों से आग निकलने लगती है। इस कारण उनकी पराजय होती है, महर्षि नर की विजय। नारायण नितान्त शान्त मुद्रा में अपना कार्य करता हुआ कहता है—"संघर्ष और तप में ही यह प्रकृति पूर्ण है और प्रकृति के पूर्ण होने में ही हम भी पूर्ण हैं। द्रोह और वैर में नहीं। दो नदियों के मिलने में पहले संघर्ष होता है और फिर एक धार हो जाती है।" प्रह्लाद की हार का कारण बताते हुए नारायण कहता है—'प्रह्लाद वीर हैं, विख्यात धनुर्धर हैं किन्तु तब भी इनकी उत्तेजना पराजित करेगी। जो भीतर से शान्त नहीं है वह विजय के समीप नहीं जा पाता।"

नाट्यकार इस बात को स्पष्ट करना चाहता है कि सभ्यता और

संस्कृति सदा असभ्यों और असंस्कृत बर्बरों के हाथों परास्त होती है किन्तु उसकी महानता यही है कि पराजित होने पर नवागन्तुकों को अपने रंग में ऐसा रँग लेती है कि वे इसी भूमि के बन जाते हैं। वे इसी भारत भूमि के उस धर्म का आचरण करते हैं जिसकी मान्यता है—"धर्म व्यक्ति का नहीं होता, जाति का नहीं होता वह तो प्रकृति का होता है। जिस भूखण्ड की प्रकृति का जो गुण है और स्वभाव है उसी के अनुरूप उसके निवासियों का धर्म होता है × × × इस भूखण्ड की प्रकृति में ही प्रेम और तुष्टि है।"

सारांश यह है कि जिस समय नैमिषारण्य के अनार्य विद्यार्थी वीणा बजा रहे हैं उस समय चन्द्रभागा के उस पार के आर्य धमध-ड़ाम सूखा चमड़ा ही बजाते हैं। शरीर और शस्त्र के बली यायावर आर्य योग-दर्शन, कला-विज्ञान और ज्योतिष के अधिकारी अनार्यों को रणभूमि में पराजित करने में तो समर्थ हुए, पर एक समय ऐसा आया जब अपने विजितों से ही उन्हें बहुत कुछ सीखना पड़ा। गंगा और यमुना की धार की तरह एक में मिलकर दोनों आगे बढ़े, उसी में इस देश की संस्कृति और जीवन-दर्शन को वह संजीवनी शक्ति मिली जो आजतक बराबर चलती चली जा रही है। गंगा की धार की तरह उसका भी अन्त नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ये नर-नारायण महाभारत काल में अर्जुन और कृष्ण के रूप में अवतरित हुए। इन दोनों के चरित्र में यही संकेत मिलता है।

दशाश्वमेध संवत् २००८ वि०

'वत्सराज' के बाद यह नाटक लिखा गया। अपने इन सांस्कृतिक नाटकों—नारद की वीणा, गरुड़ध्वज, वत्सराज, दशाश्वमेध—में मिश्र जी ने संस्कृत नाटकों के अनुसरण पर भरत-वाक्य जैसी पद्धति अपनाई है। इन सभी नाटकों के अन्त में किसी-न-किसी चरित्र ने मंगल और उत्कर्ष की बात कह ही दी है। इस नाटक

में भगवती विन्ध्यवासिनी के प्रधान पुजारी भैरवी सिद्ध के ये शब्द हैं—"इस देश का इतिहास भारशिव नागों की तरह बराबर इस देश के वीरों के खड्ग से लिखा जाय।" इस वाक्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस नाटक दशाश्वमेध के कथानक में नागराज वीरसेन और उसके सहधर्मियों ने अपने समय का इतिहास अपने खड्ग से लिखा।

ईसा की प्रथम शती में देवपुत्र कुषाण-राज कनिष्क ने पुरुषपुर से लेकर प्रायः पाटलिपुत्र तक की भूमि को ही अपने अधिकार में नहीं किया, अपितु गान्धार और काश्मीर के उत्तर चीन की कुछ भूमि पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया। उसके समय में बौद्ध धर्म को बहुत बल मिला था। चीन के दो राजकुमार उसके बन्दी बने थे। चीन और भारत में परस्पर शान्ति बनी रहे और चीन कभी इधर आँख उठाने का साहस न करे, इस उद्देश्य से दोनों कुमारों को बन्धक के रूप में काश्मीर के भीतर जिस स्थान पर रखा गया था, वहाँ चीनियों का एक छोटा-मोटा उपनिवेश-सा बन गया है जो इतिहास में 'चीन मुक्ति' नाम से प्रसिद्ध है।

सम्राट् कनिष्क अपने सारे गुण और धर्म-भाव के बाद भी विदेशी ही था। विदेशियों के द्वारा—चाहे वे सब ओर से देव-सरीखे ही क्यों न हों—शासित होना इस देश के वीरों के लिए सदैव कलंक की बात रही।

ईसा की तीसरी शती में भारशिव नागों की एक ऐसी शक्ति उठ खड़ी हुई जिसने विदेशी कुषाण-शक्ति को देश के बाहर खदेड़ते हुए गंगा-यमुना की धारों को मुक्त कर, पूर्वजों के स्वर्ग का द्वार खोल दिया। इस नाटक में पद्मावती (एक स्थान विशेष) का तरुण वीरसेन नाग, कुषाण-शक्ति का उनके भीतर से पता लगाने के लिए मथुरा के कुषाणराज वासुदेव की सेना में एक सामान्य सैनिक के रूप में कार्य करने लगता है। पश्चिम में पहले

से ही हूणों का आतंक पुरुषपुर की कुषाण सेना पर छा रहा था। वीरसेन मथुरा की कुषाण सेना में रहते हुए अपने जातीय संगठन को बराबर बढ़ाता रहा और अब पश्चिम की तरह पूर्व में भी कुषाण शक्ति के ऊपर संकट के बादल मँडराने लगे हैं। कुषाण-राज्य के पूर्वी अंचल में नाग शक्ति के संकेत पर बार-बार गंगा के जल में कुषाणों का राजकोष लूटा गया। कान्तिपुरी के हाथियों के बेड़े ने गंगा का मार्ग कुषाण सेना के लिए अरक्षित कर दिया। वीरसेन ने जब से कुषाण सेना में नौकरी कर ली है, तब से यह अराजकता बन्द तो हो गई है पर इसके संकट सदैव के लिए मिटे नहीं हैं। कुषाण शक्ति का पूर्वी क्षत्रप अंगारक वासुदेव की पुत्री कौमुदी को अपनी प्रिया बनाने की चिन्ता में काशी छोड़कर मथुरा में डेरा डाले है, किन्तु कौमुदी का स्वाभाविक स्नेह उस वीरसेन नाग की ओर कुछ ऐसे अनोखे ढंग से हो जाता है, जिसके लिए किसी ने कहा था—'तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय।' राजपुत्री वर्ष के उत्सव पर्वों में वीरसेन को अपने निकट रखने लगी। राजमन्त्रणा में भी वीरसेन का आसन ऊपर रहा। यह नाग तरुण जितना ही अल्हड़ है उतना ही अनासक्त भी।

नित्य के सम्पर्क में इसने कामना की आँखों से न तो कभी राजपुत्री को देखा न उसकी सखियों को। उसके इस संयम और आचरण में राजपुत्री सूर्य-किरणों में हिम-सी पिघल उठती है, पर वीरसेन की ओर से इस आशय का कोई संकेत उसे कभी नहीं मिलता। दूसरी ओर अंगारक उसे अपनी भेंट और आग्रह के विविध रूपों से ठग कर देता है। इन दोनों पुरुषों के स्वाभाविक विभेद में राजपुत्री के भीतर वीरसेन के प्रति अनुराग और अंगारक के प्रति घृणा का भाव धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। वीरसेन को अपने सिद्धि-मार्ग का अवरोधक मानकर, शिव-मन्दिर में पूजा करते समय अंगारक उसकी हत्या का षड्यन्त्र करता है, पर वीरसेन

के लिए पूर्व का द्वार खुल गया। तक्षशिला के राजा आंभीक ने यवन विजयी को इस देश में प्रवेश के लिए निमन्त्रित किया, पर सिन्धु-तट तक पहुँचते-पहुँचते विजयी यवन को एक-एक पग भूमि के लिए जो कठोर संग्राम करने पड़े, इससे उसे पता चल गया कि निषद के पूर्व की मानवता कुछ दूसरी थी। उसे बार-बार ऐसे छल और विश्वासघात से कार्य लेना पड़े, जिसे पारस में वह अपनी जाति और सेना के गौरव-बोध में लज्जाजनक मान चुका था।

आम्भीक की सहायता से सिन्ध तो उसने पार कर लिया, पर तक्षशिला की राजशक्ति की सहायता पर भी उसकी विजय का सब से बड़ा प्रतिरोध वहीं (तक्षशिला में) उत्पन्न हुआ। देश की स्वतंत्रता और धर्म के आग्रह में तक्षशिला महाविद्यापीठ के कपाट बन्द हो गए। स्नातकों और आचार्यों ने यवन-विनाश का संकल्प लेकर कार्य करना आरम्भ कर दिया। इस भूमि ने इसके पूर्व ऐसे बर्बर आक्रमण का अनुभव नहीं किया था। यहाँ के लोग जानते ही नहीं थे कि युद्ध में पराजित होने पर धन और धरती के साथ नारी-मर्यादा का भी अन्त था। यवन-सेना वितस्ता के तट तक पहुँची तब तक इस पार कैकय-मंडल का नारी-समुदाय चन्द्रभागा की ओर भेज दिया गया। [तक्षशिला के आचार्य विष्णुगुप्त को राजनीति की जानकारी भी कदाचित् इसी अवसर पर हुई।] कुछ काल तक युद्ध के उपरान्त दोनों पक्षों ने विराम सन्धि की। किन्तु सन्धिवार्त्ता के साथ-ही-साथ विजयी यवन का रात को वितस्ता पार करने का प्रयत्न और उसकी प्रेयसी ताया का तक्षशिला के स्नातकों द्वारा हरण, अलिक सुन्दर की रक्षा अपने दुर्मद हाथी से स्वयं पुरु का करना, और अन्त में ताया की प्रेरणा से ही दोनों पक्षों में सन्धि—नाटककार की कल्पना के वे सूत्र हैं जो मनोरम होते हुए भी इतिहास-सिद्ध नहीं हैं। भूमिका में मिश्र जी ने यवन लेखकों द्वारा लिखे इतिहास पर सन्देह तो प्रकट कर दिया, किन्तु

सत्य इतिहास का कोई सन्तोष जनक प्रमाण नहीं दिया। अतः इस नई स्थापना को स्वीकार करना सहज नहीं। ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की मर्यादा रक्षणीय है। इस नाटक में यह त्रुटि खटकती है।

अशोक

मिश्रजी का प्रथम नाटक 'अशोक'—जिसकी रचना उनकी २३ वर्ष की अवस्था में संवत् १९८३ वि० हुई थी—भी इसी कोटि में आ सकता है, पर इस नाटक के विषय में जब मेरी बातें उनसे हुईं तो उन्होंने निस्संकोच भाव से स्वीकार किया कि यह नाटक उनके प्रमाद का फल है। उनके कथनानुसार शेक्सपियर का भूत बंगाली नाट्यकार द्विजेन्द्रलाल राय के हृदय का देवता बन गया था जिसको अचेना जाने या अनजाने देश को कितनी ही भाषाओं के नाटककारों ने की थी। मिश्र जी का यह नाटक 'अशोक' इस अर्चना के उसी क्रम में लिखा गया। मिश्र जी का कहना है कि शेक्सपियर से प्रभावित होकर द्विजेन्द्र के नाटक यदि न लिखे गए होते तो इस देश की विभिन्न भाषाओं के सभी नाटककार कालिदास और भास की परम्परा में चलकर भारतीय जीवन-दर्शन के निष्ठावान् पोषक बने रहते, पर ऐसा न हो सका। यूरोप के नाटकीय विधान में जिस समय इब्सन और अन्य नाटककार जीवन की वास्तविकता का चित्रण करने लगे थे और शेक्सपियर की पद्धति के विरुद्ध वेगवती प्रतिक्रिया चल पड़ी थी, इस देश के अभाग्य से शेक्सपियर के छोटे संस्करण द्विजेन्द्र का जन्म बंगाल में हो गया। मिश्र जी ने अपने नाटक 'मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में लैला और नूरजहाँ, गुलेनार और दुर्गादास के संवादों के आधार पर द्विजेन्द्रलालराय को अन्तःकरण का अन्धा साहित्यकार कहा है। समय आ गया है कि जब हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार कर यह निर्णय करें कि मिश्र जी का यह

कथन केवल उनके अपने अहंकार के पोषण के लिए है अथवा भारतीय कला और साहित्य के उन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए है जिसे वे वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक सब कहीं अधिक मानते हैं और कहते हैं कि पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पहले बंगाल में फैला और वहाँ से महामारी की तरह सारे देश पर छा गया।

अशोक नाटक के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में ब्रजरत्नदास जी ने इसके धर्मनाथ पर 'प्रसाद' के चन्द्रगुप्त नाटक के चाणक्य की जो छाया देखी है वह रचना-क्रम को देखते हुए भ्रान्त प्रतीत होती है। 'अशोक' 'चन्द्रगुप्त' से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका था। अशोक के साथ-साथ 'कामना' नाटक प्रकाशित हुआ। उसके चार वर्ष उपरान्त 'चन्द्रगुप्त' प्रकाशित हुआ। अतः 'प्रसाद' के चाणक्य की छाया मिश्र जी पर किस प्रकार सम्भव है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रजरत्नदास जी से अनजान में यह भूल हो गई है।

प्रतिज्ञा भग क्यों

मिश्र जी ने अपने प्रथम समस्या नाटक 'संन्यासी' की भूमिका में यह कहा था कि "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं," पर अपनी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध जो उन्होंने इतने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों की रचना कर डाली, इसका कोई-न-कोई कारण अवश्य रहा होगा। इस सम्बन्ध में वार्त्तालाप करने पर उन्होंने बताया कि 'प्रसाद' के नाटकों की प्रतिक्रिया में मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी।" उनका कथन है कि "प्रसाद' के नाटकों से भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पड़ी, भावी पीढ़ी के पथ-भ्रष्ट होने की आशंका मेरे भीतर उपजने लगी, उसके निराकरण के लिए मुझे ऐसे नाटक रचने पड़े जिनमें हमारी संस्कृति

और जीवन-दर्शन का वह सत्य झलक उठे जो कालिदास और भास के नाटकों में पहले से ही निरूपित है।"

मिश्र जी का मत है कि 'प्रसाद' के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्म-हत्याएँ कराई जाती हैं, संवादों में जो अस्वाभाविकता पाई जाती है, प्रेम की अभिव्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से जो श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा जाता है वह भारतीय नाट्य-पद्धति के विरुद्ध है। इसी कारण वह अपने नाटकों में आत्म-हत्या, काव्यमय संवाद, प्रेमी-प्रेमिका के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्त्व एवं कल्पना में अतिरंजन को स्थान नहीं देते। अब समय आ गया है कि मिश्र जी के विचारों की समीक्षा की जाय और इस बात का निर्णय किया जाय कि देश और जाति के हित के लिए उनकी ये गर्वोक्तियाँ कहाँ तक उपयुक्त हैं।

शैली

मिश्र जी के सभी सांस्कृतिक नाटक तीन अंकों में समाप्त होते हैं। सम्पूर्ण नाटक गीत रहित हैं। भाव चित्रण के साथ-साथ बौद्धिक विवेचन पर भी बल है। अधिकांश घटनाओं को प्रारम्भ में क्रिया के रूप में न दिखाकर पात्रों के संवाद में सूचित किया गया है, जो नाट्यकला की दृष्टि से दोषपूर्ण है।

भाषा काव्यमयी न होकर सरल, स्वाभाविक, अन्तर्जगत् के चित्रण में समर्थ, ओजस्वी, नाट्योपयोगी और मनोरम है। मिश्र जी इसे स्वीकार नहीं करते कि उनकी शैली का आधार भारतीय नाट्य शास्त्र नहीं, प्रत्युत् पाश्चात्य नाट्यकला है।

हम पूर्व कह आये हैं कि उदयशंकरभट्ट का 'शक-विजय' (संवत् २००६ वि०) सांस्कृतिक नाटकों की कोटि में आता है। भट्ट जी को शक विजय की प्रेरणा भारतीय संस्कृति के महत्त्व से मिली। उनका कहना है कि धर्म की आड़ में भारतीय

संस्कृति पर कुठाराघात करनेवाला अक्षम्य है। इसे ही दर्शाना इस नाटक का लक्ष्य है। भट्ट जी इस नाटक द्वारा देशवासियों में ऐसी भावना जागृत करना चाहते हैं, 'जो देश को धर्म से भी महान् और व्यक्ति और समाज से भी बृहत्तर समझे।" जिस मानसिक संतुलन से उपर्युक्त विचारों को प्रोत्साहन मिले उसे ही स्वीकार करना आप नाटक का इष्ट समझते हैं। इस नाटक में उस कालकाचार्य और उस गन्धर्वसेन को भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है जो देश-द्रोह के कारण इतिहास में लांछित समझे जाते रहे हैं।

विक्रमादित्य के सम्बन्ध में वृन्दावनलाल वर्मा ने भी एक नाटक लिखा है। उन्होंने हंसमयूर (सं० २००५ वि०) नामक नाटक की प्रेरणा के विषय में लिखा है—

"हिन्दी में विक्रमादित्य के ऊपर जो नाटक अब तक लिखे गए हैं, उनमें आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों का बहुत कम उपयोग किया गया है। एक बार विक्रमादित्य चित्रपट (फिल्म) को देखकर तो मन में बहुत ही ग्लानि हुई थी। यह चित्रपट उस समय के इतिहास और तत्कालीन अवस्था का विपर्यय-मात्र था।"

इस नाटक का नायक इन्द्रसेन है, जो कृत नाम से संवत् चलाता है और हंसमयूर नामक संस्कृति की स्थापना करता है। नाट्यकार 'हंसमयूर' नाम से भारतीय संस्कृति का जो रूप सामने रखना चाहता है, वह इन्द्रसेन और रामचन्द्र के वार्त्तालाप से स्पष्ट हो जाता है। रामचन्द्र का मत है कि "यह समय रुद्रशंकर के तांडव का है।" इन्द्रसेन का मत है कि शकों को पराजित करने पर उनके बाल-बच्चों का वध अनुचित है। यदि वे भारतीय संस्कृति के होकर भारत देश में रहेंगे, तो उसी प्रकार उनकी रक्षा की जायगी, जैसे आर्य-जनों की होती है। इन्द्रसेन जिस वैष्णव धर्म और भारतीय संस्कृति की कल्पना करता है उसमें "भक्ति

और पुरुषार्थ का, तपस्या और जीवन का, त्याग और भोग का विषय और महिमा का, सौंदर्य और तेज का, बुद्धि और बल का,... कोमलता और दृढ़ता का, क्षमा और दंड का, क्रिया और विचार का, शान्ति और सक्रियता का समन्वय" है। चतुर्भुज विष्णु के हाथों में गदा और चक्र दुर्वृत्तियों के दमन का, शंख जन-जागरण का, कमल विश्व में सर्वत्र जीवन को पुरस्कार तथा वर-दान देने का सूचक है। भारतीय संस्कृति को हंसमयूर की उपाधि देकर इन्द्रसेन इसका तात्पर्य समझाता है कि "हंस बुद्धि, विवेक, प्रज्ञा, मेधा, भक्ति और संस्कृति का प्रतीक है; मयूर तेज, बल और पराक्रम का। दोनों का समन्वय ही आर्य संस्कृति है।"

इस नाटक में कई स्थानों पर काल-दोष दिखाई पड़ता है। कुजुक, भूमक तथा नहपाल को एक साथ उपस्थित करना घटना-क्रम के प्रतिकूल है। उषवदास ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर जैन नहीं है किन्तु इस नाटक में जैन धर्मावलम्बी दिखाया गया है। इस ऐतिहासिक नाटक में एक कल्पित पात्र को नायक बनाना और "हंसमयूरी" नामक काल्पनिक संस्कृति का आविष्कार करना नाटक के महत्त्व की अभिवृद्धि नहीं करता। नाट्यकार का लक्ष्य था इतिहास की रक्षा करना, किन्तु इस नाटक में वह यत्र-तत्र इतिहास सम्बन्धी अक्षम्य भूलकर जाता है।

पूर्व की ओर (सं० २००७ वि०)

वर्मा जी का नवीन सांस्कृतिक नाटक 'पूर्व की ओर' संवत् २००७ वि० में प्रकाशित हुआ। भारत के स्वतन्त्र होने पर नाटक-कारों की दृष्टि समीपवर्त्ती देशों की सभ्यता और संस्कृति की ओर अधिकाधिक आकर्षित होती जा रही है। वर्मा जी ने जातक-कथाओं, पूर्वी द्वीपों में उपलब्ध भग्नावशेषों और शिलालेखों के आधार पर भारत के साथ वारुण द्वीप (बोर्नियो) का अति प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध किया है। वारुण द्वीप के एक शिलालेख पर उत्कीर्ण

मूलवर्मा, अश्ववर्मा और कुण्डुंग का दक्षिण भारत का पल्लव-वंशी होना प्रमाणित किया है। पल्लवों का ग्यारहवाँ राजवंशज वीरकूर्च एक तेजस्वी शासक था। उसका प्रपौत्र वीरवर्मा हुआ, जिसका भाई अश्ववर्मा कुण्डुंग का पिता था। यही अश्ववर्मा इस नाटक का नायक है।

इस नाटक में दूर-दूर तक भारतीयों की समुद्र-यात्रा और भारतीय संस्कृति का पूर्वी देशों में विकास दिखाने का प्रयास पाया जाता है। प्रारम्भ में ही गौतमी और कन्दर्पकेतु के वार्तालाप से यह सिद्ध कराया गया है कि आज से प्रायः १६०० वर्ष पूर्व सौम्य (सुमात्रा), कसेरू (मलय), नागद्वीप (निकोबार) और वारुण (बोर्नियो) आदि द्वीपों में हमारे जलयान आते जाते थे। लोग छः-छः महीने तक समुद्र-यात्रा करते थे और मानवकल्याण के लिए देश के नवयुवक ही नहीं नवयुवतियाँ भी समुद्र-यात्रा की भयंकरता का निर्भीकता से सामना करतीं।

अश्ववर्मा वारुण द्वीप में पहुँचकर भारतीयों का उपनिवेश बनाने में समर्थ होता है। ये भारतीय उस द्वीप का अन्नाभाव दूर करने के लिए नहर खोदने का कार्य करते हैं। वहाँ अन्न की उपज बढ़ जाती है। देश समृद्ध हो जाता है तो अश्ववर्मा अपने सहकारियों को बुलाकर कहता है—"धर्म का राज्य स्थापित हो जाय, सुन्दर भारतीय कलाओं का प्रसार हो जाय और जनता सर्वथा सुखी रहने लगे।"[1]

शपथ (सं० २००८ वि०)

'प्रेमी' का यह सब से नया नाटक है। इसमें भारतीय इतिहास के आधार पर भारतीयों के उन गुणों और संस्कारों का उल्लेख है जिनके कारण भारत तेजस्वी, वीर और बलवान् बना।

---

१. पूर्व की ओर—वृन्दावनलाल वर्मा पृ० १५५

साथ-ही-साथ उन निर्बलताओं और त्रुटियों को भी दिखाया गया है, जिनके कारण भारत को अनेक बार विदेशी शक्तियों से पराजित होना पड़ा।

'प्रेमी' को इस नाटक की प्रेरणा स्वतन्त्र भारत की जनता की दुर्बलताओं को देखकर मिली है। उनका कहना है कि "जिन भूलों और जिन जातीय दुर्गुणों के कारण भारत बार-बार पराधीन हुआ है, उन्हें फिर दोहराया जा रहा है।"

इस नाटक में हूणों के आक्रमण से देश की रक्षा करने वाले विष्णुवर्धन को नायक बनाया गया है। इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा और लोकनायक विष्णुवर्धन (यशोधर्मन) कई नाटकों का नायक बन चुका है।[1]

शपथ में वेश्या कंचनी का चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। देश-रक्षा में योद्धा, नीतिज्ञ, कृषक, व्यवसायी आदि सभी वर्गों के साथ वेश्याओं का साहस भी बल प्रदान करता है। 'प्रेमी' यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जातीय जीवन का विकास प्रत्येक वर्ग के त्याग और पुरुषार्थ पर निर्भर है।

गौतम नन्द (सं० २००९ वि०)

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' ने तीन नाटक—'प्रताप प्रतिज्ञा' 'समर्पण' और गौतम नन्द लिखे हैं। समर्पण सं० २००७ वि० में लिखा गया। गौतम नन्द उनकी नवीन रचना है। गौतम बुद्ध के अनुज गौतम नन्द इस नाटक के नायक हैं। नाटककार का मत है कि गौतम बुद्ध के गृह-त्याग के उपरान्त महाराज शुद्धोदन की सम्पूर्ण आशा अपने कनिष्ठ पुत्र गौतम नन्द पर केन्द्रित हुई। किन्तु गौतम नन्द ने भी गौतम बुद्ध के आदेश पर अपने विवाह, नवगृह-

१. भारत की स्वतंत्रता के उपरान्त यशोधर्मन को नायक मानकर तीन नाटक —स्वतंत्र भारत, समाधि और शपथ—लिखे गए हैं।

प्रवेश तथा राज्याभिषेक के ऐन मौके पर भिक्षु-धर्म स्वीकार किया। इसी घटना को नाटक के रूप में दिखाना नाटककार को अभीष्ट है।

'मिलिन्द' जी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि 'भारतीय लोक तन्त्र के अभ्युदय के उषाकाल' में साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में अधिक कार्य करने की आवश्यकता है। कला के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि "जीवन से अलग कटकर कला के जीवित रहने का सिद्धान्त अब बहुत पुराना पड़ गया है। आज कला और साहित्य भी जीवन ही के अंग बन गए हैं।"

इस सिद्धान्त के आधार पर मानव-जीवन के कल्याण के लिए उन्होंने गौतम नन्द का चरित्र-विकास दिखाया है। माधविका के मुख से नाटककार ने महान् व्यक्ति गौतम नन्द के गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है—"तुमने इतना महान् त्याग किया है, यह तुम्हारी पहली विशेषता है और अपने महान् त्याग को त्याग ही न मानना तुम्हारी दूसरी विशेषता है। कोटि-कोटि सामान्य मानवों की सरल त्याग-भावना के प्रतीक! तुम्हें बार-म्बार प्रणाम!"

'मिलिन्द' जी अब नाटकों में अधिक दृश्य-परिवर्तन के पक्ष में नहीं हैं। 'प्रताप प्रतिज्ञा' के तीन अंकों में जहाँ २३ और 'समर्पण' में १२ दृश्य थे वहाँ अब इस नाटक के तीन अंकों में कुल ६ दृश्य हैं। पात्रों की संख्या भी घटाने का प्रयास किया गया है।

पगध्वनि (सं० २००६ वि०)

महात्मा गांधी के जीवनकाल में और उनके निधन के उपरान्त उनके सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य बना, किन्तु किसी प्रमुख नाटककार ने उन्हें नाटक का नायक या पात्र नहीं बनाया। संवत् २००६ वि० में चतुरसेन शास्त्री ने 'पग-ध्वनि' नामक एक नाटिका लिखी जिसमें बापू, गुरुदेव, खाँ अब्दुल गफ़्फार खाँ, एंड्रूज आदि

महानुभाव पात्र के रूप में दिखाये गए।

इस नाटिका में सर्वथा नई पद्धति प्रयुक्त है। नाटक की अब तक की सभी पुरानी-नई परम्पराओं का इसमें उल्लंघन किया गया है। नाटिका में कोई भी कथानक नहीं, केवल भावना के रेखाचित्र हैं। मानव के साथ हिंसा, पूँजी, राजनीति, अहिंसा, सभ्यता, सत्य, धर्म, सत्याग्रह, खद्दर, असहयोग आदि भी पात्र के रूप में विद्यमान हैं और मानव के सदृश वार्त्तालाप करते हैं। सम्पूर्ण नाटिका ६ अंकों में विभक्त है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है। प्रस्तावना में 'कस्तूर बा' का स्तवन गान[1] है और अन्त में भरत-वाक्य के रूप में एक गान है।[2]

प्रथम अंक में शान्तिनिकेतन का दृश्य है जहाँ गांधी दर्शन की व्याख्या होती है। दूसरे अंक में नोआखाली का गाँव है जहाँ खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ गांधी भावना का विवेचन कर रहे हैं। तीसरे अंक में नोआखाली का दूसरा गाँव है, जहाँ गांधी का प्रभाव डाकुओं और लुटेरों पर दिखाया गया है। इसी अंक में गांधी का यह सन्देश स्पष्ट सुनाई पड़ता है—"मैं मरने की रीति सिखाता हूँ।

× × ×

१. बा कस्तूर जयति जय,
जय - जय - जय - जय हे।
मन वैरागिनी, जन अनुरागिनी
परम तपस्विनी, अग्रारोहिनी
बापू की अनुगामिनी हे।

× × ×

२. जग रे जग, अब तो जग।
अभय अमर-विगत रोष।
मत्सर तज-चल निरकुल—
अब तो पग-पग—जग रे जग।

जब तुम मरो तो गुस्से से उबलते मत मरो, ठंडे दिल से मुस्कराते हुए मारने वाले को माफ कर दो, उसे अपना प्यार देते जाओ।"

चौथे अंक में आगा खाँ महल का दृश्य है। कस्तूर बा रुग्णावस्था में हैं, यहाँ गांधी-जीवन की एक झाँकी दिखाई गई है। विश्व-मंगल में सतत संलग्न व्यक्ति अपने समीपवर्त्तियों के साथ प्रेम में तन्मय होकर कैसा व्यवहार करता है उसकी छटा यहाँ पर देखने को मिलती है।

पाँचवें अंक में बापू का दिल्ली में उपवास और हिन्दू-मुसलमानों पर उसका प्रभाव दिखाया गया है। दोनों रक्तपात से ऊबकर गांधी जी के प्रभाव में आ जाते हैं। नोआखाली में हुस्नजहाँ कहती है—"भागे हुए भाइयों को वापस बुलाना, उन्हें फिर से बसाना है; नोआखाली का सारा पाप-ताप धो बहाना है।" इस प्रकार इस अंक में हिन्दू-मुसलिम विरोध का परिहार दिखाई पड़ता है।

छठें अंक में अणु बम से ध्वस्त एक नगर का हृदयविदारक दृश्य है। लाशों और आहतों के मध्य नागरिकता और सभ्यता क्षीणकाय स्त्री-वेश में दबी पड़ी है। इसी अंक में हिंसा, अहिंसा, पूँजी, राजनीति, धर्म, सत्य, सत्याग्रह आदि पात्र दिखाई पड़ते हैं। इनके वार्त्तालाप के अन्त में हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य आता है। वह मानवता को अपनी सेवाएँ अर्पण करता है। हिंसा अहिंसा की शरण लेती है, धर्म भी अहिंसा की शरण में जाकर सत्य का अनुसरण करता है और भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाटक रचना का यह नितान्त नवीन शिल्प है। इसमें गांधी-जीवन की बिखरी घटनाओं को एकत्र दिखाते हुए मानव-कल्याण का पथ दर्शाया गया है। विभिन्न घटनाओं में एकसूत्रता न होने के कारण एक कथानक नहीं बन पाया है। प्रत्येक अंक स्वतन्त्र चित्र के

सदृश है। ऐसे ६ चित्रों को एक कैनवास पर सजाया गया है। इस प्रकार सबका सम्मिलित प्रभाव दिखाया गया है।

सब मिलाकर नाटक बड़ा ही रुचिकर और हितकर बन गया है, किन्तु नाटक में जो रस व्यापार-विधान के मध्य से फूटकर निकलता है उसका यहाँ प्रायः अभाव है। अधिकांश घटनाएँ संवादों से सूचित होती हैं, किन्तु कुछ स्थल ऐसे मार्मिक बन गए हैं जहाँ संवाद और व्यापार का मेल हो जाता है। ऐसे स्थलों में कस्तूर बा के अन्तिम क्षण का दृश्य अत्यन्त मार्मिक है। यहाँ करुण रस व्यापारों और संवादों के मिलन से फूट निकला है। इस शिल्प में यदि जीवन के व्यापारों का नैसर्गिक विकास दिखाया जाय तो यह अवश्य सफल होगा।

एकांकी नाटक

प्रसाद जी का 'एक घूँट' नाटक जब सम्वत् १९८६ वि० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ तो समालोचकों के सम्मुख उसके वर्गीकरण का प्रश्न आया। उस समय यह विवाद छिड़ गया कि इसे एकांकी कहा जाय अथवा नहीं। प्रो० अमरनाथ गुप्त ने उसे संस्कृत परिपाटी का एकांकी मान कर आधुनिक एकांकियों से पृथक् रखा। कुछ समालोचक [1] इसे हिन्दी का प्रथम एकांकी घोषित करने लगे। डा० नागेन्द्र ने कहा—'एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है, उतना ही जितना कमलाकान्त के 'उस पार' में।' उक्त मत के समर्थक डा० सत्येन्द्र का कथन है[2] कि इसमें संस्कृत से कुछ भी नहीं लिया गया, यह निर्विवाद है।

आज से न्यूनाधिक बीस वर्ष पूर्व चाहे जो भी मत इस नाटक के विषय में रहा हो, किन्तु अब तो प्रायः सर्व सम्मति से

---

१. प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त—'हंस' सन् १९३८ ई० एकांकी का विशेषांक

२. हिन्दी एकांकी—डा० सत्येन्द्र, साहित्य रत्न भंडार आगरा पृ० २९

यह एकांकी नाटकों में परिगणित किया जाता है। आज तो कुछ लोगों की धारणा ही बन गई है कि हिन्दी का सर्व प्रथम एकांकी नाटक 'एक घूँट' ही है।

यहाँ यह विचार कर लेना आवश्यक है कि क्या 'एक घूँट' ही हिन्दी का प्रथम एकांकी नाटक है? क्या इसके पूर्व हिन्दी में एकांकी नाटक लिखे ही नहीं गए? इसका उत्तर ढूँढने के पूर्व एकांकी नाटक का लक्षण और उसका तन्त्र (टेकनीक) समझ लेना चाहिए। आज के एकांकी नाटकों का विश्लेषण करके हम कह सकते हैं कि जो नाटक एक अंक में समाप्त होने वाला, एक सुनिश्चित लक्ष्य वाला, एक ही घटना एक ही परिस्थिति और एक ही समस्या वाला हो और जिसके प्रवेश में कौतूहल और वेग, गति में विद्युत् सी वक्रता और तेजी, विकास में एकाग्रता और आकस्मिकता के साथ चरम सीमा तक पहुँचने की व्यग्रता हो और जिसका पर्यवसान चरम सीमा पर ही प्रभाव की तीव्रता के साथ हो जाता हो, जिसमें प्रासंगिक कथाओं का प्रायः निषेध, घटनाओं की विविधता का निवारण तथा चारित्रिक प्रस्फुटन में आदि मध्य और अवसान का वर्जन हो उसे एकांकी कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि जिस नाटक में नायक जीवन के एक ही लक्ष्य को प्रमुखता देने के लिए उत्तेजक, सूचक अथवा प्रभाव-व्यंजक पात्रों की सहायता से घटनाओं तथा भाव विचारों की तहें खोलता हुआ हमारी जिज्ञासा को उभार कर या तो सन्तुष्ट कर देता है अथवा किसी उलझन में ही छोड़ देता है, वह एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक एकांकी है।

संस्कृत साहित्य में एकांकी

संस्कृत में कतिपय रूपक एवं उपरूपक केवल एक अंक में

समाप्त हो जाते हैं। डॉ० कीथ[1] ने एक अंक में समाप्त होने वाले इन नाटकों को एकांकी (One-Act play) की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से परीक्षण करने पर रूपकों में व्यायोग, उत्सृष्टाङ्क, भाण, वीथी और प्रहसन एकांकी हैं। उपरूपकों में नाट्यरासक, रासक, गोष्ठी, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका और प्रेङ्खण अल्प परिवर्तन के साथ एकांकी की ही कोटि में आते हैं।

संस्कृत आचार्यों ने अंक[2] का लक्षण समझाते हुए कहा है— अंक में नायक का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। रस और भाव पूर्ण हों। गूढ़ार्थक शब्द न हों। छोटे-छोटे चूर्णक (बिना समास के गद्य) होने चाहिएँ। अङ्क में अवान्तर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए, किन्तु बिन्दु कुछ लगा रहना चाहिए। बहुत कार्यों से

---

१. "The Anka, or one-Act play, is represented by very few specimens."

The Sanskrit Drama. Page 268.
By
A. Berridale Keith. Oxford University Press. 1924

२. प्रत्यक्ष नेतृचरितो रसभाव समुज्ज्वलः।
भवेदगूढ़शब्दार्थः क्षुद्र चूर्णक संयुतः॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किंचित्संलग्न बिन्दुकः।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीज संहृतिमान्न च।
नाना विधान संयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान्।
× × ×
नानेक दिन निर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः।
आसन्न नायकः पात्रैर्युक्तस्त्रिचतुरैस्तथा॥

साहित्य दर्पणे— षष्ठः परिच्छेदः
श्लोक १२–१५

युक्त न हो और बीज का उपसंहार न हो। अनेक प्रकार के संविधान हों, किन्तु पद्य बहुत न हों।···जो कथा अनेक दिनों में सिद्ध हुई हो, उसे एक ही अंक में नहीं कहना चाहिए। नायक सदा सन्निहित रहे और तीन-चार पात्रों से युक्त हो।

अंक के इस लक्षण में बिन्दु और बीज का उल्लेख एकाधिक अंकों वाले नाटकों को दृष्टि में रखकर किया गया है। स्पष्ट है कि एकांकी में इनकी आवश्यकता होती ही नहीं। अतः एकांकी रूपक तथा उपरूपकों में अनेक दिन की कथा वर्जित है। इस व्यापक परिभाषा के अन्तर्गत एकांकी और अनेकांकी दोनों के अंक-लक्षण प्राप्त हो जाते हैं।

अंक की इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए एकांकी रूपक एवं एकांकी उपरूपक के स्वरूप पर विचार कर लेना चाहिए। व्यायोग[1] में इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है। स्त्री पात्रों की संख्या अल्प होती है। गर्भ और विमर्श सन्धियों से हीन तथा बहुत पुरुषों से आश्रित होता है। इसमें अंक एक ही होता है। युद्ध स्त्री के कारण नहीं होता। कैशिकी वृत्ति नहीं होती। इसका नायक प्रख्यात धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। हास्य, शृङ्गार, शान्त इनसे अन्य कोई रस यहाँ प्रधान होता है।

संस्कृत एकांकियों में भाण का विशेष महत्त्व है। आचार्यों

---

१. ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्प स्त्रीजन संयुतः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः॥
एकांकश्च भवेदस्त्री निमित्त समरोदयः।
कैशिकी वृत्ति रहितः प्रख्यातस्तत्र नायकः॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः।
हास्य शृङ्गार शान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः॥
साहित्य दर्पणे षष्ठः परिच्छेदः
—श्लोक २३१–२३३

ने भाण का लक्षण विस्तार के साथ लिखा है। तदुपरान्त कई एकांकियों को भाणवत् बताकर केवल उनका अन्तर दिखा दिया है—जैसे उत्सृष्टिकांक प्रहसन[1]। उत्सृष्टिकांक में अंक एक, नायक साधारण पुरुष, रस करुण, विलाप स्त्रियों का, कथा इतिहास-प्रसिद्ध, सन्धि वृत्ति और अङ्ग भाण के समान होते हैं।

प्रहसन[2]—भाण के समान सन्धि सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग और अंकों के द्वारा सम्पादित, निन्दनीय पुरुषों का कवि-कल्पित वृत्तान्त प्रहसन कहलाता है। आचार्यों ने प्रहसन के भी भेद-प्रभेद किए हैं। जहाँ तपस्वी, संन्यासी, ब्राह्मण आदि में से कोई धृष्ट नायक हो वह शुद्ध प्रहसन; वेश्या, चेट, नपुंसक आदि का आश्रय हो तो संकीर्ण प्रहसन; कंचुकी, तापस, कामुक, बन्दी आदि का अनुकरण हो वहाँ विकृत प्रहसन होता है।

भाण—धूर्तों के चरित से युक्त, अनेक अवस्थाओं से व्याप्त, निपुण बिट जो रंगभूमि पर अपनी अनुभूत या औरों की अनुभूत बातों को प्रकाशित करता है। सम्बोधन और उक्ति-प्रत्युक्ति 'आकाशभाषित' के द्वारा होती है। वीर और शृङ्गार रस होता है। कथा कल्पित, वृत्ति भारती या कैशिकी होती है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं।

बारहवीं शताब्दी से पूर्व विरचित भाण और प्रहसन के उदाहरण प्रायः नहीं के बराबर हैं। शंखधर कविराज का 'लटकमेलक'

---

१. उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः।
× × ×
भाण वत्सन्धि वृत्त्यङ्गान्यस्मिन्नय पराजयौ।

२. भाणवत्सन्धि सन्ध्यङ्ग लास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥
साहित्य दर्पणे षष्ठः परिच्छेदः
—श्लोक २६४

(१२०० ई०), काशिपति कविराज का मुकुन्दानन्द (१३०० ई०), ज्योतीश्वर का 'धूर्त्त समागम', (१५०० ई०), जगदीश्वर का 'हास्यार्णव', गोपीनाथ का 'कौतुक सर्वस्व', वामन भट्ट वाण का 'शृङ्गार भूषण' (१५०० ई०), सामराज दीक्षित का 'धूर्त्तनर्त्तक' (१७०० ई०) प्रहसन या भाण माने गए हैं। इनके अतिरिक्त कर्पूरक जुआरी को नायक बनाकर 'कर्पूर चरित' भाण (Monologue) और ज्ञानराशि नामक कपटी साधु को नेता मानकर 'हास्य चूड़ामणि' प्रहसन लिखे गये।

प्रहसन और भाण का आधुनिक एकांकी से अन्तर दिखाते हुए डॉ० कीथ का कहना है[२] —"The Prahasanas and Bhanas are hopelessly coarse from any modern Europe standpoint, but they are certainly often in a sense artistic productions. The writers have not the slightest desire to be simple; in the Prahasana their tendency to run riot is checked, as verse is confined to erotic stan-

---

१. भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः।
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः॥
रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा।
सम्बोधनोक्ति प्रत्युक्ता कुर्यादाकाशभाषितैः।
सूचयेद्वीर शृङ्गारौ शौर्यं सौभाग्य वर्णनैः॥
तत्रोद्भटवृत्तमुत्पाद्य वृत्तिः प्रायेण भारती।
मुख निर्वहणे संधी लास्याङ्गानि दशापि च॥
साहित्य दर्पणे षष्ठः परिच्छेदः
—श्लोक २२७-२३०

२. The Sanskrit Drama—Dr. Keith
Page 264.

zas and descriptions, and some action exists. In the Bhana, on the other hand, the right to describe is paramount, and the poets give themselves full rein."

तात्पर्य यह है कि डॉ० कीथ के मतानुसार प्रहसन और भाण आधुनिक एकांकी-कला की दृष्टि से उच्च कोटि के न होते हुए भी कलात्मक हैं और इन दोनों—प्रहसन और भाण—में अन्तर भी नाम-मात्र का है।

व्यायोग

भास के पाँच एकांकी—'मध्यम व्यायोग', 'दूत वाक्य', 'दूत घटोत्कच', 'कर्णभार' और 'उरु[1]-भंग'—व्यायोग ही माने जाते हैं। प्रहलादन देव का 'पार्थ पराक्रम' (सं० १२२० वि०), वत्सराज का 'किरातार्जुनीय' (सं० १२६० वि०), विश्वनाथ का सौगन्धिकाहरण (१३७३ वि०), कंचन पण्डित का 'धनञ्जय विजय', मोक्षादित्य का 'भीम विक्रम व्यायोग' (१३८५ वि०) रामचन्द्र का, 'निर्भय भीम' (तेरहवी शताब्दी) प्रसिद्ध व्यायोग हैं। इन नाटकों के नायक प्रायः भीम या अर्जुन रहे हैं।

वीथी

वीथी नामक एकांकी का नायक कल्पित होता है। आकाश-

---

१. संस्कृत नाटकों में शोकान्तक यही नाटक प्रसिद्ध है।

२. वीथ्यामेको भवेदङ्कः कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः॥
सूचयेद्भूरिशृङ्गारं किंचिदन्यान् रसान्प्रति।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः॥

साहित्यदर्पणे षष्ठः परिच्छेदः—
श्लोकः २५३–२५४

भाषित का प्रयोग, शृङ्गार की बहुलता, मुख-निवहरण सन्धियां, कैशिकी वृत्ति होती है। संस्कृत नाटकों में वीथी का प्रचार बहुत कम रहा है।

उपरूपकों में एकांकी

हम पूर्व कह आए हैं कि उपरूपकों में रासक, नाट्य रासक, हल्लीश, उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका, गोष्ठी और भाणिका, प्रेङ्खण अल्प परिवर्तन के साथ एकांकी नाटक हैं। रासक, नाट्य रासक और हल्लीश के सम्बन्ध में पूर्व उल्लेख हो चुका है। उल्लाप्य, काव्य, श्रीगदित, विलासिका, गोष्ठी, भाणिका के लक्षण ही काव्यशास्त्रों में उपलब्ध हैं किन्तु इनके उदाहरणों का प्रायः अभाव है। प्रेङ्खण[1] (प्रेक्षणक) ऐसा एकांकी उपरूपक है जिसका उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। प्रेङ्खण में नायक हीन होता है, गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती, सूत्रधार, विष्कम्भक और प्रवेशक भी नहीं होते। युद्ध, सम्फेट और सभी वृत्तियाँ होती हैं। नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य में पढ़ी जाती है।

जब एक नाटक के अन्तर्गत दूसरा नाटक आ जाता है तो वह भी प्रेक्षणक कहलाता है। राजशेखर के 'बालरामायण' नाटक के अन्तर्गत एक प्रेक्षणक पाया जाता है। भास्कर कवि का 'उन्मत्त राघव', लोकनाथ भट्ट का 'कृष्णाभ्युदय', विश्वनाथ का 'सौगन्धिकाहरण' प्रेङ्खण कोटि में आते हैं। यह एकांकी संस्कृत का 'कर्टन

---

१. गर्भाविमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम्।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम्॥
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम्।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना॥
साहित्य दर्पणे षष्ठः परिच्छेदः
श्लोकाः २८६–२८७

रेजर'[२] एक प्रकार से कहा जा सकता है।

संस्कृत एकांकी और आधुनिक हिन्दी एकांकी का अन्तर

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि संस्कृत में एकांकी नाटकों की इतनी विविधता थी कि उनका वर्गीकरण नायक के चरित, इतिवृत्त के प्रकार, रस के प्राधान्य, वृत्तियों के विकास आदि के आधार पर किया गया। आधुनिक एकांकी से संस्कृत एकांकी की तुलना करें तो हमें कई प्रकार के अन्तर दिखाई पड़ेंगे। संस्कृत नाटकों में वह अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष, मानसिक प्रक्रिया का वह विश्लेषण नहीं पाया जाता जो आधुनिक एकांकी का प्राण है। आज का पाठक या दर्शक नाटक की घटनावली से ही सन्तुष्ट नहीं होता वह उनके कारणों को भी जानना चाहता है। संस्कृत नाट्यकार (भास के अतिरिक्त) इस कार्य-कारण-विवेक को परितृप्त बनाकर जिज्ञासा को शान्त करने का उतना प्रयास नहीं करता जितना राजाओं के विलास एवं तत्कालीन परिस्थिति के चित्रण करने का। जीवन की वास्तविकता के प्रति उसकी उतनी पैनी दृष्टि नहीं होती जितनी आज के सफल नाट्यकार की है। आज महती घटनाओं का उतना महत्त्व नहीं, जितना दित-प्रति-दिन की सामान्य घटनाओं के उस घात-प्रतिघात का जिसमें व्यक्तियों का चरित्र उभरता या गिरता है। आज का नाट्यकार सामान्य एवं मध्यम वर्ग के दैनन्दिन जीवन की सच्ची व्याख्या करना अपना कर्तव्य मानता है केवल राजा महाराजा की स्थिति का

२. अंग्रेजी में बड़े नाटकों के साथ-साथ जिन लघु नाटकों का अभिनय होता था वे कर्टन रेज़र कहलाते थे। उन्हीं का विकसित रूप आधुनिक अंग्रेजी एकांकी हैं। प्रेक्षणक संस्कृत के बृहद् नाटकों के मध्य में अभिनीत होते थे। सम्भव है इनका विकास वहीं से हुआ हो।

विशेष प्रदर्शन करना नहीं। तीसरा अन्तर है चरमविकास का। संस्कृत का नाट्यकार नायक की विजय का अटल सिद्धान्त लेकर चलता है, इस कारण नायक को पराजय एवं मृत्यु के मुख में सहसा फेंक देने वाली भावनाओं और घटनाओं से वह कतराकर निकल जाना चाहता है, किन्तु आज का नाट्यकार उनका स्वागत करता है। अतः संस्कृत के नाट्यकार उस चरम विकास (Climax) की अवहेलना करते रहे जो आज एकांकी नाटक में अनिवार्य माना जाता है।

इतिवृत्त, नायक संवाद-गति और जीवन-दर्शन के दृष्टि-कोण से आधुनिक हिन्दी एकांकी संस्कृत एकांकियों से इतने भिन्न प्रतीत होते हैं कि इन दोनों की पृथक-पृथक् स्वतन्त्र धारा स्वीकार करने में आपत्ति नहीं जान पड़ती। इसका कारण बताते हुए वात्स्यायन का कथन सत्य प्रतीत होता है कि "संस्कृत एकांकियों की न तो कोई अविच्छिन्न परम्परा मिलती है और न भारतेन्दु-काल के एकांकियों में आधुनिक एकांकी के तत्त्व मिलते हैं।"[1]

'प्रसाद' से पूर्व हिन्दी एकांकी की परम्परा

तंत्र की कसौटी पर परीक्षण करने से हमें 'प्रसाद' के पूर्व भी कतिपय ऐसे नाटक उपलब्ध होते हैं, जो एकांकी की कोटि में आ सकते हैं। भारतेन्दु ने अपने लघु नाटकों को अंकों में विभक्त किया है जिससे वे एकांकी जैसे प्रतीत नहीं होते, किन्तु यदि उनमें अंकों के स्थान पर दृश्यों की योजना कर दी जाये तो वे अन्य सभी बातों में एकांकी नाटक ही ठहरते हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तीन अंकों में विभक्त है 'किन्तु प्रत्येक अंक में घटित होने वाला व्यापार इतना सूक्ष्म है और घटनाएँ इतनी लघु और तीव्रगामिनी हैं कि इसे एकांकी कहना ही उचित है।

१. नये एकांकी—स० ही० वात्स्यायन—प्रगति प्रकाशन—प्र० स० १९५२ ई०।

इसी प्रकार 'नील देवी' को भी समालोचक एकांकी नाटक ही मानते हैं।"[1]

भारतेन्दु के नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'नील देवी' को एकांकी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भारतेन्दु ने सांस्कृतिक चेतना का पुनजोगरण किया। उन्होंने संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और संस्कृत एकांकी की व्यायोग शैली पर 'धनंजय विजय' लिखा है, जो एकांकी नाटक है; और भाण-शैली पर 'विषस्य विषमौषधम्' की रचना की।

भारतेन्दु के पथ पर उस युग के अन्य कई नाट्यकार चलते रहे। बालकृष्ण भट्ट के एकांकी नाटक उसी परम्परा में परिगणित होते हैं। भारतेन्दु-युग में एकांकी की एक और शैली चल पड़ी थी जो जन-नाटकों से अधिक प्रभावित थी। उस शैली के प्रवर्तक थे—लाला श्रीनिवासदास। उन्होंने 'प्रहलाद-चरित्र' नामक नाटक उस शैली पर लिखा, जो रासलीला तथा स्वांग मंडलियों में 'प्रहलाद लीला' नाम से शताब्दियों से चली आ रही थी। यदि इस नाटक के विविध दृश्यों को हटा दें तो सम्पूर्ण नाटक रासधारियों तथा स्वांग का वह नाटक बन जाता है जिसमें मनसुखा[2] अपनी विनोदपूर्णवाणी से जनता का मनोरंजन करता रहता है। उदाहरणार्थ 'प्रहलाद चरित्र' का पाठशाला-दृश्य देखिए—

षंडामर्क —(विद्यार्थियों से) देखो, हम जैसे कहें बोलते जाओ।

सब विद्यार्थी—अच्छा गुरु जी आप कहोगे वैसे बोलेंगे।

षंड —बोलो ओनामासीधं।

सब विद्यार्थी—बोलो ओनामासीधं।

षंड —अबे! बोलो क्यों बोलते हो।

---

१. प्रो० लजिता प्रसाद सुकुल, नील देवी की भूमिका।

१. जन-नाटकों का विदूषक मनसुखा कहलाता है।

सब विद्यार्थी—अबे ! बोलो क्यों बोलते हो ?

षंड —ओनामासीधं। (दो-तीन बेत मारकर) हां पांडे की टूटी टंग, देख बच्चा पांडे की टूटी कि तेरी टूटती है (और दो-तीन बेंत जड़ देते हैं)

विद्यार्थी —अरे जी मरे, गुरुजी मरे हाय हाय·····

षंड —अबे गुरु जी मरे कि तू मरा·····

इस नाटक में हनुमान की पीठ पर आकाश से राम के आगमन का, श्मशान में चिता का, समुद्र में डूबने आदि का वर्णन उसी रूप में उपलब्ध होता है जो रूप तत्कालीन जन-नाटकों और रासलीला के नाटकों में मिलता है। अतएव 'प्रहलाद चरित्र' नामक एकांकी को तीसरी कोटि में रखना चाहिए।

प्रहलाद चरित और रास

हम रास के प्रकरण में 'प्रहलाद लीला' और 'नृसिंह लीला' के विषय में चर्चा कर आए हैं। ये लीलाएँ कृष्ण-लीला की पद्धति पर शताब्दियों से होती चली आ रही हैं। अतएव 'प्रहलाद लीला' भारतेन्दु के गद्य-युग में नितान्त गीति-नाट्य के रूप में न रहकर पद्य-गद्यमय बन गई। भारतेन्दु के नाटकों का प्रभाव केवल साहित्यिक नाटकों तक ही सीमित न रहा, वह रामलीला, रासलीला तथा अन्य जन-नाटकों तक फैल गया था। आज काशी और रामनगर की लीलाओं में प्राप्त गद्य-भाग भारतेन्दु की ही देन है। रामनगर के तत्कालीन महाराज भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र थे। उन्हीं के अनुरोध से भारतेन्दु ने तुलसीकृत रामायण के संवादों को गद्य में परिवर्तित करके लीलाओं में संयुक्त किया था। इसी प्रकार रासलीला में जो गद्यभाग आज उपलब्ध है, वह उस युग के प्रभाव के कारण है। इसकाल में स्वांग तथा रासलीला की पद्यबद्ध 'प्रहलाद लीला' 'प्रहलाद चरित्र' में परिवर्तित हो

गई, जिसमें पद्य भाग के साथ गद्यांश भी संयुक्त कर दिया गया।

हम 'रासलीला' के प्रकरण में यह सिद्ध कर आए हैं कि ब्रजवासीदास-विरचित ७४ लीलाएँ उस काल के एकांकी नाटक ही थे। जिस प्रकार आधुनिक एकांकी नाटक का प्रारम्भ नायक के जीवन के मध्य भाग से सहसा हो जाता है, और आरम्भ की घटनाएँ नाटक के मध्य में उत्तेजक, सूचक तथा प्रभाव-व्यंजक पात्रों की सहायता से अभिव्यंजित होती रहती हैं, उसी प्रकार ब्रजवासीदास की ७४ लीलाएँ कृष्ण-जीवन के मध्य भाग से प्रारम्भ हो जाती हैं और वे स्वतन्त्र होते हुए भी एक शृंखला में आबद्ध प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार मनिहारिन लीला, गौनेवारी लीला आदि ४२ छद्मलीलाओं पर हम विस्तारपूर्वक विचार कर आए हैं। हम यह भी सिद्ध कर आए हैं कि रासलीला नाटकों की उत्पत्ति सहसा विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में नहीं हुई, प्रत्युत् इसकी परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी। हम यह भी देख आए हैं कि तेरहवीं शताब्दी से जैन रास-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही थी। इनमें अनेक एकांकी नाटकों की रचना होती रही।

रास नाटक और आधुनिक एकांकी

जैन रास की दो धाराएँ हमें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं—एक धारा में 'गय सुकुमार रास', 'भरतेश्वर बाहु बली रास',[1] तथा 'रोहिणी चोर नो रास' आदि लघु रास परिगणित होते हैं, दूसरी धारा श्री कुमारपाल रास, शत्रुंजय रास आदि बृहद् रासों की है। लघु रासों में वाणी, ढवणी आदि गेय-पद अल्प संख्या में होते थे और सम्पूर्ण नाटक एक दृश्य में ही एक घंटे के अन्तर्गत अभिनीत हो जाता था। स्याम सगाई, दान लीला, मान लीला, ४२ छद्म लीलाएँ

१. गुजराती साहित्य सम्मेलन, तेरहवाँ वार्षिक अधिवेशन।

७४ लीलाएँ इसी शैली पर विरचित हुई थीं। दूसरी ओर बृहद् रास की शैली पर हमारे साहित्यिक नाटक निर्मित हुए। अतएव उक्त प्रमाणों के आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि 'एक घूँट' नामक एकांकी उसी परम्परा में है जो तेरहवीं शताब्दी में जन्म लेकर क्रमशः परिपुष्ट होती रही है और देश कालानुसार परिस्थिति के अनुकूल वेष धारण करती हुई 'प्रसाद' के समय नितान्त नवीन रूप में प्रकट हुई। अतः एकांकी नाट्यशैली यूरोप से गोद ली हुई नहीं, प्रत्युत् अपने ही वंश में उत्पन्न हुई है।

एकांकी का विकास

हिन्दी एकांकी की प्रथम अवस्था जैन लघु रास में है जिसका विवेचन हम पूर्व कर आए हैं। इसकी दूसरी अवस्था वैष्णव रास में है जिसमें नृत्य और संगीत की प्रधानता रही। वैष्णव रास सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर गतिशील रहे। भारतेन्दु-जैसे कलाकार के हाथों में बीसवीं शताब्दी में एकांकी ने विविध वेष धारण किए। कभी वह संस्कृत के 'भाण' का रूप धारण करता और कभी रास की पद्धति पर एक नये वेष में प्रकट होता। भारतेन्दु-युग के नाट्यकारों ने दोनों रूपों को स्वीकार किया। भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध एकांकी ये हैं :—पं० बालकृष्ण भट्ट विरचित—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल विवाह नाटक। पं० रुद्रदत्त शर्मा विरचित नाटक हैं—स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी, पाखण्ड मूर्ति, अपूर्व संन्यासी, कण्ठी जनेऊ का विवाह। अन्तिम नाटक को हम प्रतीक नाटक के वर्ग में रख सकते हैं। भारतेन्दु युग के अन्य एकांकी नाटकों का उल्लेख कर देना यहां आवश्यक प्रतीत होता है। इस काल में पं० प्रतापनारायण मिश्र विरचित एकांकी हैं—कलि कौतुक,

भारत-दुर्दशा। पं० बद्रीनारायण चौधरी का नाटक है—भारत-सौभाग्य; राधाकृष्णदास का प्रसिद्ध एकांकी है—दुःखिनी बाला। अम्बिकादत्त व्यास ने दो प्रसिद्ध नाटक लिखे हैं—भारत सौभाग्य नाटक, गो संकट नाटक।

इन नाटकों को हम एकांकी की तीसरी अवस्था कह सकते हैं। चौथी अवस्था में 'प्रसाद' का एकांकी 'एक घूँट' है।

आधुनिक हिन्दी एकांकी पर पश्चिम के नाट्यकारों—विशेषतः शा—का अधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव को हम कई रूप में देखते हैं। कुछ नाट्यकार यूरोपीय नाट्यकला का इतना अनुकरण करते हैं कि उनकी रचना में मौलिकता के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। भुवनेश्वर प्रसाद इसी वर्ग में आते हैं। इनके प्रसिद्ध एकांकी हैं—श्यामा-एक वैवाहिक विडम्बना, एक साम्यहीन साम्यवादी, शैतान, प्रतिभा का विवाह, रोमांस, लाटरी। नाट्यकार ने स्वतः लिखा है—"शॉ' की छाया तनिक मुखर हो गई है, मैं इसे निर्विकार स्वीकार करता हूँ।"

सेठ गोविन्ददास

सेठ गोविन्ददास उन नाट्यकारों में से हैं, जो पश्चिमीय नाट्यकला से पूर्ण प्रभावित होकर नाटक लिखते हैं, किन्तु अपनी प्रतिभा का योग भी देते चलते हैं। सेठ जी के एकांकी नाटकों के संग्रह हैं—सप्त रश्मि, एकादशी-पंचभूत।

डा० रामकुमार वर्मा

यद्यपि वर्मा जी आधुनिक एकांकी नाटकों के प्रारम्भिक रचयिताओं में से हैं, तथापि इनके नाटकों ने पथ-प्रदर्शन का कार्य नहीं किया'। इनके नाटकों के संग्रह हैं—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, चारुमित्रा।

इन नाट्यकारों के अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गणेश

प्रसाद द्विवेदी, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, विष्णु प्रभाकर के भी एकांकी नाटक प्रकाशित हुए हैं। इस वर्ष दो नाटक और प्रकाशित हुए हैं— वेनीपुरी का 'नेत्रदान' और विष्णु प्रभाकार का 'क्या वह दोषी था।' इन नाट्यकारों की रचनाएँ पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि तीसरा वर्ग ऐसे नाट्यकारों का है जो पश्चिम की नाट्यकला का अध्ययन करके उसे आत्मसात् कर लेता है, तदुपरान्त ऐसी रचना करताहै जिसका वेष तो पश्चिम का है किन्तु विचार भारतीय हैं। जिनमें मौलिकता है, मार्मिकता है और देश-काल तथा परिस्थिति के अनुकूल साहित्य-सृजन की क्षमता भी है। आज का नाट्यकार इब्सन, मैटरलिंक, स्ट्रिन्डवर्ग, चैखोव, सिमोनाव, औनील, काफमैन माहम, बेरी प्रीस्टले तथा शॉतथा शाल्जवर्दी, पिरेन्देलो[1], स्तानिस्ला-व्यस्की को पढ़ता है, अतएव उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

एकांकी का आदर्श

आज का व्यस्त मानव-समाज समय को बचाना भी चाहता है, साथ-ही-साथ मनोविनोद के साधन से सम्पन्न भी होना चाहता है। वह अल्प-से-अल्प काल में अधिक-से-अधिक विचार ग्रहण करना और मनोरंजन करना चाहता है।

आज के एकांकी केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं लिखे जाते, प्रत्युत् वे जीवन की गहन समस्याओं को आकर्षक रीति से सुलझाने का प्रयास भी करते हैं। आज का मानव, जीवन की जटिलताओं को प्रत्यक्ष रूप से देखना चाहता है अतः सफल एकांकी वही माना जायगा जो अल्प-से-अल्प काल में रम्य-से-रम्य

१. प्रकाशचन्द्र गुप्त 'एकांकी नाटक'—हंस का एकांकी विशेषांक सन् १९३८।

रूप में वर्तमान समस्याओं को व्यक्त कर दे। तात्पर्य यह कि जो नाटक मनोरंजन और उन्नयन दोनों का सन्तुलन कर सकेगा वही सफल एकांकी माना जायगा।

स्वोक्ति नाटक

संस्कृत और अँग्रेजी के एक पात्रीय (Monodrama) की शैली पर गत वर्षों में कई नाटक हिन्दी में भी प्रकाशित हुए हैं। भारतेन्दु का 'विषस्य विषमौषधम्' इसी शैली का है। सेठ गोविन्द-दास ने इस शैली पर कई प्रयोग किए हैं। उन्होंने 'चतुष्पथ'[1] नामक अपनी पुस्तक में 'प्रलय और सृष्टि', 'अलबेला', 'शाप और वर' तथा 'सच्चा जीवन' चार नाटक संग्रहीत किए हैं। इन चारों नाटकों की रचना उन चार विभिन्न पथों का अनुसरण करते हुए की गई है जो अन्ततः एक में मिल जाते हैं। कदाचित् इसी कारण संग्रह का नाम चतुष्पथ रखा गया है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एकांकी के चतुष्पथ पर आकर चारों नाट्य-शैलियाँ एकत्र हो जाती हैं। अतएव इन्हें एकांकी के अन्तर्गत रखना अनुपयुक्त न होगा।

सेठ गोविन्ददास अपनी भूमिका में यह स्वीकार करते हैं कि ये मोनो ड्रामा ब्राउनिंग, स्ट्रेन्डवर्ग तथा नील नामक नाट्यकारों की रचनाओं से प्रभावित होकर लिखे गए हैं। देखना यह है कि इस प्रकार के नाटक हमारी भारतीय परम्परा में कभी विरचित हुए थे अथवा नहीं।

'प्रलय और सृष्टि' में एक अधेड़ अवस्था का मनुष्य अपने विविध वर्ण के चश्मों, नोटबुक, कलम, लाइट हाउस टावर, घण्टा, चिमनी, बादल तथा धरती को देख-देखकर अपने मनो-

---

१. चतुष्पथ—सेठ गोविन्ददास—(शाप और वर) पृष्ठ ५७। साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

विकारों को प्रगट करता है। नेपथ्य में बार-बार ध्वनि सुनकर उसका ध्यान एक विचार-शृंखला से हटकर दूसरी ओर आकर्षित होता है। सम्पूर्ण नाटक में एक पात्र, एक कमरे में एक समय बैठा हुआ विभिन्न वातायन से बाह्य प्रकृति का अवलोकन कर अपने मन के विविध विचारों का उद्‌गार प्रगट करता है।

'अलबेला' में एक आदमी अपने घोड़े से बातें करता है। 'शाप और वर' के दो भाग हैं। प्रथम भाग में समृद्ध पुरुष की उपेक्षिता नारी मृत्यु के समय अपने पति को प्रसूति-गृह में अपने हृदयोद्‌गार इस प्रकार सुनाती है—"देखो....देखो....शायद मैं जा रही हूँ। सुनो...सुनो...हाँ...शाप देती हूँ। तुम्हारा वंश निर्वंश हो जाय। यह सोना, चाँदी, ये हीरे-मोती, यह निर्जीव वैभव, यह सारा हृदय, भावनाओं और आत्मा से हीन आयोजन...यदि सब कुछ होते हुए भी मैं धर्म के अनुसार सती...सती रही हूँ, तो मेरे शाप...शा...प...से भस्म भस्म....।"

.....'शाप और वर' के उत्तरार्द्ध में एक निर्धन किसान का घर है। उसकी स्त्री मृत्यु के समय पति से निवेदन करती है—"वर दो, नाथ, घर सूना न रखोगे; अपना जीवन अकेला न चलाओगे, इस शिशु को माता-विहीन न रहने दोगे। स्वर्ग जा रही हूँ हृदयेश, स्वर्ग से तुम्हारा विवाह देखूँगी।.. तुम अकेले रहे तो मुझे स्वर्ग में भी तुम्हारी चिन्ता लगी रहेगी।...कौन तुम्हें खिलायेगा... कौन खेत पर तुम्हारी रोटी ले जायगा?"

चौथा नाटक 'सच्चा जीवन' है, जिसमें खादी का कुर्ता पहने एक मनुष्य इस समस्या को सुलझाने में तल्लीन है कि सच्चा जीवन क्या है? क्या ऐहिक आधिभौतिक सुख सच्चे हैं? क्या अधिकार-

---

१. चतुष्पथ—सेठ गोविन्ददास—(शाप और वर) पृष्ठ ५७। —साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

प्राप्ति ही सच्चा जीवन है ? तर्क-वितर्क करते-करते वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि "सूर्य का जीवन ही सच्चा जीवन है।... काले-काले बादल उसे आच्छादित कर लेते हैं पर वह विघ्न-बाधाओं की परवाह नहीं करता। सबकी सेवा करता है...मैं भी ...मैं भी...।"[1]

सेठ जी ने 'सच्चा जीवन' नाटक में संस्कृत भाण की 'किं ब्रवीसि' की शैली का अनुसरण किया है। शेष नाटकों में एक पात्र आद्योपान्त बोलता है और सम्मुख उपस्थित दूसरा पात्र केवल अनुभवों से अपने हृद्गत विचारों को प्रगट करता है। सेठ जी ने दूसरे पात्र के सर्वथा मूक रहने का कारण उसकी अत्यधिक भावुकता बताया है।[2]

सेठ गोविन्ददास के अतिरिक्त बेनीपुरी जी ने भी एक स्वोक्ति रूपक लिखा है। उन्होंने 'सीता की माँ' नामक स्वोक्ति नाटक में एक पात्र के द्वारा सम्पूर्ण रामायण की प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन कर दिया है। इस नाटक में पाँच दृश्य हैं। सीता की माता, सीता की जन्म-कथा से लेकर धरती-माता में उसके अन्तर्निहित होने तक की सम्पूर्ण घटनाएँ क्रमशः सुना जाती है। सीता की जन्म-कथा गतानुगत न होकर 'उज्झिता' रूप में प्रदर्शित की गई है। सीता की माँ सीता-स्वयंवर से लेकर अयोध्या-पुनरावर्तन की सारी मुख्य-मुख्य घटनाएँ सुनाती जाती है। जहाँ दो व्यक्तियों के वार्त्तालाप हैं, उन स्थलों का वर्णन इस प्रकार करती है—[3]

---

१. चतुष्पथ—सेठ गोविन्ददास (सच्चा जीवन) पृ० ८१ संवत् १९९६ वि०।

२. शाप और वर—सेठ गोविन्ददास पृ० ६३।

३. सीता की माँ—रामवृक्ष बेनीपुरी, जनवाणी प्रकाशन, पटना पृ० ३७।

'यों न कहा कीजिए, नाथ।' सीता ने कहा...फिर अपनी दशा का वर्णन करती है'...ऐसे मौके पर माँ को देखना नहीं चाहिए। मेरी आँखें मुँद गईं और कानों ने सुना—'भाभी, इसमें मेरा भी हिस्सा होना चाहिए, भाभी।'

नाट्यकार ने दृश्य-विधान इस प्रकार किया है कि पर्दे के चित्र से घटना-स्थल का संकेत मिल जाय। पर्दे की छाया-मूर्तियों में से ही एक स्त्री की छायामूर्ति निकलती है, जो सम्पूर्ण घटना वर्णन करती है। अतएव इस नाटक का टेकनीक सेठ गोविन्ददास से भिन्न प्रतीत होता है। सेठ जी के प्रत्येक मोनोड्रामा में एक दृश्य है, एक स्थान पर ही सम्पूर्ण अभिनय हो जाता है। अभिनय-कर्ता केवल अपने हृद्गत भावों को व्यक्त करता है। अन्य व्यक्तियों के वार्तालाप को उसमें कहीं स्थान नहीं है। किन्तु बेनीपुरी ने रामायण के समग्र कथानक को पाँच दृश्यों में विभाजित किया है—(१) सीतामढ़ी के निकट अटवी (२) जनकपुर की पुष्प वाटिका (३) चित्रकूट का पहाड़ी अंचल (४) लंका की अशोक वाटिका (५) अयोध्या का प्रान्तर।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सेठ जी और बेनीपुरी दोनों ने पश्चिम के मोनोड्रामा से प्रभावित होकर ये नए नाटक लिखे हैं, किन्तु यह समझ लेना भ्रमपूर्ण होगा कि ऐसे नाटक हमारे यहाँ कभी थे ही नहीं।

स्वोक्ति की भारतीय परम्परा

(एक पात्री नाटक)

भाण नाटकों की शैली में भी एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण नाटक का अभिनय करता है। सेठ जी के नाटक भी न्यूनाधिक उसी कोटि में आते हैं; किन्तु बेनीपुरी जी के नाटक की शैली नितान्त नवीन प्रतीत होती है। संस्कृत के 'भाण' नाटकों में सम्बोधन और

उक्ति प्रत्युक्ति 'आकाश-भाषित' के द्वारा होती है किन्तु बेनीपुरी जी की यह शैली नहीं। हाँ, हिन्दी-जन-नाटकों में इस प्रणाली के नाटक आज भी अभिनीत होते हैं। जिस प्रकार 'सीता की माँ' में एक ही पात्र अन्य पात्रों के संवाद अभिनय द्वारा इस प्रकार बोलता है मानो वे ही पात्र बारी-बारी बोल रहे हों, उसी प्रकार जन-नाटकों में 'निहाल दे' नामक एक नाटक आज भी दिल्ली के समीपवर्त्ती भागों में अभिनीत होता है, जिसमें एक ही पात्र सम्पूर्ण नाटक गाता है। अतएव यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि 'बेनीपुरी' जी की यह नवीन शैली हमारे जन-नाटकों में शताब्दियों से विद्यमान है। जिस प्रकार सहस्रों साहित्यिक बेनीपुरी जी का नाटक देखकर प्रसन्न हुए थे, उसी प्रकार बड़ी संख्या में कृषक प्रतिवर्ष वर्षा-ऋतु में 'निहाल दे' का अभिनय देख कर आनन्द उठाते हैं।

रेडियो नाटक

रेडियो नाटक इस युग का नितान्त अभिनव आविष्कार है। कतिपय वर्षों में रेडियो नाटक ने कितनी प्रगति की है? इसका तन्त्र 'टेकनीक' क्या है? रंगमंच और रेडियो के नाटकों में क्या अन्तर है? इन विषयों पर विचार करने में प्रथम रेडियो-रूपक 'राधा कृष्ण' और आज के नाटकों की शैली समझ लेना सहायक होगा।

'राधा कृष्ण' रूपक में पात्र हैं—राधा, कृष्ण, बलदेव, उद्धव, वृषभानु, राधा का पति, रुक्मिणी, सत्यभामा, व्यास और अर्जुन।

१. राधाकृष्ण हिन्दी का प्रथम रेडियो रूपक है। इसकी रचना के लिए रेडियो स्टेशन डाइरेक्टर नाटककार तथा कई अन्य कलाकारों की एक समिति बनाई गई थी। रेडियो रूपक का भारत में यह प्रथम प्रयोग था।

समस्त नाटक वार्त्तालाप द्वारा प्रदर्शित होता है। संवाद भी एक-एक वाक्य के हैं। जैसे —

"हमारा तुम्हारा ब्याह होगा।"

"ब्याह ?"

"हाँ, बाबा कहते थे और भैया भी।"

× × ×

"कृष्ण तुम बड़े बुरे हो।"

"राधा तुम बड़ी अच्छी हो।"

अन्तिम दृश्य कुरुक्षेत्र श्मशान का है। यह दृश्य इस प्रकार प्रारम्भ होता है—[1]

"कहाँ, कहाँ है, कृष्ण कन्हैया ?

"इधर आओ राधा जी, भैया यहाँ बैठे हैं, वे रो रहे हैं।"

"कृष्ण रोते क्यों हो ?"

"राधा, तुम हँस रही हो ?"

"कितने दिन बाद हँसी हूँ, जानते हो कृष्ण ?"

"कदाचित् अस्सी बरस बाद।"

राधा कृष्ण की मुरली लौटा देती है। यह मुरली उसके पास ६६ वर्ष से थी। कृष्ण बाँसुरी बजाते हैं। मुरली की ध्वनि सुनकर राधा महा प्रस्थान करती है। कृष्ण पुकार उठते हैं, "भैया ! भैया !! यह क्या हो रहा है ?"

"राधे राधे आँखें खोलो।"

"कृष्ण !"

"राधे !"

इस प्रकार 'राधा कृष्ण' का स्वर क्षीण-से-क्षीणतर होता जाता है। यह राधा कृष्ण रूपक आज से न्यूनाधिक बीस वर्ष पूर्व रेडियो द्वारा प्रसारित हुआ था। इस अवधि में जालन्धर, दिल्ली, लखनऊ,

१. पाँच एकांकी—आ० चतरसेन पृ० ६२

प्रयाग, पटना आदि रेडियो स्टेशनों से सैकड़ों नाटक प्रसारित हो चुके। रेडियो के इन नाटकों का वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा वर्गीकरण एक स्वतन्त्र विषय है, तथापि रेडियो-नाटक के मुख्य भेदों पर दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। रेडियो और रेडियो-नाटक हिन्दी में पश्चिम की देन है। पश्चिम में रेडियो नाटक कुछ पहले से लिखे जा रहे हैं और प्रगतिशील देशों में इनकी नाट्य-कला निर्धारित होती जा रही है। हमारे देश पर भी उन नाटकों का जो प्रभाव पड़ा है, उसके अनुसार रेडियो नाटक के मुख्य भेद इस प्रकार किए जा सकते हैं :

(१) रेडियो रूपक (२) फीचर (३) ध्वनि नाट्य (मनोवैज्ञानिक) (४) स्वोक्ति (५) फैन्टेसी (भावनाट्य या ऋतु सम्बन्धी) (६) ध्वनि, गीति रूपक (७) रिपोर्ताज (८) जन-नाटक (९) व्यंग्य।

रंगमंच के नाटक और रेडियो नाटक

कुछ लोगों का विचार है कि[1] "स्टेज के नाटक कुछ हेर-फेर के साथ रेडियो के उपयुक्त बनाए जा सकते हैं।" कुछ लोग इस मत को नहीं मानते। कुछ लोग समझते हैं कि रेडियो नाटक एकांकी ही है, पर कई समालोचक इसे भ्रमपूर्ण मानते हैं।[2] तथ्य तो यह है कि अभी तक हमारे देश में 'रेडियो नाटक' शैशवावस्था में है। इसके विषय में अभी क्या कहा जाय। जब तक रेडियो की नाट्यकला विकसित नहीं हो जाती कोई निर्दिष्ट मत कैसे बन सकता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रदर्शन के साधन के अन्तर से नाटक के रूप में अन्तर आना स्वाभाविक है। रंगमंच के सभी नाटक रेडियो पर सफल कैसे बनाए जा

१. उदयशंकर भट्ट—कालिदास—भूमिका पृ० ६ (सन् १९५०)।

२. भूमिका डॉ० नगेन्द्र—क्या वह दोषी था पृष्ठ च, छ (विष्णुप्रभाकर) सन् १९५१ ई०।

सकते हैं? रंचमंच पर आंगिक अभिनय का प्राधान्य होता है, नृत्य का समावेश करके कई नाटक सरस बनाए जाते हैं। इन साधनों का नितान्त अभाव रेडियो नाटक में होता है, अतएव इनके द्वारा उत्पन्न प्रभाव की पूर्ति ध्वनि के साधनों द्वारा करनी ही पड़ती है। दूसरा अन्तर यह है कि रंगमंचीय एकांकी नाटकों को कार्य, काल और स्थान की इकाई-संकलन-त्रय का भी बन्धन किसी-न-किसी मात्रा में मानना ही पड़ता है, किन्तु रेडियो नाटक इन बन्धनों से नितान्त मुक्त हैं, अतएव इन दोनों प्रकार के नाटकों में मौलिक अन्तर स्वाभाविक है। तीसरी बात यह है कि जो स्वगत-कथन अथवा स्वप्न-सम्भाषण रंगमंच पर अस्वाभाविक प्रतीत होता है, वह रेडियो पर स्वाभाविक बन जाता है। अतएव रेडियो नाटक में किसी व्यक्ति के हृद्गत भावों को प्रगट करने में सुविधा हो जाती है। चौथा और सबसे बड़ा अन्तर यह है कि रेडियो नाटक का प्राण संवाद-योजना है, किन्तु रंगमंचीय नाटक का आवश्यक अंग क्रियाशीलता है। रंगमंच पर दो आदमियों का केवल संवाद नाटक के प्रभाव को क्षीण कर देता है। दर्शक रंग-मंच पर प्रत्यक्ष आंगिक अभिनय और पात्रों को कार्य तत्पर देखना चाहते हैं। 'कृष्णलीला' जब हम रास लीलाओं में देखते हैं तो हम पर राधा कृष्ण के संवाद से अधिक प्रभाव उनके क्रिया-कलाप का पड़ता है। दोनों का नृत्य, दोनों का गोपियों के साथ विविध क्रीड़ा-विनोद हमें प्रभावित करता है।

पाँचवां अन्तर यह है कि रंगमंच पर नाटकीय पात्रों के अति-रिक्त अन्य किसी का प्रवेश वर्जित है। नाटक की सम्पूर्ण घटनाएँ पात्रों के सम्भाषण तथा क्रिया-कलाप द्वारा प्रगट की जाती हैं, किन्तु रेडियो रूपक में 'कथाकार' नामक एक व्यक्ति वर्णन (Narration) के द्वारा पूर्वापर घटनाओं को संयुक्त करता चलता है। उदाहरण के लिए डॉ० रामकुमार वर्मा का एक रेडियो-रूपक

'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' देखिये।'

इस नाटक में कबीर का समस्त जीवन—जन्म से मृत्यु तक—एक दृश्य में प्रदर्शित किया गया है।

नाटक का प्रारम्भ कबीर के गान 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' से होता है। कथाकार कबीर का परिचय देते हुए कहता है, 'भक्त कबीरदास का जन्म सं० १४५५ में हुआ, माता-पिता नीमा और नीरू, जाति के जुलाहे थे।··· आप शिशु कबीर के दर्शन कीजिए।"[२]

कुछ देर तक नीमा-नीरू का वार्तालाप होता है तदुपरान्त कथाकार कबीर के गुरु रामानन्द के सम्बन्ध में कहता है—

'किन्तु स्वामी रामानन्द किसी शूद्र या विधर्मी को अपना शिष्य नहीं बनाना चाहते थे।···ब्राह्म मुहूर्त में ही पंच-गंगा घाट की सीढ़ियों पर कबीर लेट रहे। जब स्वामी रामानन्द जी स्नान कर लौट रहे थे, वे राम मन्त्र पढ़ते चले आ रहे थे।···

रामानन्द और कबीर के वार्तालाप के उपरान्त पुनः कथाकार कहता है···"इस प्रकार कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य बने।"

आगे चलकर काज़ी और कबीर का संवाद हो चुकने पर कथाकार कहता है—"इस प्रकार कबीर साहब ने अपने सच्चे धर्म के प्रचार से हिन्दू और मुसलमान, दोनों को सीधा रास्ता दिखाया।"

आगे चलकर कबीर, रहीम और रामदेव के वार्तालाप के उपरान्त कथाकार कहता है—"हिन्दू-मुसलमान तथा ब्राह्मण-शूद्र का भेद दूर कर उन्होंने संवत् १५५१ में अपनी जीवन-लीला समाप्त की।"[३]

---

१. नई धारा—सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी—वर्ष १ अंक ७

२. नई धारा—सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी—वर्ष १ पृष्ठ १०

३. नई धारा—वर्ष १ अंक ७ पृष्ठ २१

तात्पर्य यह है कि रंगमंचीय नाटकों में विष्कम्भक और प्रवेशक का जो कार्य होता था उसे एक कथाकार वर्णन के रूप में रखता चलता है।

यह है इस रेडियो रूपक की संक्षिप्त रूप-रेखा। इसमें कबीर-जन्म से पूर्व ही कबीर का गाना गाया जाता है, जो रंगमंचीय नाटक की दृष्टि से नितान्त काल-विरोधी है। पचानवे वर्ष की घटनाएँ आधे घण्टे में रेडियो रूपक के रूप में ही दिखाई जा सकती हैं। रंगमंच पर एकांकी रूप में तो कबीर के जीवन की कोई एक विशेष घटना ही प्रदर्शित की जा सकती थी।

रेडियो के एक और नाटक 'कालिदास' पर विचार कर लेने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अन्य नाट्यकार भी रेडियो रूपक में इसी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। 'कालिदास' पं० उदयशंकर भट्ट का रेडियो रूपक है, जो कई रेडियो स्टेशनों से प्रसारित किया जा चुका है। इस रूपक में कालिदास के सभी ग्रन्थों की रचना के उद्देश्य पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है और यह भी दिखाया गया है कि किस ग्रन्थ के प्रणयन की प्रेरणा कहाँ से मिली है। प्रारम्भ में फाहियान और एक युवक के वार्त्तालाप द्वारा तत्कालीन परिस्थिति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तदुपरान्त सूत्रधार कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहता है[1]—"जीवन के कवि, शृंगार के आचार्य, रस के सागर, शब्दव्रत के परमाभ्यासी, भाव-गाम्भीर्य के साथ उक्ति-वैचित्र्य के उदधि, सृष्टि के अणु-अणु के पारदर्शी-कालिदास'। यहाँ वियोगी कालिदास के हृदय में उमड़ते हुए मेघ को देखकर अपनी प्रिया विलासवती को सान्त्वना देने की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उन्होंने यक्ष यक्षिणी के रूप में 'मेघदूत' की रचना की। इसमें वस्तुतः मेघ कालिदास के प्राण-रूपी यक्ष का संदेशवाहक बनता है। इसी प्रकार

१. कालिदास—उदयशंकर भट्ट—अप्रेल सन् १९५० पृष्ठ ६

'कुमार सम्भव', 'विक्रमोर्वशी', 'शकुन्तला' और 'रघुवंश' की रचना का आशय और प्रेरणा का कारण दिखाकर महाकवि गेटे की श्रद्धांजलि के साथ नाटक समाप्त होता है। स्फुट प्रसंगों का परिचायक सूत्रधार होता है जो प्रासंगिक घटनाओं का समय-समय पर निर्देश करता चलता है।

उदयशंकर भट्ट विरचित 'मेघदूत', 'विक्रमोर्वशी', 'शकुन्तला,' 'राधा' आदि गीति नाट्य बार-बार कई रेडियो स्टेशनों से सफलता-पूर्वक प्रसारित हुए हैं। इसी प्रकार सामाजिक, मनोवैज्ञानिक समस्या प्रहसन आदि भी समय-समय पर प्रसारित होते रहते हैं। आचार्य चतुरसेन के चार और रेडियो रूपक प्रकाशित हुए हैं—'सीताराम' 'हरिश्चन्द्र', 'श्री भरत' और 'राखी'। इस वर्ष श्री विष्णु प्रभाकर के चार रेडियो रूपक—(१) 'उपचेतना का छल', (२) 'मुरब्बी', (३) 'सरकारी नौकरी' और (४) 'क्या वह दोषी था' मुद्रित हुए। इनमें प्रथम और चतुर्थ मनोवैज्ञानिक नाटक हैं, जिनका अभिनय सफलतापूर्वक रेडियो स्टेशन दिल्ली से हुआ।

रेडियो नाटक का भविष्य

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के जितने नाटक आज रेडियो स्टेशनों पर अभिनीत होते हैं, उतने सिनेमा की प्रयोगशालाओं में भी न होते होंगे। इसलिए नाट्य कला का भविष्य रेडियो रूपक के रचयिताओं के हाथ में है। पश्चिम में यह कला बहुत विकसित हो चुकी है, किन्तु हिन्दी में केवल पश्चिम के अनुकरण से रचना द्वारा नाट्य कला का विकास सम्भव नहीं। आश्चर्य तो यह है कि रेडियो रूपक के तन्त्र अर्थात् टेकनीक के ऊपर हिन्दी भाषा में कोई प्रामाणिक ग्रन्थ अब तक प्रकाशित क्यों न हुआ। नित्यप्रति रेडियो रूपक प्रसारित किए जाते हैं, सहस्रों व्यक्ति उन्हें सुनते हैं, किन्तु रेडियो की नाट्य-

कला पर गम्भीरता से विचार करने वाला एक भी ग्रन्थ अभी तक नहीं लिखा गया।

हिन्दी के प्रकाशित एवं अप्रकाशित रेडियो नाटक के आधार पर रेडियो का नाट्य-तन्त्र इस प्रकार निश्चित किया जा सकता है। रेडियो नाटकों के जिन भेद-प्रभेदों का उल्लेख पूर्व किया जा चुका है उनका तन्त्र आज इस रूप में मान्य हो चुका है।

रेडियो रूपक—नाटक की यह ऐसी शैली है जिसमें नाट्यकार एक ही समय, एक स्थान पर सहस्रों वर्ष—वैदिक काल से प्रारम्भ करके आधुनिक काल तक—के प्रसिद्ध सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक उथल-पुथल का रूप प्रदर्शित कर सकता है। वह संकलन-त्रय के बन्धन को स्वेच्छा से क्षण-भर में चूर-चूर कर सकता है और रंगमंच की 'स्वगत' नामक अस्वाभाविक प्रणाली को पूर्ण स्वाभाविक बना सकता है। वह अंकों और दृश्यों की सीमाएँ एक झटके में धराशायी कर सकता है।

रेडियो फीचर—प्रसिद्ध उपन्यासों को नाटक रूप में उपस्थित करने की कला अंग्रेजी में एक काल से रेडियो में आ चुकी थी। रेडियो की यह शैली क्विलर काउच (Sir A. T. Quiller Couch) के हाथों विकसित हुई। उन्होंने तीन प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं का नाटक में रूपान्तर किया। इस प्रकार लार्ड लिटन और चार्ल्स डिकेन्स के वृहद् उपन्यासों का रसास्वादन थोड़े समय में फीचर के द्वारा किया गया। इसी शैली पर हिन्दी में प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यासों का रेडियो फीचर में रूपान्तर हुआ।

रेडियो फीचर की दूसरी विशेषता यह है कि यह सूचनात्मक और प्रचारात्मक भी होता है। इसमें शुष्क विषयों पर प्रकाश डालने के लिए उससे सम्बद्ध बातों का नाट्य-सा किया

जाता है। सुशील का 'पंचायत'-राज' इसका उदाहरण है।

ध्वनिनाट्य—इसका आधार है वाचिक अभिनय। इसमें कथनोपकथन का प्राधान्य रहता है। कुछ लोग इसे अन्धों का सिनेमा कहते हैं। ध्वनिनाट्य का उपयुक्त उदाहरण विष्णु प्रभाकर का 'बीमार' है।

स्वोक्ति—एकपात्रीय नाटक है, इसका रूप रंगमंच के एकांकी से भिन्न होता है। रंगमंच पर 'इसमें कथावस्तु का सुसम्बद्ध होना अनिवार्य नहीं, परन्तु रेडियो पर कथा सुसम्बद्ध' होनी ही चाहिए। विष्णु प्रभाकर का 'सड़क' नाटक इसका उदाहरण है।

फैन्टेसी (भावनाट्य)—उदयशंकर भट्ट इसे ऋतु-सम्बन्धी नाटक मानते हैं। किन्तु विष्णुप्रभाकर का मत है कि 'जीवन के किसी अमूर्त तथ्य पर आधारित रोमानी चित्रण' फैन्टेसी (भावनाट्य) है। इसमें भावात्मक घटना एवं अनुभूति को स्वच्छन्द रीति से चित्रित किया जाता है। इसमें मानसिक चिन्तन का सतत प्रदर्शन रहता है। विष्णु प्रभाकर के दो नाटक 'अर्द्धनारीश्वर[२]', 'शलभ और ज्योति[३]' उत्तम भावनाट्य हैं।

रंगमंच पर भावनाट्य उस नाटक को कहा जाता है जिसमें अभिनय का हाव-भाव संगीत तथा नाटक के अन्य उपकरणों से अधिक प्रभावशाली हो। मुद्रा और अनुभावों के द्वारा भावों के प्रदर्शन का नाटक में प्रभुत्व रहने के कारण इसे भावनाट्य कहा जाता है। उदयशंकर भट्ट का 'विश्वामित्र और दो भावनाट्य' इसका सफल उदाहरण है।

ध्वनि गीति रूपक—इसका माध्यम है कविता। इसमें आन्तरिक संघर्ष की प्रधानता रहती है। कार्य की अपेक्षा भाव का महत्त्व

१. एकांकी बिहार—विष्णु प्रभाकर—पृष्ठ ९६
२. अप्रकाशित
३. अप्रकाशित

अधिक होता है। बृहद् कथा की संक्षिप्ति के लिए वाचक-वाचिका का प्रयोग होता है। भगवतीचरण वर्मा का 'कर्ण', सुमित्रानन्दन पन्त का 'शिल्पी', 'शुभपुरुष' इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

रिपोर्ताज[1]—यह नाटक की एक अभिनव पद्धति है जो विगत युद्ध-काल में आविष्कृत एवं विकसित हुई। द्वितीय महायुद्ध में बड़ी-बड़ी घटनाएँ, एक के बाद दूसरी इतनी द्रुत गति से घटित होने लगीं कि नाट्यकार उन्हें कला से सुसज्जित बनाकर जनता तक पहुँचाने का अवसर ही न पा सके। जनता युद्ध की महत्त्व-पूर्ण घटनाओं, उनके कारणों और परिणामों को समीप से जानने के लिए क्षण-क्षण व्यग्र थी। सबकी आँखें पत्र-पत्रिकाओं की ओर लगी थीं और कान रेडियो की ओर। ऐसी असाधारण परिस्थिति में कलाकारों ने एक अभिनव नाट्य विधान का आविष्कार किया जो घटना और घटना-क्रम के इतिहास, घटनास्थल के वातावरण और घटना में भाग लेने वाली शक्तियों की गति-विधि, वादे-इरादे, रीति-नीति पर पर्याप्त प्रकाश डाल सके। वह संकट का ऐसा काल था जब जनता घटना के आभ्यन्तरिक और बाह्य सभी रूपों को जानने के साथ भविष्य में होने वाले उसके प्रभावों से भी परिचित होना चाहती थी, क्योंकि उसके परिणामों से कोई बच नहीं सकता था।

ऐसी स्थिति में कलाकार किसी घटना या वर्ण्य वस्तु का वर्णन इस प्रकार करने लगा मानो घटना से सीधा सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति उसका अंग बन गया हो और पाठकों की सहानुभूति का भाजन होकर उनके हृदयों में रागात्मक अनुभूति भर रहा हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कलाकार संजय की तरह विवेक दृष्टि से देखता हुआ महाभारत के विविध दृश्यों का, वीरों के जय-पराजय एवं उनके शौर्य और पराक्रम का, युद्ध की भीष-

१. प्रगतिवाद—शिवदानसिंह चौहान—पृष्ठ १११

णता और भयंकरता का वर्णन रागात्मक सहानुभूति के साथ करता चले।

यह कला रूस और अमेरिका में नित्य प्रति विकासोन्मुख बन रही है। हमारे देश में भी इसका प्रयोग विविध उत्सवों के अवसरों पर होता है। गणतन्त्र दिवस, स्वतन्त्रता दिवस, क्रिकेट मैच, कुम्भ मेला आदि विशेष अवसरों पर रेडियो से जो समाचार प्रसारित होते हैं उनकी यही शैली है। इसमें घटनास्थल के विवरण के साथ-साथ प्रसिद्ध वक्ताओं के भाषणों को भी उन्हीं के मुख से सुनने का सुयोग प्राप्त होता है।

पत्र-पत्रिकाओं में युद्ध-वर्णन के अतिरिक्त सांस्कृतिक रिपार्त्ताज भी लिखे गए। हिन्दी में सर्वप्रथम रूसी लेखक लियोनिदलियोनोव का सोवियत रिपोर्त्ताज हंस के 'शान्ति संस्कृति अंक' में प्रकाशित हुआ। इस लेख में लियोनिद लियोनोव ने रूसी जनता, अमेरिकनों और अंग्रेज़ों को सम्बोधित कर कहा—

"ऐसे समय में महान् सोवियत मानवतावादी लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में हम संस्कृति के पुजारियों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है। वक्त का हमसे तक़ाज़ा है कि हमारे अन्दर अटूट एकता हो।"

अमेरिकनों से—

"नहीं हुज़ूर, यह मास्को की साज़िश नहीं है,.....यह तो धरती डोल रही है, यह एक भूचाल है जो सदियों पुरानी गुलामी के घृणित और शर्मनाक जुए को झकझोर रही है। हुज़ूर, इन फूटते हुए ज्वालामुखियों से बचके रहिए, जरा सी भी लापरवाही आपकी तन्दुरुस्ती को नुकसान पहुँचा सकती है।

सभी देशों से—

"अब दुनिया धीरे-धीरे अहम् प्रेम, अहंकार, लालच और

पाखण्ड से उसी तरह मुक्ति पा रही है जिस तरह प्लेग और हैजे और कष्टकर मध्य युग के दूसरे रोगों से। विदा, ट्रेजेडी से अद्भुत सुन्दर दर्पणों में प्रतिबिम्बित भयानक छायाओ, विदा····तुम मैकबेथ और शाइलॉक, रोस्तिनियाक और तारतुफ़ विदा·····हैमलेट, जीवन के पुनर्जन्म पर मुस्कराओ ! और अब कोई प्यारी जूलियट का दिल न तोड़े।"

पं० उदयशंकर भट्ट[1] का मत है कि 'प्रगतिशील लेखकों ने (हिन्दी में) रिपोर्त्ताज लिखने का प्रयत्न किया है, किन्तु वे नाटक न होकर वस्तुस्थिति के वर्णनात्मक चित्र बन गए हैं।

हमारा मत है कि यह कला यदि रूस और अमेरिका में विकसित हो सकती है तो हिन्दी में भी इसे विकासोन्मुख बनाया जा सकता है। यह कला प्रगतिशील लेखकों के ही हिस्से नहीं पड़ी है, कोई भी इसमें प्रयास के द्वारा सिद्ध-हस्त हो सकता है। नवयुवकों के सम्मुख उन्नति का यह एक विशाल क्षेत्र पड़ा है। आशा है कि हमारी भाषा में भी ऐसे रिपोर्त्ताज लिखे जायँगे जो इस समृद्ध भाषा के उपयुक्त होंगे।

जन-नाटक

रेडियो द्वारा जन-नाटकों को भी प्रोत्साहन मिला है। रास, स्वाँग, ढोला-मारू, निहालदे, नौटंकी आदि जन-नाट्य-शैली के नाटक समय-समय पर प्रसारित होते रहते हैं। ग्रामीण जनता के विनोद के लिए जो विविध नाटक प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे मनोरंजन के साथ उन्नयन के भी साधन बनाए जा सकते हैं। जन-नाटकों ने देश के संकट काल में सांस्कृतिक विचारों की निरन्तर रक्षा की है। जैन रास, कृष्ण रास रामलीला के द्वारा घोर

हंस—शान्ति संस्कृति अंक—वर्ष २२—अंक ६-७
पृष्ठ २५ से ३० तक

१. जीवन और संघर्ष—उदयशंकर भट्ट—भूमिका पृष्ठ १८

आपत्ति काल में भी राम-कृष्ण के बल पर भारतीय संस्कृति जीवित रही। आज हमारी संस्कृति का क्षेत्र भारत तक ही सीमित नहीं, वह अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में जन-नाटकों के द्वारा बाह्य देशों की सांस्कृतिक विशेषताओं को आत्मसात् किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय जनता में राष्ट्रीयता के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय भावना जागृत की जा सकती है। स्वतन्त्र भारत में ज्यों-ज्यों ग्रामीण जनता की शक्ति का महत्त्व बढ़ता जायगा त्यों-त्यों जन-नाटकों का अभ्युदय अनिवार्य रूप से होता जायगा। उसका कारण यह है कि गतानुगतिका प्रेमी ग्रामीण जनता में किसी नवीन विचार की स्थापना और प्रचार के लिए जन-नाटक से बढ़कर कोई दूसरी युक्ति नहीं।

व्यंग—व्यंग नाटक प्रहसन से कई कारणों से भिन्न होता है। प्रहसन का ध्येय केवल विनोद होता है किन्तु व्यंग में एक विशेष उद्देश्य होता है। इस नाटक में वाग्वैदग्ध्य, कटाक्ष एवं चुभते व्यंग के द्वारा समाज की कुरीतियों, कुप्रवृत्तियों और आडम्बरमय विधि-विधानों का उपहास किया जाता है। इसमें गम्भीर हास्य के साथ विचारों को भी उद्बुद्ध करने की शक्ति होती है। 'अश्क' का 'अधिकार का रक्षक', भुवनेश्वर का 'स्ट्राइक', विष्णु प्रभाकर का 'कांग्रेस मैन बनो' और उदयशंकर भट्ट का 'दस हजार' हिन्दी के प्रसिद्ध व्यंग-नाटक है।

हिन्दी में एकांकी नाटकों को रेडियो के द्वारा प्रभूत प्रोत्साहन मिला। आज का नाटककार ऐसे एकांकी लिखने का प्रयास करता है जो रंगमंच और रेडियो स्टेशन दोनों पर सफल हो सकें। यह मोह नाटककार और नाट्यकला दोनों के लिए हानिकर है। दोनों का पृथक् तन्त्र (टेकनीक) है, दोनों के पृथक् प्रयोग हैं। बी० बी०

सी० के एक प्रसिद्ध नाटककार[1] का अनुभव है कि 'रंगमंच के लिए लिखा गया नाटक कदाचित् ही रेडियो पर सफल हो।' दोनों प्रकार की कला से परिचय प्राप्त करके एकांकी लिखे जायँगे तो अवश्य ही अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हो सकेंगे। नाटककार को स्मरण रखना चाहिए कि रंगमंच के नाटक का माध्यम है आङ्गिक और आहार्य अभिनय, सिनेमा का चलचित्र, किन्तु रेडियो नाटक का माध्यम है माइक्रोफोन—स्वर-प्रक्षेपण यन्त्र। अतः माध्यम के पार्थक्य से तन्त्र में अन्तर होना स्वाभाविक है।

× × ×

ऐतिहासिक नाटकों के दो वर्ग

पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण से ऐतिहासिक नाटक रचे गए। यदि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हम इन नाटकों का विभाजन करें तो अधिकांश नाटक दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं—एक में आध्यात्मिक शक्ति की प्रधानता है, दूसरे में आधिभौतिक की। आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न नाटकों के पात्रों में ज्ञान और विवेक की सत्ता से इन्द्रियों को कार्यक्षम बनाने की प्रवृत्ति, विकारों पर अधिकार पाने का प्रयास और मानव कल्याण की भावना का विकास पाया जाता है।

दूसरे वर्ग में आधिभौतिकता की प्रधानता होती है। इस वर्ग के नाटकों के पात्र भौतिक जीवन से प्रगाढ़ सम्बन्ध रखते हैं। नाट्यकार उन्हीं पात्रों में सत्य, न्याय, नीति, सौन्दर्यानुभूति आदि सद्गुणों का क्रमिक विकास दिखाने की चेष्टा करता है। पात्रगण देश, धर्म, जाति, समाज आदि की व्यवस्था के योगक्षेम में कष्ट

1. "It may save a certain amount of disappointment to say roundly that it is only in very exceptional cases that a play written for the theatre is likely to make good material for broadcasting,"

Radio Theatre—Val Gielgud, Foreword page ix } Macdonald & Co. London, 1946.

सहन करते हुए पाठकों और दर्शकों की सहानुभूति प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों प्रकार के नाटकों में प्रायः दोनों ही शक्तियों का या तो सहयोग पाया जाता है या द्वन्द्व। तथ्य तो यह है कि दोनों प्रकार की संस्कृतियाँ परस्पर एक-दूसरे पर आधारित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि चतुर्दिक् व्याप्त जगत् की आधिभौतिक शक्तियों का उपयोग करते ही मनुष्य की सुप्त आन्तरिक शक्तियाँ विकसित होने लगती हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों शक्तियों के सामंजस्य से मानव की गहनतम नैतिकता विकासोन्मुख बनती है। प्रसाद ने एक सिद्धहस्त कलाकार के समान इसी नैतिकता के बल से मानवत्व और देवत्व को एकाकार कर दिया है। यह प्रसाद के नाटकों की बहुत बड़ी विशेषता है।

आलोच्यकाल में कतिपय ऐसे ऐतिहासिक नाटक विरचित हुए जिनमें आध्यात्मिक संस्कृति पर बिना बल दिए ही आधिभौतिक संस्कृति के द्वारा देश-प्रेम की भावना भरने का प्रयास पाया जाता है। यह परम्परा बाबू राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' (संवत् १९५५ वि०) तथा 'महारानी पद्मिनी' (संवत् १९६० वि०) नामक नाटकों से चली। इस परम्परा के सफल नाट्यकार हैं पं० बदरीनाथ भट्ट, जिन्होंने इसी पद्धति पर 'चन्द्रगुप्त' (संवत् १९७२ वि०) और 'दुर्गावती' (संवत् १९८३ वि०) की रचना की। इनके अतिरिक्त किशनचन्द जेबा का 'पद्मिनी' (सं० १९८० वि०), दुर्गाप्रसाद गुप्त का 'महामाया' (सं० १९८१ वि०), कन्हैयालाल का 'वीर छात्रसाल' (सं० १९८२ वि०), 'आरजू' का 'झांसी-पतन' (सं० १९८५ वि०), जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' का 'प्रताप प्रतिज्ञा' (सं० १९८५ वि०), जमुनादास मेहरा का 'पंजाब केशरी' (सं० १९८५ वि०), चतुरसेन शास्त्री का 'उत्सर्ग' (सं० १९८६ वि०), उदयशंकर भट्ट का चन्द्रगुप्त

मौर्य' (सं० १९८८ वि०) और 'दाहर' (सं० १९९१ वि०), द्वारका प्रसाद मौर्य का 'हैदरअली' (सं० १९९१ वि०), श्यामाकान्त पाठक का 'बुन्देलखण्ड' केशरी (सं० १९९१ वि०), गोविन्द बल्लभ पन्त का 'राजमुकुट' (सं० १९९२ वि०), परिपूर्णानन्द का 'रानी भवानी' (सं० १९९५ वि०), मिश्रबन्धु का 'शिवाजी' (सं० १९९५ वि०), रूपनारायण पांडे का 'पद्मिनी' (सं० १९९९ वि०) और 'मारवाड़ गौरव' (सं० १९९९ वि०), राधाकृष्ण का भारत छोड़ो (सं० २००४ वि०), हरिकृष्ण प्रेमी का 'उद्धार' (सं० २००६ वि०) आदि नाटक इसी वर्ग में परिगणित किए जा सकते हैं। नये नाटकों में मोहनलाल महतो का अफ़ज़ल वध (सं० २००७ वि०) इसी वर्ग में गिना जायगा।

भारतेन्दु ने हिन्दी नाटकों की कथाभूमि में देशभक्ति के जिस स्वरूप की स्थापना की वह आज की देशभक्ति से कुछ भिन्न था। वह अपने अतीत के आधार पर आश्रित था और उसमें यह भावना निहित थी कि जिसने भी देश पर आक्रमण किया वह आततायी है। यह उद्‌बोधन काल था। इसी समय हिन्दू समाज में स्वामी दयानन्द वैदिक धर्म का शंख फूक रहे थे, जिसने भारतेन्दु द्वारा प्रेरित तत्कालीन साहित्यकारों को देश-भक्ति से और भी ओत-प्रोत कर दिया। राजपूतों के ओजस्वी जीवन अभी भी ताजे थे। इसलिए स्वाभाविक रीति से लेखकों की दृष्टि क्षत्रियोचित ओजस्विता की ओर गई। उनका वीरत्व, उत्सर्ग और असाधारण शौर्य उन्हें ऐसा प्रभावित कर गया कि वही देश-भक्ति का आदर्श बन गया। श्री राधाकृष्णदास ने जब 'महाराणा प्रताप' नाटक लिखा तो उनमें भी यही भावनाएँ थीं। उनका अनुकरण अन्य लेखकों ने किया, किन्तु सत्य पूछा जाय तो शुद्ध देशभक्ति की प्रतिष्ठा-भूमि हमें तत्कालीन नाटकों में केवल भारतेन्दु के ही नाटकों में मिलती है। राजपूत यदि अपने राज्यों का मोह छोड़

सकते और सच्ची देशभक्ति से पूर्ण होते तो आज भारत का दूसरा ही इतिहास होता। तथ्य तो यह है कि राणा प्रताप एक पीड़ित हिन्दू थे और लेखक की सामर्थ्य से राणा प्रताप की विपत्तियों को पाठकों ने अपने ऊपर आरोपित किया, अतः वह सारी हिन्दू जाति की विपत्ति समझ ली गई। और कष्ट-सहिष्णु राणा प्रताप सारी जाति के प्रतीक मान लिमे गए।

'प्रेमी' जी का 'उद्धार' नाटक इस वर्ग के सर्वोत्तम नाटकों में से है। इस नाटक में हमीर[1] 'देश को जाति, वंश और सभी सांसारिक वस्तुओं से ऊँचा' समझता है।

अनूदित सांस्कृतिक नाटक

आलोच्यकाल में सांस्कृतिक नाटकों के विकास में यूरोपीय नाटकों से भी सहायता ली गई। प्रथम युद्ध में जर्मनी के युद्ध-कौशल को देखकर भारतवासी विशेष रूप से उधर आकृष्ट हुए। फलतः वहाँ की कला और साहित्य से भी यहाँ के लोग प्रभावित हुए। जर्मनी के जिन प्रसिद्ध नाट्यकारों ने देश के सांस्कृतिक विकास में योग दिया था, उनका साहित्य देशी भाषाओं में अनूदित होने लगा। जर्मन नाट्यकार लेसिंग के दो नाटकों का हिन्दी अनुवाद 'मिना' और 'नातन' नाम से किया गया। डॉ० मंगल देव ने 'मिना' को और श्री अबुलफज़ल ने 'नातन' को अनुवाद रूप में उपस्थित किया। 'मिना' नाटक में 'नाथन' यहूदी है और शेष पात्र मुसलमान और ईसाई हैं। पात्रों के दो वर्ग हैं: पुशियन और सैक्सन। पुशियन पात्र 'ट्याल हाइप' अत्यन्त क्रूर और कठोर हैं किन्तु मिना का चरित्र अति उदार और निष्कलंक है। मिना सैक्सन प्रदेश की निवासिनी है। इस नाटक द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि धार्मिक संकीर्णता हमें धर्म के सच्चे तत्त्व

१. उद्धार—हरिकृष्ण प्रेमी—संवत् २००६ वि० पृ० १२६।

से बहुत दूर रखती है। इस नाटक से यह भी प्रमाणित किया गया है कि किसी धर्म का महत्त्व जीवन के आदर्श की उच्चता और पवित्रता के ऊपर निर्भर है न कि थोथे रीति-रिवाजों पर।

नातन

दूसरा जर्मन नाटक है 'नातन'। 'नातन' नाटक का अनुवाद उपस्थित करते हुए अबुल्फज़ल साहब लिखते हैं कि—"आजकल हमारे देश में जो उपद्रव उपस्थित है उसके कारणों में से एक बड़ा कारण यह है कि परस्पर लड़ने वाले एक-दूसरे के धार्मिक मतों से अज्ञात हैं और प्रत्येक मतावलम्बी संकीर्ण हृदय और अदूर-दर्शिता से काम ले रहा है। दुर्भाग्यवश साहित्य भी ऐसा निकल रहा है जो एक-दूसरे से लड़ाने में सहायता दे रहा है। यूरोप में भी ईसाई और मुसलमान एक-दूसरे के शत्रु थे, परन्तु जब प्रत्येक ने अपने-अपने स्थान पर ध्यान दिया तो दोनों ने अपनी संकीर्णता को स्वीकार किया। मुझे आशा है कि जो कुछ 'नातन' ने यूरोप में किया वही भारत में भी करेगा।"

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि अनुवादकर्ता ऐसे नाटकों का अनुवाद कर रहे थे, जो धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण बनाने में सहायक हों। इस 'नातन' नाटक में एक यहूदी एक ईसाई लड़की को पड़ा पाता है, उसका पालन-पोषण करता है। उसको अपने धर्म की शिक्षा न देकर धार्मिक विषयों में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। उसके इस कार्य से मठाधीश इस कारण अत्यन्त क्रुद्ध होता है कि एक ईसाई लड़की को यहूदी ने अपने घर क्यों रखा। यहूदी को जला देना चाहिए। टेपलर जब मठाधीश से कहता है कि यदि वह बच्चा मर जाता तो क्या होता? तो मठाधीश इस प्रकार उत्तर देता है—

मठाधीश—कोई हर्ज नहीं। यहूदी को तब भी जला डालना

चाहिए। वह बच्चा सदा के लिए शाप में पड़ जाय, इससे अच्छा है कि वह यों ही मर जाय। परमेश्वर जिसे चाहे, उस यहूदी की सहायता के बिना भी आपत्ति से मुक्ति दे सकता है।

उपसंहार

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांस्कृतिक नाटकों की तीन मुख्य शैलियाँ इस समय प्रचलित थीं। एक शैली द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के निकट होकर चल रही थी, दूसरी यूरोपीय नाटकों के अनुवाद तथा रूपान्तरित रूप में ग्रहण की जा रही थी और तीसरी 'प्रसाद' की निजी शैली थी जो नितान्त मौलिक थी। 'प्रसाद' जितने सफल कलाकार थे, उतने ही प्रवीण इतिहास के अनुसन्धानकर्ता भी। उन्होंने अतीत भारत के गौरव-प्रासाद का खण्डहर देखा। उसकी प्राप्य सामग्री से ही सन्तुष्ट न होकर उसके लुप्त-प्राय अंगों का अनुसन्धान किया। उन्हें विस्मृति के गर्त से ढूँढ़ निकाला और अपनी कल्पना से भग्नावशेषों को संयुक्त कर ऐसा प्रासाद निर्मित किया, जिसमें जोड़ का कहीं चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। यह थी 'प्रसाद' की अपनी मौलिकता। यद्यपि उनके पथ पर चलने का प्रयास कई नाट्यकारों ने किया किन्तु न तो वे भग्नावशेष को ढूँढ़ पाए और न कल्पना के बल से नव-निर्माण के द्वारा वैसा प्रासाद बना पाए जैसा 'प्रसाद' ने 'स्कन्द-गुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

समस्या नाटकों का उदय

बीसवीं शताब्दी में स्त्री-शिक्षा के प्रचार और राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्री-समाज के भी भाग लेने से भारत में पश्चिमीय पद्धति पर नव समाज निर्मित हो रहा था, किन्तु विवाह-सम्बन्धी नैतिक विधान अभी तक पुरातन रूप में ही चल रहे थे। अतएव इस

काल में उन्मुक्त प्रेम और दाम्पत्य के होड़ में नई समस्या खड़ी हो गई। समस्या नाटक लिखने के लिए उत्सुक नाट्यकारों का सर्व प्रथम ध्यान इसी ओर गया। उन्होंने 'इब्सन' और 'शा' के नाटकों में इस समस्या की खोज की और उन्हें इब्सन के 'डाल्स हाउस' में यह विचार मिला कि पुरुष स्त्री को किस मात्रा में स्वतन्त्रता दे सकता है जिससे नारी का व्यक्तिगत विकास अवरुद्ध न हो सके। इसी प्रकार 'वाइल्ड डक' में पुरुष स्त्री के प्रति एक समस्या उठाई गई कि यदि स्त्री पुनर्विवाह के समय एक सन्तान भी लेकर आए तो पुरुष को क्या करना चाहिए। 'इब्सन' के 'घोस्ट्स' नामक नाटक में एक स्त्री की दुर्दशा अपने क्रूर पति से पृथक् न होने पर दिखाई गई है। इसी प्रकार 'शा' ने 'मैन एण्ड सुपर मैन' में वैवाहिक जीवन की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है।

समस्या नाटक के आधुनिक जन्मदाता मिश्रजी माने जाते हैं। इस पद्धति का पहला नाटक 'संन्यासी' १९२७ ई० में लिखा गया। इस नाटक की प्रेरणा के विषय में मिश्रजी कहते हैं—[1] "पहले महायुद्ध की समाप्ति पर कैथराइन की 'मदर इंडिया' निकल चुकी थी। यूरोप और अमेरिका के कितने ही लेखक काले, भूरे और पीलों से गोरों को सावधान रहने की चेतावनी दे रहे थे। रंगीन जातियों को सब ओर से हीन करने की चेष्टा की जा रही थी। 'हिंडमन ब्लांड' 'पुटनमवील' 'लाथ्रास्नोदार' आदि कितने ही राजनैतिक लेखक इस बात की घोषणा कर रहे थे कि भविष्य में गोरों का संकट रंगीन जातियों से बढ़ेगा। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय में इस तरह का साहित्य बराबर बढ़ रहा था जिसके पढ़ने का सुयोग मुझे विद्यार्थी-जीवन में वहीं मिल गया। इस प्रचार की जो प्रतिक्रिया हुई उसी ने हिन्दी के प्रथम समस्या नाटक 'संन्यासी' को जन्म दिया। जाति के गौरव बाँध

१. पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र से वार्तालाप।

अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों की विभूति निष्ठा ने 'अन्तर्जगत'[1] के कवि को समस्यानाटककार बना दिया। मैंने तभी १९८० वि० के आसपास ही देख लिया था कि छायावादी हिन्दी कविता के रूप में अंग्रेजी कवियों की लीरिक-पोइट्री का जो प्रभाव चल रहा है वह व्यक्ति की अतृप्त लालसा, वासना, परिताप, एकांगी स्वार्थ के उन्माद का फल है। इसमें "जातीय जीवन और अपनी संस्कृति का ह्रास है। इसलिए मुक्त कविताओं का लिखना छोड़कर मैं सदैव के लिए नाटककार बन गया जिसमें जीवन की स्वाभाविक धारणा और उसके चित्रण का अवसर है। कर्म-संश्रय से छूटकर गीतों की रंगीनी में डूब मरने को मैंने पाप समझा।"

संन्यासी—(सं० १९८८ वि०) में मुरलीधर राष्ट्रसेवा-हित कई बार जेल यात्रा करते हैं, किन्तु आजीवन अविवाहित रहकर देश-सेवा के व्रत लेने पर भी किरणमयी का कौमार्य भंग करते हैं। उनकी मृत्यु के उपरान्त किरणमयी कालेज के वृद्ध प्रोफेसर दीनानाथ के साथ संसार चलाने के लिए समझौता करती है, किन्तु वहाँ भी असफल रहने के कारण प्राण त्याग देती है। इसी प्रकार मालती के प्रेम में असफल होने के कारण विश्वकान्त संन्यासी हो जाता है।

संन्यासी में सहशिक्षा के कारण एक छात्रा का प्रेम एक छात्र के प्रति खुल जाता है। इस अपराध के लिए एक ऐसे अध्यापक की प्रेरणा से प्रेमी छात्र को विद्यालय से निकाला जाता है जो स्वयं उस छात्रा के मोह में पड़ गया था। प्रथम महायुद्ध के बाद विदेशी शासकों ने इस देश को जो धोखा दिया था, रौलेट ऐक्ट पंजाब-हत्याकांड और गांधी के असहयोग आन्दोलन ने देश में जो उथल-पुथल पैदा की, देश-सेवकों का जीवन जिस संकट में पड़ा, उसके अनेक चित्र इस नाटक में आते गए। कालेज से निर्वासित विश्वकान्त मालती के अनुराग के पंखों पर चढ़कर एशिया की

१. अन्तर्जगत्-काव्य—लक्ष्मीनारायण मिश्र।

मुक्ति के लिए एशियाई संघ का संयोजक बना। संयोग की बात है कि इस नाटक-रचना के बीस वर्ष उपरान्त दिल्ली में एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ।

'राक्षस का मन्दिर'—(सं० १९८८ वि०) में अस्गरी नामक एक वेश्या की दशा दिखाई गई है। वृद्ध वकील रामलाल की उस मुसलमान वेश्या से उसका पुत्र रघुनाथ प्रम करने लगता है। रघुनाथ का एक मित्र मनोहर क्रान्तिकारी है जो दबाव डालकर रघुनाथ की सारी सम्पत्ति वेश्या-सुधार के लिए खोले गए मातृ-मन्दिर के नाम लिखा लेता है। इस मातृ-मन्दिर की भी पोल खुल जाती है और अस्गरी मनोहर के मन्दिर अर्थात् राक्षस के मन्दिर में रहने लगती है।

मुक्ति के रहस्य—(सं० १९८९ वि०) में उमाशंकर शर्मा असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए प्रोफेसर का पद त्यागकर जेल जाते हैं। अपनी बीमार स्त्री को विष देने में एक कुमारी कन्या की सहायता लेते हैं। कुमारी आशा देवी को एक पत्र के द्वारा वैधानिक नियमों में जकड़ लेते हैं और उसका कौमार्य भंग करते हैं। अन्त में इन दोनों का विवाह हो जाता है।

राजयोग—(सं० २००६ वि०) में बिहारीसिंह की स्त्री अपने नौकर गजराज से गुप्त प्रेम करती है और उससे चम्पा नामक एक पुत्री उत्पन्न होती है। चम्पा विद्यालय में पढ़ती है, जहाँ रतनपुर के राजकुमार शत्रुसूदन और मन्त्री कुमार नरेन्द्र भी पढ़ते हैं। नरेन्द्र से चम्पा का प्रेम था। दोनों का विवाह निश्चित हो जाता है, किन्तु शत्रुसूदन अपने राज प्रभाव से चम्पा से विवाह कर लेता है और नरेन्द्र गृहत्यागी हो जाता है। चम्पा को बार-बार शत्रुसूदन से तिरस्कृत होना पड़ता है। पांच वर्ष बाद नरेन्द्र राज-योग का आडम्बर करता है किन्तु कोई उसे पहचान नहीं पाता। कालान्तर में वह राजयोगी से कर्मयोगी बन जाता है।

'सिन्दूर की होली' (संवत् १९९१ वि०) में मुरारीलाल मजिस्ट्रेट आठ सहस्र रुपये के लिए अपने मित्र की हत्या करता है और उसके पुत्र मनोजशंकर के पालन-पोषण में उक्त धन से कहीं अधिक व्यय करता है। वही मजिस्ट्रेट एक ऐसे आदमी से चालीस सहस्र रुपया उत्कोच में लेता है जो अपने पट्टीदार रजनीकान्त की हत्या करके उसकी सम्पत्ति हड़प जाता है। युवा रजनीकान्त का चित्र देखकर मजिस्ट्रेट की कन्या चन्द्रकला नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करती है और अन्त में रजनीकान्त के शव के हाथों से अपनी मांग में सिन्दूर भर लेती है। वह सदा अविवाहित रह कर अपने पिता से दूर निवास करती है। मनोजशंकर को भी पिता की हत्या का रहस्य खुल जाता है।

'आधी रात' (सं० १९९४ वि०) में एक ऐसी नारी के जीवन की समस्या उठाई गई है जिसका जन्म तो हमारे अपने देश में हुआ था किन्तु जिसकी सारी शिक्षा एवं संस्कार, आदर्शों और आकांक्षाओं का निर्माण इंग्लैंड में हुआ था। भारतीय नारी-जीवन की सारी मान्यताओं को हवा में उड़ाकर वह इस देश में नारी के लिए एक ऐसे नये स्वर्ग का निर्माण करने लगी जिसमें नारी के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और पुरुषों की आँख में आँख गड़ाकर ललकारने की लालसा थी। अपनी शक्ति-भर उसने यह नया प्रयोग किया, पर एक दिन आया जब उसने देख लिया कि उसका यह प्रयोग उसे सब ओर से ले डूबा। इस देश में नारी-जीवन के जो विश्वास थे उसने उन सबको अपनाया। अपने प्रिय के मंगल और अपने चित्त की शान्ति के लिए तीर्थ और व्रत के रूप में उसने वे सारे कार्य किए जो इस देश की श्रद्धामयी ग्रामीण स्त्रियाँ सदा से करती आ रही हैं। इस नाटक में विदेशी मानदंडों के ऊपर भारतीय नारी-जीवन की प्रतिष्ठा करना नाटककार का उद्देश्य प्रतीत होता है।

मिश्र जी का कहना है कि— "इन समस्या नाटकों ने शुक्ल जी से लेकर आजतक के अधिकांश आलोचकों के नीचे की धरती को जैसे एकदम उखाड़ फेंका। एक स्वर में लोग कहते रहे कि मेरे ये नाटक पश्चिम से प्रभावित हैं इसलिए भारतीय मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। पर बात ऐसी नहीं थी। एक-एक नाटक के कथानक, व्यापार-संवाद और परिणति पर विचार कर लेने पर जो तथ्य सामने खड़ा होता है वह यह है कि नर-नारी के प्रेम और आकर्षण के साथ-ही-साथ हमारे जीवन की जो अन्य समस्याएँ नाटकों में आई हैं वे भारतीयता को और भी अधिक चमका देती हैं। नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरुष के राग का माध्यम बनती है उसे जन्म-भर उसी के साथ रहना है। इस कठोर नियम और मान्यता में उसके निजी प्रेम को हारना ही पड़ता है। जैसे 'मुक्ति का रहस्य' की आशा देवी अपने प्रेम के देवता उमाशंकर को छोड़कर अपने पतन के साथी डॉ० की सहगामिनी बनती है। इस नाटक में जो कहीं आशा उमाशंकर के साथ रह पाती तो वह पश्चिम के स्वतंत्र प्रेम की विजय उस भारतीय दाम्पत्य-विधान पर मानी जाती जिसमें नारी को जन्म-भर एक पुरुष की बनकर रहना माना गया है।"

'सिन्दूर की होली' में बाल-विधवा मनोरमा विधवा-विवाह और नारी-उद्धार के आन्दोलन को पुरुष-उद्धार कहकर व्यंग्य और विश्वास के अनोखे अवसर सारे नाटक में प्रस्तुत करती गई है। पति के न रहने पर भी जन्म-भर उसके नाम की डोर में बँधी रहने का कार्य वह बराबर करती रही है और जब किसी पुरुष ने उसके विधवापन की ओर दुख या सहानुभूति प्रगट की वह उससे ऐसे भाग निकली जैसे गाय कसाई के सामने से भागती है। मुरारीलाल से उसका यह कहना कि "पुरुष तो वैधव्य

का अनुभव कभी नहीं करते, इसलिए यह बात स्त्री ही कह भी सकेगी"—इसका प्रमाण है।

मनोजशंकर और उसके सम्बन्ध में मुरारीलाल को जब सन्देह होता है तो मनोजशंकर भभक उठता है और कहता है "यह विधवा, आप नहीं जानते या शायद जानते भी हैं अग्नि है, हलाहल है। कोई भी पुरुष उसे छूकर या पीकर जी नहीं सकता।—

मुरारीलाल—तुम्हारा हृदय प्रेम से नहीं....

मनोरमा—(होंठ पर अँगुली रखकर) इसलिए कि मैं विधवा हूँ।

मुरारीलाल—लेकिन तुमने तो अपने प्रेमी का मुख भी नहीं देखा, तुम्हें इसका ज्ञान नहीं।

मनोरमा—इन आँखों से तो कभी नहीं देखा, लेकिन कल्पना की आँखों से नित्य देखती हूँ, नित्य। बीस वर्ष का सुन्दर, स्वस्थ, सम्मोहक शरीर, चन्द्रमा-सा मुख, कमल-सी आँखें, कमान-सी भौंहें, घने काले नीलम-से चमकीले बाल, (आँख मूँदकर) वह स्वरूप इस समय मेरे सामने आ गया है। देखिए तो शायद आपको भी देख पड़ जाय।"

जिसके हृदय में पति का रूप यौवन का सारा आकर्षण लेकर इस तरह जमकर बैठा हो, कोई भी दूसरा पुरुष उसके लिए इतना हीन और दरिद्र होगा कि वह उसकी ओर देखना भी नहीं चाहेगी। अब भारतीयता का इससे अधिक स्वस्थ-मुख हम क्या देखना चाहेंगे।

वृन्दावनलाल वर्मा ने कई समस्या नाटक लिखे हैं। 'बाँस की फाँस' (सं० २००४ वि०) में सुशिक्षित लड़का गोकुल एक भिखारिन की बालिका पुनीता से विवाह करता है, वह भिखारिन (अन्धी बुढ़िया) पहले तो उसे गुंडा समझती है और कहती है[1]—

---

१. बांस की फांस—वृन्दावनलाल वर्मा प० ६२-६३

"बुढ़िया—निपूते ! कोढ़ी !! मुंहजले !!! मेरे आधार को मुझ से छीनना चाहते हैं।

पुनीता—वे ऐसे नहीं हैं। गाली मत दो, मां ! इन्होंने ही मेरे लिए अपना रक्त दिया था, खाल दी थी। मेरी जान बचाई थी।

गोकुल—मां जी, आप की लाठी के लिए मेरा सिर हाजिर है।"

वृन्दावनलाल वर्मा ने 'पीले हाथ', 'लो भाई पंचो लो', आदि सामाजिक समस्या-नाटक लिखे हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने कई समस्या-नाटक लिखे हैं। 'छठा बेटा' (सं० २००७ वि०) माता-पिता की उन समस्याओं को प्रदर्शित करता है जो वृद्धावस्था में अयोग्य पुत्रों की क्रूरता के कारण सामने आती हैं। पं० बसन्तलाल के छः लड़के हैं, किन्तु वृद्ध मां-बाप कष्ट उठाते हैं। बसन्तलाल अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लड़कों में वितरित कर देता है। सम्पत्ति पाने पर सब उसकी देख-रेख छोड़ देते हैं।

'कैद और उड़ान' (संवत् २००८ वि०) में मध्यवर्गीय पतनोन्मुख समाज के शिकंजों में जकड़ी हुई नारी और उसके सहयोग से वंचित, अस्वस्थ, अभावग्रस्त और विकृत पुरुष का चित्र खींचा गया है। 'स्वर्ग की झलक' आधुनिक शिक्षा के आधार पर लिखा गया सामाजिक व्यंग है।

पौराणिक कथानक लेकर 'विद्रोहिणी अम्बा' में स्त्री का पुरुष के प्रति विद्रोह प्रदर्शित किया गया है। एक स्थान पर अम्बिका कहती है,—'यही तो समाज की मर्यादा है, असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं, तीन-तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो और क्या है ? हमारे अधिकार किसने छीन लिए ? समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं।'

ऐसा प्रतीत होता है इस नाटक का उद्देश्य ही है स्त्री पात्रों के द्वारा नारी जाति की दुर्दशा को प्रदर्शित करना। 'विद्रोहिणी अम्बा' से पूर्व भट्ट जी ने 'कमला' नामक एक समस्या-नाटक संवत् १९९६ वि० में लिखा। इस नाटक में जमींदार देवनारायण की दूसरी धर्मपत्नी कमला सार्वजनिक कार्यों में भाग लेती रहती है। जमींदार को यह सन्देह हो जाता है कि उसकी पत्नी दुश्चरित्रा है। कमला पति की क्रूरता से विकल होकर यह कहते हुए गृह-त्याग करती है[1]—'जाती हूँ। पर तुम देखोगे कि तुमने एक स्त्री का कितना अनादर और उसको लांछित किया है। इसका फल तुम्हें भोगना होगा।' इसका उत्तर जमींदार देवनारायण देते हैं—'तू जाती है कि नहीं! कुलटा, राक्षसी, जा!'

राजनीतिक समस्याओं को लेकर समस्या-नाटक लिखने वालों में सेठ गोविन्दास जी का प्रमुख स्थान है। सेठ जी के 'सेवापथ' (सं० १९९७ वि०) में दीनानाथ निर्धन होते हुए भी गान्धी जी का अनुयायी बनकर देश-सेवा करना चाहता है। शक्तिपाल मध्यम वृत्ति का व्यक्ति है। वह सांसारिक सुखों का उपभोग करता हुआ देश-सेवा का अभिलाषी है। श्रीनिवास सम्पत्तिशाली है और पूँजीपतियों की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सेवा के मार्ग में इन तीनों का संघर्ष होता है और अन्त में गान्धीवाद की विजय होती है।

'धीरे-धीरे' (सं० १९९६ वि०) भी एक राजनीतिक व्यंग है। कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने पर जो उलझनें आईं, उन्हीं समस्याओं की ओर इसमें संकेत मिलता है। गांव की अशिक्षित नारी हीरा की समस्या इसमें प्रमुख है।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त रचित 'अंगूर की बेटी' (सं० १९९४ वि०) नामक नाटक में मद्यपान की समस्या है।

---

१. कमला—उदयशंकर भट्ट—प्रथम संस्करण—पृ० ५१

'मणि गोस्वामी' नामक नाटक (सं० १९८८ वि०) के रचयिता प्रोफेसर कृपानाथ मिश्र ने लिखा—'मणिगोस्वामी' एक प्रतिष्ठित जमींदार है। वह दूसरा विवाह करता है। गृह-कलह से व्याकुल होकर ज्येष्ठ पुत्र वीरेन पिस्तौल से आत्महत्या कर लेता है। उसकी आत्महत्या का समाचार सुनकर उसका पिता विक्षिप्त हो जाता है।' इस नाटक में यह दिखाया गया है कि बहु-विवाह के कारण जो गृह-कलह उत्पन्न होता है, वह पारिवारिक जीवन के लिए कितना भयायह है।

ग्राम-समस्या को लेकर वृन्दावनलाल वर्मा ने एक नाटक 'खिलौने की खोज' (सं० २००७) लिखा है। हास्य का पुट देते हुए इसमें गांव के रगड़े-झगड़े, भूत-प्रेत, आदि समस्याओं को दिखाया गया है।

समस्या नाटकों की परम्परा

हम भारतेन्दु युग के नाटकों की चर्चा करते हुए बाल विवाह, विधवा विवाह, मद्यनिषेध, बहु-विवाह आदि समस्याओं की ओर संकेत कर आए हैं। भारतेन्दु जी ने 'प्रेम योगिनी' नाटक में तत्कालीन कई समस्याओं की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया था। इसी प्रकार भारतेन्दु युग के नाट्यकारों ने समाज की अनेक कुरीतियों को लक्ष्य बनाकर नाटक लिखे। यद्यपि उस युग के लिए वही समस्या-नाटक थे, किन्तु आज समस्या-नाटकों का रूप नितान्त भिन्न हो गया है। आज के समस्या-नाटकों में भावुकता के स्थान पर मनोविश्लेषण की प्रधानता रहती है। अर्थात् इन नाटकों के पात्र अपने साथियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं, किसी प्रकार की भावुकता के प्रवाह में बहते नहीं। इन नाटकों के ऊपर भारतेन्दु युग से अधिक पश्चिम के आधुनिक युग का प्रभाव पड़ता प्रतीत होता है। इन नाटकों में भरतनाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन और पश्चिम की प्रचलित नाट्यकला का

पालन किया गया है। भारतेन्दु-युग के सामाजिक नाटक समाज की कुरीतियों का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते थे, प्रत्युत् उनके निराकरण का उपाय भी बता देते थे, किन्तु आधुनिक नाटक सामाजिक रोग का निदान-मात्र कर देते हैं, उनकी चिकित्सा का भार देश के कर्णधारों पर छोड़ देते हैं। भारतेन्दु युग में महिलाओं की समस्या पर प्रकाश डालने के लिए विविध नाटकों का सृजन हुआ था, जिनमें नारी के अधिकार और उनके कर्त्तव्य का सन्तुलन किया गया था, किन्तु आज के सामाजिक नाटक नारी-अधिकार की ओर उसके कर्त्तव्यों से अधिक बल देते हैं।

शैली

नाटक की शैली में तो आमूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु युग के प्रायः सभी नाटक नृत्य-गीतमय होते थे, किन्तु आधुनिक समस्या-नाटकों से नृत्य-गीत, कविता तथा स्वगत-भाषण सर्वथा बहिष्कृत कर दिये गए हैं। आज के नाटकों में रंग-मंच के संकेत इतने विस्तृत होते हैं जितने भारतीय नाटकों में कभी न थे।

भारतेन्दु युग के सामाजिक नाटकों की रचना में प्रेरणा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द से मिलती थी। आज के नाट्यकार फ्रायड और मार्क्स से प्रेरणा पा रहे हैं। उस युग में हमारे आदर्श-कवि थे कालिदास और भवभूति, आज पथप्रदर्शक हैं 'इब्सन' और 'शा'।

धार्मिक नाटक

हिन्दी साहित्य में नाटक का प्रारम्भ ही धर्म को लेकर हुआ और पहले धार्मिक कथानक ही इसके आधार बने। हमें जो नाट्य-साहित्य मिला है उसमें भरतेश्वरबाहुबलीरास, गेय सुकुमार रास आदि प्रारम्भिक जैन-रास धार्मिक पुरुषों के चरित्र

के ही आधार पर लिखे गए हैं और यही स्थिति वैष्णव रास की भी है। इसके कथानक भी धार्मिक पुरुष राम और कृष्ण के चरित्र ही हैं। धार्मिक नाटकों का वर्गीकरण यदि चरित्र के आधार पर किया जाय तो इन नाटकों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) राम चरित्र (२) कृष्ण चरित्र (३) संत चरित्र।

राम चरित्र के नाटकों के दो भेद हैं। कुछ नाटक तो केवल लीला-मंडलियों के अभिनय के लिए विरचित हुए और कुछ साहित्य के लिए। हम यहाँ साहित्यिक नाटकों की ही चर्चा करना चाहते हैं। रामलीला-सम्बन्धी अनेक नाटक मिलते हैं किन्तु उनका मूल्य साहित्य की दृष्टि से अधिक नहीं। साहित्यिक नाटकों में सेठ गोविन्द दास का 'कर्त्तव्य' (संवत् १९८२ वि०), चतुरसेन शास्त्री का 'सीताराम' (सं० १९९६ वि०) और 'श्रीराम' (संवत् १९९७ वि०), हरिमंगल मिश्र का 'उत्तर राम चरित्रच्छाया' (सं० १९६९ वि०), बन्दीदीन दीक्षित का 'सीतास्वयंवर-नाटक' (सं० १९५६ वि०) प्रसिद्ध है।

इधर 'उर्मिला' नामक सुन्दर नाटक पृथ्वीनाथ शर्मा ने (सं० २००७ वि०) लिखा है। उसमें उर्मिला का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। उर्मिला का चरित्र मैथिलिशरण के 'साकेत' से मिलता जुलता है। 'सीता की मां' नामक नाटक श्री बेनीपुरी जी ने लिखा है। इस नाटक में भी परम्परागत धारणा को त्यागकर सीता की माता को एक अकाल-पीड़िता नारी दिखाया गया है।

सन्त चरित्र

इस काल की सबसे बड़ी विशेषता सन्त चरित्र को नाटक-रूप में ढालना ही है। भारतेन्दु युग में गोपीचन्द, मोरध्वज और भर्तृहरि के चरित्रों के आधार पर केवल तीन-चार नाटक रचे गए

थे किन्तु इस काल में कई उत्तम नाटक सन्त-चरित्र को लेकर बने। इस काल में 'भक्त तुलसीदास' (सं० १९७९ वि०) 'बुद्ध चरित्र' (सं० १९८८ वि०) 'भक्त सूरदास' '(सं० १९८० वि०)' 'महात्मा कबीरदास' 'स्वामी विवेकानन्द' '(सं० १९७४ वि०)' 'प्र लाद चरित्र' (सं० १९५२ वि०), 'भगवान् शंकाराचर्य' (सं० 'कुमारिल भट्ट' (सं० ×) 'श्री रामानन्द' (सं० १९९२ वि०), 'मतवाली मीरा' (सं० १९९२ वि०) 'निभाई संन्यास' (सं० १९८७ वि०). स्वामी दयानन्द (सं० १९७९ वि०), 'शंकर-विजय' (सं० १९९२ वि०), 'प्रबुद्ध यामुन' (सं० १९८३ वि०) प्रसिद्ध नाटक हैं।

परम्परा

सन्त-महात्माओं के चरित्र के आधार पर नाटक लिखने की परम्परा अपभ्रंश काल में भली प्रकार प्रचलित थी। हमें ऐसे-ऐसे रास मिलते हैं जिनमें धर्म कार्य करने वाले गृहस्थों को भी नायक बनाकर नाट्य रचना की गई है। वैष्णव-धर्म में सन्त-महात्माओं को आदर तो दिया जाता था किन्तु नाटकों से उन्हें प्रायः पृथक् रखा जाता था। भारतेन्दु युग में स्वांग-मंडलियाँ भर्तृहरि, गोपीचन्द आदि सन्त-महात्माओं का स्वांग खेला करती थीं। अंग्रेजी में 'बनार्ड शा' ने 'सेंट जान' नामक नाटक लिखकर एक धूम मचा दी थी। हिन्दी में सम्भवतः अपनी पूर्व परम्परा तथा पश्चिम के प्रभाव के कारण सन्त नाटकों की रचना इतनी अधिक संख्या में हुई।

शैली

सन्त-नाटकों की शैली प्रायः संस्कृत नाटकों की ही शैली है। यह वही शैली है जिसका अनुसरण भारतेन्दुजी ने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में किया। इनमें नान्दी, सूत्रधार, भरत वाक्य का दर्शन होता है। गद्य-भाग तो खड़ी बोली में उपलब्ध होता है किन्तु

कविताएँ ब्रजभाषा की हैं। 'पूर्व भारत'[1] नामक पौराणिक नाटक में मिश्रबन्धु ब्रजभाषा की कविता में अधिक रस स्वीकार करके खड़ी बोली में कविता अप्रिय समझते हैं। कविताओं में यत्र-तत्र भारतेन्दु जी की झलक आ जाती है। वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध[2] यामुन' नाटक (सं० १९८६ वि०) देखिए। इसमें उपर्युक्त सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। प्रारम्भ में नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना है तथा अन्त में भरत वाक्य स्पष्ट शब्दों में लिख दिया गया है। कावेरी तट का वर्णन तो इन्दुमती उसी प्रकार करती है जिस प्रकार भारतेन्दु जी ने हरिश्चन्द्र नाटक में गंगा का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए देखिए[3]—

"अँजुरिन भरि-भरि नीर परस्पर छिरकत कूदत।

\+ \+ \+

वेद-घोष सुनि परत, बजत कहुँ संख अघासी।
कहुँ घन्टा घहरात घोर कलि-कलुष-विनासी।"

हाँ, एक विशेषता इनमें और मिलती है। समय के अनुसार समाज-सुधार की प्रेरणा भी इनमें पाई जाती है। यामुनाचार्य एक स्थान पर अछूतोद्धार की समस्या को इस प्रकार सुलझाते हैं[4]—

"माँ, क्या अन्त्यज, परम भागवत होते हुए भी, कोरे कर्मठ ब्राह्मणों से नीच और हीनतर हैं। क्या महात्मा निरूप्याण आल्वार के चरण छूकर मैं एकदम पतित हो गया।"

---

१. पूर्व भारत—मिश्रबन्धु (भूमिका संवत् १९८८ वि०)
२. प्रबुद्ध यामुन—वियोगीहरि, गंगा पुस्तकमाला (संवत् १९८९-वि० पृ० १७९।
३. प्रबुद्ध यामुन—वियोग हरि, गंगा पुस्तकमाला सं० १९८६ वि० पृ० १४४।
४. प्रबुद्ध यामुन—वियोगी हरि, गंगा पुस्तकमाला सं० १९८६ वि० पृ० १११।

इस नाटक की रचना का वही समय था जब महात्मा जी अछूतोद्धार में तल्लीन थे। वियोगी जी महात्मा जी के साथ अछूत समस्या के सुलझाने में संलग्न थे। अतएव नाटक द्वारा भी उन्होंने इसी समस्या को सुलझाने का प्रयास किया।

कृष्ण चरित्र पर इस काल में कई अच्छे नाटक विरचित हुए। कृष्ण सम्बन्धी कतिपय नाटकों का विवेचन हम पूर्व कर आए हैं। इस स्थल पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कृष्ण जी को हम हिन्दी की प्रत्येक शैली के नाटकों में विराजमान पाते हैं। क्या नाटक, क्या एकांकी, क्या रेडियो रूपक, क्या गीति नाट्य, सभी कृष्ण कला से सरस और सजीव हो उठते हैं। कृष्ण-चरित सम्बन्धी नाटकों की विस्तृत सूची परिशिष्ट में दी जायगी। यहाँ केवल इतना संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि कृष्ण चरित को लेकर वियोगी हरि ने जो 'छद्म-योगिनी-लीला' सम्वत् १९८० वि० में लिखी है, वह चाचा वृन्दावनदास जी की छद्मलीला की परम्परा में है। इस नाटक में भी लीला नाटकों के सदृश गीतों का प्राधान्य और क्रिया-शीलता की क्षीणता विद्यमान है।

धार्मिक नाटकों में राष्ट्रीय चेतना

ऐतिहासिक कथानकों की भाँति धार्मिक कथानक भी इस काल में राष्ट्रीय चेतना के उद्बोधन के साधन बनाये गए। भारतेन्दु ने 'धनंजय-विजय' में एक धार्मिक आख्यान के सहारे राष्ट्रीय भावना को ग्रहण किया था। इस पथ पर अनेक नाट्यकार चलते रहे। इन लोगों ने देश की वर्तमान अवस्था की ओर संकेत करते हुए प्रागैतिहासिक अन्यायी राजाओं की दुर्दशा दिखाने का प्रयत्न किया। ऐसे नाटकों में 'द्रौपदी-वस्त्र-हरण' (सं० १९५३ वि०), सीता-स्वयंवर (सं० १९५६ वि०) सीताहरण (१९५२ वि०), कंस विध्वंस (१९६६ वि०), सती नाटक (सं० १९४६ वि०) कुरु दहन (सं० १९६९ वि०), वेन चरित (सं० १९६९

वि०) कृष्णार्जुन युद्ध (सं० १९७४ वि०) पूर्व भारत (सं० १९७९ वि०) धर्मालाप (सं० १९४२ वि०) निर्भय भीम (सं० १९७९ वि०) क्रूर वेण (सं० १९८१ वि०) श्री प्रद्युम्न विजय व्यायोग (सं०१९५० वि०), आदि प्रसिद्ध हैं।

इस शैली पर आधुनिक काल में कतिपय उत्तम नाटक लिखे गए हैं। पं० उदयशंकर भट्ट का 'सगर-विजय' उनमें एक है। राजा सगर के जन्म से लेकर उनकी विजय तक की घटनाओं के आधार पर इस नाटक का कथानक निर्मित है। इस नाटक में राष्ट्र को सर्वोपरि प्रदर्शित किया गया है। राजा सगर देश-विजय करके जब राजधानी को लौटना चाहता है तो अपनी पूजनीया माता की मृत्यु का दुःखद समाचार सुनता है। उस समय उसे वैराग्य होता है। सेनापति से कहता है—"तुम जाओ प्रजा की रक्षा करो। मैं कब लौटूँगा, मालूम नहीं; कहाँ जाऊँगा, मालूम नहीं! चाहता हूँ जी भर कर रोऊँ! इस विशाल मैदान को, ऊँचे पर्वतों को माता के अश्रु-तर्पण के जल में डुबो दूँ!" उनका सेनापति त्रिपुर उन्हें सान्त्वना देता हुआ कहता है—"जीवन एक संग्राम है। कर्त्तव्य की जागरूकता उस संग्राम की महत्ता है। व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र ऊँचा है। राष्ट्र के आगे व्यक्ति का, जाति का, नगर का, और प्रान्त का कोई मूल्य नहीं। राजा का व्यक्तित्व कुछ भी नहीं है, वह प्रजा की इच्छा और राष्ट्र की थाती है। राष्ट्र उसकी माता, उसका पिता, उसका गुरु और उसका सर्वस्व है।"

सगर अपने सेनापति की इस चेतावनी से जागरूक बन जाता है और यह स्वीकार कर लेता है। वह कहता है—"मेरे सामने कर्त्तव्य का महासागर लहरा रहा है। राष्ट्र के उनींदे प्राण मुझे पुकार रहे हैं।—ओह! मैं क्या कर रहा था? नहीं अब नहीं!

१. सगर विजय—पं० उदयशंकर भट्ट—मसिजीवी प्रकाशन पृ० १०६।

यह सम्पूर्ण वसुमति, जिसने मेरा लालन किया, माता विशालाक्षी की प्रतिमा बनकर मेरी ओर देख रही है। ये सरिताएँ और वे महासागर उस माँ के मन्दहास हैं,—ये भूधर उसकी इच्छाएँ हैं—मेरी सारी साध माँ के आँसू पोछने को होगी। मैं माँ की धूलि मस्तक पर चढ़ाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरा रोम-रोम उसकी सेवा के लिए होगा।"

सगर की यह प्रतिज्ञा सुनकर भारत-माता की जय-ध्वनि गूँज उठती है।

हम पूर्व देख आए हैं कि भारतेन्दु युग के नाट्यकार राष्ट्रीय चेतना के उद्‌बोधन के लिए अधिकांश रूप से 'भारत-दुर्दशा' नाटक की शैली अपना रहे थे, किन्तु कई ऐसे भी नाट्यकार थे, जिन्हें 'धनंजय विजय' की शैली अधिक अनुकूल प्रतीत हुई और उन्होंने पौराणिक कथानकों के द्वारा राष्ट्रीय भावनोत्तेजक नाटक लिखे। हरिऔध जी ने 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग', की भूमिका में इसे स्वतः स्वीकार किया है। 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग (सं०१९५० वि०) में ब्राह्मण कन्याओं के अपहरणकर्ता निकुम्भ और उसके साथियों को अत्याचारी शासक-वर्ग के रूप में प्रदर्शित करके अबलाओं के उद्धारकर्ता प्रद्युम्न की वीरता प्रदर्शित की गई है। इसी पद्धति पर नाटक लिखकर उस युग के नाट्यकर्ता पाठकों और दर्शकों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर अन्यायी शासन से त्रस्त भारत माता को उन्मुक्त कराने का उद्योग करते रहे। यह क्रम इसी रूप में प्रसाद काल तक चलता रहा है। उदाहरण के लिए 'अंजनी-कुमार' नामक नाटक देखिए। इस नाटक में रावण का सामन्त वज्रदन्त उससे जानकी को लौटाने का निवेदन करता है। रावण इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। वज्रदन्त रावण को सावधान करते हुए कहता है कि 'यदि सीता को वापस न दीजिएगा तो आपकी भी खैरियत नहीं। आपके अत्याचारों से

पिसा हुआ मंत्रि-मंडल अब इस युद्ध में आपकी धन-जन से कुछ भी सहायता नहीं करेगा।' रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हुए वज्रदन्त कहता है 'कि तूने क्या देश के प्राण नेताओं को जेलों में बन्द नहीं करवाया ? ब्राह्मणों तक से कर-स्वरूप उनका रक्त नहीं मंगवाया ? वही हुतात्माओं पर किये गए अत्याचारों का पाप आज वज्र बनकर तेरे मस्तक पर गिरेगा।'

तात्पर्य यह है कि पौराणिक तथा अन्य धार्मिक नाटकों में रावण, कंस, वेणु, दुर्योधन आदि राजा अंग्रेज शासक-वर्ग के प्रतिनिधि रूप में प्रदर्शित किये जाते थे और सत्पथ पर चलकर उनको पराजित करने वाले योद्धा राष्ट्रीय नेता समझे जाते थे।

हम उदयशंकर भट्ट के 'सगर विजय' नाटक में देख आए हैं कि राजा सगर अपनी माता की प्रतिच्छवि भारत-माता के रूप में देखकर उसकी सेवा में तल्लीन होने का संकल्प करता है। इस प्रकार देश की सेवा को मातृसेवा के रूप में प्रदर्शित कर राष्ट्रीय चेतना का उद्बोधन किया गया।

जन-तन्त्र की स्थापना के पश्चात् भी पौराणिक कथानक के आधार पर नाटक लिखे जा रहे हैं किन्तु उनकी प्रवृत्ति अब बदल रही है। अब अत्याचारी राजा प्रतिनायक नहीं बनाए जा रहे हैं। अब देश की समस्याओं को बुद्धि की कसौटी पर कसा जा रहा है। आज की विविध समस्याओं को सुलझाने के लिए पौराणिक नाटक 'ययाति' की रचना संवत् २००८ वि० में पं०गोविन्द वल्लभ पन्त ने की है। इस नाटक में ययाति को पुरु की युवावस्था देने का मनोवैज्ञानिक अर्थ किया गया है। ययाति अपना वृद्ध शरीर पुरु से बदल लेता है। जब पुरु का सुन्दर शरीर धारण कर वह अपनी पत्नियों के पास जाता है तो वे उसे अपना पुत्र पुरु समझकर दुत्कार देती हैं। 'राजा ययाति को केवल एक वर्ष के

अंजनी कुमार—रामगोपाल पांडे पृ० ११०

लिए पुरु की युवावस्था मिली है अतः वह एक-एक घड़ी गिनता रहता है।

अब वह राजधानी छोड़कर चला जाता है और उसके जाते ही चारों वर्ण तथा चारों आश्रम विद्रोह कर उठते हैं। ब्राह्मण धन का लोभी, क्षत्रिय विलासी और वैश्य दूध में पानी मिलाने वाला हो जाता है। ययाति क्रुद्ध होकर मंत्री से कहता है कि ब्राह्मण की महिमा छीनकर शूद्र को दो और इस प्रकार ब्राह्मण को शूद्र और शूद्र को ब्राह्मण बना दो। क्षत्रियों को सेना से निकालकर गाँवों में खेती के लिए भेज दो और किसानों को सेना में सम्मिलित कर दो। इस प्रकार राज्य में उथल-पुथल मच जाती है और ययाति को कोई मार्ग नहीं सूझता। अन्त में विश्वाची के द्वारा उसे बोध होता है और वह राजधानी में लौटकर कहता है[1]—"माया के सपने को तोड़कर मैंने शाश्वत सत्य को पाया है। कामनाएँ ही मनुष्य के बन्धन हैं।"

राजा ययाति सबसे बड़े राजकुमार को राज देता है और राजा पुरु देश-मंगल के लिए अन्न उत्पन्न करता है।

इस प्रकार पौराणिक कथानक के आधार पर अन्न की समस्या सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

आधुनिक नाटकों में गांधारी (सं० २००७ वि०) एक प्रसिद्ध नाटक है। चतुरसेन शास्त्री इस नाटक में नारी-समाज का ध्यान पातिव्रत धर्म की ओर खींचते हैं।

पतिव्रता गांधारी सखियों से अपनी आँखों पर पट्टी बाँधने का आग्रह करती हुई कहती है[2]—"जब वे विश्व को चर्म चक्षुओं से देखने में अक्षम हैं तो मैं भी उसका आनन्द-लाभ लेने की

१. ययाति—गोविन्द वल्लभ पन्त, साहित्य-सदन देहरादून, नवम्बर १९५१ ई०

२. गांधारी—चतुरसेन शास्त्री—संवत् २००७ वि० पृ० १७

अधिकारिणी नहीं। स्त्री पति की अर्द्धांगिनी है, वह पति के सुख-दुख, जीवन-तप सभी बातों में आधे की भागीदार है। सखी यह पट्टी मेरी आँखों पर बाँध दो।"

पातिव्रत धर्म के पालन से गांधारी का चरित्र इतना उज्ज्वल बन जाता है कि वह पुत्र-घातक पांडवों को भी क्षमा कर देती है और वंश-रक्षा के लिए उन्हें आगामी विपत्ति से सावधान करते हुए कहती है—"जाओ कृष्ण, पांडवों को सावधान कर दो। अश्वत्थामा ने आज रात सब पांडवों को मार डालने की प्रतिज्ञा की है। अब सबका (देश का) भार वीर पांडवों पर ही तो है।"

गान्धारी का निर्मल और उदात्त चरित्र देखकर कृष्ण भी चकित हैं। वह कहते हैं—"माता आपके समान तपस्विनी, बुद्धिमती, गुणवती स्त्री त्रिलोक में नहीं है। आपकी बात न मानकर ही दुर्योधन की यह दुर्दशा हुई।"

सारांश यह है कि यदि पति-पत्नी दोनों एक-दूसरे का सम्मान करते हुए जीवन यापन करें तो दोनों के चरित्र का पूर्ण विकास सम्भव है। वैवाहिक जीवन की समस्या धर्म-पालन के द्वारा जितनी सुगमता से सुलझाई जा सकती है, उतनी सम्बन्ध-विच्छेद के विधि-विधान तथा विद्रोह भावना के उद्दीपन से नहीं। नाट्यकार का यही मत प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन इस मत को प्रतिपादित करता है कि आज के पौराणिक नाटक भी युग-समस्या के समाधान का प्रयास करते हुए समाज का नैतिक तथा धार्मिक स्तर ऊँचा करना चाहते हैं।

अनूदित नाटक

इस काल में इब्सन तथा बर्नार्डशा के अतिरिक्त कई अन्य यूरोपीय नाट्यकारों की कृतियों का भी अनुवाद हुआ। मारिस मेटरलिंक के नाटकों का हिन्दी अनुवाद सरस्वती के सम्पादक

बख्शीजी ने किया। 'मेटरलिंक' बेलजियम के सुप्रसिद्ध नाट्यकार थे। उनके दो नाटक 'सिस्टर वीट्रिस' और 'दी यूज़लैस डेलिवरेन्स' का मर्मानुवाद 'प्रायश्चित्त'[1] और' उन्मुक्ति का बन्धन'[2] नाम से हुआ। 'प्रायश्चित्त' नाटक में अलौकिक तत्त्व की प्रधानता है। पुजारिन कमला युवक कुमारसिंह के प्रेम में आबद्ध होने के कारण, मन्दिर की परिचर्या त्याग देने पर, अन्ध कारागार में भेज दी जाती है, किन्तु उसके पहुँचते ही कारागार प्रकाशमान हो उठता है। स्वर्गलोक से गन्धर्व आकर गान गाते हैं। कमला के ऊपर पुष्पों की वर्षा होती है। अतः कमला के प्रति लोगों की घृणा की भावना विलीन हो जाती है। कमला की अनुपस्थिति में भी दर्शकों को कमला ही देवी की परिचर्या करती हुई दृष्टिगोचर होती है। नाटक का अन्त इस प्रकार होता है "किसी समय में लोग पापियों की वेदनाओं से सहानुभूति प्रकट नहीं करते थे। उनसे घृणा करते थे, उन्हें दंड देते थे किन्तु आज प्रेम का विजय-दिवस है[3]।"

अलौकिक तत्त्व तथा पापी के प्रति भी दया के भाव इस काल के नाटकों में प्रायः मिलते हैं। सम्भव है कि मेटरलिंक के इन आध्यात्मिक नाटकों का प्रभाव हिन्दी नाट्यकारों पर भी पड़ा हो, क्योंकि इस काल के मौलिक हिन्दी नाटकों में भी उपर्युक्त दोनों विशेषताएँ विद्यमान हैं। अलौकिक तत्व तो इस काल के पूर्व भी मिलते थे, किन्तु पापों के प्रति उदारता इस काल की देन है।

उपसंहार—इस काल में जो धार्मिक नाटक लिखे गए उनमें आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। समाजसंगठन और चरित्र-निर्माण के लिए ऐसे नाटकों का प्रणयन आवश्यक समझा गया।

१. प्रायश्चित्त—पदुमलाल बख्शी—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, सन् १९१६ ई०
२. उन्मुक्ति का बन्धन— ,, ,, ,, ,,
३. प्रायश्चित्त— ,, ,, ,, ,,

अतएव इन नाटकों में धर्मवृत्ति के साथ ही सामाजिक नीति, व्यवस्था और आदर्शों के रंगीन रेखा-चित्र खींचे गए।

तथ्य तो यह है कि संस्कृति का विकास धर्म-तत्त्व पर ही आधारित है। हमें मानव-जीवन के दो रूप मिलते हैं—एक सैद्धान्तिक दूसरा व्यावहारिक। ये दोनों रूप केवल प्रगतिशील जातियों में ही नहीं, पिछड़ी समझी जाने वाली जातियों में भी विद्यमान हैं। विश्व का कोई भी ऐसा मानव-समाज नहीं है, जिसमें धर्मतत्त्व मूल रूप से विद्यमान नहीं। इस धर्म-तत्त्व का आधार है श्रद्धा, जिसका आलम्बन उदात्त और दिव्य शील है। यह भी एक कारण है कि हम अपने धार्मिक नाटकों को श्रद्धा के जिस आचरण या अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण पाते हैं, वह राक्षस, किन्नर, पितर आदि विविध योनियों के बीच परिस्फुटित होता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जहाँ श्रद्धा है वहाँ अमंगल नहीं, सन्देह नहीं, अविश्वास नहीं।

इसकी मीमांसा से ऐसा प्रतीत होता है कि जब मनुष्य अभिलाषाओं की सिद्धि के लिए निज बाहुबल और बुद्धिबल के सहारे यथाशक्ति प्रयत्न करने पर भी सफल मनोरथ नहीं होता, तब मानवीय शक्ति को असमर्थ पाकर वह अलौकिक शक्तियों की शरण जाता है। ये अलौकिक शक्तियाँ उसके अनुभव तथा कल्पना के बल पर जो रूप धारण करती हैं, उन्हीं पर वह अपनी रति, प्रीति, भीति आदि भावों का आरोप करता है और अपनी भावनाओं के अनुरूप उनको रूप दे देता है। इस अवस्था में वह दो कार्य करता है—या तो क्रुद्ध शक्तियों को शान्त करता है, अथवा उनको अपने वश में करने का प्रयास करता है। प्रथम को आराधना और द्वितीय को साधना कहते हैं। जितने कर्मकाण्ड हैं वे आराधना के अन्तर्गत आते हैं और तान्त्रिक क्रियाएँ साधना में परिगणित होती हैं। इन सम्पूर्ण भावों तथा अनुभावों का

सहारा लेकर नाट्यरचना की जाती है। इन्हीं तत्त्वों की अभिव्यक्ति हमें धार्मिक अथवा पौराणिक नाटकों में मिलती है।

उपसंहार—सिंहावलोकन में अब हम सरलता से कह सकते हैं कि विगत आठ सौ वर्षों में हिन्दी के नाटकों के प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन शैली में जो उत्तरोत्तर विकास हुआ, उसके कई सोपान हैं जिसको हमने उत्थान का नाम दिया है। हमने यह भी दिखाने का उद्योग किया है कि इस काल में हमारी नाट्य-कला विकासोन्मुख रही है और प्रेक्षागृह के अभाव में भी देश काल के अनुरूप अपना स्वरूप बनाती रही है।

प्रथम उत्थान

प्रथम उत्थान हिन्दी के आदि काल में ही गोचर हो जाता है। सौभाग्य से महाकवि चन्दबरदाई के समकालीन शालिभद्रसूरि-विरचित 'भरतेश्वर बाहुबलिरास' आज भी उपलब्ध है जो जन नाटक की रास शैली पर अवलम्बित है। इस प्रारम्भिक काल के सभी उपलब्ध नाटक जन-नाटक की रास-शैली की परम्परा में हैं जिनमें समाज के ही धर्म-कर्म, नीति-रीति, आचार-विचार, बात-व्यवहार आदि कथानक के रूप में गृहीत होते थे। ये नाटक जनता की मनोवृत्ति को धर्मोन्मुख करने के निमित्त धर्माचार्यों द्वारा रचे और खेले गए हैं। अतएव इनमें धार्मिक रासों का प्राधान्य है।

जैनाचार्य रास के द्वारा जनता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे, अतएव यह स्वाभाविक था कि नाट्यकार ऐसी भाषा का उपयोग करें, जो जनता की बोल-चाल की प्रचलित भाषा हो और जिसमें साहित्य-सृजन की सामर्थ्य भी हो। इस काल में भाषाएँ अपभ्रंश से पृथक् होकर देश-भाषाओं का रूप धारण कर रही थीं। अपभ्रंश में 'उपदेश रसायन'-जैसे कितने ही रास-

ग्रन्थ रचे जा चुके थे, जो नृत्य और संगीत के आधार पर अभिनीत होते रहते थे। इसका प्रमाण हमें अपभ्रंश काव्यत्रयी के उपदेश रसायन रास के निम्नलिखित उद्धरण से प्राप्त होता है :

उचिय युत्ति-थुयपाढ पढिज्जहिं
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहिं।
तालारासु विदिंति न रयणिहिं
दिवसि लउडरासु सहुं पुणिसिहिं॥[1]

अर्थात् देवताओं के आगे—वह स्तोत्र पढ़ना चाहिए जो सिद्धान्त के सहित हो। रात्रि में ताला रास और दिन में भी लगुड़ रास वर्जित है। कारण यह है कि इनमें 'दुष्ट पाठ' होता है।

कुछ ऐसे भी रास हैं, जिनका अभिनय मन्दिर में विहित है—

"धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं
चक्कवट्टि - बल - रायह चरियइं
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं॥[2]

अर्थात् उन धार्मिक नाटकों का नृत्य के आधार पर कथन होना चाहिए, जिनमें भरत, सगर आदि वीतरागियों का निष्क्रमण अथवा बलदेव दशार्ण भद्रादि चक्रवर्ती राजाओं का चरित्र हो।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकला कि तेरहवीं शताब्दी में ऐसे रास विरचित हो गए थे जिनका अभिनय नृत्य और संवादमय संगीत के आधार पर जैन-मन्दिरों में हुआ करता था। हम विगत अध्याय में भरतेश्वर बाहुबली रास की ओर संकेत कर आए हैं। इस धार्मिक रास में भरतेश्वर का चक्रवर्ती सम्राट

---

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी—ओरियंटल इंस्टिट्यूट बड़ौदा—पृ० ४७ छंद ३६

२. वही ... ... छंद ३७

बनना, अपने वीर भाई बाहुबली के साथ युद्ध में पराजित होना, बाहुबली का विजयी होकर भी भरतेश्वर से क्षमा याचना करना तदुपरान्त राजत्याग करना इस बात के प्रमाण हैं कि इसमें चरित्र का चित्रण और नाट्यकौशल का प्रदर्शन भी कवि को इष्ट रहा है।

रास के अभिनय होने के कई प्रमाण हम 'सन्देश रासक' और 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' से उद्धृत कर चुके हैं। किन्तु कई ऐसे वृहद्काय रास भी उपलब्ध हुए हैं जिनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि वे अभिनय के लिए ही रचे गए थे।

हम पूर्व अध्यायों में इस बात का उल्लेख कर आए हैं कि रास नाटकों का अभिनय दिखाने वाली एक जाति भी बन गई थी जिसका व्यवसाय ही था विविध रूप धारण करके अभिनय द्वारा जीविकोपार्जन। यह जाति आज भी समस्त उत्तर भारत में पाई जाती है और इसका व्यवसाय आज भी प्रायः वही है। इस जाति को बहुरूपिया कहते हैं। इसके सम्बन्ध में ज्ञानदेव का उल्लेख है[1]—

"जैसी बहु रूपियांची रावो राणी। स्त्री पुरुष भावो नाहीं मनीं परिलोक संपादणी। तैशचि करिती।'

अर्थात्—राजा-रानी के रूप में विद्यमान बहुरूपियों को स्त्री-पुरुष का भाव मन में नहीं होता और उससे केवल लोक-रंजन होता है:—

बहुरूपिया वेश बनाकर नाटक खेलते थे इसका पुष्ट प्रमाण 'सन्देह रासक' में इस प्रकार मिलता है :

'बहुरूपिभिनिर्वद्धो रासको भाष्यते' ॥४३॥

अर्थात् बहुरूपियों के द्वारा रास प्रदर्शित होते थे। बहुरूपियों द्वारा नाटक खेलने की प्रथा ज्ञानेश्वर के समय प्रचलित थी। इस मत

१. ज्ञानेश्वरी—ज्ञानेश्वर-रचनाकाल सं० १२९० वि० के आसपास—अध्याय ३।

का समर्थन मराठी के प्रसिद्ध लेखक विश्वनाथ पांडुरंग दांण्डेकर इस प्रकार करते हैं[1]

"ज्ञानेश्वरांच्या काळांत बहुरूप्यांचीं सोंगे, साईखडे यांचे खेळ, आणि नटांचीं नाटकें या विविध रूपाने नाट्यकलेची जोपासना निःसंशय होत होतीं।"

तात्पर्य यह है कि तेरहवीं शताब्दी में एक ओर तो कण्हपकाल से चली आने वाली स्वांग की नाट्य-परम्परा थी जिसके नाटक डोम और डोमनियों द्वारा अभिनीत होते थे, दूसरी परम्परा रास की थी, जिसका अभिनय बहुरूपिए अथवा जिण सेवक किया करते थे। पहली परम्परा समाज में उतनी समादृत न थी, जितनी दूसरी। यह दूसरी परम्परा मध्यम वर्ग और धार्मिक जनता का मनोरंजन तथा रुचि का परिमार्जन कर रही थी। बहुरूपियों द्वारा नाटकों का अभिनय मन्दिरों के बाहर होता था, किन्तु जैन-मन्दिरों में अभिनयकर्ता जैन-धर्म के सेवक ही हुआ करते थे। प्रमाण के लिए 'जम्बू स्वामी चरिउ' का उद्धरण[2] देखिए—

"चंचरिय बंधि विरहउ सरसु, गाहज्जइ संतिउ तारू जसु,
नच्चिज्जइ जिणपय सेवयहिं, किउ रासउ अंबादेव यहिं।"

इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि अंबादेवी रास का अभिनय जिन-सेवकों के नृत्य द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। इस काल के लगभग ४०० रास-ग्रन्थ[3] उपलब्ध हो चुके हैं, जिनके परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनका कथानक होता था—

(१) धार्मिक।

---

१. मराठी नाट्य-सृष्टि पौराणिक नाटकें—दांडेकर, पृष्ठ ५
२. जंबू स्वामी चरिउ की हस्तलिखित प्रति सन्धि १
३. इसकी सूची परिशिष्ट में दी गई है।

(२) ऐतिहासिक[1] जैसे--विजयतिलकसूरिरास।

(३) पौराणिक, जैसे--नल दमयन्ती रास।[2]

(४) आध्यात्मिक, जैसे—कर्म विपाक रास।[3]

(५) नैतिक, जैसे—उपदेश रसायन रास।[4]

(६) लौकिक प्रेम तथा व्यवहार-सम्बन्धी, जैसे—रोहिणीया चोर रास, ताला रास, लकुड रास।

उपर्युक्त विभाग कथानक की दृष्टि से किया गया है। वस्तु-विभाग की दृष्टि से निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

(१) एकांकी, जिनमें आद्योपान्त नाटक अविभाजित रूप से रखा जाता है। सभी लघु रास एकांकी हैं।

(२) दो अधिकार के नाटक; जैसे—विजय-तिलकसूरि रास।

(३) दो से अधिक खंडों के नाटक; जैसे—नल दमयन्ती। इस नाटक में ६ खण्ड है। रेवन्त गिरि रास चार कड़वकों में विभक्त है।

(४) मुख्यतः पाठ्य रास, जैसे—कुमारपाल[5] रास, शत्रुञ्जय रास[6] इत्यादि।

---

१. ऐतिहासिक रास-संग्रह--श्री विद्याविजय--यशोविजय जैन ग्रन्थ-माला ना व्यवस्थापक मंडल, भावनगर (पृ० १ से १५२)
(संवत् १९७७ वि०)

२. श्री आनन्द काव्य महोदधि--जीवनचन्द शंकरचन्द जवेरी सन् १९१४ भाग ३ पृ० ३१० से ३७३ तक

३. जैन गूर्जर कविओ--जैन श्वे० कान्फ्रेन्स आफिस बम्बई—
पृष्ठ २९०

४. अपभ्रंश काव्यत्रयी--ओरियंटल इंस्टिट्यूब बड़ौदा--
पृ० २९ से ६६ तक

५. श्री कुमारपाल रास--संपादक मुनिराज संपत विजय

६. शत्रुञ्जय रास--श्री आनन्द काव्य महोदधि भाग ४
(पृ० १ से ६८०)

इन ग्रन्थों में जो पद्धति सबमें समान रूप से पाई जाती है वह है संगीत की। सभी रास विविध छन्दों में राग-रागिनियों के निर्देश के साथ मंगलाचरण और प्रशस्ति समन्वित हैं। आश्चर्य तो यह है कि यही पद्धति बंगाल में प्रचलित यात्रा नाटकों, महाराष्ट्र में अभिनीत दशावतारी नाटकों, तथा गुजरात में भवाई नाटकों में भी विद्यमान थी। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का जनमत उस काल में गद्य की अपेक्षा संगीतमय काव्य के पक्ष में अधिक था। यद्यपि किसी-किसी रास में रंगमंच-निर्देश गद्य में होता है, किन्तु ऐसे स्थल नगण्य हैं। हमें केवल सुरसुन्दरी रास में इस प्रकार के स्थल मिलते हैं[1] :

कुमारोवाच, कन्या प्राह, समर कुमार प्राह।

द्वितीय उत्थान (सं० १६०० से १९०० वि०)

हम कह चुके हैं कि इस उत्थान काल की प्रमुख विशेषता यह है कि धार्मिक प्रवृत्ति ने जैन-रास के साथ-साथ वैष्णव रास का भी रूप धारण किया, और कृष्ण चरित को लेकर रास में नाना प्रकार के लीला-नाटकों की रचना होने लगी। हम यहाँ इतना और भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि साधु महात्माओं के अतिरिक्त साहित्यिक नाट्यकारों ने भी नाटकों में रास की वही पद्यबद्ध शैली अपनाई जो अपभ्रंश काल से चली आ रही थी और सर्वत्र मान्य समझी जाती था।

इस काल के साहित्यिक नाटकों की तुलना यदि रास-ग्रन्थों से की जाय तो इनके प्रतिपाद्य विषय और प्रतिपादन शैली में सर्वथा साम्य मिलेगा। प्रमुख साहित्यिक नाटक हैं : 'समयसार', 'हनुमन्नाटक', 'प्रबोधचन्द्रोदय', 'करुणाभरण', 'शकुन्तला', 'सभासार',

---

१. सुर सुन्दरी रास—श्री आनन्द काव्य महोदधि

पृ० २३६ से २६५ तक

'देवमाया प्रपंच', 'चंडी चरित्र', (विचित्र नाटक) आदि। इन नाटकों में 'समयसार' नाटक तो स्पष्टतः जैन-ग्रन्थ 'समय पाउड़' के कथानक के आधार पर रास शैली में विरचित हुआ। इस नाटक का विभाजन भी 'विजय-तिलक सूरी रास' के सदृश 'अधिकारों' में किया गया है। यह वृहद् नाटक १३ अधिकारों में विभक्त है। रास के ही सदृश इसमें भी मंगलाचरण और प्रशस्ति हैं। रास की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण इतिहास-लेखकों तथा समालोचकों ने बनारसीदास-जैसे विद्वान् की इस कृति के मूल्यांकन में भूल की है और इसे नाटक कहना भी उचित नहीं समझा है यद्यपि कवि ने इसे स्वतः नाटक माना है।

'हनुमन्नाटक', 'शकुन्तला' और 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्रसङ्ग में हम विवेचन कर चुके हैं कि इन नाटकों पर इस समय की प्रचलित रास-शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और संस्कृत की छाया होते हुए भी इनका प्रणयन रास-शैली पर ही हुआ। अपवादस्वरूप शुद्ध संस्कृत की शैली के अनुसार 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद महाराज जसवन्तसिंह ने किया, किन्तु जनमत ने इसे स्वीकार न किया। अतः महाराज जसवन्तसिंह के उपरान्त 'प्रबोध चन्द्रोदय' के जितने अनुवाद हुए सबमें रास की ही संगीतमय पद्धति अपनाई गई।

कृष्ण-चरित्र के आधार पर अठारहवीं शताब्दी में 'करुणाभरण' नाटक विरचित हुआ। इसमें सात अंक हैं। सम्पूर्ण नाटक रास-शैली पर ही विरचित है। रंगमंच का संकेत समाप्त भी नहीं होता कि उसी छन्द में पात्रों का कथोपकथन प्रारम्भ हो जाता है; जैसे—"तब राधा ऐसी कही। तो वृन्दावन जाउँ।

× × ×

एवमस्तु हरि जू कह्यो। तब आई सर तीर।

कृष्ण-जीवन का विस्तृत कथानक लेकर एक से अधिक अंकों

में विरचित कृष्ण-चरित्र का यह सर्वप्रथम नाटक है, किन्तु नाटक का इतिहास लिखने वाले विद्वान्[1] प्राचीन नाट्य-परम्परा का अनुसंधान न कर इसे खण्ड-काव्य कहने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

'देवमाया प्रपंच' संस्कृत के 'मोहराज पराजय' तथा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के कथानक के आधार पर रास-शैली में पद्य-बद्ध विरचित ६ अंकों का नाटक है। ऐसी स्थिति में मिश्रबन्धुओं ने यदि इसे 'अर्द्धनाटक' कह दिया तो कोई आश्चर्य नहीं। उन्होंने इतना तो स्वीकार किया ही है कि इसका "पाँचवाँ अंक बड़ा ही बढ़िया, रुचिकर और हास्यरस से परिपूर्ण है," और "ग्रन्थ कुल मिलाकर अच्छा है।"[2]

'सभासार' नाटक पर 'उपदेश रसायन रास' का पूरा-पूरा प्रभाव है। संस्कृत नाटकों में इस पद्धति के नाटक कदाचित् ही कहीं प्राप्त होते हों। सभासार एक नैतिकता प्रधान नाटक है, जिसमें राजा के धर्म, कुगुरु निन्दा और सुगुरु स्तुति आदि का वर्णन 'उपदेश रसायन' रास की ही भाँति छन्दबद्ध शैली में मिलता है। दोनों की तुलना परिशिष्ट में देखिए।

'चंडी चरित्र' नाटक में कोई कथानक नहीं, केवल देवी की स्तुति है। गुरु गोविन्द सिंह ने इसे कदाचित् 'ऋषभ रास' की शैली पर रचकर नाटक सम्बोधित किया हो।

हमारा मत यह है कि द्वितीय उत्थान के अधिकांश नाटकों का कथानक तो वैष्णव धर्म के ग्रन्थों से लिया गया, किन्तु रचना-शैली जन-नाटकों और जैन नाटकों से ग्रहण की गई।

---

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ—पृष्ठ ३२३ (जनवरी १९५० ई०)

२. हिन्दी नव रत्न—मिश्रबन्धु—षष्ठ संस्करण पृ० २९१

३. हिन्दी नव रत्न—मिश्र बन्धु—षष्ठ संस्करण पृ० २९२

यद्यपि द्वितीय उत्थान काल में एकांकी गीति नाट्य ने विशेष उन्नति की और बड़े नाटक भी रचे गए, किन्तु नाट्य-परिधि धार्मिकता के प्राचीर के अन्तर्गत ही रह गई, प्राचीन रास नाटकों जैसा मुक्त वातावरण इसमें न आ सका। इस काल में एक भी ऐतिहासिक नाटक विरचित न हो सका। प्रेम-सम्बन्धी नाटकों में शकुन्तला और राधा के अतिरिक्त और कोई कथानक नहीं मिलता। इस काल में श्रव्य काव्य के रचयिता तुलसी और सूर जैसे महाकवि उत्पन्न हुए, किन्तु दृश्य काव्य के जगत् में कोई भी विख्यात नाट्यकार न हुआ। हाँ, इस काल में मैथिल विद्वानों ने नेपाल में कई उत्तम नाटकों की सृष्टि की। राजसभाओं में इन नाटकों का अभिनय हुआ, और नाट्यकार राजाओं द्वारा सम्मानित भी हुए; किन्तु आसामी, बँगला और उड़िया नाटकों की स्थिति प्रायः ब्रजभाषा जैसी ही रही।

द्वितीय उत्थान में कथानक तो संस्कृत नाटकों तथा वैष्णव धर्म के ग्रन्थों से लिए जाते थे किन्तु इनकी शैली जन-नाटकों की ही रही। संवत् १६०० वि० के आस-पास महाराज विश्वनाथ सिंह ने ऐसा नाटक लिखा जिसकी शैली भी सर्वथा संस्कृत नाटकों से ही ग्रहण की गई।

तृतीय उत्थान

भारतेन्दु जी ने जिस 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को सर्व-प्रथम हिन्दी नाटक माना है, वह हिन्दी में संस्कृत शैली का ऐसा सफल नाटक हुआ जिसका अनुकरण एक शताब्दी तक होता रहा। हम पूर्व प्रमाणित कर आए हैं कि महाराज विश्वनाथसिंह से लेकर वियोगी हरि तक के नाट्यकारों ने धार्मिक नाटकों में संस्कृत शैली को ही अपनाया है। इस नाटक में प्राकृत के स्थान पर करनाटकी, मराठी, द्रविड़ आदि देशी भाषाओं का प्रयोग किया गया है। यह नूतन प्रयोग विश्वनाथ जी की व्यापक दृष्टि का परिचायक है।

चतुर्थ उत्थान

(संवत् १९२० से १९७० वि०)

संवत् १९२० वि० में नाट्य-साहित्य में एक नया प्रयोग हुआ। सम्पूर्ण शकुन्तला नाटक का अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने गद्य में ही किया। राजा जसवन्तसिंह ने प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद करते हुए गद्य को स्थान दिया था किन्तु प्रणाली समयानुकूल सिद्ध न हुई, किन्तु कालन्तर में काल-चक्र के प्रभाव से एक दिन ऐसा आ गया कि पद्य को नाटक से विदा होना पड़ा। इसी युग के देदीप्यमान नाट्यकार हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जिन्होंने एक ओर तो विश्वनाथ जी को संस्कृत शैली को हिन्दी के अनुकूल बनाया, दूसरी ओर नाट्यकला में नवीन प्रणाली का प्रचलन किया और पाश्चात्य नाट्कला से पर्याप्त लाभ उठाया। इस सन्धिकाल में भारतेन्दु जी की प्रतिभा से पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों नाट्य शैलियां प्रतिभासित हो उठीं। वे दोनों धाराएँ पृथक्-पृथक् प्रवाहों में बहती हुई सामाजिक, पौराणिक, राजनैतिक नाटक क्षेत्र को प्लावित करती जा रही थीं। भारतेन्दु जी के अल्पायु होने के कारण हिन्दी नाटकोद्यान उतना पल्लवित पुष्पित और सुरभित न हो पाया जितना हो सकता था। भारतेन्दु जी कुछ वर्ष और जीवित रह गए होते तो दोनों विचार-धाराओं के समन्वय से नाट्यकला को कुछ और ही रूप दे जाते। किन्तु हिन्दी के सौभग्य से इस अभाव की पूर्ति उनके उपरान्त शीघ्र ही उन्हीं के नगर के एक-दूसरे प्रतिभा-सम्पन्न और सावधान नाट्यकार जयशंकर प्रसाद द्वारा हो गई।

पंचम उत्थान

(संवत् १९७० से २००० वि०)

प्रसाद इस काल के सर्व श्रेष्ठ नाट्यकार हैं। इन्होंने भारतेन्दु

जी के अपूर्ण कार्य को पूरा किया। भारतेन्दु-युग में भारतीय और यूरोपीय नाट्य-शैलियाँ पृथक्-पृथक् धाराओं में प्रवाहित हो रही थीं, प्रसाद जी ने उनका एकीकरण कर दिया। तात्पर्य यह कि इनकी प्रतिभा से पश्चिम का मनोवैज्ञानिक चरित्र-विकास और अन्तर्द्वन्द्व भरतनाट्य-शास्त्र के रस-प्रवाह में सम्मिलित हो गया।

'प्रसाद' ने नाटक के बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों रूपों में नवीनता उत्पन्न की। उन्होंने भारतेन्दु-युग के गर्भांक और अंग्रेजी ढंग के 'सीन' को निकालकर केवल संख्या-द्वारा दृश्य-विधान किया और नाटक की भूमिका में उसकी पृष्ठिका दी। भारतेन्दु-युग में प्रचलित विस्तृत पद्यांशों को हटाकर लघु-गीतों को स्थान दिया। पाश्चात्य यथार्थवाद के विकृत रूप को सांस्कृतिक अनुशासन में व्यवस्थित किया। भारतेन्दु-युग से आने वाली विदूषक-पद्धति को परिवर्तित कर नाट्य-कथा से ही सम्बन्धित एक हँसोड़-पात्र की स्थापना 'प्रसाद' ने की।

'प्रसाद' ने नाट्यशास्त्र में वर्जित हत्या, युद्ध आदि का प्रदर्शन भी रंगमंचों पर किया। तात्पर्य यह है कि इस युग में जिस प्रकार गांधी जी ने राजनीतिक और सामाजिक रूढ़ियों को तोड़-फोड़कर देश को मानसिक दासता से उन्मुक्त किया, उसी प्रकार 'प्रसाद' ने नाट्यकला को नाट्य-शास्त्र की अनावश्यक रूढ़ियों से उन्मुक्त कर जीवन की नवीन स्फूर्ति से विकासोन्मुख बनाया।

नवीन प्रवृत्ति

(संवत् २००० से २०१० तक)

'प्रसाद' के दिवंगत होने पर राष्ट्र की कुछ ऐसी कायापलट हुई कि समाज की विकट स्थिति बन गई और रहन-सहन का वातावरण नितान्त विक्षुब्ध हो उठा। इस विक्षोभ का प्रभाव हमारी

विचारधारा तथा हमारी मान्यताओं पर पड़ना अनिवार्य था। साथ ही मनोरंजन के विविध उपकरण भी जीवन को प्रभावित कर रहे थे, जिनसे पराङ्मुख होना नाट्यकार के लिए सम्भव न था। अतएव नाट्यकला वर्तमान नाट्यकारों के प्रयास से अभिनव रूप धारण कर रही है। अब नाटकों में भाव-व्यंजना, चरित्र-चित्रण और अन्तर्द्वन्द्व के स्थान पर तर्क-वितर्क और हेतुवाद को महत्त्व मिलता जा रहा है। फलतः समाधान के स्थान पर समस्या का बोलबाला हो रहा है और अस्वाभाविकता के नाम पर गीतों और कविताओं का सर्वथा बहिष्कार हो रहा है। 'प्रसाद' के निर्दिष्ट मार्ग को छोड़कर दृश्य-रहित तीन अंकों में नाटक लिखने की नई पद्धति चल पड़ी है।

आज के साहित्यिक नाटकों में जनता की समस्याओं को जनता की भाषा में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जा रहा है। आज की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति नाट्यकार को इस पथ पर चलने के लिए विवश कर रही है। जनतन्त्र की स्थापना के उपरान्त राजनीतिक हिंसात्मक आन्दोलन के वे घटना-चक्र भी नाटक के कथानक बनने लगे हैं जिनकी चर्चा ही ब्रिटिश राज में अवैध मानी जाती थी। देशहित के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले क्रान्तिकारियों ने सम्वत् १९१४ वि० के विद्रोहकाल से स्वतन्त्रता प्राप्ति तक देश-स्वातन्त्र्य के लिए निरन्तर संघर्ष किया। इस दल में हिन्दू-मुसलमान सभी सम्मिलित थे। दीवानों की यह टोली "भारत माता को ईश्वर, देवता, शक्ति-स्वरूपा मानकर इसके गौरव के लिए हँसते-हँसते मरने की शक्ति का वरदान माँगती रही।"

क्रान्तिकारियों का न्यूनाधिक नव्वे वर्ष का दीर्घ इतिहास वैधानिक बन्धन के कारण अन्धकार में ही लुप्त पड़ा था। कन्हाईलाल, खुदीराम, यतेन्द्र मुखर्जी, करतारसिंह-जैसे वीर पुरुष

विस्मृति के गर्त में पड़े थे। स्वतन्त्रता के उपरान्त उनके बलिदान की कथाएँ नाटकों के रूप में भी प्रकाश में आने लगी हैं।[1] इन रोमहर्षणकारी घटनाओं के आधार पर कई शुद्ध राजनीतिक-नाटक हिन्दी में विरचित हुए हैं। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक यशपाल के अतिरिक्त अन्य नाट्यकारों ने भी इस प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास किया है। संवत् २०१० वि० में 'क्रान्तिकारी' नामक एक नाटक प्रकाशित हुआ है, जिसमें क्रान्तिकारियों की रक्षा के लिए पुलिस सुपरिण्टेंडेण्ट की स्त्री वीणा स्वयं अपने पति मनोहर की हत्या करती है। मनोहर की छाती से निकले रक्त से सना रूमाल दिखाकर वह सगर्व कहती है—'मैंने सोते हुए अपने पति की नहीं, देश के शत्रु की हत्या कर दी।'

जहाँ असहयोग आन्दोलन में शत्रु से भी सत्य, स्नेह और अहिंसा का व्यवहार करने का आदेश था, वहाँ क्रान्तिकारियों का नियम था—"क्रान्तिकारियों के सामने न कोई भाई है, न बहन, न पति, न पिता, न माता, न कोई सम्बन्धी।" गोली से खेलने वाले इस दल का नेता स्वामी एक स्थान पर अपनी नीति स्पष्ट करते हुए कहता है[2]—"यह आग पर चलने का मार्ग है। स्नेह, प्रेम नाम की कोई चीज़ यहाँ नहीं है। संयम, ब्रह्मचर्य, कर्तव्य और देश-प्रेम, शत्रुओं से मातृभूमि का उद्धार!.....हमको अपने दल के लिए लोहे के आदमी चाहिएँ। यह महाभारत का युद्ध है, वीणा देवी! कर्तव्य के लिए हमें युद्ध करना है, चाहे कोई भी हो।"

इन शब्दों से क्रान्तिकारियों की गतिविधि, रीति-नीति का संकेत मिलता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता-संग्राम में संलग्न अहिंसावादी महात्मा गांधी और क्रान्तिकारी स्वामी के

१. क्रान्तिकारी— उदयशंकर भट्ट पृष्ठ ६६ सं० २०१० वि०।

२. वही—पृष्ठ ६४।

जीवन-दर्शन में कितना अन्तर था !

आधुनिक नाटकों में एक प्रवृत्ति और पाई जाती है। विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ देश में स्वेच्छा से त्याग की भावना उत्पन्न कर रहा है। देश की आँखें इस सन्त और इसके यज्ञ की ओर लगी हुई हैं। सेठ गोविन्ददास ने 'भूदान-यज्ञ' नामक नाटक लिखकर सन्त विनोबा द्वारा संचालित इस जन-आन्दोलन का महत्त्व दिखाया है। इस प्रकार देश में एक बार फिर हिंसा पर अहिंसा और विलास पर त्याग की विजय दिखाई गई है। अब नाट्यकार जनता के अधिक समीप आ गया है। अब यह कहा जा सकता है कि आधुनिक नाटक जन-जीवन का विमल दर्पण बनता जा रहा है। नाट्यकार को प्रेरणा पश्चिम के नाट्यकारों की अपेक्षा अपने ही समाज के सुख-दुख से मिलने लगी है।

सारांश यह कि हिन्दी नाटक जो आरम्भ काल में जन-जीवन से अनुप्राणित होकर अग्रसर हुआ, वह कालगति से विविध रूपों में भटकता हुआ आधुनिक युग में जन-जीवन से पुनः संपृक्त हो गया है, किन्तु अन्तर यह है कि आदि युग का हिन्दी नाटक जहाँ सरल, सुबोध, भावुक तथा संगीतमय था, वहाँ आधुनिक युग का हिन्दी नाटक जटिल, दुरूह, बौद्धिक और गद्यमय होता जा रहा है।

हिन्दी नाटक का भविष्य

हिन्दी नाट्यकला शताब्दियों से विभिन्न परिस्थितियों में विविध रूप धारण करती हुई समयानुसार उन्नति की ओर अग्रसर होती चली आ रही है। इसने अतीत में विविध शैलियों का प्रयोग किया है और आज भी कई शैलियों का परीक्षण कर रही हैं। निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि किस शैली को सबसे अधिक सफलता मिलेगी। शैली कोई भी हो नवीन होने के कारण कुछ काल तक जन-रुचि को आकर्षित करने वाली बन

जाती है किन्तु नाटक के महत्त्व पर उसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। शैली नाटक का बाह्य रूप है, जो सदा परिवर्तनशील होने के कारण अस्थायी है। स्थायी रहने वाला तो आभ्यन्तरिक तत्त्व है, जो नाटक को चिरजीवी बनाता है। वह आभ्यन्तरिक तत्त्व है जीवन की परख। जो नाट्यकार बाह्याडम्बर के आवरणों को भेद अन्तर्निहित जीवन-सत्य का सन्धान करने में समर्थ होता है, उसी की कृतियाँ स्थायी रह जाती हैं। जिस कृति में उसकी दृष्टि जितनी ही व्यापक और तीक्ष्ण होगी, वह नाटक उतना ही चिरजीवी बनेगा। नाटकों में दृष्टि की व्यापकता और तीक्ष्णता घटनाओं के घात-प्रतिघात पर भी आश्रित रहती है। अतः जिस नाटक की घटनाएँ नियति के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन कर मानव-जीवन के पथ का निर्देश करती हुई समाज के भविष्य पर प्रकाश-रश्मियाँ विकीर्ण करेंगी, वही नाटक कल्पनातीत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को प्रस्फुटित करके हमारे मस्तिष्क को प्रोद्‌भासित और हृदय को झंकृत करेंगे। ऐसे नाटकों के पठन और प्रेक्षण से मानव की भावनाएँ उदात्त होंगी और दृष्टि व्यापक बनती रहेगी।

एक समय भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र को पंचम वेद की उपाधि देकर आर्य-अनार्य, ब्राह्मण और शूद्र तथा धनी-निर्धन को एक सूत्र में बाँध जीवन के आह्लाद का मार्ग दिखाया और वह आज भी किसी-न-किसी रूप में हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। उस काल में नाटक जनता के समीप था। आज भी नाट्यकला जन-जीवन से सम्बद्ध होती जा रही है। ऐसे समय में यदि हमारा नाट्य-साहित्य जन-जीवन के गहन अध्ययन द्वारा विभिन्न संस्कृतियों के पृथक्-पृथक् स्रोतों के सम्मिलन से एक ऐसा वेगवान प्रवाह बनाने में समर्थ हुआ जो संकीर्णता की प्राचीरों को चीरता हुआ निरन्तर प्रवहमान होता रहा तो निश्चय ही नाट्य-

निर्माण द्वारा देश तथा जाति के साथ-साथ मानवता का कल्याण होगा। उस दशा में हमारा यह साहित्य भरत मुनि के निम्नलिखित विचारों के अनुसार वास्तविक रूप से नाटक कहलाने का अधिकारी होगा—

"दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥"

नाट्य शास्त्रम्—
प्रथम अध्याय—११४, ११५

परिशिष्ट १

देखिए 'उपदेश रसायन रास' और 'समासार नाटक' में साम्य है।

'उपदेश रसायन' में शिष्य गुरु से पूछता है—

"धम्मु सु धरणु कु सक्कइ कायरु ?
तहिं गुणु कवणु चडावइ सायरु ?
तसु सुहत्थु निव्वाणु किं संधइ ?
मुक्ख किं करइ राह किं सुविंधइ ?

संस्कृत अनुवाद :

"धर्मं स धर्तुं किं शक्नोति कातरः ?
तत्र गुणं क आरोपयति सादरम् ?
तस्य सुखार्थं निर्वाणं किं सन्धेत्ते ?
मोक्षं किं करोति राधां किं स विध्यति ? ॥१२॥

गुरु उत्तर देता है :

"दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ।
सुहगुरु दंसण विणु सो सहलउ
कहोइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥३॥

संस्कृत अनुवाद :

"दुर्लभं मनुजजन्म यत् प्राप्तं
सफलं कुरुत यूयं सुनिरुक्तम्।
शुभ गुरु दर्शनं विना तत् सफलं
भवति न कथमपि शीघ्रं शीघ्रम् ॥३॥

'उपदेश रसायन रास' के सदृश गुरु-शिष्य-संवाद 'सभासार' में इस प्रकार मिलता है

शिष्य वचन—

जो सब संगति जानिए प्रभु सो कहो पुकार ।
सकल सभा वरनन करहु, नृपति आदि निरधार ॥

गुरु वचन :

करि रैयत राजी कटक, सद् प्रधान करि सोंप ।
सर अछर सब साधि नृप, चतुर राज की चोंप ॥
नेत्र स्रवन पाताल पति, स्रवन नेत्र महिपाल ।
चारि नेत्र चहिए चतुर, सुर उर भाल विसाल ॥
पंच नेत्र ये नृपति के, धुर सुगंध सों धोय
राजनीत अंजन करै, तो मद अंध न होय ।

'उपदेश रसायन रास' में राजा का वर्णन इस प्रकार है :

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय दस ।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहि
जइ ते सव्वि वि उठ्ठहि लगुडिहि ॥२४॥

संस्कृत अनुवाद :

यदि किल नरपतयः केऽपि दुःषमावशात्
तेषामप्यर्पयन्ति विधिचैत्यानिदश ।
तथापि न धार्मिका विधिं विना कलहायन्ते
यदि ते सर्वेऽप्युत्तिष्ठन्ते लगुडै : ॥२४॥
निन्नु वि सुगुरु देवपयभत्तह
पणपरमिट्ठि सरंतह संतह ।
सासणसुर पसन्न ते भव्वहं
धम्मियं कज्ज पसाहहि सव्वहं ॥२५॥

संस्कृत अनुवाद :

नित्यमपि सुगुरु—देवपदभक्तानां
पञ्चपरमेष्ठिनः स्मरतां सताम् ।
शासनसुराः प्रसन्नास्ते भव्यानि
धार्मिककार्याणि प्रसाधयन्ति सर्वाणि ॥२५॥

इसी प्रकार का राजवर्णन 'सभासार' में देखिए :

पुन्यसीलि प्रजापाल न्याउ प्रतिपछि न कोई,
कर सोंपे अधिकार आप सम जाने सोई ।
रस भाषा रस निपुनि, सत्रु डर में नित साजे,
जो जिहि लायक होई, ताहि तैसी विधि पाले ।
सुख करन भयरु सागर सरिस, रत्न ग्राह लीये रहे ।
लछिन अनंत महिपाल के, सुबुद्धि बखान कविवर कहे ॥१३४॥
सभा समुद्र अपार गुन पय औगुन नीरजिम ।
राजा हंस विचारि, करे सु देखे काढ़ि के ॥१४॥

हम पूर्व विवेचन कर आए हैं कि 'सभासार' को नाटक ही कहना चाहिए। नाट्यकार स्वयं अपनी कृति को नाटक[1] कहता है। उसके सम्मुख 'उपदेश रसायन रास' नाटक के रूप में विद्यमान था। नाट्यकार ने उसी शैली पर इस नैतिकता-प्रधान नाटक की रचना की।

जिन्होंने इस ग्रन्थ की गणना नाट्य-साहित्य में करना स्वीकार नहीं किया है, उनके सम्मुख केवल संस्कृत नाट्य-शैली ही थी। अपभ्रंश नाटकों की परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण वे लोग नाट्यकार की कृति को नाटक कहने में संकोच करते हैं।

---

१. 'अथ सभासार नाटक लिख्यते' सभासार की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत।

परिशिष्ट २

काशीनाथ कृत 'विद्या विलाप नाटक'

श्री नृत्यनाथाय नमः

सानन्दं हिमकुन्दकैरवसुधाकर्पूर-पुंज-प्रभ-
श्चन्द्रार्द्धांकितशेखरोगिरिसुतादेहार्द्धभाक् कामदः ।
गीर्वाणौघ-सुपूजितांघ्रिकमलो गंगाधरः शूलभृत्-
देवः पन्नगहारकंकणकरो नृत्येश्वरः पातु वः ॥

नान्दिमाल : जति बाधा :

जय-जय शंकर देव नटेशर
वह शिर सुरसरिधार ।
चांद ललाट शोभित अच्छ
निरमल उरवर फणिपतिहार ॥
हे नटेशर ॥
गौरीकलित तनु अपने दिगम्बर
तीनि नयन सुविराजे ।
असन धतूर फल वसन बघम्बर
पूरथि सुरगण (न) काजे ।
भसम लेपित अंग हर करुणामय
शूल डमरुकर ईश ।
शंख-तुहिन तुल देह-वरण तुअ
गल रह कालिम वीस ।[1]
रघुकुल कुलमणि भूपतीन्द्र नृप
वरणित एहन अनुपे ।
चारि पदारथ दायक ईशर
मुनिगण भावित रूपे ॥ मेपु १ ॥

---

१. वीस (विष)

सूत्र प्रवेश—

तौड़ि । जति ॥

तीनि नयन हर अनुपम वेश ।
दरशने दुर होअ जयत कलेश ॥
रजत-धवल तनु उर फणिहार ।
वसन कयलभ बाघछिच्छाल ॥
च्छारे च्छपावल अपनुक देह ।
तेजि रजताचल पितृवन गेह ॥
भूपतीन्द्र कह अपुरुव वाणी ।
पूरह मनोरथ सहित भवानी ॥

पुष्पांजलि श्लोक

गाच्छेंपि ॥ कल्याण ॥ अ, र, प, ॥
नाचय शंकर गौरी अरधांगा २ ॥ घु ॥
विभूति-भूषित-तनु नर-शिर-हार ।
शिरहि विराजित गांग सुधार ॥ मेपु २ ॥

राजवर्णना

(श्री गौरी) ॥ चो० ॥

रघुकुल कमल प्रकाशन भूपे ।
अवतरु दिनमणिरूपे ॥
नृप भूपतीन्द्र मल्ल मदन-सुसाज ।
महिमण्डल-सुरराज ॥
दानधरमगुण करण समान ।
एहन नृपतिवर न देखल आन ॥
द्विज काशीनाथ बखाने ॥ मेपु ३ ॥

देशवर्णना

(कोनेट्ठु, भा ॥ वराडि ॥ खए ॥)

सुरपुरलह भल तुहिनगिरिक लग,

अच्छ भगतापुरि नामे ।
ओतहि नीति-नाटक रस-भाव ॥ ध्रु ॥
वेदपुराणधुनि करय पण्डितजन,
देखयिते वड़ अभिरामे ॥
भनयि काशीनाथ, ततहि वसथि देवि,
सुललित कय निज धामे ॥ मेपु ४ ॥

सूत्रनटी निस्सार ॥

(चलोरे चलोरे कालामा)
(पहड़िया)

चलुरे चलुरे प्रिया अपने विचारु हिया ॥ ध्रु ॥
निदेश कयल नृपे भूपतीन्द्रराजे
विद्याकुमार भय नाचव सुसाजरे ॥ मेपु ५ ॥

गुणसागरादि प्रवेश ॥

(कन्हर । एकतालि ॥)

सागरतुलगुण गुणक निधान ।
विदित भुवनतर केओ नहि आन ॥
कलावति प्रियासंगे करव प्रवेश ।
अनुपम अच्छ मोर, रत्नापुरि देश ॥
नृप भूपतीन्द्रमल्ल कयल बखान ।
नीतिविनयगुण एहे भूप जान ॥ मेपु ६ ॥

गुणसागरादि निस्सार :

(अवलिन्होमा ॥ मारु, धनात्री, चो ॥)

आनन्दे जायव चलु कलावति ॥ ध्रु ॥
अपन नगरि रहि करिव समाज ।
मिलव सुजनगण ओहे मोर काज ॥ मेपु ॥ ७ ॥

॥ शिवशर्मोक्ति—यज्ञमे ॥

॥ राजविजय ॥

याग करव हमे घृत मधु आनि ।
परसनि होएति एखने भवानि ॥ मेपु ८ ॥

चण्डिका प्रत्यक्ष ॥

(हयंचटि, मा ॥
सारंगे ॥ चो ॥

परकट भय हमे पुराओव कामे ।
पूजावलि लेव मोय जाय ओहि थाने ॥ मेपु ९ ॥

चण्डिका अन्तर्धान कोटान ॥

(मे ॥ पहड़िया ॥ दुर्जमान ॥)

परकट (गत) भय हमे पुराओल कामे ।
पूजावलि लेल मोय जाय ओहि थामे ॥
हाहा ३—
एहिखने जायव अपन निवासे ।
ततय करव हरषे विलासे ॥ मेपु १० ॥

वीरसिंहराजादिप्रवेश ॥

(नाट ॥ अ ॥)

प्रवल नराधिप उजयिनी भूपे ।
प्रवेश कयल हमे (से) से (म) सरूपे ॥
मोर प्रिया शिलावति रति-अनुसारी ।
साजनि सेहे मोरि हृदय अधारी ॥
वीरसिंह सन नृप न देखल आने ।
नृप भूपतीन्द्र कह रसिक सुजाने ॥ मेपु ११ ॥

वीरसिंह राजादि निस्सार ॥

(आसावरि प्र ॥)

शशिमुखि चलु धनि जायव हरषे ॥ ध्रु ॥

उजायनि सुनगर करव विलासे ।
होएत मनक उलासे ॥ मेपु १२ ॥

गुणसागरोक्ति—शृङ्गार ॥

(कमल्यावे, मा ॥ सारंगी ॥ चो ॥)

सुनु आवे सुवदनि वाणी,
मने अवधारि ॥ ध्रु ॥
कामव्याकुल मानस मोरा ।
वदन-सुधाकर देखिअ तोरा ॥
पहु संगे सुन्दरी अनुचित मान ।
नृपतिशिरोमणि भूपतीन्द्र भान ॥ मेपु १३ ॥

कलावत्युक्ति—शृङ्गार ॥

नामनु, मा ॥ याजयन्ती ॥ चो ॥

भाव न जानो मोय समह परान ॥ धु ॥
कुलवधू (धु) हमे नहि चतुरायि ।
तुअ गुणमहिमा वरणि न जायि ॥
भूपतीन्द्र मल्ल ई रस (श) भान ।
पहु सन सुन्दर नहि जग आन ॥ मेपु १४ ॥

वीरसिंहादिती पंडुं :

इति प्रथमोऽङ्क :

अथ द्वितीय दिवसे

सुगन्धिमालिनी प्रवेश ॥

नाट ॥

(दुयि एकतालि)

सुगन्धि मालि जाति कथल प्रवेश ॥
लोक नागर जन मोहिय सुवेश ।
गथयिच्छ भले भाति कुसुम सयानि ।
महितले केओ नहि भूपतीन्द्रवाणि ॥ मेपु १५ ॥

सुगन्धिमालिनी निस्सार ॥

(मालकौशिक ए)

कुसुम तोड़व हमें उपवन जाय ।
अनुपम हार गाथव मन लाय ॥
सुनव कोकिल वाणि ॥ मेपु १६ ॥

जोसिडिडिनिस्सार ॥

(मालव ॥ खचो)

चलह निज गेह, राजा—देल जत,
तुहहि एहि खने लेह ।
आहे डगरिनि कुच तुर परसय देह ॥
सुनह विनति मो रसिक रतन जन,
दैव मिलावल आज ।
आहे, तोहे मोर पुरवल मनोरथ काज ॥ मेपु १७ ॥

शिवशर्मा सुन्दर पैसार ॥

(निज गृह, मा ॥ काफि धनाश्री ॥ ख)

मन मोर हरषित, भेल वड़ आज ॥ थु ॥
अभिमत जत अच्छ पुराओव सेहे ।
विविध शिखि गुण जायव गेहे ॥
लवड़ आज ॥ मेपु १८ ॥

शस्त्रविद्यासेनेमे ॥

तोड़ि ॥ रघु ॥

गुरुक पादपद्म सेवि शस्त्र-अस्त्र ।
शिख (ष) ह आज ।
वाण जोरि रक्ष ताकि (डाकि ?) मारि वेध
करह काज ॥ मेपु १६ ॥

विद्या दिखजाषिसा प्रवेश ॥

(नटलयं, मा ॥ इमन् कल्याण ॥)

उजयिनी नरपति तन्हिक तनया,
विदित विद्या नाम हमारि ।
सुवादनि अच्छ मोर साजनि जशोमति,
हम सनि नहि जग नारि हो हो ॥
रूप गुण आगरि, रतितह सुन्दरि
प्रवेश कयल नटधामे ।
केलिकलारस करव सखि मिलि
कह वीर भूपतीन्द्र नामे हो हो ॥ मेपु २० ॥

विद्यादि निस्सार

(तोड़ि ॥ चो ॥)

रसे-रसे-रसे रूपमति जायव आज रे ॥ ध्रु ॥
खेलायव सखि मिलि निज गृह जाय
एहिखने सजनी नेहर गाय ॥ मेपु २१ ॥

विद्यादि पैसार ॥

(एमं कल्याण ॥ प्र)

नहु-नहु जाजव आज, साजनि ॥ ध्रु ॥
पूजव शंकर श्रोतय जाय ।
निज मन लागल साय ॥ मेपु २२ ॥

मालिनी, निस्सार ॥

(वसन्त ॥ ए ॥)

उपवन जाय सुनव पिकवाणी ।
गाँथव फुल मोय श्रोतय आनि ॥
करव आनन्द विलासे ॥ ध्रु ॥ मेपु २३ ॥

विद्यान महादेव पूजा जाय ॥

(श्री राग ॥ ख, ए ॥)

हे हर शंकर परसनि होउ होउ ॥ ध्रु ॥
आक धुथुर[1] फुले पूजव देव ।

१. धुथुर—धतूर

अभिमत पावव जे जन सेव ॥ मेपु २४ ॥

अवधूत पैसार ॥

(मारुधनाश्री ॥ प, रघु ॥

आज बड़ रंग ।

भसम अंग खायल भंग ॥ ध्रु ॥

अवधूत रूप लय जायव ताहा ।

जतय भजन मोर अच्छ जाहा ॥ मेपु २५ ॥

गुणसागरदि पैसार ॥

(गौरी ॥ चो ॥)

जायव चलु आवे शशिमुखि संगे ।

मिलव नागर जन होयत बड़ रंगे ॥ मेपु २६ ॥

विद्यादि पैसार ॥

(तोड़ी ॥ चो ॥)

रस रस उमेनं ॥ मेपु २७ ॥

(विद्योक्ति दण्डक ॥)

सपन सुन्दर, मा ॥

(बेहांगरा ॥ ख ॥)

सुन सखि क हेन मिलत पति मोहि ॥ ध्रु ॥

जै जन विद्या जित से पहु मोरा ।

एहन मनोरथ कहैच्छिअ तोरा ॥

विचारि कहिनि तोहे साजनि आज ।

जनक (६ क) जननि लग कहु गय काज ॥ मेपु २८ ॥

सखि उक्ति दण्डक

(रागतालउ नं)

सुनहे सुनह विद्या समुचित वाणी ॥ ध्रु ॥

धैरज करह तोहे राजकुमारि ।

कहव सखि मिलि ब्रह्म अवधारि ॥

नृप भूपतीन्द्र कह होयत उपाय ।
तोहर जननि लग कहव जाय ॥ मेपु २६ ॥
माधवादि भाट (त) पैसार ॥
(॥माहुरूप, मा ॥ मालव ॥ चो ॥
एखने देखव गय भूपसमाज ।
चल दुहु मिलि त्वरितहि आज ॥
देखल नागर जन अनेक सुदेश ॥ ध्रु ॥ मेपु ३० ॥
भात पनिसेन तेवाहभाय राजायके ॥

इति द्वितीयोऽङ्क :

इसी प्रकार सात अंकों में यह नाटक समाप्त किया गया है। प्रत्येक अंक के प्रारम्भ में "अथ दिवसे" तथा अन्त "इति विद्या-विलाप नाटक सप्तमंक समाप्त" लिखा मिलता है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक तैंतीस पृष्ठों और ११३ छन्दों में समाप्त हुआ है। अन्त में आशीर्वाद श्लोक (भरत-वाक्य) मिलता है।

●

परिशिष्ट ३

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक (हिन्दी)

संस्कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद हिन्दी में सत्रहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक होता आया है। इसका जो अनुवाद संवत् १७०० वि० में महाराजा जसवन्तसिंह ने किया, वह गद्य-पद्यात्मक रूप में है और संस्कृत नाटक की ही शैली पर है, किन्तु उसके उपरान्त अनाथदास, जन अनन्द, सूरति मिश्र तथा ब्रजवासीदास के अनुवाद उस शैली पर नहीं मिलते।

अमूर्त को मूर्त विधान करने वाली शैली पर सर्वप्रथम सिद्धर्षि कवि ने 'उपमिति भव प्रपंच कथा' नामक काव्य लिखा। तदुपरान्त हरिभद्र सूरि ने 'धूतोख्यान' तथा अमितगति ने 'धर्म परीक्षा'

नामक काव्य रचे। अपभ्रंश में इस शैली पर 'मयण पराजय चरिउ' नामक काव्य मिलता है। इस शैली पर 'मोहराज पराजय' 'संकल्प सूर्योदय' आदि नाटक भी हैं। राजस्थानी के कई रास ऐसे नाटक है।

देखना यह है कि ब्रजवासीदास का अनुवाद किस शैली पर है? नाट्यकार ने ग्रन्थ में तत्कालीन प्रचलित नाट्य-शैली की ओर इस प्रकार संकेत किया है :—

"बहुरि सभा के मद्धि नट, कीन्हों निर्त सुदेश
भयो प्रसन्न चरित्र लखि कीरत ब्रह्म नरेश ॥"

ब्रह्म राजा के सामने नट जो चरित्र दिखाता है उसमें नृत्य की प्रधानता है। अभिनयकर्ता नट नृत्य के द्वारा दर्शक को प्रसन्न करता है। ब्रजवासीदास जी का सम्पूर्ण नाटक छन्दबद्ध रास-शैली पर लिखा मिलता है। रास के समान ही वन्दना से इसका प्रारम्भ होता है। अन्त में ग्रन्थ की महिमा का वर्णन रास की तरह है। रास के अन्त में प्रायः सर्वत्र यही मिलता है "पढ़ै गुनै जो सांभलै।" इसी प्रकार ब्रजवासीदास के अनुवाद के अन्त में मिलता है— "पढ़ै सुनै समझै गुनै, जो कोऊ यह ग्रन्थ।"

रास के सदृश इसमें भी रंगमंच के निर्देश कविता के रूप में विद्यमान हैं; जैसे—"छमा विवेक चरसा सिर नायो। नृप कहि कुशल बहुरि बैठायो। छमा कही केहि काज बुलायो। नृप कह क्रोधहि मूढ़ उठायो।" इत्यादि। (प्रबोध चन्द्रोदय, ब्रजवासीदास पृ० ६६)

नृत्य के आधार पर सम्पूर्ण नाटक के अभिनय का उल्लेख हमें 'समय सार' से लेकर ब्रजवासीदास तक प्रायः सभी नाट्यकारों में उपलब्ध होता है। 'समय सार' में नट का कार्य नृत्य द्वारा अभिनय करना इस प्रकार दिखाया गया है—

या घट में.....
प्रदूल नृत्य करै अति भारौ।
फेरत भेख दिखावत कौतुक
सौंजि लिए वरनादि पसारौ।
मोह सो भिन्न जुरो जड़ सो,
चिन मूरति नाटक देखन हारौ॥"

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से नाटककर्ता नट नृत्य के आधार पर नाटक का प्रदर्शन करता है। सम्पूर्ण नाटक रास शैली के सदृश नृत्य पर आधारित है। रास-शैली पर रंगमंच का निर्देश तथा घटना का प्रसार मिलता है। इसमें रास शैली पर ही प्रारम्भ और अन्त भाग उपलब्ध है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संस्कृत से अनूदित नाटकों की रचना भी रास की परम्परा पर ही की गई।

●

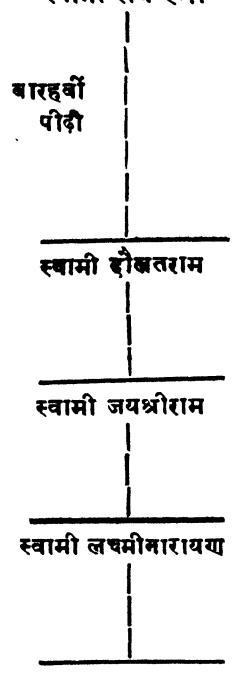
परिशिष्ट ४

वर्तमान रास मंडलियाँ

१. करहला की मंडलियाँ
   (क) चौथा स्वामी का लड़का हरद्वारी
   (ख) जग्गो धोली
२. हवेली वालों की मंडली : मुरली धर प्यारे का पुत्र।
३. कमही की मंडलियाँ :
   (क) मेघश्याम की मंडली
   (ख) कुंजबिहारी की मंडली।
४. छाते की तीन मंडलियाँ :
   (क) कुंवर पाल
   (ख) धर्मसिंह
   (ग) लछमन

५. महम्मदपुर की मंडलियाँ :
   (क) गनेसी
   (ख) हरगोविन्द (भरतपुर)
६. हथिया गाँव की मंडली :
   (१) किशन लाल
७. खेरिया गाँव (जिला अलीगढ़) की मंडलियाँ :
   (१) दामोदर (बंसी बट पर)
   (२) घनश्याम (वृन्दावन में)
८. मुरलीधर : वृन्दावनलाल बहुरे का लड़का फौजुवा (अलीगढ़) निवास वृन्दावन में।
९. चेतराम 'नौहो झील' गाँव का अब वृन्दावन में।
१०. फत्तेराम 'नौ झील'
११. फत्तेराम चिकसौली (बरसाने के पास)
१२. कुंजबिहारी छोटो
१३. रामदत्त (वृन्दावन में रहने वाला)—जमुनापार।

सबसे प्राचीन रास-मंडली की परम्परा



उपर्युक्त वंशावली इस तथ्य का प्रमाण है कि कई रास मंडलियाँ वंश-परम्परा से यही व्यवसाय करती चली आ रही हैं।

●

परिशिष्ट ५

स्वाँग सम्बन्धी आधुनिक नाटक

'स्वांग' नाटक के दो केन्द्र हैं, रोहतक और हाथरस। रोहतक के नाटकों का वर्णन हो चुका है। हाथरस के हिन्दी भूषण पं०

नथाराम गौड़ रचित स्वांग नाटकों की सूची इस प्रकार है:—

१. वीर रस प्रधान नाटक :

(१) अमरसिंह राठौर, (२) यशवन्तसिंह, (३) नल चरित्र, (४) बहादुर तन्नासिंह, (५) ढोलामारू, (६) निहालदे का झूला, (४ भाग) (७) सुलताना डाकू, (८) श्रीमती मंजरी, (९) माधुरी, (१०) सुन्दर बाई, (११) बीरमती (२ भाग), (१२) रेशमी रुमाल, (१३) चडाल चौकड़ी, (१४) छत्रपति वीर शिवाजी, (१५) बड़ी जोरू, (१६) तेज़ मिजाज, (१७) पापियों का परदादा, (१८) पृथ्वीराज चौहान, (१९) महाराणा प्रताप, (२० दयाराम गूजर, (२१) क्षत्राणी दुर्गावती, (२२) बहन भैया, (२३) गरीब हिन्दुस्तान।

गोविन्द चमन तोताराम कृत वीर रस प्रधान स्वांग नाटकों की सूची :

(१) देवा का व्याह, (२) बहोरन का व्याह, (३) रू-अफज़ा बहराम, (४) ऊदल हरन, (५) धांधू का व्याह, (६) मलखान का व्याह, (७) ब्रह्मा का व्याह, (८) सुरजावती का झूला।

पं० नथाराम कृत शृंगार-रस-प्रधान नाटकों की सूची—

(१) सब्जपरी गुलफाम, (२) स्याहपोश, (३) विचित्र कुमारी, (४) लैला मजनू (५) पद्मावती, (६) बेकसूर बेटी, (७) राजबाला, (८) तड़पती जोगिन, (९) हीर रांझा, (१०) नक्ली शहजादा, (११) हुस्न की पिटारी, (१२) माहीगीरी, (१३) जहरे इश्क, (१४) नक्ली डाकू, (१५) महारानी तारा (पाँच भाग), (१६) बहराम बादशाह फ़ारिस (३ भाग), (१७) चाचा भतीजा, (१८) बे-नजीर बदरे मुनीर, (१९) पन्नादाई, (२०) लाखा बंजारा, (२१) सोने का पेड़, (२२) शायरे यार गुलबदन, (२३) छलिया अघोरी, (२४) गुलरू-जरीना, (२५) विचित्र धोखेबाज, (२६) देहली दरबार, (२७)

कत्ल जान आलम (३ भाग) (२८) काम कन्दला, (२६) विद्या-विनोद, (३०) गुलसनोबर, (३१) पूरन भगत् (३ भाग), (३२) त्रिया चरित्र, (३३) रूप बसन्त, (३४) नौटंकी, (३५) जवानी का नशा, (३६) माली का बेटा, (३७) मदनसेन, (३८) चम्पा पोश, (३६) गुंजपरी,

महाभारत पर आधारित पं० नथाराम कृत संगीत नाटकों की सूची :

(१) कौरव-पांडव-उत्पत्ति, (२) द्रौपदी-स्वयंबर, (३) जरासंध-शिशुपाल वध, (४) चौसर की बाजी, (५) द्रौपदी चीर हरण (६) उर्वशी वरदान, (७) नकली द्रौपदी कीचक वध, (८) भयंकर भूत, (६) अभिमन्यु विवाह, (१०) पैगामै जंग, (११) कृष्ण निमन्त्रण, (१२) भवानी वरदान (१४) ब्रह्मचर्य का प्रभाव, (३ भाग), (१४) अभिमन्यु समर, (१५) अभिमन्यु वध, (१६) अर्जुन प्रतिज्ञा, (१७) जयद्रथ रक्षा वचन, (१८) जयद्रथ वध, (१६ द्रोण स्वर्गवास, (२०) कर्ण वध, (२१) शल्य वध, (२२) दुर्योधन वध, (२३) द्रौपदी पुत्र मरण, (२४) फौलादी भीष्म, (२५) भीष्म शरीर त्याग, (२६) घोड़े की चोरी, (२७) सुधन्वा संग्राम, (२८) अर्जुन का काल, (२६) जहरीला खत चन्द्रहास, (३०) मोरध्वज, (३१) वीर शर्मा, (३२) विदुर तपस्या, (३) कृष्ण गोलोक गमन, (३४) पांडव सुरपुर गमन।

पं० नथाराम कृत राम-सम्बन्धी नाटकों की सूची :

(१) दक्षयज्ञ विध्वंस, (२) शंकर पार्वती विवाह, (३) नारद मोह, (४) रावण जन्म व दिग्विजय, (५) राम जन्मोत्सव, (६) जानकी जन्म, (७) धनुष यज्ञ, (८) परशुराम संवाद, राम-विवाह, (६) राम वनगमन, (१०) चित्रकूट निवास चरित्र, (११) जानकी हरण, (१२) बालि वध, (१३) सीता सन्देश, (१४) रावण

अंगद संवाद, (१५) शक्ति संताप, (१६) सुलोचना सती, (१७) अहिरावण वध, (१८) नारान्तक आगमन, (१९) नारान्तक वध, (२०) रावण वध, (२१) भरत मिलाप, (२२) राजगद्दी, (२३) सीता वनवास, (२४) लवणासुर वध, (२५) सीता हरण पुराना,

पं० नथाराम कृत आल्हा-ऊदल सम्बन्धी नाटकों की सूची :

(१) अल्हा का विवाह, (२) ऊदल विवाह, (३) जग्गन का विवाह, (४) शंकल द्वीप, (५) लाखन का गौना, (६) इन्दल हरण, (७) शंकर गढ संग्राम, (८) सम्मर का पाठ, (९) चन्द्रावली का झूला, (१०) मांडों की लड़ाई, (११) मलखान संग्राम, (१२) बांदों संग्राम, (१३) आल्हा विकासी, (१४) बंगम गढ संग्राम।

उपर्युक्त नाटकों से यह प्रमाणित होता है कि सामान्य जन-समुदाय में भी नाट्य-रचना की वह बहुमुखी प्रतिभा आज भी विद्यमान है, जो ग्रामीण जनता के मनोरंजन और उन्नयन का कार्य कर रही है। उपर्युक्त नाटकों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें अधिकांश नाटक दुःखान्त है। जनसाधारण में दुःखांत नाटक चिरकाल से अभिनीत होते आ रहे है। जन-नाटकों का प्रभाव सामान्य जनता पर शताब्दियों से पड़ रहा है। "सती लज्जावती" का स्वांग आज भी सहस्रों नारियों को पातिव्रत का महत्व सिखाता हुआ मनोरंजन का साधन बन रहा है। रामायण और महाभारत की विविध कथाएँ ग्रामीण जनता को इन स्वांग-नाटकों के बल पर आज भी विस्मृत नहीं हुई हैं। स्वांग के नाट्यकार साधारण जनता का अध्ययन करते हुए अपनी रचना को देश-कालानुकूल बनाते रहे हैं, इसी कारण स्वांग की दीर्घकालीन परम्परा हमारी संस्कृति को सुरक्षित रखने में सहायक होती रही है। भारतीय संस्कृति के अध्ययन में सामान्य जनता की इन विशेषताओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं—

"इस विशाल महादेश की समूची संस्कृति का अध्ययन करते समय इन जीवन्त विशेषताओं की उपेक्षा न की जाय। इस कोने से उसकोने तक फैले हुए विविध प्रकार के सामाजिक रीति-रस्म, पूजा उपासना, व्रत-उपवास और शास्त्रीय मान्यता भी समूचे जनसमूह के अध्ययन के लिए नितान्त आवश्यक उपादान है।" (संस्कृति संगम पृष्ठ ११, आचार्य क्षितिमोहन सेन।)

●

परिशिष्ट ६

हम रास प्रकरण में कई उद्धरणों द्वारा रास-ग्रन्थों को दृश्य काव्य प्रमाणित कर आए हैं। यहाँ दो-चार प्रमाणों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह में 'सप्तक्षेत्र रास' का उद्धरण इस प्रकार मिलता है :

बहुसह सहूइ श्रमण संघ, सावय गुणवंता।
जोयइ उच्छवु जिनह, भुवणि सवि हरष धरंता।
तीछे ताला रास पढ़ए, बहु भाट पढ़ंता।
अवइ लकुटा रास जोइस खेला नाचंता।
सविह सरीखा सिणगार सवि ते बढ़ ते बढ़ा।
नाचइ धामीय रंग भरे, तऊ भावए रूढ़ा।
सुललित वाणी मधुरि, सादि, जिण गुण गायंता।
ताल भानु छन्द गीत, मेलु बाजिंत्र बाजंता॥ ४६॥

(सप्त क्षेत्र रास, रचना काल सं० १३२७ वि०)

उपर्युक्त उद्धरण में नाटक के प्रायः सभी अवयव विद्यमान हैं। श्रमण संघ के सम्मुख यह नाटक हो रहा है। सभी श्रमण हर्ष धारण करके इस उत्सव को "जोयइ अर्थात् देख रहे हैं। बहुत से भाट ताला रास को पढ़ रहे हैं। श्रमण गण लकुटा रास को देख रहे हैं। इस लकुटा रास का खेल नृत्य पर आधारित है। रास खेलने वाले सभी पात्रों का शृङ्गार एक-से-एक

बढ़कर है। पात्रों का नृत्य अत्यन्त मनोहारी है। उनकी वाणी ललित और मधुर है। वे पात्र जिन महाराज का गुण गा रहे हैं। गाना के साथ-साथ विविध वाद्य बज रहे हैं। तात्पर्य यह है कि बहु रूप-धारी पात्र नृत्य, गीत, वाद्य और अभिनय के द्वारा रास का प्रदर्शन करके श्रमण संघ को आनन्दित कर रहे हैं।

(२) अभय तिलक रचित महावीर रास में एक उद्धरण इस प्रकार है :

> पभणिसु वीरह रासुलउ, खेलहि मिलवि करावि उ रासुल उमवि दियहु।

(३) संघपति समरा रास में एक उद्धरण इस प्रकार है :

> "एह रासु जो पढ़ई गुणई नाचिउ जिण हरि देई।"

अर्थात् जैन मन्दिरों में इन रासों का ताल एवं नृत्य के साथ अभिनय किया जाता था।

(४) हेमचन्द्र सूरि रास को गेय दृश्य-काव्य मानते हैं। वह लिखते हैं "डोम्बिका भाण प्रस्थान भाणिका शिंगक रामाक्रीड़ हल्लीसक श्री गदित रासक गोष्ठी प्रभृतीनी गेयानि।" इसकी वृत्ति में वह लिखते हैं : "पदार्थाभिनय स्वभावानि डोम्बिका-दीनि गेयानिरूपकाणिचिरंतनैरुक्तानि।"

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रास ग्रन्थ दृश्य काव्य भी थे। अगरचन्द नाहटा और डॉ० दशरथ शर्मा का कथन है कि आज भी राजस्थान में तालियों के ताल और डांडियों के खेल तथा अभिनय के साथ् कई रास गाये जाते हैं।

परिशिष्ट ७ (क)

चन्द्रशरण—उषा-हरण (सं० १९४४ वि०)

श्रीनिवासदास—प्रह्लाद-चरित्र (सं० १९४५ वि०)

विश्वेश्वर प्रसाद त्रिपाठी—मिथिलेश कुमारी (१९४६ वि०)

शालिग्राम वैश्य—मोरध्वज (सं० १९४७ वि०) अभिमन्यु (सं० १९५३ वि०)
कार्तिक प्रसाद वर्मा—उषा-हरण (सं० १९४८ वि०)
अयोध्यासिंह उपाध्याय—प्रद्युम्न विजय (सं० १९५० वि०)
बालकृष्ण भट्ट—दमयन्ती स्वयंवर (सं० १९५२ वि०)
जगन्नाथ शरण—प्रह्लाद चरितामृत (सं० १९५७ वि०)
देवराज—सावित्री (सं० १९५७ वि०)
अनूप—लंकाविजय (सं० १९५७ वि०)
रामनाथ—सावित्री सत्यवान (सं० १९५७ वि०)

परिशिष्ट ७ (ख)

दुखिनी बाला—राधाकृष्णदास—(सं० १९३७ वि०)
रणधीर प्रेम मोहिनी—लाला श्रीनिवासदास—सं० १९४० वि०
तप्तासंवरण— ,, —सं १९४० वि०
ललिता—अम्बिकादत्त व्यास—सं० १९४१ वि०
मदनमंजरी—अयनसिंह गोतिया—सं० १९४१ वि०
लवंगलता—विसेसरनाथ पाठक—सं० १९४२ वि०
माधुरी—कृष्णदेवसिंह—सं० १९४५ वि०
मदनलेखा—दामोदरसिंह—सं० १९४७ वि०
मयंकमंजरी—किशोरीलालगोस्वामी—सं० १९४८ वि०
लावण्यवतीसुदर्शन—शालिग्राम वैश्य—सं० १९४९ वि०
मालतीवसन्त—ब्रज प्रसाद—सं० १९४६ वि०

परिशिष्ट ७ (ग)

"It was quite unnecessary to fill the entire story with blood and torture, suffering and death, even though it was intended to be a genuine tragedy. Temperamentally the dramatist was so much moved by inhuman *cruelties* of indigo industry which he quite conceivably had seen enacted before

his eyes, that it was impossible for him to bring a sense of detachment to bear upon his writing of the drama. Putting aside the question of the laws of higher drama, *Nildarpan* abounds in verse written in a very ornate and artificial style and also much pedantic prose. The descriptions, though quite touching in places miss their mark on account of elaboration and exaggeration.

परिशिष्ट ७ (घ)

१. "वर्तमानकाल के भारतीय कवियों में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं —ग्रियर्सन ।

२. "दूसरों में अपना उत्साह प्रतिष्ठित करने की इनकी शक्ति अद्भुत थी ।" —एडविन ग्रीस ।

३. "हरिश्चन्द्र ही वास्तव में भारत के वर्तमान नाटक के संस्थापक थे ।" एफ० ई० की०

४. "सत्यतः उत्तरी भारत में अब तक यह सर्वश्रेष्ठ समालोचक हो गये हैं ।"—बकलैंड ।

परिशिष्ट ७ (च)

१. मधुसूदन ने एक पत्र महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर को लिखा जिसमें उन्होंने ब्लैंक वर्स में लिखे अपने बँगला नाटक का अभिनय वेलगछिया थियेटर में करने को कहा। महाराजा साहब ने निम्नलिखित उत्तर दिया, :

"I should very much like to see blank-verse gradually introduced in our dramatic literature. I am inclined to believe that at first it should be done with great caution and judgment—I am sorry to say, however, that I cannot hold out much hope as to your seeing soon such plays acted on the stage". "Life of Michael Madhu Sudan Datta by Y.N. Basu". Pages 263-264.

हमारे अनुसन्धान की विशेषताएँ

(१) आज तक हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में मानी जाती थी, किन्तु हमने यह सिद्ध किया है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में प्राचीन राजस्थानी के रास अभिनय के लिए लिखे जाते थे। वे रास दृश्य-काव्य थे।

(२) अभी तक इतिहास-लेखकों की यही धारणा थी कि हिन्दी नाटक का आरम्भ संस्कृत नाटक के अनुवाद से हुआ, किन्तु हमने यह प्रमाणित किया है कि हिन्दी नाटक की मौलिक धारा है, जिसका स्रोत जनरुचि के शिखर से स्वाभाविक रूप में प्रादुर्भूत हुआ था।

(३) नेपाल में विरचित हिन्दी नाटक अवश्य ही संस्कृत से उत्पन्न हुए, किन्तु वह नाट्यधारा नेपाल की पहाड़ियों से बाहर न निकल सकी और राजनीतिक विषमताओं के कारण जन्म-स्थान में ही विलीन हो गई। इसी से हिन्दी नाटक की मूल-धारा पर उसका प्रभाव न पड़ सका। एतदर्थ नेपाल में निर्मित नाटकों के आधार पर हिन्दी नाटकों का जन्म संस्कृत से नहीं मान सकते।

(४) उपलब्ध सामग्री के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी नाट्य शैली प्रारम्भ में अपभ्रंश के रास ग्रन्थों से आई।

(५) ब्रजभाषा के अतिरिक्त अन्य देशी भाषाओं में उपलब्ध नाट्य सामग्री की उपेक्षा करके अभी तक हिन्दी नाटकों का विकास-क्रम दिखाया जा रहा था। हमने अपभ्रंश, मैथिल, राजस्थानी, बंगला, गुजराती, मराठी के प्रारम्भिक नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन के सहारे हिन्दी नाटकों का उद्भव और विकास दिखाने का प्रयास किया है।

(६) हमने इस निबन्ध में अनेक अप्रकाशित और कई प्रकाशित

रास नाटकों का क्रमिक विकास और उनका साहित्यिक नाटकों पर प्रभाव दिखाने का प्रयास किया है।

(७) सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक विरचित ब्रजभाषा के साहित्यिक नाटकों को कई समालोचक लोक-नाट्य-परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण नाटक कहने में मीन-मेष करते हैं। वे लोग संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियमों को हिन्दी नाटकों में ढूँढ़ने का वृथाश्रम करते हैं। हमने इन पद्यबद्ध कृतियों को नाटक सिद्ध किया है और इनको रास नाटकों की परम्परा के अन्तर्गत माना है।

(८) भारतेन्दु-काल के नाटकों की तुलना तत्कालीन मुख्य भारतीय भाषाओं के नाटकों से करते हुए देश-व्यापी नाट्य-प्रवृत्ति का संधान करके हमने यह सिद्ध किया है कि प्रान्तीय भाषाओं के नाट्य-साहित्य में गुप्त रूप से एक ही विचार-धारा निरन्तर प्रवहमान होती चली आ रही है।

(९) हमने प्रसदा जी के जीवन और कृतियों में परस्पर सम्बन्ध दिखाने का प्रयास किया है।

(१०) भारत-विभाजन के उपरान्त नाटकों में जिन नवीन प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है उनको स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

अनुक्रमणिका

ग्रंथ-सूची

पृष्ठ

अ

अंगूर की बेटी ५२१
अंजना सुन्दरी २७७
अंजनी कुमार ५२६
अकसोरी आजम ४२४
अन्तर्जगत काव्य ५१५
अन्धेर नगरी २३४
अचलायतन ४३५
अजातशत्रु ३१६,४५६
अबला विलाप २७८
अमरसिंह राठौर २७२, २७४,२७७
अनघ ४३५,४३६
अर्धनारीश्वर ५०३
अपभ्रंश काव्यमयी ५३६
अफजल वध ५१०
असामिया साहित्य की रूपरेखा ६७
अत्याचार ४३१
अधिकार का रक्षक ५०७
अभिज्ञान शाकुंतल २६४
अभिमन्यु वध २७७
अति-अंधेर-नगरी ४२०
अभिनव भारती ४७६

पृष्ठ

अली बाबा ४२४
असीरे हिर्स २४५
अश्रुमती २८७
अपूर्व रहस्य २७६
अपूर्व संन्यासी ४८८
अशोक ४५१, ४६५, ४६६

आ

आचार्य विडम्बना २७२
आँख का नशा ४२५
on the art of poetry १०
आधी-रात ५१७
आनन्द रघुनन्दन (नाटक) ५२,१,६२
१८४, ५४३
आनन्द सुन्दरी (नाटक) ६०
आधुनिक साहित्य २५६, ३१४
आबू हुसैन ४८

इ

इन्द्र सभा २८७,४४२,४४३
Introduction to Dramatic Theory १,१,२५६
Indian Stage, Volume I २१४
इन्साफे महमूदशाह ४२३

	पृष्ठ
इन्दु	४१०
इशारत सभा	४२४
ई	
ईसा	४५१
उ	
उन्मुक्त	४३५,४३७
उन्मुक्ति का बन्धन	४३३
उन्मत्त राघव	४८२
उद्धववशीटि (नाटिका)	२७७
उद्धार	४४६,५१०
उत्तर रामचरित	२८५
उत्तर रामचरित छाया	५२४
उपकेशगच्छ पट्टावली	६६,८५
उपचेतना का छल	५०१
उपदेश रसायन रास	५३५,५३६,५५१
उषा हरण	५६,२७७
ए	
एक-एक के तीन तीन	२७६
एक घूँट	४७६,४८८,४८६
एक साम्यहीन साम्यवादी	४८६
एकादशी पंचभूत	४८६
एकांकी विहार (रेडियो रूपक)	५०३
एकीकी बोले सभ्यता	२८७
ऐ	
ऐतिहासिक रास संग्रह	६१
क	
कंठी-जनेऊ का विवाह	४८८
कंसवध नाटक	३२
कंस-विध्वंस	५२७
क्रान्तिकारी	५४७
कमलमोहिनी भवरसिंह	२७८
कमला	५२२
कर्म विपाकरास	५३६
कबीर वचनावली	३६
कर्तव्य	५२४
कर्पूर मंजरी	६०
कर्ण (रेडियो) रूपक	५०४
करुणालय	३७१,४३३,४३७, ४४१
कृष्ण सुदामा	४२५
कृष्णावतार	४२६
कल्याणी परिणय	३०५,३५६
कत्ले नजीर	४२५
कर्णधार	४८१
कृष्ण-लीला	४६८
कृष्णार्जुन युद्ध	५२८
कृष्ण कुमारी	२८६
कृष्ण पांडे का कलियुग	४२
करुणाभरण नाटक	१६१,५४०
कृष्णाभ्युदय	४८२
कलि-कौतुक	२६५,४८८
कलि प्रभा	२६५
कलियुगी जनेऊ	२८०
कलियुग	४३१
कदीम व जदीम	४२५
कांग्रेस मैन बनो	५०७
कात्यायन श्रोत सूत्र	२२,२४
कामना	३४०,४६६

पृष्ठ

क्या इसी को सभ्यता कहते हैं २८७
काल मृगया ३६७
क्या वह दोषी था ४६७,५०१
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध २३
कालिय मथनोपाख्यान ५६
Calssical Sanskrit Literature ८२
कालिय दमन ६७
काम कन्दला २७८
काव्य के रूप ४२०
कान्हड़ दे प्रबन्ध ६६,८५,५३६
कालिदास ४३७,४६७
कुंजबिहारी नाटक ५५
कुमार सम्भव ५०१
कुमार पाल रास ५३६
कुरुदहन ५२७
क्रूरवेणु ५२८
केटो वृत्तान्त २८६
केलि गोपाल ६६
कैद की उड़ान ५२०
कौतुक-सर्वस्व ४८०
कौटिल्य अर्थशास्त्र ३१
कौवेर रम्भाभिसार नाटक २८

ख

ख्वाजे हस्ती ४२४,४२५
खिलौने की खोज ५२२
खुद परस्त ४२५
खुदा दोस्त ४२३
खुदा दाद ४२४

पृष्ठ

खूबसूरत बला ४२५

ग

गंगावतरण ४२५
गंधिन लीला ११२
गद्दार ४२६
गय सुकुमाररास ६२,६४,६५,१५०
गान्धारी ५३१
ग्वाल पहली लीला १२३
गीत गोविन्द ४७
गुल सनोबर ४२४
गुलनार फिरोज़ ४२४
गुल बकावली ४२४
गोपीचन्द और हरिश्चन्द्र ४२४
गोरख धंधा ४२५
गो संकट ४८६
गौतम नंद ४७१
गौनेवारी लीला ११८

घ

घोस्ट्स ५१५

च

चण्ड कौशिक २१३
चण्डी चरित्र १५६,२८४,५४१
चन्द्रकला भानुकुमार २७७
चन्द्रलेखा ६०
चन्द्रप्रभा २७८
चन्द्रसेन २७२
चन्द्रावली १३८,२२३,२७६,४२४,४४१, ४४३

पृष्ठ

चन्द्रगुप्त ३५६,४६६
चन्द्रगुप्त मौर्य ५१०,५१३
चलता पुरजा ४२४
चतुष्पथ ४६१
चाँद बीबी ४२४
चारुमित्रा ४८६
चितेरी लीला
चौपट चपेट २७६

छ

छद्मयोगिनी लीला ५२७
छत्रसाल ५०६
छठा बेटा ५२०

ज

जनमेजय का नागयज्ञ ३२६
जयनारसिंह २८०
जहरी सांप ३६६
जना ८४
जम्बुस्वामी चरिउ ५३८
जानकीराम चरित्रनाटक १३२
जायसी ग्रन्थावली ३८
जीवन और संघर्ष ५०६
जुआरी खुआरी २६५
जैन गुर्जर कविओ ६१,५३६
जैन रास ११२
जैसा काम वैसा परिणाम २६६,२७२,२७६
जैमिनीय भरत नाटकम् ५६
जोगीश्वर लीला १२२
ज्यों की त्यों धरि दीनि चदरिया ४६६

झ

झाँसी का पतन ५०६

पृष्ठ

ठ

ठंडी आग ४२५
ठगी की चपेट २७६

ड

डाल्स हाउस ५१५

त

तन-मन-धन गोसाईं जी का अर्पण २७२,२७६
तमासे अलाउद्दीन ४२४
तस्वीरे ख्वाब ४२५
तमासंवरण २६१,२७८
तमोलिन लीला १२२
ताल रास ६४
ताला राम ५३६
त्रिपुर दाह १७
तुर्की हूर ४२५

द

The Development of Dramatic Art २२
The Indian Theatre २५, ४५
The Cambridge History of English Literature vol. V-३३
The Banga Darshan ४७
The Bangali Drama ३४४
The Indin Stage vol. II ५१
दमयन्ती स्वयम्बर २६६, २७२,२७७
दस हजार ५०७
दशाश्वमेध ४५३, ४५६
दक्ष यज्ञ ४६

	पृष्ठ
दान माधुरी	१२४
दान लीला	११५, १२३, १२४
दाहर	५१०
दादा और मैं	५७६
दाढ़िनी लीला	१२२
द्वितीय जोगी लीला	१२२
दिल फरोश	४२४
दिलेर दिलशेर	४२४
दीप निर्वाण	२८७
दिवार	४३८
दुःखिनी बाला	२६६, २७८, ४८६
दूत घटोत्कच	४८१
दूत वाक्य	४८१
देव माया प्रपंच	३४०, ५४१
देशी कुत्ता बिलायती बोल	२७६

ध

धनञ्जय विजय	२०८, ४८१, ५२६
धनञ्जय विजय व्यायोग	२८३, ४८५
धर्मपाल	५२८
धर्मालाप	२६६
धीरे-धीरे	५२२
ध्रुव चरित्र	४६
ध्रुव तपस्या	२७७
ध्रुव स्वामिनी	२६३
ध्रुव नर्तक	४८०
धूर्त समागम	४८०

न

नन्ददास ग्रन्थावली	१०७
नई धारा (पत्रिका)	४६६
नई रोशनी का विष	२७२
नये एकांकी	४८४
नल दमयन्ती	४६, २७२
नल दमयन्ती रास	६७, ५३६
नलिय नाटकम्	५६
नृसिंह लीला	१३३, ४८६
नतीजये अस्मत	४२३
नटी बन लीला	१२२
नहुष नाटक	१६२, १६२
नाइन लीला	१२२
नागानन्द	८४
नागनौर की लीला	१२३
नाटक ग्रन्थ	१७४
नाट्यदर्पण	७७, २१८
नाट्य रासक	७७
नाट्य शास्त्र	६
नातन	५१२
नारद की वीणा	४५३, ४५७
नारद पंचरात्र	६८
नारद लीला	१२२
नारा-ए-तौहीद	४२५
निगाहे गफ़लत	४२४
निर्भय मीन	४८१, ५२८
निमाई संन्यास	५२५
नील देवी	४४२, ४८५
नेत्रदान	४८६, ४६०
नेमिरास	६४
नेमीश्वर रास	१४६
नेही सांवरी लीला	१२२
नेपाल भास नाटक	५४

पृष्ठ

प

पंचायत राज (रेडियो रूपक) ५०३
प्रगतिवाद ५०४
पठान ४२६
पग ध्वनि ४७२
पद्मावती ५०, २६६, २७२, २७७, २८६
पतंजलि का महाभाष्य ३२, ३३
पटविन लीला १२२
परसिया प्रमून ४६
पत्नी प्रताप ४२५
परशुराम विजय ६४
परिवर्तन ४२६
पद्मिनी ५१०
प्रथम जोगी लीला १२२
प्रलय और सृष्टि ४६१
प्रह्लाद लीला ४८६
प्रह्लाद चरित्र ४८, २६३, ४८५, ५२५
प्रभावती ५२
प्रभावती हरण ५६
प्रताप प्रतिज्ञा ४७१, ४७२
प्रयाग समागम २७६
प्रसाद की कला ३४६, ४२०
प्रवासी ३४७
प्रायश्चित ३०७, ३७१
प्रतिज्ञा यौगन्धरायण ४५४
प्रतिशोध ४४८
प्रतिभा का विवाह १८६
प्रबुद्धि यामुन ५२५, ५२६
प्रद्युम्न विजय ५२६

पृष्ठ

प्रद्युम्न विजय नाटक १६२, २७७
प्रबोध चन्द्रोदय ५२, १७१, ५१०, ५६२
पाखण्ड विडम्बन २०५, ३१०
पाखण्ड मूर्ति १८८
पाप का परिणाम १३१
पार्थ पराक्रम १८१
पाच एकांकी १६६
प्रायश्चित ५३३
प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह ५७०
पीले हाथ ५२०
पुराण यात्रा ५०
पुरातन प्रबन्ध संग्रह ६०
पुण्य पर्व १५१
पूर्व की ओर १६६, १७०
पूर्व भारत ५२६, ५२८
पूर्व विक्रय ३५६
प्रेम जोगिनी २१०, ५२२
प्रेम सुन्दर २७८
प्रेम लीला २८६
पौराणिक नाटक ५३८

फ

Further Milestone in Gujrati Literature २१५
फरेबे मुहब्बत १२५

ब

बंगाली ड्रामा २११
बकावली १२१
बदरे मुनीर १२१
बनजारी लीला १२२

	पृष्ठ
ब्रह्मचारी लीला	१२२
बन्दर सभा	२८८, ११३
बयालीस छद्म लीला	२२५
बाल रामायण	१८१, १८२
बाल विवाह	२७८
बाल विवाह दूषक	२७८
बांस की फांस	५१६
बालि वध नाटक	३२
बिल्व मंगल	१३१
बीमार (रेडियो रूपक)	५०३
बुद्ध चरित्र	५२५
बूढ़े मुँह मुँहासे	२७२
बैल ६-६ टके के	२७६

भ

भंग तरंग	२७२, २७६
भगवान शंकराचार्य	५२५
भट्ट नाटकावली	२८१
भक्त तुलसीदास	५२५
भक्त सूरदास	५२५
भर्तृहरि	२७७
भरत बाहुबलि रास	६१, ५३५
भरत नाट्य-शास्त्र	५, ११, १८, १०७, १७८
भारत दुर्दशा रूपक	२६१
भारत आरत	२७७
भारत दुर्दशा	१८६, ५२६
भारत सौभाग्य	२७७, १८६
भाव प्रकाशनम्	२१, ७७
भास नाटक चक्रम्	८०
भागीरथ लीला	१२३
भारतेन्दु नाटकावली	२२५, २२८
भारतोद्धार	२७७
भीम विक्रम व्यायोग	१८१
भीष्म पितामह	१३१
भूदान यज्ञ	५४८
भूल भुलैया	५२४
भोर लीला	१२३

म

मकराये सुलेमान	१२१
मदन चरित्र	५६
मदन मंजरी	२७८
मदन लेखा	
मयंक मंजरी	२७८
मध्यम व्यायोग	१८१
मतवाली मीरा	५२५
मत्स्यगंधा	१३७
मलय गन्धिनी	५६
मन मारन	२८६
मनस्विनी	२७८
मर्चेन्ट आफ़ वेनिस	२३३
मृच्छ कटिक	२७२, २८५
मशरीकी हूर	१२६
मदालसा हरण	५६
मराठी नाट्य संसार	२१५
मराठी नाट्य सृष्टि	५३८
महावीर रास	५७१
महाभारत	२८, १२५, १५१
महाराणी पद्मावती	२६६
महाराणा प्रतापसिंह	२६६, २७७, ५१०

	पृष्ठ
महा अन्धेर नगरी	२७९
महावीर चरित्र	२८५
महात्मा कबीर	५२५
महात्मा विदुर	१२८
मनिहारिन लीला	१२२
मणि गोस्वामी	५२२
माधव विनोद नाटक	१६२
माधवानल	२७८
मान लीला	११५, १२१
माण्डव्य संहिता	९९
मायार खेला	२९७
मारकण्डेय पुराण	६०
मालती माधव	१६२, २८५
मालती वसंत	२७८
मालविकाग्निमित्र	१९, २८५
मारवाड़ गौरव	५१०
मालिन लीला	१२२
माधव मुरली	१२५
मिथिलेश कुमारी	
मीठी छुरी	१२५
मीना	५११
मुद्राराक्षस	२२९, ३५६
मुरब्बी	५०१
मुक्ति का रहस्य	५१६, ५१८
मुदित कुवलयस्व	५५
मुरीदए शक	१२५
मुकुन्दानन्द	१८०
मेघदूत	५००, ५०१
मेन एण्ड सुपरमेन	५१५
मेवाड़ पतन	४४४

	पृष्ठ
मैनावरी लीला	१२२
मोरध्वज	२७७
मोहराज पराजय	१८७, ५४२
मौनी जोगी लीला	१२२
Max Mullers version of Rig-evda vol. I	१५
य	
यज्ञ लीला	१२५
ययाति	५३०
यात्रा नाटक	५४७
र	
रंगरेजिन लीला	१२२
रक्त कर्वी	३४४
रंभा मंजरी	६०
रणधीर प्रेममोहिनी	२६१, २६३, २७८
रहस्य लीला	१२६
रहस लावनी	१२६
रत्नावली	५०, १९४
रक्षा बन्धन	२७८, २८०, ४४५, ४४६, ४४७
रति कुसमायुध	२७८
रघुवंश	५०१
राज मुकुट	५०७
राज शेखर	६०
राज्य श्री	३०७
राम विजय	६७
राम लीला	२७६
राम लीला बिहार	१६२
राम लीला विजय	२७६

पृष्ठ

राम लीला रामायण २७६
रास यात्रा ६७
रास लीला ४८८
रास पंचाध्यायी ११४, १२५, १२६
रामायण ४२५
रामायण महा-नाटक १५४
रामायण नायक १६२
राधा ४३७, ४३६, ४४२
राधाकृष्ण ४०५,
राखी (रेडियो रूपक) ५०१
रानी भवानी ५१०
रूप बसंत २७८
रुक्मिणी मंगल ४२६
रुक्मिणी हरण ६७, २७७
रुक्मिणी परिणय २७७, २८३
रेशमी टाई ४८६
रोमांस ४८६
रोमियो जुलियट २६२
रोहिणिया चोरनो रास ५३६

ल

लंका विजय
लटक मटक ४७६
लवंगलता
ललिता २७६
लकुट रास ६४, ५३६
लॉटरी ४८६
लावण्यवती सुदर्शन २७८
लैला मजनू ४२४
लो भाई पंचो लो ५२०

पृष्ठ

व

वत्सराज ४२१, ४५३, ४५४, ४५६
वनदेवी ४२५
वलदेव रासमाला १२५
व्रज विलास १२७
वाइल्ड डक ५१५
वात्स्यायन का कामसूत्र ३३
वाल्मीकि रामायण २८
व्याहला १२६
विक्रमोर्वशी नाटक ६३, ४६१
विक्रम विलास ४२४
विजय तिलक सूरीरास ५३६
विदग्ध माधव १४२, २२४
विद्या विलाप ५४०, ५५४
विद्या विनोद २७८
विद्या विलासिनी २७८
विद्या सुन्दर १६५
विद्रोहिणी अम्बा ५२०
विद्या सुन्दर यामा ५०, ५४
वितस्ता की लहरें ४५३, ४६३
विधवा विवाह २७८
विलासवती ६०
विसातिन लीला १२२
विशाख ३०७, ३०६
विश्वामित्र (रेडियो रूपक) ४३७, ४३८, ५०३
विषस्य विषमौषधम् २२२, ४८५
वृद्धावस्था विवाह २७८
वृहन्नला २७२, २८२

	पृष्ठ
वीर बालक अभिमन्यु	४२६, ४३१
वीणा वारी लीला	१२२
वेणी संहार	८०, ८१, २८५
वेणु संहार	२६६, २७२, २८२
वेनिस नगर का व्यापारी	२८५
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	२०६, ४८४, ४८५
वैद्य लीला	१२२
वैश्या नाटक	२७६
वैश्या विलास	२८०

स	
स्कन्दगुप्त	३०७, ३४७, ५१३
संघपति समरा रास	६६, ५७१
संगति शाकुन्तल	२६४
संयोगिता स्वयंवर	२६३, २७७
सगर विजय	५३०
सज्जन	३७१, ३६६
सत्यहरिश्चन्द्र	३१२
सड़क (रेडियो रूपक)	५०३
सप्तरश्मि	४८६
समय पाहुड़	१७३, ५४१
समय सार नाटक	१५६, १६०, १८७, ५०००
समर्पण	४७१, ४७२
समरसिंह रास	६४,
संसार स्वप्न	४३१
संदेश रासक	५३७
सरकारी नौकरी	५०१
सर सुन्दरी रास	५४०
सज्जाद सम्बुल	२८७
सम्राट् अशोक	४३१
स्वर्ण विहान	४३५
स्वप्न	४४७
स्वप्नवासवदत्ता	४५४, ४५५
संन्यासी	४६६
स्वतन्त्र भारत	४७१
सभा सार	५४०, ५५१
समाधि	४७१
स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी	४८८
सच्चा जीवन	४६३
सती नाटक	२८७, ५२७
सती चन्द्रावती	२७२, २७३
सनेह लीला	१२४
सप्त क्षेत्र रास	५७०
सफ़ेद ख़ून	४२५
सांवली सहेली लीला	१२२
सांवली साथिन लीला	१२२
सावित्री	२७७
स्याम सगाई	११७, १२६
सावित्री सत्यवान	५०
साहसेन्द्र साहस	२८६
साहित्य दर्पण	७८, २१८, ४७८, ४७६, ४८१
साहित्य ज्योति	३४७
स्ट्राइक	५०७
स्वामी विवेकानन्द	५२५
स्वामी दयानन्द	५२५
सिलवर किंग	४२५
सिन्दूर की होली	५१७, ५१८
सिस्टर विट्रिस	५३३
सीता की माँ	४६३, ४६५

	पृष्ठ
सीताराम	५०१,५२४
सीता बनवास	२७६,४२५
सीता स्वयंवर	२७६,५२४,५२७
स्त्री चरित्र	२७६
सूरदास	४२५,४३१
सेन्ट जोन	५२५
सेवापथ	५२५
सैकड़ों में दस दस	२७६
सोम प्रकाश	४७
सोनारिन लीला	१२२
सौगन्धिका हरण	४८१,४८२
संस्कृत ड्रामा	३२,८०,४७७

श

शंकर विजय	५२५
शृंगार मंजरी	६०
शृंगार भूषण	४८०
शक विजय	४५३,४६७
शम्मये जवानी	४२५
शकुन्तला	५२,५०१,१५६,१६४,५४०
शपथ	४७०,४७१
शरद और ज्योति	२८७
शलभ और ज्योति	५०३
शहीदये नाज़	४२५
शर्मिष्ठा	२६६,२७२
शत्रुञ्जय रास	५३६
शक्तियात्रा	४७
श्रवणकुमार	४२५,४२६
शाप और वर	४६३
श्याम सहचरी सांझी लीला	१२२

	पृष्ठ
श्यामा–एक वैवाहिक विडम्बना	४८६
शिव यात्रा	४७
शिवाजी	५१०
शिवा साधना	४३६
शिल्पी (रेडियोरूपक)	५०४
शिशुपाल वध	२७२
शिक्षा दान	२७२
सीरीं फरहाद	४२४
श्री आनन्द काव्य महोदधि	५३६
श्री दामा	२७२
श्री भरत (रेडियोरूपक)	५०१
श्री प्रद्युम्न विजय व्यायोग	५२८
श्री प्रियरूप गर्व लीला	१२२
श्रीमद्भागवत	८३
श्री रामानन्द	५२५
श्री राधिका महारास लीला	१२५
श्री हर्ष	२७७
शुभ्र पुरुष (रेडियोरूपक)	५०४
शेखर यात्रा	५०
शैतान	४८६

ह

हंस मयूर	४५३,४६८
हनुमान नाटक	५२,१५४
हर्रागरी विवाह	५५
हर्ष	४५१
हर्ष चरित महाकाव्य	८१
हरिश्चन्द्र (रेडियोरूपक)	५०१
हरिश्चन्द्र रास	५७
हरिश्चन्द्र जन नाटक	४३१
हठी हमीर	२६५

	पृष्ठ
हवाई मजलिस	४२४
हातिम ताई	४२४
हास्य चूड़ामणि	४८०
हास्यार्णव	४८०
हितसंध लीला	१२२
हिन्दी नाट्य साहित्य	१८४,२३७
हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	२१२,२५८,५४२
हिन्दी साहित्य की भूमिका	६०
हिन्दी साहित्य का इतिहास	११७
हिन्दी नवरत्न	५४२
हिन्दी प्रदीप	५६६
हिन्दुस्तान	४२५
History of Urdu Literature	४२३
History of Sanskrit Literature vol I	२५,१५१
Hindi Patriot	५१
History of Maithil Literature	५४,५६
हैमलेट	४२४
हैदर अली	५१०
हीरार फूल	४६
होरी विवाह लीला	१२२
होरी लीला	१२५,१२६
हुस्न अफरोज़	२४४